ALOCHANA OCT-DEC 1968 G.K.U.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079587

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

COMPILED

Stock Verification-2024

Stock Verification-2024

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैमासिक

आलोचना

सम्पादक : नामवर सिंह

COMPILED

079587

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह ● प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

ाव्य भाषा और काव्येतर भाषा
विद्यानिवास मिश्र १

ाड़-फाड़ (कविता) भारतभूषण अग्रवाल ५

ास का आतंक भीष्म साहनी ९

ार परमानन्द श्रीवास्तव १६

● ूल्यांकन

कामायनी : एक असफल कृति इन्द्रनाथ मदान १८

शुक्लोत्तर आलोचना : एक विश्लेषण
नित्यानन्द तिवारी ३७

● पाश्चात्य आलोचना की नई प्रवृत्तियाँ

टी० एस० इलियट और 'नई आलोचना'
रामसेवक सिंह ४२

शिकागो समीक्षक डॉ० राजनाथ ६१

नॉर्थ्रप फ्राई के मूलरूपकीय आलोचना-सिद्धान्त शिवमूर्ति पाण्डेय ६९

तलधर (कविता) प्रमोद सिन्हा ७७

● प्रासंगिकी

युवा पीढ़ी : आहत होते जाने और किए जाने की प्रतिषिद्ध जिजीविषा का नामांकन
हृषीकेश ८३

● हंगेरियन कविता

मिक्लोश राँद्नोति की दो कविताएँ
अनु० गिरधर राठी ८९

कब्रगाह की ज़मीन में (कविता) देवेन्द्रकुमार ९१

● नाट्य-रंग

अभिनय की शैली वीरेन्द्र नारायण ९३

● मूल्यांकन

राग दरबारी : कला-रूपों की नैतिकता का सवाल कमलेश ९८

चीज़ें लगातार मेरे हाथ से फिसल रही हैं
विष्णु खरे १०३

भाषा की दीवार के आस-पास
प्रयाग शुक्ल १०६

तीन कहानी-संग्रह रत्नलाल शर्मा १०८

● विनिमय

अव्यापारेषु व्यापार यशदेव शल्य ११३

वर्ष १८ : नवांक ७, (पूर्णांक ४४) अक्तूबर-दिसम्बर १९६८, मूल्य ३.००

वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १४.८०

विदेशों में—१६.००

शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी० ई० वी/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८ दिनांक २०-१-६८ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य भाषा और काव्येतर भाषा

विद्यानिवास मिश्र

प्रायः आलोचकों के मन में यह भ्रम है कि काव्यभाषा स्वतः-स्फूर्तिजन्य होने के कारण अपने-आप सामान्य भाषा से पृथक् और विशिष्ट है, इसलिए सामान्य भाषा के अध्ययन के माप-दण्ड उस पर नहीं लागू किये जा सकते। इस अंश में यह बात चाहे सही भी हो कि काव्यभाषा के विवेचन में सामान्य भाषा के मापदण्ड को और अधिक विशिष्टात्मक बनाना होता है, पर यह सर्वथा निर्विवाद है कि काव्यभाषा सामान्य भाषा से उद्भूत है और सामान्य भाषा जो कल आने वाली है वह आज की समर्थ काव्यभाषा में मौजूद है। वस्तुतः भाषा के इन दो स्तरों में अन्तर उद्देश्य का है न कि स्वरूप का! सामान्य-भाषा का उद्देश्य **डोलोज़ेल** के शब्दों में—"भाषा की बाह्य वास्तविकता (अर्थात् बाह्य अर्थ) के ग्रहण की ओर भाषागत संकेत को उन्मुख करना है, जबकि काव्यभाषा का उद्देश्य भाषागत संकेत में ही बाह्य अर्थ का ध्यान केन्द्रित करना है।" सामान्य भाषा संकेत और संकेतित के बीच स्थिर सम्बन्धों को विचलित नहीं करती, दूसरे शब्दों में सामान्य भाषा भाषा के साधनभूत संकेतों और उनसे बोधित होने वाले अर्थों के नियमों का एक स्वयंचालित यन्त्र है। ठीक इसके विपरीत काव्यभाषा को शब्द और बाह्य अर्थ के सम्बन्ध को अंशतः विघटित करके या कम-से-कम उसके स्थिर सम्बन्ध को कुछ मोड़ दे करके भाषागत संकेत को एक नया महत्त्व—एक नयी अर्थ-गर्भता प्रदान करनी होती है। इससे शब्द और अर्थ-सम्बन्धी नियमों को स्वयंचालित रूप में नहीं सर्जनात्मक रूप में प्रवर्तित करना पड़ता है।" (**डोलोज़ेल : स्टैटिस्कल थ्योरी ऑफ़ पोएटिक लैंग्वेज, मैथमेटिकल लिंग्विस्टिक्स, प्राग स्कूल**)।

भारतीय काव्य-शास्त्र में बहुत पहले शब्द-शक्तियों के विवेचन के प्रसंग में यह बात अनेक बार दोहराई गई है कि काव्य का प्राणभूत व्यंग्यार्थ शब्द-व्यापार के ही द्वारा उद्बुद्ध होता है और व्यंजना वस्तुतः भाषागत विविध सन्दर्भों (वक्ता, बोद्धव्य आदि) की सहायता से शब्द में निहित वाच्येतर अर्थ की खोज है या वाच्य अर्थ अनुपपन्न होने की दशा में वाच्य-सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति का मूलभूत प्रयोजन है। काव्यार्थ का रहस्य शब्द से ही उन्मीलित होता है। हाँ, उन्मीलन का साधन शब्दार्थ-नियम-ज्ञान से अतिरिक्त एक पदार्थ होता है, जिसे प्रतिभा कहा गया है। प्रतिभा शब्द और अर्थ के सम्बन्धों को एक से अधिक धरातलों पर उठाकर रखने की रचयित्री शक्ति है। वह शब्द और अर्थ के साहित्य के निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न संस्कार है।

आधुनिक भाषा-विज्ञान ने इसीलिए यह मानना शुरू कर दिया है कि काव्य की भाषा का भी अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टि से किया जा सकता है और इसके ऊपर भी भाषा-विश्लेषण के सिद्धान्त और प्रक्रिया-विधान लागू किये जा सकते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि सामान्य भाषा में अवतरण-गत समग्र संघटना के महत्त्व पर बल नहीं रहता, जबकि काव्यभाषा के अवतरण का अर्थ उस भाषा के समग्र अर्थ की पृष्ठभूमि में ही अवस्थित होता है और उस समग्र अर्थ की सम्पूर्ण सम्भावनाओं का जब तक मन्थन नहीं कर लिया जाता, तब तक सार्थक काव्यार्थ जन्म नहीं लेता और वह यदि सामान्य भाषागत अर्थ से किसी माने में विशिष्टता रखता है तो इसी माने में कि सामान्य अर्थ को उसकी समग्र सम्भावना के समक्ष लाकर खड़ा कर देता है, उसे अकेले विलग नहीं रहने देता। जैसा कि हैलिडे ने सोचा है, "काव्यभाषा को बिना इस रूप में ग्रहण किये कि वह एक व्यक्ति द्वारा उसकी कुछ सम्भावनाओं में से सोद्देश्य चयन है, उसका पूर्ण संप्रेषण सम्भव नहीं है!" (**डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स एण्ड लिटररी स्टडीज़**) इस सोद्देश्य रचनात्मक चयन के ही कारण काव्य में एक निजता या व्यक्तित्व का उदय होता है और इसका बार-बार आवर्तन ठीक उसी रूप में आकलन सुकर हो जाता है और यह हमें इसके लिए प्रेरित करता है कि हम ठीक उसी रूप में इसे दोहरा सकें, पढ़ने या सुनने के बहुत समय बाद भी दोहरा सकें। वस्तुतः इसी प्रेरणा के कारण जहाँ रचनात्मक प्रतिभावाले व्यक्ति दोहराकर भी नये अर्थ से उसे जोड़ सकते हैं, असमर्थ व्यक्ति पुरानी काव्य-पंक्तियों से बँधे रह जाते

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK
पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। वे काव्यार्थ केन्द्र से विस्थापित करके उसकी परिधि को सीमा मानने लगते हैं। "काव्यभाषा में सामान्य अर्थ और सामान्य में निहित विशिष्ट अर्थ के समीकरणों के जोड़े इस प्रकार रच जाते हैं कि इनके सहारे कोई भी व्यक्ति उस काव्य-विशेष के निजी सन्देश को व्यवस्थित रूप में ग्रहण कर सकता है" **(लेविन : लिंग्विस्टिक स्ट्रक्चर इन पोएट्री)**।

काव्यभाषा की यह निजी विशिष्टता बहुत-कुछ तो इस कारण है कि काव्यभाषा के ऊपर सामान्य भाषा की अपेक्षा भाषागत सन्दर्भों का दबाव बहुत ज़्यादा है। सामान्य भाषा में केवल वाक्य-रचना के सीमान्तों का दबाव रहता है, शब्द के साहचर्य से झंकृत होने वाले बहुत सारे शब्दार्थ-सम्बन्धों का सन्दर्भ सामने नहीं रहता। सामान्य भाषा में दूब मात्र दूब है। वह दूब शब्द के प्रयोग के साहचर्य से उद्बुद्ध होने वाली विनम्रता, तितिक्षा और अदम्य सप्राणता का अनुभावन नहीं करा सकती। सामान्य भाषा के अवतरण में पूरे अवतरण की संरचना का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता, जबकि किसी कविता में उसकी पूरी संरचना के सन्दर्भ में ही कोई पंक्ति अर्थ रखती है। यदि कविता प्रबन्धात्मक हुई तो पूरे प्रबन्ध के सन्दर्भ में उसके अर्थ की खोज की जाती है। अर्थ-सन्दर्भ का ही व्यापार है यह सिद्धान्त, काव्यभाषा के ऊपर सामान्य भाषा की अपेक्षा और अधिक लागू है, क्योंकि सामान्य भाषा का सन्दर्भ बहुत सीमित है। **(कार्बर : प्रिसाइज़ ऐम्बीग्विटी)** काव्यभाषा में बाहरी सूचना से अधिक ध्यान अपने सन्देश के गठन पर ही ज़्यादा होता है, इस हद तक सन्देश अपने बाह्यार्थ के साथ अपने सम्बन्ध की डोर ढीली कर देता है। काव्यभाषा अनायास, अप्रयोजन प्रयोजनशीलता की साधना है और इस प्रयोजनशीलता के निरन्तर खिंचाव के कारण काव्यभाषा के सभी स्तरों पर एक साथ एक नया तनाव जन्म लेता रहता है। शब्द की ध्वनि और अर्थ के बीच, व्याकरण और शब्द-रचना के बीच, वाक्य-खण्ड और वाक्य के बीच! इस तनाव के कारण काव्य में प्रयुक्त प्रत्येक वाक्य और वाक्य-खण्ड, शब्द और उसके अवयव तथा वर्ण ये सभी अपरिहार्य रूप से एक-दूसरे के उपकारक होकर अनुस्यूत हो जाते हैं। काव्य के केन्द्रगत अर्थ को हम रस, ध्वनि अमूर्त सौन्दर्य जिस किसी भी नाम से पुकारें, वही इस प्रयोजनशीलता का प्रेरक है और वह काव्य का प्रयोजन न होते हुए भी काव्य के प्रयोजन से कुछ और ऊपर है, काव्य का आन्तरिक [illegible] है। ऐसा नहीं है कि सामान्य भाषा में उसके किसी सन्देश-खण्ड के अवयव भीतर-भीतर परस्पर संगठित न हों, पर उस संगठन का उद्देश्य उस सन्देश-खण्ड को बाहर के जगत् के साथ उसे जोड़ना है, इस संगठन को बाह्य जगत् के बारे में सूचना देने के कार्य में उपयोजित करना है, इसमें सन्देश स्वयं में कुछ महत्त्व नहीं रखता। इसीलिए काव्येतर भाषा में, "सूचना का सम्प्रेषण या सूचना का क्रम और चयन आदि बाह्य आधार पर निर्धारित होते हैं जबकि काव्यभाषा में सूचना में निहित शब्द और अर्थ दोनों अपने-आपमें अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, वे बाह्य जगत् से बहुत-कुछ स्वतन्त्र होकर स्वयं अनुभव के विषय बन जाते हैं।" **(एडवर्ड-स्टॉकिंज़ : पोएटिक एण्ड नॉनपोएटिक लैंग्वेज, पोयटिक्स)**।

भारतीय चिन्तन में इसीलिए रूप से अधिक नाम की महिमा है। नाम में जब चैतन्य टिक जाता है तो रूपात्मक प्रत्यक्ष का अनुभव बेकार हो जाता है और तब अनुभविता अरूप जगत् में पहुँच जाता है, क्रमशः निरन्तर साधना करने से वह समस्त उपाधियों से मुक्त हो जाता है और तभी वह सच्चे माने में शुद्ध और अनुपहित चैतन्य का आकार ग्रहण करता है। **आनन्द कुमारस्वामी** ने अपने 'अर्जिन एण्ड यूज़ ऑफ इमेजेज़ इन इण्डिया' शीर्षक लेख में इसी सिद्धान्त को विस्तार में विवेचित करते हुए कहा है, "यथार्थ और आदर्श दो चीज़ें नहीं, एक ही वस्त्र के दो स्तर हैं, क्योंकि दोनों एक-दूसरे के विरोध में यहाँ खड़े ही नहीं हैं। यथार्थ आदर्श का द्वार मात्र है, वह स्वयं में साध्य नहीं है, वह परानन्द का प्रतिबन्धक नहीं, अनुबन्धक है। इसीलिए उसका उपयोग भारतीय कला में समर्पित रूप में ही है। वह नाम की अभिव्यक्ति को पहचानने के लिए दृश्य-रूप मात्र है। भारतीय उपासना का उद्देश्य किसी दृश्य स्थूल वस्तु की पूजा नहीं, बल्कि उस स्थूल वस्तु के सहारे जिस अमूर्त भावना का चिन्तन निरन्तर किया जाता रहा है, उस भावना के साथ तादात्म्य-स्थापन का प्रयत्न है।"

भारतीय काव्य-दृष्टि काव्य को सिद्धवस्तु नहीं मानती है, व्यापार या प्रक्रिया मानती है। इसलिए काव्यभाषा में बराबर कुछ ऐसा रहता है जो प्रत्यक्ष दिखाई देकर भी हाथ में सामान्य भाषा के वर्गीकरणों में गहा नहीं जा पाता। काव्यगत सत्य के स्वरूप पर अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती' में रस के प्रसंग में बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आम्नायसिद्धे किमपूर्वमेतत्, संविद् विकासेऽधिगतागमित्वम् ।
इत्थं स्वयंग्राह्यमहार्हहेतुद्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोकः ।।
ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती ।
अलं तदाद्यैः परिकल्पितानां विवेकसोपानपरम्पराणाम् ।।
चित्रं निरालम्बनमेव मन्ये प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम् ।
तन्मार्गलाभे सति सेतुबन्धपुरप्रतिष्ठापि न विस्मयाय ।।

"जो बात परम्परा में सिद्धरूप में प्रमाणित है उसे दोहराने में कौन नयी बात है ? उल्टे इस प्रकार की पुनरावृत्ति से दोहरी ग़लती प्रकट होती है, जान-बूझकर उपहासास्पद बने और सिद्धवस्तु को अपने साध्य के रूप में प्रस्तुत करने की हेठी दिखलाये । इसलिए मानवीय बुद्धि बिना थके ऊपर-ही-ऊपर चढ़ती चली जाती है । वह पूर्वकल्पित विवेक की सीढ़ियों पर ठहरी नहीं रहती । जैसे रास्ता और पुल बनाने का प्रारम्भिक काम अजीब, अटपटा और शून्य में लटका-सा लगता है, पर बाद में मार्ग बन जाने पर पुल का नक्शा साफ़ हो जाता है और तब उस पुल में कोई अपूर्वता नहीं रहती । उसी तरह नये सत्य के शोध की प्रक्रिया शुरू-शुरू में भले ही निरवलम्ब और विच्छिन्न-सी लगने के कारण दिखलायी पड़े, अन्त में उसकी समग्रता के आलोक में हर चीज़ जुड़ी और सप्रयोजन लगने लगती है ।"

अभिनवगुप्त के ये श्लोक काव्यभाषा की आपातिक या सतही अस्पष्टता और विशृंखलता को प्रक्रिया के अवयव के रूप में देखने पर बल देते हैं । काव्य में व्यंग्यार्थ काव्यप्रक्रिया से अलग कर देने से असंगत, असम्भव, अटपटा और मनमाना लगता है, पर काव्य की समूची संघटना की दृष्टि से वही सबसे अधिक आधारभूत स्तम्भ हो जाता है । यहाँ ध्वनि-काव्य का मूर्धन्य उदाहरण लिया जा सकता है —

निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोधरो ।
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे ।
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।।

"तुम्हारे कुचतट से सब चन्दन घुलकर गिर गया है । तुम्हारे निचले होंठ की रंगाई एकदम पुँछ गई है, आँखों की कोर अब आँजी नहीं लगती, तुम्हारा शरीर रोमांचित है, लगता है तू झूठ बोल रही है । अपनी सहेली के दर्द का तुझे क्या पता ! तुम मेरे उस अधम प्रियतम के पास नहीं गयी थी, तू तो बावली में नहाने गयी थी ।"

सतही अर्थ की उपपत्ति की दृष्टि से इस श्लोक में मात्र स्तनतट का चन्दन च्युत होना, निचले होंठ की ललाई का पुँछना, केवल कोरों का आँजन धुलना, ये लक्षण बावड़ी में नहाने वाले वाच्यार्थ में कुछ गड़बड़-से लगते हैं, साथ ही प्रियतम के लिए अधम शब्द का प्रयोग भी उचित नहीं प्रतीत होता । इस अधम शब्द से इशारा लेकर जब हम 'रति रूप' व्यंग्यार्थ का नक्शा उभारने लगते हैं तो समस्त अनुपपत्तियाँ वाच्यार्थ के साथ ही बाहर निकल जाती हैं । कहा जा सकता था कि 'रति रूप' व्यंग्यार्थ ही क्यों चुना गया, संभावना तो और पचीसों चीज़ों की हो सकती थी । इसका समाधान यह है कि काव्यार्थ के संदर्भ की समग्रता में (जिसमें कौन कह रहा है, किससे कह रहा है, किस घटना के प्रकरण में कह रहा है, कहाँ कह रहा है, कब कह रहा है आदि-आदि) दूसरा व्यंग्यार्थ उतना सहृदयस्वीकार्य नहीं हो सकता ।

वस्तुतः अनेक सम्भावनाओं में से एक सम्भावना का चुनाव यादृच्छिक नहीं है । यह चुनाव भाषा के विभिन्न घटकों के संश्लेष-विशेष से नियन्त्रित है । जैसा कि **रोमन याकोब्सन** ने प्रतिपादन किया है, "काव्य-व्यापार चयन की धुरी-रेखा से भाषा के दो तत्त्वों के जोड़ बिठलाने के सिद्धांत को संश्लेष की धुरी पर प्रतिक्षिप्त करना है ।" ऐसे जोड़ बिठलाने का उपयोग चाहे भाषा के नादात्मक या अर्थात्मक स्वरूप से निकला हो कोई आकस्मिक घटना के रूप में नहीं होता । यह अत्यन्त व्यवस्थित रूप में सामने लाया जाता है । मूलतः भाषा का सम्प्रेषण ही अनेक सम्भावनाओं में से एक के चयन की सामान्य धारणा का ही परिच्छिन्न रूपान्तर है । जब तक कि उस एक का चुनाव नहीं किया जाता, तब तक हम कह सकते हैं कि कौन-सा विकल्प चुना जायेगा, पर चुनाव हो जाने पर हमें एक निश्चित सूचना मिलती है कि अमुक विकल्प ही चुना जाने को था । इस सूचना का संप्रेषण ही तो भाषा का व्यापार है । काव्य-भाषा में यह चुनाव और अधिक अन्तर्मुख होने के कारण परिछिन्न और गणितात्मक रूप में स्पष्ट हो जाता है । इसका कारण यह है कि काव्य स्वयं भाषा से ही उत्पन्न रूप है । यह न तो लेखक है और न उसका अनुभव । जिस प्रकार गणित की उपपत्तियाँ गणितज्ञ के वस्तु-जगत् से भिन्न जगत् की होती हैं और वह जगत् अपने ही नियमों से अनुशासित होता है, उसी प्रकार काव्य-जगत् भी वस्तु-जगत् और आनुभविक जगत् का समानान्तर और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवादी अलग स्वतन्त्र जगत् है। यह अवश्य है कि इसकी शक्ति इसके रचयिता की अनुभव-समृद्धि और काव्य-जगत् की ही जागरूकता की मात्रा के अनुपात में घटती-बढ़ती रहती है। काव्य में रचयिता उसी प्रकार एक अनुभव-विशेष की अभिव्यक्ति-विशेष में आबद्ध दिखाई पड़ता है, जैसे किसी व्यक्ति का स्थान-विशेष और मुद्रा-विशेष में लिया गया छाया-चित्र। **गुण्ठरमूलर** ने अपने निबन्ध 'मार्फोलॉजिकल पोएटिक्स' में इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए लिखा है कि "साहित्य मुख्य रूप से न तो वैचारिक दृष्टियों का लेखा है, न भावना-प्रक्रिया का विवरण है, न वस्तु-जगत् के सम्बन्धों एवं घटनाओं का वर्णन ही। यह शुद्ध रूप है, ऐसा रूप जो अपनी ही छवि से आलोकित हो। परन्तु इस प्रकार के काव्य-मय अस्तित्व के रूप में यह कवि का एक समानान्तर अभि-व्यंजन ठीक उसी प्रकार प्रस्तुत करता है जैसे कि किसी व्यक्ति का अभिव्यंजन उसके कपाल की बनावट, चेहरे की मुद्राओं या उसके स्वर से होता है।"

वस्तुतः इसीलिए काव्यभाषा का विश्लेषण काव्यगत सन्दर्भों के ऊपर आश्रित होने के कारण सामान्य भाषा के विश्लेषण की अपेक्षा अधिक गणितीय और विच्छिन्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। काव्यभाषा में वाक्य-गठन केवल घटक वाक्य-खण्डों से ही नहीं पूरा होता और न वाक्यार्थ की संगति से ही मर्यादित रहता है। काव्य-भाषा का गठन विभिन्न पदांशों (प्रत्ययों-विभक्तियों) की आवृत्ति द्वारा अर्थ की प्राचीर तैयार करता है, वाक्य-खण्डों के क्रम के हेर-फेर द्वारा यह अभीष्ट अर्थ के ऊपर अधिक बल डालने का काम करता है तथा "समान रचना-खण्डों के सम्मुखीकरण के द्वारा अर्थों के टकराव और उस टकराव से उत्पन्न होने वाले नये अर्थ को उद्बोधित करता है" (**मैकहैमण्ड, पोएटिक्स सिन्टॅक्स**)। इसी अंश तक काव्यभाषा भाषाबाह्य सन्दर्भ की दृष्टि से अप्रयोजन या निरुद्देश्य लगती है, केवल भाषागत सन्दर्भ की भीतरी गठन की दृष्टि से सप्रयोजन और सोद्देश्य लगती है। भाषागत संकेत पर ध्यान केन्द्रित होने से भाषागत सन्देश एक रेखा में स्थित सामान्य भाषा का बहु-आयामीय रूपान्तर बन जाता है, जिसमें एक साथ ध्वनि से लेकर अर्थ के प्रत्येक धरातल को एक बिन्दु पर देखा जा सकता है।

भारतीय काव्य-दृष्टि अन्तर्गठन पर बल देती है, इसी-लिए वह सतही यथार्थ को महत्त्व न देकर शुद्ध और बाह्य प्रभावों से परिशोधित गणितीय यथार्थ पर बल देती है और इसीलिए उसमें निहित शब्दार्थ-व्यापार सबसे अधिक वस्तुरूप यथार्थ रहता है। आज का संघटनात्मक काव्यशास्त्र भी बाह्य परिवेश की अपेक्षा काव्य के भीतरी परिवेश को अधिक यथार्थ मानता है, इसीलिए अब यह सम्भव माना जाने लगा है कि काव्यभाषा का विश्लेषण भाषा-बाह्य परिस्थितियों से निर-पेक्ष होकर अधिक सघनता और गहराई के साथ किया जा सकता है और इस विश्लेषण के लिए ऐसे सिद्धान्त प्रतिपादित किये जा सकते हैं, जो हर भाषा और हर समय के काव्य-रूप की समीक्षा पर लागू किये जा सकते हैं। शैली के सम्बन्ध में प्राचीन पश्चिमी मान्यताएँ खण्डित हो चुकी हैं कि शैली रचनाकार का व्यक्तित्व है। अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि शैली रचनाकार द्वारा चुनी गई सम्भावनाओं और साँचों का गुणनफल है, पर ये सम्भावनाएँ और साँचे रचनाकार के नहीं उसकी भाषा के हैं। इसीलिए शैली का भी वैज्ञानिक अध्ययन अब सम्भव हो गया है। यदि शैलियों में वैविध्य दिखता है और उस आधार पर शैलीकार को पहचाना जा सकता है तो यह स्वयं प्रत्येक प्रकार की शैली में एक तरह के संवादी साँचों के अभ्यास से उत्पन्न उस शैली की अविच्छिन्नता के कारण, न कि शैलीकार की निजता के कारण।

संक्षेप में ऊपर जो बात काव्यभाषा के सम्बन्ध में कही गई है, वह कुछ उपादानों (छन्द, रागबोध तथा संक्षिप्ततर शब्द-योजना) को छोड़कर साहित्य मात्र की भाषा पर घटाई जा सकती है और आधुनिक भाषाविज्ञान तथा प्राचीन भार-तीय शब्दार्थ-चिन्तन को आमने-सामने रखकर साहित्य-भाषा-मीमांसा का वैज्ञानिक और सार्वभौम सिद्धान्त-शास्त्र प्रस्तुत किया जा सकता है। विगत दशक में इस दिशा में पश्चिम में प्रयत्न बड़ी तेज़ी से शुरू हुए हैं, परन्तु हम तो अपने समा-नान्तर प्राचीन चिन्तन को अलंकार-शास्त्र कहकर हेय समझ रहे हैं। अतः हमारा आज का काव्यशास्त्रीय चिन्तन बहुत ही उलझा और आत्मनिष्ठ है। प्राचीन अलंकार-शास्त्र और नवीन भाषाशास्त्र दोनों अभी सार्वभौम काव्य रूप मीमांसा के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में पूर्णता नहीं प्राप्त कर पाये हैं, पर दोनों के अंशदान एक-दूसरे के पूरक रूप में यदि स्थापित किये जाएँ तो काव्यभाषा की विशिष्टता सामान्य भाषा की ही विश्लेषण-पद्धति से व्याकृत की जा सकेगी। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीर-फाड़

भारतभूषण अग्रवाल

: १ :

जब-जब मैं अपने से बाहर निकलता हूँ
लगता है :
मानो कोई शून्य-यात्री
अधर में तैरता—
कहीं कोई टेक नहीं।
नीचे
दूर,
बहुत दूर
एक हरा पिण्ड—
शायद।
और मेरे चारों ओर
एक अपार विस्तार
न-कुछ का—
निश्चित।

अपने में बन्द रहो तो
लगता है :
एक सुरंग है
जिसमें मैं टोहता फिरता हूँ
और जिसके सिरों पर
एक-एक कुआँ है।
अपनी खाल को
मैं किवाड़ की तरह खोलकर
एक कुएँ में उतर जाता हूँ।
सीढ़ियाँ
हारमोनियम के परदों की तरह
चिंचियाने लगती हैं
और नीचे
मेरी एक लम्बोतरी परछाईं
जल में !
—या तेल के कढ़ाव में ?

अचानक
कुएँ में कहीं से निकलकर
काले-काले यमदूत
अट्टहास करते हुए
मुझे अपने पंजों में जकड़ते हैं
और मुझे वापस ले जाते हैं।
मैं आँखें बन्द करके चीख़ उठता हूँ :
'नहीं, नहीं, वापस नहीं जाऊँगा'
तभी मेरे सिर पर एक शहतीर टूटती है
और मेरे कानों में रौरव भर जाता है।

: २ :

मैं मान क्यों नहीं लेता कि मैं हार गया हूँ
और यह ज़िन्दगी
जिसे मैं बार-बार
अपनी मुट्ठियों में भरने की कोशिश करता हूँ
मुझसे बहुत बड़ी है !
क्यों मैं रह-रहकर ऐसे कगार पर आ खड़ा होता हूँ
जहाँ नीचे एक गरजता समुद्र है
और भीतर एक कशमकश
जबकि मैं जानता हूँ मेरे पास कोई विकल्प नहीं है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—न नीचे कूद सकता हूँ
—न ऊपर थिर रह सकता हूँ !

कहीं ऐसा तो नहीं है
कि मेरे बिना जाने ही
तुम मुझे ठेलते-ठेलते यहाँ तक ले आते हो ?
तो फिर यहाँ लाकर
तुम मुझे छोड़ क्यों देते हो ?
—एक ही धक्के की तो कसर है ?

: ३ :

क्या फ़ायदा हुआ दर्जा छः में यह पढ़ने से
कि कस्तूरी मृग के कुण्डल में बसती है ?
मैंने पूरी ज़िन्दगी भटकने में बिताई है ।
और अब सब ओर से विफल होकर
जब मैं अपना कुण्डल चीर-फाड़ रहा हूँ
तो वह इस खोखल में मिलती क्यों नहीं ?
क्या वह उड़ गई या रिस गई
या कि मुझे बेहोश करके
कोई बहेलिया उसे पहले ही ले जा चुका है !
या
—और इस सम्भावना से ही मैं चरमराने लगता हूँ—
कहीं ऐसा तो नहीं है
कि मैं कस्तूरी मृग ही नहीं हूँ ?
और मेरी यह भटकन और चीर-फाड़
मात्र मेरा दम्भ है ! !

: ४ :

मुक्ति ?
मैंने उसे दिव्यता का पर्याय जाना था ।
हर जीर्ण बन्धन मैंने तोड़ दिया
हर नये फन्दे से बच-बचकर चला हूँ
धरती से चार अंगुल ऊपर चला है सदा मेरा यान
एकरथ
किन्तु कहाँ दिव्यता मिली मुझ ?
क्या यह मेरा खोखला हाहाकार मुक्ति है ?
रेत का यह अन्तहीन विस्तार रस है ?

लगता है :
मेरे भीतर कोई दक्षिणी पण्डित है
तिलक-त्रिपुण्डी, रामनामी धारे, सुमिरनी लिये
शुचिता के मण्डल में आबद्ध
असवर्णों की छाया तक से बचता हुआ
जो यह जान ही न सका हो—
कौन-से अनजाने निर्णायक क्षण में
उसके व्यवहार में से
धर्म का सार बीत गया है ।
बचना नहीं जूझना ही
मुक्ति है
शुचिता है
धर्म है !

: ५ :

तुम ?
अपने इस एकान्त निजी जाँच-पर्व पर
कछुए की तरह अपने हाथ-पैर समेटकर
जब मैं अपने में स्थित होना चाहता हूँ—
तुम क्यों दिख जाते हो ?
जाने कब मैंने तुम्हें पराया समझकर
अपने से दूर कर दिया था—
केंचुल-सा देह से उचालकर
खोखल-सा चोंच से विदारकर
चेहरे-सा नखों से खरोंचकर,
पर आज लगता है
तुमसे छुटकारे के सब प्रयत्न व्यर्थ हैं
और तुम अब भी जहाँ के तहाँ मेरे साथ चिपके हो
छठवीं अँगुली की तरह जन्म-दत्त किन्तु व्यर्थ
मुझको कुरूप करना ही जानते हो तुम ।
टेढ़ी नाक टेढ़ी सही फिर भी वह नाक है
साँस लेती, गन्ध पाती, माथे को ऊँचा भी उठाती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—किन्तु छठी अँगुली तो निष्प्रयोग बोझ है !
क्या करूँ तुम्हारा मैं ?
एक बार होकर तुम अनहुए होना नहीं चाहते
मेरे कर्म, मेरे लाभ, मेरे दान में तुम्हारा कहीं कोई योग नहीं
तो भी तुम्हें ढोता हूँ !

मैंने कब जाना था
कि यह निरी काल्पनिक रेखा जो
खेल-खेल में ही मैंने खड़िया से काढ़ी थी
खाई बन जाएगी ?
रेशम-सी पतली यह दूरी फलाँगने के यत्न में
जीवन चुक जाएगा ?

: ६ :

मैंने तय किया था कि मैं नहीं होऊँगा
जब तक यह जान न लूँ मुझको क्या होना है
और मैं अपने होने को स्थगित कर
होने के विविध स्वरूप जाँचता रहा ।
क्या-क्या नहीं छान डाला
क्या-क्या नहीं खूँदा है
कहाँ-कहाँ नहीं घूमा
किस-किससे नहीं जूझा
कौन-सा है बियाबान जो नहीं रूँधा है !
भागा हूँ, रपटा हूँ, दौड़ा हूँ, घिसटा हूँ,
पिटा हूँ, रोया हूँ, झींका हूँ, चीखा हूँ
क्या-क्या नहीं तोड़ा मैंने क्या-क्या नहीं फोड़ा है
कोई भी विकल्प कब जाँचे बिना छोड़ा है ?
पर क्या एक पल को भी मुझे यह ज्ञान मिला
मुझको क्या होना है ?
कोई प्रकाश नहीं बरसा आसमान से
भक्त चाहे जो कहें
कोई कुल्हाड़ी नहीं निकली किसी कुएँ से
नानी की कहानी कुछ भी रहे
कोई संकेत नहीं मिला पण्डितों से
पोथे सब ओछे से
और मैं चौकन्ना
विस्फारित आँखों में भरे हुए ज्वलंत प्रश्न
पुरातत्त्व, इतिहास, राजनीति, दर्शन की चरखी में
चक्कर लगाता ही रहा हूँ
कि आज मुझे अचानक ज्ञात हुआ
होने की बात क्या
मैं तो हो चुका हूँ !

: ७ :

दिन-भर किसी उखड़े सैलानी की तरह
निर्जीव खण्डहरों को भौंचक निहार कर
जब मैं शाम को 'डी लक्स' बस से घर आता हूँ
तो दर्पण के सामने खड़े होते ही
मैं अचम्भे में पड़ जाता हूँ ।
अचानक देखता हूँ
मैं चतुर्भुज हो गया हूँ
मेरे एक हाथ में बच्ची की गुड़िया है
एक में बाढ़-पीड़ितों के लिए दान-पात्र
एक में कलम जिसकी स्याही सूख चुकी है
और चौथे में एक डमरू अपने भाई की खाल का !
मैं हड़बड़ाकर पटापट डमरू बजाता हूँ
हर डुगडुगाहट पर कमरे की दीवारें
सिमटी चली आती हैं ।
मेरा दम घुटने को होता है
तभी दर्पण से निकल कर दो छोटे हाथ
चूड़ियाँ बजाते हुए मुझे घेर लेते हैं
और मैं उनकी गिरफ़्त में बचाव जान
घिसटा चला जाता हूँ ।
दर्पण के भीतर पेचों से कसे हुए
मिनी-आसमान पर
जब नज़र जाती है
तो ठगा रह जाता हूँ :
एक धड़हीन चेहरा मुँह फाड़े खड़ा है
उसके साँस लेते ही मेरे पाँव उखड़ जाते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और तूफ़ान पर सवार मैं उसमें समा जाता हूँ।

: ८ :

फिर रूपक !
मुझको यह हो क्या गया है ?
रूपक के बिना क्या मैं सोच भी न पाऊँगा ?
लगता है रूपकों की नगरी में क़ैद मैं
ख़ुद भी एक रूपक बन गया हूँ।
क्या मुझे इससे कभी निजात नहीं मिलेगी ?
क्या मैं इन अनगिनत पत्तों को छीलकर
कभी अपना सच्चा मन देख नहीं पाऊँगा ?
बहुरूपिया बने रहना ही क्या मेरी नियति है ?
कब तक मैं प्यार को फूल, और रोटी को ख़ुशामद
और क्रान्ति को रेस्तराँ बनाता रहूँगा ?
कब तक मैं सुविधा की छत पर चढ़ा
कविता के बाँस से
ज़िन्दगी की कटी पतंग फाँसने का यत्न करता रहूँगा
और फिर घबराकर देखूँगा
कि वह सामने
मिट्टी में खेलते लड़कों के झुण्ड में जा पड़ी है
और वे गुत्थमगुत्था होकर उसकी चिन्दियाँ
उड़ाते हैं। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'संत्रास' का आतंक

भीष्म साहनी

बरसों पहले दस्तायेव्स्की और जेम्स जायस आदि को पढ़ने का मौका मिला था। उन दिनों दस्तायेव्स्की के नाम के साथ बहुत-से ऐसे दर्शनात्मक विशेषण नहीं जोड़े जाते थे, न ही यह कहा जाता था कि वह संकटकालीन युग की मूलभावना को वाणी देता है, न उसके साहित्य को कसौटी मानकर यह दावा किया जाता था कि जो लेखन दस्तायेव्स्की की संत्रास-भावना के अनुकूल नहीं वह आज के युग में असंगत है और वह आज के जीवन की तह में पैठकर लिखा गया साहित्य नहीं है। तब दस्तायेव्स्की को एक अत्यन्त संवेदनशील लेखक और महान् उपन्यासकार के रूप में पढ़ा था। दस्तायेव्स्की तथा उनसे मिलते-जुलते अनेक लेखकों के दृष्टिकोण को विश्व की वर्तमान स्थिति के साथ जोड़ना और उसे एकमात्र संगत और सार्थक साहित्य का नाम देना एक नई बात है।

कहा जाता है कि लेखक समाज में पाये जाने वाले अन्तर्विरोधों को महसूस कर, उन्हीं के आधार पर अपनी रचनाएँ रचता है। एक ओर मनुष्य की इच्छाएँ, दूसरी ओर इन इच्छाओं को धूल में मिलाने वाली शक्तियाँ—कभी दैवी, कभी मानवी, कभी सामाजिक—विभिन्न स्तरों पर पाये जाने वाले अन्तर्विरोध, साहित्यिक रचनाओं के विषय बनते हैं। जब हम किसी विश्वव्यापी संकट की बात करते हैं तो सामाजिक जीवन में पाये जाने वाले अन्तर्विरोध और परस्पर-विरोधी शक्तियों का संघर्ष कुछ-कुछ गौण हो जाते हैं। तब हम अन्तर्विरोधों की बात कम करते हैं, किसी भयावह स्थिति की बात अधिक करते हैं। केवल उस संकट की बात करते हैं जो समान रूप से सारे संसार पर छाया हुआ है। इस स्थिति में उन अन्तर्विरोधों की संगति कम हो जाती है, बल्कि इस संकट में अच्छे और बुरे का कोई भेद नहीं रह जाता। यह एक प्रकार का सरलीकरण है जो वास्तविक स्थिति को धुँधला देता है।

इस प्रकार के चिन्तन की सबसे बड़ी प्रवृत्ति यही है कि यह उन अन्तर्विरोधों को हमारे सामने धूमिल बना देता है, और इस तरह संघर्षरत शक्तियों को एक ही धरातल पर खड़ा कर उनके सामाजिक महत्त्व को गौण बना देता है। इस सामान्यीकरण के ही फलस्वरूप इस प्रकार के निष्कर्ष भी निकाले जाते हैं कि आज के जीवन की तह में पैठने वाला व्यक्ति केवल संत्रास को ही देख सकता है। इसी तरह प्रत्येक प्रकार की राज्यसत्ता को समान रूप से इन्सान का दुश्मन माना जाता है। एस्टेब्लिशमेन्ट शब्द ऐसा ही एक व्यापक शब्द है जिसका प्रयोग किया जाता है। राज्यसत्ता समाजवादी हो अथवा पूँजीवादी, अथवा फ़ासिस्ट, समान रूप से निन्दनीय है। इस दृष्टि से अमेरिका वियतनाम में जो कुछ कर रहा है वह भी वैसा ही है जो सोवियत संघ चेकोस्लोवाकिया में कर रहा है। राज्यसत्ता दमन का माध्यम है, इसलिए जहाँ भी है उसका विरोध करना चाहिए। फ़ासिज़्म भी उतना ही बुरा है जितना कम्युनिज़्म आदि। इस तरह हम सभी चीज़ों पर एक ही रंग पोतने लगते हैं। संसार को हम एक ही व्यापक संकट से घिरा देखें तो संसार का रूप बदल जाता है, संघर्षरत संसार को देखें तो हम बिल्कुल दूसरा रूप देखने लगते हैं, तब संत्रास, मूल्यहीनता, एकाकीपन, असुरक्षा, मृत्युबोध आदि निर्णीत निष्कर्ष बनकर सामने नहीं आते, तब उनका महत्त्व सापेक्ष हो जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि कुछेक प्रश्न विश्वव्यापी महत्त्व रखते हैं, जैसे जंग और अमन का सवाल, आणविक हथियारों का सवाल, दुनिया के कुछ हिस्सों में भूख का सवाल, बढ़ती आबादी का सवाल आदि। पर क्या सचमुच इनकी तह में पैठने वाला व्यक्ति केवल संत्रास का ही अनुभव करता है? क्या वियतनाम के मोर्चे पर लड़ने वाले दोनों पक्षों के सैनिक समान रूप से संत्रस्त हैं? या दोनों समान रूप से उद्भ्रान्त हैं? क्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संत्रास पर ही आज के चिन्तन की इति हो जाती है ?

मैं सोचता हूँ निश्चित सीमाओं में कोई बात नहीं कही जा सकती। यदि इस प्रकार के दर्शन का नाता हम संसार की वास्तविक स्थिति से जोड़ना चाहते हैं तो हमें वास्तविक स्थिति को समझना होगा, और उसे समझने के लिए आज के ज्ञान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह कहना कि विज्ञान और राजनीति ने मनुष्य को अपने चंगुल में दबोच लिया है और उसे निःसहाय बना दिया है, यह भी एक तरह से निश्चित सीमाओं में ही कही गई बात है, एक तरह का सरलीकरण है। कल तक विज्ञान हमें ठीक तरह से सोचने का ढंग सिखा रहा था, हमारे अन्धविश्वास और पूर्वाग्रह तोड़ रहा था, हमारे दिमाग़ी जाले साफ़ कर रहा था, प्रबुद्ध चिन्तन की प्रेरणा दे रहा था, और कहा जाता था कि विज्ञान की सहायता से हम जीवन को ज़्यादा सही ढंग से समझ पायेंगे, समाज की तह में काम करने वाले कारणों को समझ पायेंगे, आदि-आदि। विज्ञान या तो नियमों की खोज है, या फिर खोजों के आधार पर, व्यावहारिक जीवन में इस्तेमाल किये जाने वाले साधनों का आविष्कार। विज्ञान का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, विज्ञान को अच्छा या बुरा की संज्ञा देना एक तरह से पुराने ढंग से ही सोचना है। विज्ञान द्वारा लायी गई जिन पेचीदगियों की हम बात करते हैं वे क्या सचमुच विज्ञान की देन हैं या हमारी सामाजिक अथवा आर्थिक विषमताओं द्वारा पैदा की गई हैं ?

राजनीति की भी लगभग वैसी ही स्थिति है। बदलती सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप राजनीति तथा राजनीतिक संस्थाएँ बदलती रहती हैं और समाज के विभिन्न जन-समूहों के आर्थिक और सामाजिक हितों को व्यक्त करती हैं। राजनीति की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, और न ही समस्त संसार की राजनीति को एक ही नाम दिया जा सकता है। क्या हम रोडेशिया की राजनीति, सोवियत संघ की राजनीति और भारत की राजनीति को एक ही स्तर पर रखकर उनमें से एक ही व्यापक निष्कर्ष निकाल सकते हैं ? और यदि आज राजनीति का प्रभाव व्यक्ति पर प्रबल हो उठा है तो क्या यह प्रभाव सर्वथा नकारात्मक ही है ?

संत्रास का दर्शन आज के जीवन के प्रति जागरूक है, इस मानी में राजनीति से गहरा सम्बन्ध लिये हुए है। जब उसके प्रवक्ता राजनीति के प्रति विरोध की बात कहते हैं तो उसमें स्पष्ट राजनीतिक ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। जब वे कहते हैं कि समाजवादी क्रान्ति भी फ़ेल कर गई है और पूँजीवाद भी 'फ़ेल' कर गया है तो वे व्यावहारिक दृष्टि से एक राजनीतिक पक्ष के पक्षधर के रूप में बोल रहे होते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में संघर्षरत शक्तियों को समतल करना, साम्राज्यवाद और समाजवाद दोनों को एक धरातल पर लाकर खड़ा करना राजनीति नहीं तो क्या है ? यदि हम संघर्षरत शक्तियों को एक ही रंग में देखें तो ज़ाहिर है हमारी सामाजिक और राजनीतिक भूमिका यथास्थिति को कायम रखने वाली भूमिका ही होगी। यदि आज़ादी के पहले कोई कहता कि अंग्रेज़ भी बुरे हैं और कांग्रेसी भी बुरे हैं तो यह प्रकटतः भले ही राजनीति के प्रति उपेक्षा व्यक्त करती, लेकिन वास्तव में वह अंग्रेज़ों का ही पक्ष मज़बूत करने वाली राजनीति होती।

मनुष्य अपने काल के अर्जित ज्ञान की परिधि के बाहर नहीं देख सकता। हम उसी ज्ञान के आधार पर सोच सकते हैं जो हमें उपलब्ध है, आने वाली पीढ़ियाँ अपने काल के उपलब्ध ज्ञान के अनुसार सोचेंगी और अपने रास्ते ढूँढेंगी। हम भविष्य में बहुत दूर नहीं देख सकते। पर साथ ही हम आज के अपने ज्ञान को नकार भी नहीं सकते, क्योंकि उसी के माध्यम से हम आज के अपने संसार को समझ सकते हैं।

मनुष्य के एकाकीपन और अजनबीपन की बात भी, मैं सोचता हूँ, बहुत-कुछ एकांगी ढंग से देखी और पेश की जाती है। उसके सामाजिक संदर्भ से उसे काटकर देखा जाता है। यह सच है कि आज के मशीनी युग में मनुष्य बहुत-कुछ अकेला होता जा रहा है, बड़े-बड़े कारखानों, बड़े-बड़े संस्थानों में काम करने वाले लोगों के आपसी सम्बन्ध अवैयक्तिक होते जा रहे हैं। पर यह अकेलापन एक सामाजिक तथ्य है, आज के युग की एक समस्या है। सामाजिक व्यवस्था कभी भी एक-जैसी नहीं रही, सदा बदलती रही है, और मानव-संगठन के रूप सदा बदलते रहे हैं, कबीला, संयुक्त परिवार, आदि। आगे क्या रूप होगा, कहना कठिन है, लेकिन समाज में नई इकाइयाँ बनती जाएँगी, सामाजिक व्यवस्था के नये रूप बनते जाएँगे। यों मूलतः इन्सान न कभी अकेला था, न अकेला रह सकता है। मैं रोटी खाता हूँ, पर मैं जो अनाज खाता हूँ उसे स्वयं नहीं बोता, स्वयं नहीं काटता। मेरे लिए यह अनाज किसी दूसरे इन्सान ने बोया है, किसी दूसरे ने काटा है। मैं अपने अनाज के लिए दूसरे इन्सानों पर निर्भर हूँ। इसी तरह कपड़े के लिए, इसी तरह बीमारी में इलाज के लिए यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्भरता आज के युग में और अधिक बढ़ गई है। फिर जानवर का बच्चा तो पैदा होने के बाद कुछेक दिन में अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है, और स्वतन्त्र रूप से जी सकता है। पर इन्सान का बच्चा तो कम-से-कम सात साल तक परवरिश माँगता है, उसे माँ जनकर फेंक नहीं सकती। इन्सान अकेला नहीं है, एक रिश्ता हो या दूसरा, वह अन्य इन्सानों से मूलतः जुड़ा है। **साहित्य में अकेलापन एक भावनात्मक धारणा है, जो इस संक्रामणकालीन स्थिति पर प्रकाश डालती है। जिसमें से हम गुजर रहे हैं इसे इस रूप में पेश करना और बात है और एक शाश्वत सत्य के रूप में मनुष्य की नियति के रूप में दिखाना बिलकुल दूसरी बात।**

जहाँ समाज की व्यवस्था बदलती रहती है, वहाँ इन्सान की स्वभावगत प्रतिक्रियाएँ भी बदलती जाती हैं। आज का इन्सान आदि-मानव के स्तर का इन्सान नहीं रह गया है। इसके पीछे सहस्रों शताब्दियों के सहजीवन के प्रभाव हैं, सहस्रों शताब्दियों का संस्कार है। हमारा स्वभाव तक बदल गया है। जमाना रहा होगा जब पुरुष स्त्रियों में भेद नहीं करता था, विशेषकर जब कुटुम्ब-कबीले नहीं बने थे। लेकिन कुटुम्ब-कबीले बन जाने पर स्त्रियों के बीच रेखाएँ खिंच गईं, यह माँ है, यह बहन है, यह बेटी है, यह कबीले की औरत है आदि। तदनुसार हमारी प्रतिक्रियाओं का भी संस्कार हुआ। हम जिस नज़र से पत्नी को देखते हैं उस नजर से माँ को नहीं देखते, चेष्टा करने पर भी नहीं देख पाते, क्योंकि अन्दर से सहस्रों वर्ष पुराना संस्कार इजाज़त नहीं देता, हालाँकि दोनों औरतें हैं। इस समय यही प्रतिक्रियाएँ स्वाभाविक लगती हैं। हमारा आज का स्वभाव, आज के इन्सान की प्रकृति सहस्रों वर्षों के सामाजिक जीवन की उपज है। इस कारण भी मनुष्य को उसे उसके लम्बे अतीत से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

आज यदि मनुष्य का अकेलापन दुःखान्त आयाम ग्रहण कर गया है तो वह भी मनुष्यों के आपसी रिश्तों के ही संदर्भ में। मनुष्य अकेला है इसलिए उसके जीवन में ट्रेजिडी है, ऐसा कभी नहीं होता, मनुष्य अकेला है। मानवीय संबंधों के संदर्भ में हैं, और ये संदर्भ बदलते रहते हैं। इन्सान जहाँ अकेला है वहाँ वह अपने अकेलेपन को तोड़ने के अनेक रास्ते भी खोजता रहता है, उसके विरुद्ध संघर्ष भी करता रहता है···

इसी तरह मौत को भी निश्चित सीमाओं में नहीं देखा जा सकता। मौत कभी भयानक तो कभी कम भयानक तो कभी प्रेरणादायक भी हो उठती है। हिटलर के यातनाशिविर में एक यहूदी की मौत भयानक है, साधारण बूढ़े आदमी की मौत भयानक नहीं है, रोडेशिया में मानवीय अधिकारों के लिए लड़ने वाले किसी अफ्रीकी की मौत प्रेरणाप्रद है। ध्येय और संदर्भ से कटकर मौत को नहीं देखा जा सकता। अणुबम का शिकार होकर मरना भयावह है, अणुबम के ख़िलाफ़ संघर्ष करते हुए मरना भयावह नहीं रह जाता। यदि आप समझें कि अणुबम की विभीषिका का संदर्भ ही एकमात्र संदर्भ है तो यह स्थिति को अत्यधिक सरल बनाकर देखना है।

सामाजिक संदर्भ से काटकर आप किसी चीज़ को नहीं देख सकते, मौत को भी नहीं। हमारे सभी मूल्य समाज-जनित हैं। ज्यों-ज्यों समाज बदलता है, हमारे मूल्य बदलते जाते हैं। न इन्सान समाज से अलग हो पाता है और न ही कभी मूल्यहीनता की स्थिति आ पाती है। आप यह कह सकते हैं कि समाज के बदलते परिवेश में पिछले मूल्य अपनी सार्थकता खो बैठे हैं, पर आप यह नहीं कह सकते कि मूल्यों जैसी कोई चीज़ दुनिया में नहीं रह गयी है। यदि मनुष्य में संकल्प-शक्ति नाम की कोई चीज़ है, यदि वह अपनी संकल्प-शक्ति के आधार पर कोई निर्णय कर सकता है, कोई कदम उठा सकता है तो मूल्यों का जन्म उसी समय होने लगता है। यदि स्वभावगत प्रवृत्ति के अतिरिक्त मनुष्य अपने आचरण में किसी संकल्प-शक्ति का भी प्रयोग करता है, और साथ ही मनुष्यों के बीच रहता है, तो वह अपने मूल्य गढ़ने लगेगा। और सच तो यह है कि मूल्यहीनता की बात हम करते तो हैं पर वास्तव में हमारे बहुत-से मूल्य अभी भी परम्परागत ही हैं। भ्रष्टाचार की हम दुहाई तो बहुत देते हैं, पर भ्रष्टाचार आख़िर एक प्रकार का आचार ही तो है, जिसे आप भ्रष्ट इसलिए कहते हैं कि आपके दिमाग़ में इसके विपरीत किसी दूसरे प्रकार के आचार की धारणा रहती है, जिसे आप सही समझते हैं। तो फिर मूल्यहीनता कहाँ हुई? हमारे नैतिक मानदण्ड टूटे नहीं हैं, वरना हम ईमानदारी और भ्रष्टाचार में लीक नहीं खींचते, हमें दोनों एक जैसे नजर आते। मूल्य-हीनता केवल इस बात में हुई कि इन्हीं मूल्यों पर आचारण नहीं हो पा रहा है। यह नाम हम तभी देते हैं जब हमारे ज़ेहन में सामाजिक व्यवहार का कोई प्रतिमान मौजूद होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज हमारे साहित्य में व्यंग्य का [illegible] व्यंग्यकार तभी किसी सामाजिक बुराई पर व्यंग्य कर सकता है जब उसके ज़ेहन में सामाजिक व्यवहार का कोई प्रतिमान मौजूद हो, वरना किस कसौटी पर वह सामाजिक बुराई को बुराई कहकर उसका मज़ाक उड़ाएगा ? अच्छे और बुरे की कल्पना न तो यहाँ मर गई है, न असंगत हुई है।

किसी साहित्यिक धारा को दर्शन का रूप देना या उसका एक वाद बना लेना, उतना ही ग़लत है जितना किसी दर्शन के आधार पर उसे रद्द करना या उसे स्वीकृति देना। किसी लेखक की रचनाओं को हाथ में लेते समय हम यह नहीं कहते कि इस लेखक की दार्शनिक मान्यताएँ सही हैं, इसलिए मैं इसकी रचनाएँ पढ़ता हूँ, न ही कोई यह कहता है कि अमुक लेखक की दार्शनिक मान्यताएँ मेरी मान्यताओं से भिन्न हैं। इसलिए मैं तो इसे नहीं पढ़ूँगा, तुम पढ़ना चाहो तो भले ही पढ़ो। मान्यताओं की नपी-तुली कसौटी साहित्य पर लागू नहीं होती। और ज्यों ही हम इसे ज़ेहन से हटा दें तो बहुत-से दरवाज़े खुले नज़र आते हैं। तब एक हिन्दू भी अच्छी कहानी लिख सकता है और एक मुसलमान भी, पूँजीवादी देश का रहने वाला लेखक भी और समाजवादी देश का रहने वाला लेखक भी, मैं भी और मेरा जानी दुश्मन भी, बूढ़ा भी और जवान भी। हम लेखक से मान्यताओं की अपेक्षा नहीं करते, साहित्य मान्यताएँ प्रमाणित करने का अखाड़ा नहीं है। हम लेखक से भावना के स्तर पर ज़िन्दगी की सही तस्वीर माँगते हैं। तब मैं यह भी मानकर चलूँगा कि एक समय में एक ही प्रकार का साहित्य नहीं रचा जाता। संत्रास का साहित्य भी और जीवन के प्रति गहन आस्था रखने वाला साहित्य भी, मनुष्य की गरिमा दिखाने वाला भी और मनुष्य की क्षुद्रता दिखाने वाला भी। साहित्यिक रचनाओं के आन्तरिक गुणों और प्रभाव के अनुरूप ही हम उन्हें ऊँचे अथवा सामान्य साहित्य की संज्ञा देंगे। सूत्रों में सोचने और सूत्रों को ही बात-बात पर लागू करने की प्रवृत्ति सर्वथा हानिकारक है, उतनी ही जितनी मान्यताओं के अनुरूप कहानी गढ़ने की कोशिश। मैं समझता हूँ कि काल-विशेष अथवा युग-विशेष की मूल प्रेरणा तो होती है लेकिन वह प्रत्येक लेखक को एक ही ढंग से प्रभावित नहीं करती। रेनेसाँ की प्रेरणा उस समय के सभी लेखकों में एक ही रूप में व्यक्त नहीं हुई थी। प्रत्येक लेखक का अपना विशिष्ट संवेदन होता है। उसी के अनुरूप ही उसकी प्रतिक्रियाएँ होती हैं, उसी के अनुरूप ही उन्हें अभिव्यक्ति भी मिलती है। 'आज का संवेदन' नाम की कोई चीज़ नहीं होती। और संवेदन की अभिव्यक्ति का स्वरूप प्रत्येक लेखक का संवेदन स्वयं निर्धारित करता है, स्वयं खोजता है, आप या मैं निर्धारित नहीं करते। और प्रेरणा से कहीं अधिक महत्त्व संवेदन का है, लेखक के अपने विशिष्ट संवेदन का।

यदि यह ठीक है कि एक लेखक अपने निजी संवेदन के बल पर, अपने संस्कारों, अनुभवों आदि के बल पर रचना-कार्य करता है तो एक भारतीय लेखक की स्थिति यूरोप के लेखक की स्थिति से बहुत भिन्न है। मैं जानता हूँ कि जो भावनात्मक संस्कार मेरे हैं वे आज के एक साधारण यूरोप-निवासी के नहीं हैं। मैं वैराग्य के गीत, भक्त कवियों की वाणियाँ, देश-प्रेम के गीत, हुस्न-ओ-इश्क की ग़ज़लें सुनकर बड़ा हुआ हूँ। मैं नहीं समझता कि आज से चालीस बरस पहले का हमारे देश का वातावरण पश्चिमी यूरोप के किसी भी देश के वातावरण से मिलता था, यहाँ जब राष्ट्रवाद जन्म ले रहा था वहाँ राष्ट्रवादी मान्यता पहले विश्वयुद्ध की भट्ठी में झुलस रही थी। मेरे संस्कार बहुत अलग हैं। मेरे आस-पास के लोग श्राद्ध भी करते हैं, पितरों को भोजन भी भेजते हैं, दत्तचित्त होकर गरुड़ पुराण की कथा भी सुनते हैं, तीज-त्यौहार भी करते हैं, जमुनाजी भी नहाते हैं और शाम को वत्ती जलाने पर उसके सामने हाथ भी जोड़ते हैं। मैं अच्छे और बुरे की परिभाषाएँ सुनते हुए बड़ा हुआ हूँ। पाप और पुण्य की भी और नैतिक धरातल पर अच्छे और बुरे की भी। अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रभावाधीन इन संस्कारों की जकड़ कुछ कम हुई है ज़रूर, पर मैं या मेरे आस-पास के लोग उनसे पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाए। बौद्धिक स्तर पर भले ही कुछ मानता, फिर व्यवहार में बहुत-कुछ संस्कारों के बल पर ही व्यवहार करता हूँ। हम प्रेम की कविताएँ पढ़ते हैं, पर कल किसी की बेटी प्रेम करने लगे तो उसकी हिम्मत जवाब दे जाती है, अगर कल किसी हिन्दू बुद्धिजीवी की बेटी किसी मुसलमान लड़के के साथ ब्याह करना चाहे तो साम्प्रदायिकता को घृणित मानते हुए भी उसमें इतनी हिम्मत नहीं होगी कि खुले दिल से मुसलमान लड़के के साथ उसे ब्याह दे। बौद्धिक स्तर पर हमारी मान्यताएँ कुछ भी हों, भीतर-ही-भीतर पुरानी मान्यताओं के संस्कार हमें बहुत-कुछ जकड़े हुए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब मैं अपनी कहानियों के लिए ऐसे पात्र कहाँ से लाऊँ जो व्यावहारिक स्तर पर, किसी यूरोप-निवासी की भाँति इन पूर्वाग्रहों से मुक्त हों ? बौद्धिक मान्यताओं के स्तर पर तो मेरा काम चल जाता है, लेकिन रचनात्मक स्तर पर इसे कैसे निभा पाऊँ ? पाश्चात्य जीवन के किरदारों को मैं अपनी कहानियों में कैसे बिठा दूँ ? रचना का वह स्तर सचमुच ही बड़ा छिछला होगा जहाँ पात्र लेखक की बौद्धिक मान्यताएँ ही दोहराते रहें ।

कुछ-कुछ यही स्थिति मेरे भावनात्मक जीवन की भी है । जिस समाज में मैं रहता हूँ उसके साथ भावनात्मक स्तर पर मेरा एक रिश्ता है और चाहते हुए भी मैं उसे अमूर्त अवैयक्तिक रिश्ते में नहीं बदल सकता । कुछ मुद्दत पहले तक जब 'इण्डियन आयल' का बोर्ड देखा था तो दिल में हिलोर-सी उठती थी कि देश में उद्योग-धन्धे पनपने लगे हैं, वायुमंडल में भी वह दासता की भावना नहीं रही जो आजादी के पहले हुआ करती थी । कुछेक बातें देखकर जहाँ दिल नाच उठता था, वहाँ कुछेक अन्य बातें देखकर दिल दहल भी उठता था । जहाँ एक ओर विकास की झलक मिलती थी, तो दूसरी ओर 'पड़ोसी के पेट में घूँसा मारो और आगे बढ़ो' वाला वातावरण भी देखने को मिलता था । मैं बार-बार मन को समझाऊँ कि साहित्यिक के नाते यह दुनिया मेरी नहीं है, तो भी यह दुनिया मेरी ही थी । भावनात्मक स्तर पर मैं इससे जुड़ा हूँ । इसे मैं अवैयक्तिक स्तर पर ला पाने में असमर्थ हूँ । आये-दिन दंगे होते हैं तो भावनात्मक स्तर पर मैं उदासीन नहीं रह पाता, विशेषकर जब मैं जानता हूँ कि इससे बेहतर जीवन जिया जा सकता है । भावनात्मक स्तर पर मैं अनेक प्रयासों के साथ अपने को जुड़ा हुआ भी पाता हूँ । मेरे समाज की अनेक पेचीदगियाँ निराली हैं । यूरोप की ज़िंदगी मेरे देश की ज़िंदगी से बहुत-कुछ भिन्न है । मेरे रिश्ते की एक स्त्री विधवा हो गयी थी, उसने अपना सारा जीवन वैधव्य में काट दिया है । मेरे रिश्ते की एक अन्य स्त्री को घरवाले ने बसाया नहीं, धक्का मारकर बाहर निकाल दिया । वह आज भी अलग-थलग बैठी एक के नाम की माला जपती रहती है ।

जिस समाज में मैं रहता हूँ वह ज़रूर बदल रहा है, बहुत-कुछ पश्चिमी यूरोप की ही लीकों पर बदल रहा है । लेकिन हू-ब-हू विलायत नहीं बन गया है । पश्चिमी यूरोप के नागरिक की दुनिया बहुत-कुछ दूसरी है, पूर्वाग्रहों के स्तर पर भी, नैतिक मूल्यों के स्तर पर भी, सामाजिक सम्बन्धों के स्तर पर भी और भावनात्मक प्रतिक्रियाओं के स्तर पर भी । हमारे यहाँ वह तनाव नहीं पाया जाता जो दो सौ बरस की मशीनी सभ्यता और भयानक विश्वयुद्धों के कारण पश्चिमी यूरोप में पाया जाता है । यान्त्रिक युग से पैदा होने वाला एकाकीपन वहाँ शायद चरम सीमा तक जा पहुँचा है, जबकि हमारे यहाँ अभी केवल उसकी शुरुआत है । हमारे यहाँ बिरादरियों, संयुक्त परिवारों आदि में अभी केवल दरारें पड़ी हैं, जबकि वहाँ ढूँढने पर भी उनका ईंट-पत्थर नहीं मिलता । और फिर, यह समझना भूल होगी कि यूरोप के सभी देशों में एक जैसी स्थिति पायी जाती है । समाजवादी रूस में, मिसाल के तौर पर, सामाजिक व्यवस्था भिन्न होने के कारण सामान्य जीवन की गतिविधि और वातावरण बहुत-कुछ भिन्न है । वहाँ पर वह तनाव नहीं है, जो पश्चिमी यूरोप में है, इसका यह मतलब नहीं कि वहाँ पर समस्याएँ नहीं हैं, समस्याएँ हैं, लेकिन बिलकुल वैसी समस्याएँ नहीं हैं जैसी पश्चिमी यूरोप में हैं । जहाँ पश्चिमी यूरोप में पूँजीवादी व्यवस्था के कारण व्यक्तिवाद का बोलबोला है और व्यक्ति नगण्य होता जा रहा है, वहाँ सोवियत संघ में समष्टिवाद पर अधिक बल दिया जाता है जिससे व्यक्ति का उत्साह मर नहीं गया है, बल्कि सामूहिक उपलब्धियों के स्तर पर बहुत-कुछ कायम है । इस अर्थ में जिस भाँति समाज एक समन्वित इकाई नहीं है, वैसे ही यूरोप भी एक समन्वित इकाई नहीं है । इतिहास के जिस मोड़ पर पश्चिमी यूरोप के लोग पहुँचे हैं हम भौतिक दृष्टि से भी और मानसिक दृष्टि से भी अभी उससे बहुत दूर हैं । हम केवल बौद्धिक स्तर पर ही उनकी स्थिति की कल्पना कर सकते हैं, अपनी अनुभूति के बल पर नहीं । दो महायुद्धों का हमारा अनुभव उनसे भिन्न रहा है । हमने वे रातें नहीं देखीं जब हज़ारों टन बम हर मिनट शहरों पर गिराये जा रहे थे । इस कारण उन स्थितियों के अनुभव से पैदा होने वाली मानसिक प्रतिक्रिया हमारी नहीं हो सकती, हम अपनी कल्पना द्वारा ही उनकी स्थिति में अपने को रख सकते हैं, और कहीं-कहीं तो अपनी कल्पना द्वारा भी शायद नहीं रख पाये । फ़ैक्टरियों में काम करने वाला कामगार पश्चिमी यूरोप में अलग-थलग है, जबकि हमारा कामगार अभी भी बहुत-कुछ अपने गाँव से जुड़ा है । हम उनकी मानसिक स्थिति को उनके परिवेश से अलग करके नहीं देख सकते,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न ही उनकी मानसिक स्थिति को अपने परिवेश की अवहेलना करते हुए स्वयं अपना सकते हैं।

अगर यह बात ठीक है कि हमारा चिन्तन हमारे परिवेश से जुड़ा रहता है तो हम अपने चिन्तन में उस स्थिति को नहीं ला सकेंगे या केवल अमूर्त, काल्पनिक, बौद्धिक स्तर पर ही ला सकेंगे जो हमारे परिवेश में नहीं मिलती।

साहित्य-रचना के क्षेत्र में हर कौम की अपनी विशिष्टताएँ, अपने संस्कार, अपने गुण होते हैं। हर कौम का अपना एक राष्ट्रीय अवचेतन होता है जो साहित्य-सृजन को प्रभावित करता है। अंग्रेज़ी साहित्य पर अंग्रेज़ों की छाप रहती है, फ्रांसीसी साहित्य पर फ्रांसीसियों की। अंग्रेज़ों के हास्य-व्यंग्य में और फ्रांसीसियों के हास्य-व्यंग्य में अन्तर है। रूसियों के चिन्तन में एक प्रकार की आध्यात्मिक प्रवृत्ति पाई जाती है जो उनके साहित्य में झलकती है। अंग्रेज़ों का उपन्यास-साहित्य, अमरीकियों के उपन्यास-साहित्य से बहुत भिन्न है। अंग्रेज़ी उपन्यास में शताब्दियों से मनुष्य को समाज से जुड़ा, समाज के परिप्रेक्ष्य में दिखाया गया है। अमरीकी उपन्यास में मनुष्य को अकेला, निपट अकेला दिखाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। अंग्रेज़ी उपन्यास में वर्ग-चेतना अधिक है, अमरीकी उपन्यास-साहित्य में न के बराबर। इसी तरह हमारे साहित्य पर हमारे ही राष्ट्रीय अवचेतन की छाप होगी, वही साहित्य स्वाभाविक भी होगा और मौलिक भी। इसलिए न तो मैं अपने देश और काल की सीमाएँ एक छलाँग में लाँघकर उन-जैसा साहित्य पैदा कर सकता हूँ न ऐसा कर पाने की मुझे कोई जरूरत महसूस होती है। जिस ज़िन्दगी से मैं जुड़ा हूँ उसी ज़िन्दगी से मैं प्रेरणा भी हासिल करना चाहूँगा। उसी में डूबकर ही मैं अच्छा साहित्य भी पैदा कर सकता हूँ। इसका यह मतलब हरगिज़ नहीं कि मैं पाश्चात्य साहित्य का बहिष्कार करूँ। कौन नहीं जानता कि अंग्रेज़ी साहित्य तथा बाहर के अन्य साहित्य ने हमारी रुचि को परिष्कृत किया है, वह साहित्य हमें आधुनिक युग में खींच लाने में सहायक हुआ है, यथार्थवाद की ओर हम उसी साहित्य के प्रभावाधीन उन्मुख हुए हैं। हमने उससे कितना कुछ सीखा है और सीख रहे हैं। वह साहित्य हमारे संवेदन को परिष्कृत करने में सहायक है। पर यह सब रहते हुए भी मैं लिखूँगा तो उसी बल-बूते के आधार पर ही जो भाषा, शिल्प, अनुभव, परम्परा, संस्कार आदि के नाते मेरे पास है। यह तो आप मानेंगे कि जहाँ भी हमने अपने देश, काल और परिवेश से कटकर बाहर के लोगों का दृष्टिकोण अपनाकर साहित्य रचा है, हमने भोंडा साहित्य ही रचा है। ज़माना था जब उपन्यास में टामस हार्डी का बोलबाला था, हमने हार्डी की लीकों पर चलते हुए दो कौड़ी के उपन्यास रचे। बाद में नाटकों के क्षेत्र में बर्नार्ड शॉ की धूम रही, और हमने उनकी लीकों पर चलते हुए दो कौड़ी के नाटक रचे। इसी तरह फ्रायड की खोजों के प्रभावाधीन भी। आज कामू और काफ़्का हमारे मानसिक क्षितिज पर चमक रहे हैं और कोई कारण नहीं कि उनकी लीकों पर चलते हुए हम दो कौड़ी का साहित्य न रचें।

किसी काल में भी समस्त लेखन एक ही प्रकार का नहीं हुआ, न हो सकता है, न होना चाहिए। रेनेसाँ की लहर भी जब उठी तो न केवल यह कि इटली, फ्रांस और इंगलैंड का साहित्य, एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए भी अलग-अलग दिशाओं में पनपे थे, बल्कि प्रत्येक देश में लिखने वालों ने तरह-तरह का साहित्य रचा था। जेम्स जायस का विख्यात उपन्यास पहले विश्वयुद्ध से कुछेक साल पहले छपा था, आज इस बात को लगभग ६० वर्ष बीत चुके हैं। जेम्स जायस के बाद इंगलैंड में अनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार हुए हैं, सभी ने जेम्स जायस की तरह नहीं लिखा, और सभी ने कचरा भी नहीं लिखा। मतलब कि एक ही काल की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति भी विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है।

अब यह कहाँ का न्याय है कि मुझे कोई उर्दू का शेर पसन्द आ जाए तो मुझे पिछड़ा हुआ कहा जाए, अगर बच्चन का कोई गीत पसन्द आ जाए तो दोस्त नाक-भौं सिकोड़ें, अगर गठी हुई कहानी में मुझे रस मिले तो कहें कि मुझमें संवेदन की कमी है। यह तो रही पढ़ने की बात, अगर लिखने में भी ऐसी ही कोई भूल कर बैठूँ तो मेरा नाम लिखने वालों की फ़ेहरिस्त में से काट दें। आज के युग का संत्रास महसूस कर पाऊँगा तो कर पाऊँगा, आपका आतंक तो आयेदिन महसूस करने लगा हूँ। यह छिछली रूपवादिता नहीं तो और क्या है? अपने साहित्य को दूसरों के साहित्य की नज़र से देखने और आँकने की कोशिश नहीं तो क्या है? मैं तो आखिर फिर भी कुछ पढ़ा-लिखा हूँ, राजधानी में रहता हूँ, अंग्रेज़ी जानता हूँ, बुद्धिजीवियों के साथ उठने-बैठने का दम भरता हूँ। उस बेचारे को क्या कहूँ जो विदेशी साहित्य से अनभिज्ञ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, फिर भी कुछ लिख पाने की तड़प लिये हुए है। और उस संवेदन तक नहीं पहुँच पा रहा जो केवल किताबों के ज़रिये हम तक पहुँच रहा है। मैं उसे कैसे कह दूँ कि कामू और काफ़्का नहीं पढ़ोगे तो तुम सच्चे ब्राह्मण नहीं बन सकते। एक संकीर्णता की बेड़ियाँ तोड़ते हुए हम दूसरे प्रकार की संकीर्णता की बेड़ियाँ कसे जा रहे हैं।

लेकिन संत्रास का दर्शन एक बात है, संवेदनशील, महान् लेखकों द्वारा रचा गया साहित्य बिलकुल दूसरी बात। दस्तायेव्स्की हो या काफ़्का और कामू, उनकी साहित्यिक देन से इन्कार नहीं है। उनमें जीवन की गहन अनुभूति है, उनका साहित्य यथार्थ के ऊपरी ढाँचे को फोड़, अवचेतन की गहराइयों में उतरा है, और इस तरह यथार्थ चित्रण में उसने नये आयाम जोड़े हैं। केवल ज़िंदा रह पाने की अनिवार्यता के नाते, कहीं-कहीं यह इन्सान को अपने परिवेश में दाँत गाड़ने को विवश करता है। कला की दृष्टि से इसकी उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण हैं, इससे कौन इनकार करेगा?

पर जहाँ हम इन उत्कृष्ट रचनाकारों का मान करते हैं, वहाँ उनके साहित्य को किसी विशेष दर्शन के साथ जोड़ने की चेष्टा अथवा आज की ज़िन्दगी को देखने का एकमात्र दृष्टिकोण मानना ग़लत होगा। आधुनिक जीवन की अराजकता और व्यर्थता का चित्रण करना एक बात है, उसे एक बौद्धिक सिद्धान्त का रूप देकर उसे वाद बनाकर उसका प्रचार करना बिलकुल दूसरी बात। जितना अधिक हम उन बौद्धिक निष्कर्षों की लीकों पर चलेंगे, उतने ही अधिक हम अपने साहित्य को यान्त्रिक और अपनी रचना-दृष्टि को संकीर्ण बनाते जाएँगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीवार | परमानन्द श्रीवास्तव

कुछ याद नहीं खेल कब शुरू हुआ था
अँधेरा जो सीढ़ियों से
गिरता-गिरता इतनी दूर तक
चला आया है···इससे ज़्यादा मैं उसके बारे में
कुछ भी नहीं जानता
और इतिहास में बीस साल का मतलब
ऐसी दीवार हो गया है
जिसके सामने विकल्प की जगह भी
सिर्फ़ दीवार है।
(यानी विकल्प का व्यंग्य)

जिसके इशारे से उधर
रेडक्रास का दफ़्तर है
इधर घर है
और मैं जान गया हूँ कि इनमें
क्या फ़र्क होता है
इसके बावजूद क्या आसान है
तय कर सकना कहाँ जाना है
और क्या करना है

यों इससे भी पहले मैं उनसे पूछना चाहता हूँ
जिनके हाथों में हर किसी की आत्मा पर
चिपका देने के लिए
कुछ इश्तहार हैं
कि उनके नियमानुसार जीने से पहले
आदमी को
कितनी बार मरना है
संविधान का वह एक शब्द 'न्याय'
जिसका दवाव मैंने कभी इस ओर
कभी उस कन्धे पर अक्सर महसूस किया है
मैं नहीं चाहता कि उसका कुछ मतलब हो
न मेरा तैंतीस साल पुराना घर चाहता है

पर पत्तियाँ चाहती हैं
एक बार गिरने
और इच्छाएँ
उतरने से पहले

या तो मैं जानता हूँ
या मेरे पैर का अँगूठा
कि उनके कटघरे से
न्याय की क्या दूरी है
और दिमाग़ जो समय के लिए सोचता है
की याद्दाश्त अपने ही बारे में
कितनी अधूरी है

अब इसका भी फ़ैसला कौन करेगा
कि भूख पहले अंतड़ियों में लगती है
या दिमाग़ में

पर भूख से भी क्या होता है
मैंने देखा है जुलूस में खोकर
अपनी पहचान वह किस शान से
निकलता है
और मुझे पता है आदमी का सिर
छोटा और चेहरा
सार्वजनिक होने से पहले
सिर्फ़ आदमी को छलता है
(नदियों को नहीं—जिनके चेहरे में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दाँत ही दाँत
रह गए हैं)

जिनके लिए दुनिया
इस या उस
रंग में बँटी हुई एक चीज़ है—वे पछता रहे हैं
हालाँकि अभी भी
दूसरों के लिए
गा रहे हैं
और मैं जो अगले ओलिम्पिक खेलों के लिए
इन्तज़ार कर रहा हूँ जानता हूँ

वह सिर्फ दीवार है
और दीवार का कोई रंग नहीं होता

मैं जो इसके बाद भी ऊबा नहीं हूँ देख रहा हूँ
यह संकेत है मेरे लिए और मेरे शब्दों के लिए
कि एक बार मरना है
शहादत के लिए नहीं
न उसके लिए
जो दीवार है
या जिसके लिए मैं दीवार हूँ
या मेरे शब्द
दीवार हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कामायनी : एक असफल कृति

इन्द्रनाथ मदान

(कामायनी से कामायनी की पहचान)

: १ :

कामायनी को जानने और पहचानने की एक लम्बी परम्परा है। प्रसाद और आचार्य शुक्ल से लेकर हर आलोचक ने इसके बारे में लिखा है और इसके स्वरूप को साफ़ करने की कोशिश की है। इसे कभी रूपकों के माध्यम से पहचानने की कोशिश रही है तो कभी चरित्रों के माध्यम से, कभी आध्यात्मिक आधार पर तो कभी मनोवैज्ञानिक आधार पर, कभी समाजशास्त्र को लेकर तो कभी मिथकों को लेकर, कभी महाकाव्य के रूप में तो कभी महान् काव्य के रूप में, कभी भाषा के धरातल पर तो कभी बिम्ब-विधान के धरातल पर, कभी इतिहास की दृष्टि से तो कभी छायावादी दृष्टि से। एक ही कृति अपनी पहचान करवाने के लिए जब इतनी पद्धतियों को अपनाने के लिए बाधित करती है तो इसका एक आशय यह है कि **कामायनी** कुछ है या इसमें कुछ है जो अनजाना रह जाता है। इसका दूसरा आशय यह भी हो सकता है कि हर आलोचक ने अपनी आँखों में इसे देखा है जिससे **कामायनी** की आँखें मुँद जाती रही हैं या हर आलोचक ने अपनी आवाज़ को इतना बुलन्द करने की कोशिश की है कि **कामायनी** की आवाज़ इसके नीचे दबकर रह जाती है। इसकी पहचान इसकी राह से गुज़रकर हो सकती है और इसकी राह से गुज़रने का मतलब यह है कि यह 'क्या, कैसे और किस तरह' है। आम तौर पर हुआ यह है कि यह क्यों इस तरह है और क्यों इस तरह नहीं है। आलोचकों के परस्पर-विरोधी मत इस बात को साबित करते हैं कि वे किस तरह अपनी-अपनी राह को इस पर लादने की कोशिश में अपने निकट और **कामायनी** से दूर होते गये हैं। यदि एकेडेमिक भाषा में कहा जाए तो इनका मूल्यांकन वस्तुनिष्ठ होने के बजाय आत्मनिष्ठ होने की गवाही देता रहा है। सबसे पहले प्रसाद ने यह काम किया है और कवि की बात को मानकर आलोचकों ने शायद यह भुला दिया है कि कवि सृजन के बाद अपनी कृति से अलग हो जाता है, पाठक या आलोचक का सम्बन्ध कृति से होता है, कृति के भीतर से निकली बात से होता है, न कि कृतिकार के मन की बात से जो उसके मन में रह जाती है या होती है। इतर बातें कृति पर अतिरिक्त आलोक डालने के काम तो आ सकती हैं, लेकिन उसकी पहचान या मूल्यांकन का आधार नहीं बन सकतीं। इसलिए मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, काव्यशास्त्र, मिथक-शास्त्र, ज्ञान-विज्ञान, रसवाद, आनन्दवाद आदि की एक सीमा है और वह यह कि इनकी सहायता से कृति की परतों को उघाड़ा तो जा सकता है—यह क्यों इस तरह की हैं; लेकिन क्या—कैसे—किस तरह का जवाब कृति ही दे सकती है। यह सही है कि कृति हिसाब का सवाल नहीं होती जिसका एक जवाब हो, मूल्यांकन की वस्तुनिष्ठता भी विज्ञान की वस्तुनिष्ठता नहीं होती। इसकी वस्तुपरकता-आत्मपरकता में मात्रा का अन्तर अवश्य रहता है और अन्तर की यह मात्रा कृति के समीप या दूर होने की गवाही देने लगती है। इस बात को तूल इसलिए देना पड़ा है कि उधर जयशंकर प्रसाद, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य नगेन्द्र, डॉ० द्वारिका प्रसाद सक्सेना, डॉ० प्रेमशंकर, डॉ० रामलालसिंह और इधर गजानन माधव मुक्तिबोध, डॉ० नामवरसिंह, डॉ० रमेशकुन्तल मेघ, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि ने **कामायनी** के बारे में जो और जितना लिखा है उसमें बल अपनी-अपनी आवाज़ पर इतना अधिक दिया गया है कि इसे बोलने का अवसर कम मिला है। इसे फिर से आँकने की आवश्यकता भी इसलिए पड़ी है। मुक्तिबोध और रमेश कुन्तल मेघ यदि इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि **कामायनी** असफल तो है, पर वे समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, मिथक-शास्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का सहारा लेकर। मुक्तिबोध ने सौन्दर्य-शास्त्र से परहेज किया है और कुन्तल मेघ ने इसे छूने की कोशिश की है। आखिर सौन्दर्यशास्त्र भी तो एक शास्त्र है जो कृति पर लादा जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसमें दो-तीन असंगतियों को यदि आँकते हैं या इनका संकेत देते हैं तो वह अपनी समाज-मंगल की दृष्टि से जिसमें यह फ़िट नहीं बैठती। इसी तरह आचार्य वाजपेयी, आचार्य नगेन्द्र, डॉ० प्रेमशंकर, डॉ० सक्सेना आदि यदि **कामायनी** की कलात्मक सफलता की बात करते हैं तो यह इनकी छायावादी, रसवादी, आनन्दवादी दृष्टि का परिणाम है। असल में आलोचक दो दलों में विभाजित लगते हैं। मुक्तिबोध, रमेशकुन्तल मेघ, नामवरसिंह ने आचार्य शुक्ल की दृष्टि में समाजशास्त्र, मिथक-शास्त्र का पुट देकर इसे गहराया है या इसे वैज्ञानिक बनाने की कोशिश की है। इस तरह **कामायनी** का मूल्यांकन न केवल बदलते बोधों के साँचों में ढला हुआ है, दो दलों में विभाजित भी लगता है। इस प्रयास में इसकी इतनी चीड़-फाड़ हो चुकी है, इस पर इतने टाँके लग चुके हैं कि इसे पहचानना कठिन हो गया है। यह कहना मुश्किल हो गया है कि इसका चेहरा कहाँ-कैसे कटा हुआ है और कहाँ कैसे जुड़ा हुआ है। अन्य अंगों की भी यह स्थिति है।

: २ :

सबसे पहला अपराध प्रसाद ने यह कहकर किया है—"यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी लग सकता है।...इन्हीं सबके आधार पर **कामायनी** की कथा-सृष्टि हुई है।"[1] इतना कहने के बाद प्रसाद यह भी जोड़ देते हैं कि कामायनी की **कथा-शृंखला** मिलाने के लिए कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार वह नहीं छोड़ सके हैं। नहीं छोड़ सके हैं तो न सही। कवि का यह अधिकार है कि वह कल्पना से काम ले, लेकिन वह कैसे—किस तरह लेता है—

१. आमुख, पृष्ठ ७-८।

इस पर सोचना पड़ता है। इस वक्तव्य को देते हुए कवि अपने मन की बात कर रहे हैं और कहाँ तक और किस तरह **कामायनी** के भीतर से यह निकलती है इसे देखना होता है। आलोचकों ने प्रायः कवि की बात को तो गाँठ में बाँधकर, इसे आप्त वचन के रूप में स्वीकार कर लिया और इसे **कामायनी** पर आरोपित करना शुरू कर दिया; लेकिन यह भुला दिया गया कि यह कृति का अभिन्न अंग है या विकलांग। इसके बाद हर आलोचक ने **अपनी-अपनी दृष्टि** से प्रसाद के **कामायनी**-सम्बन्धी वक्तव्य पर अधिक और कृति पर कम बल देकर इसे परखना शुरू कर दिया। इन आलोचकों के मतों की राह से गुज़रकर ही इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि **कामायनी** स्वयं क्या है और उसे क्या बना दिया गया है। यह सही है कि हर कृति, यदि वह अनुकृति नहीं है, अनेक संकेत दे सकती है और देती रही है; लेकिन प्रसाद के कथन ने आलोचकों को गुमराह करने में अनायास सहयोग दिया है। आचार्य शुक्ल ने प्रायः अन्य आलोचकों की तरह इसमें असंगति को अपने स्तर पर खोजा और पाया है। वह **कामायनी** में दो बड़ी असंगतियों का संकेत करते हैं। एक, चरित्रों के बारे में और दूसरी इसकी आन्तरिक योजना के बारे में। इनकी चरित्र बनाम रूप के बारे में शिकायत यह है कि श्रद्धा की स्थिति शुद्ध भाव की स्थिति है। रति और काम की दुहिता होने के कारण श्रद्धा का अस्तित्व एकांत भावात्मक है। ऐसी परिस्थिति में उसकी स्थिति भाव, कर्म, ज्ञान तीनों के परे कैसे हो सकती है? वह यह कहते हैं कि श्रद्धा जब कुमार को लेकर सारस्वत नगर में पहुँचती है तब इड़ा से कहती है—"सिर चढ़ी रही पाया न हृदय।" इससे चिढ़कर आचार्य शुक्ल इड़ा की ओर से इसका जवाब देना चाहते हैं—क्या श्रद्धा के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता था कि "रस पगी रही पाई न बुद्धि।"[1] वह प्रसाद को दोष देते हैं और यह कहकर शांत हो जाते हैं कि इनके स्तर पर श्रद्धा-इड़ा में सामंजस्य का स्वर **कामायनी** में सुनने को इसलिए नहीं मिलता कि श्रद्धा कवि की एकांतिक मधुर-भावना के अनुकूल है। इसका आशय यह है कि प्रसाद ने श्रद्धा को आचार्य शुक्ल के लोक-मंगल के साँचे में क्यों नहीं ढाला है और सामंजस्य को इनकी दृष्टि के अनुरूप क्यों नहीं निरूपित

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६३८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है। इड़ा को श्रद्धा से शून्य कहना और श्रद्धा को इड़ा से शून्य कहना आलोचक को गड़बड़ में डाल देता है। वह दूसरी असंगति की दुखती रग पर अँगुली अवश्य रखते हैं जब वह यह कहते हैं—"**जिस समन्वय का पक्ष कवि ने अन्त में रखा है उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रकृति के कारण काव्य के भीतर नहीं होने पाया है।**"[1] इसका कारण भी श्रद्धा है जिसे तीनों बिन्दुओं से अलग दिखाया गया है। इस तरह आचार्य शुक्ल **कामायनी** की आन्तरिक योजना में असंगति को महसूस करते हुए भी बल इस बात पर देते हैं कि श्रद्धा इस तरह क्यों है और इस तरह क्यों नहीं है। उसे लोक-मंगल के विधान का अंग क्यों नहीं बनाया है? अन्त में तान इस बात पर टूटती है कि इस विशद काव्य की आन्तरिक योजना पर यदि ध्यान न दिया जाए और समष्टि रूप में कोई समन्वित प्रभाव न खोजा जाए, श्रद्धा-काम-लज्जा, इड़ा को अलग-अलग कर लिया जाए तो रमणीय चित्रमयी कल्पना, अभिव्यंजना की मनोरम पद्धति आती है, प्रबन्ध-क्षेत्र में छायावाद की चित्रण-प्रधान और लाक्षणिक शैली की सफलता की **आशा** बँधती है। इस तरह **यदि** की बात से **कामायनी** का मूल्यांकन उलझ जाता है। यदि यह न होता तो यह होता से कृति से दूर हो जाना है। आचार्य शुक्ल **कामायनी** की भीतरी असफलता को भाँप तो लेते हैं; लेकिन अपनी मंगल-विधान की दृष्टि के कारण अपनी अँगुली दुखती रग पर रखकर भी इसे समूचे रूप में आँकने से रह जाते हैं। सफल रोमांटिक कृतियों का नितान्त अभाव भी नहीं है—जैसे गेटे का **फाउस्ट**। इस तरह बड़े-से-बड़ा आलोचक भी जब अपनी दृष्टि को कृति पर आरोपित कर इसे आँकने लगता है तो वह इसकी पहचान से दूर हो जाता है।

आचार्य वाजपेयी ने भी यही किया है; लेकिन इनकी दिशा आचार्य शुक्ल की दिशा से उलटी है। इसका कारण इनका अपना बोध है जिसे **कामायनी** पर आरोपित किया गया है। वह इसका विवेचन इसे अलग-अलग खानों में बाँट-कर करते हैं। इनकी पहली तान इस परिणाम पर टूटती है कि यह एक महाकाव्य है, लेकिन **रामायण** की तरह नहीं है। यह छायावादी युग का काव्य है। इसलिए इसके रचना-विधान का भिन्न होना स्वाभाविक है। इसे मानने में किसी तरह की बाधा नहीं है। इनकी दूसरी तान इस परिणाम पर टूटती है कि यह एक महान् काव्य है। इस तरह महाकाव्य से महान् काव्य तक पहुँचने की प्रक्रिया में वह अपने आनन्दवादी दृष्टि-कोण को **कामायनी** पर आरोपित कर, इसके उपसंहार को दार्शनिक और आलंकारिक पूर्ति मानकर, इसे संगत सिद्ध कर संतोष की साँस लेने लगते हैं। इनका यह आयास सायास भी है और अनायास भी। **कामायनी** का उपसंहार महाकाव्य की संधियों से परे है, इसलिए यह महान् काव्य है।[1] यह विवेचन आनन्दवाद के आरोपित होने का परिणाम है। आचार्य वाजपेयी के मूल्यांकन में आन्तरिक असंगति यह है कि एक तरफ़ तो **कामायनी** का उपसंहार इन्हें खटकता है और दूसरी तरफ़ आनन्दवाद का निरूपण इन्हें आनन्द रस में गोते लगाने के लिए बाधित करता है। इस तरह वह **कामायनी** को खण्डों में विभाजित करने से, इसके विविध पहलुओं को अलग-अलग आँकने से इसके सृजनात्मक खण्डों की पहचान में तो सफल हो जाते हैं; लेकिन इसके सृजन की अखण्डता की असफलता को पहचानने से रह जाते हैं। इसका मूल कारण आनन्द की अखण्डता है जो कृति पर हावी है, आरोपित किया गया है। "इस प्रकार हम देखते हैं कि **कामायनी** की मूल कल्पना उदात्त है और उक्त उदात्त कल्पना का व्यक्तीकरण भी सफलतापूर्वक किया गया है।"[2] प्रश्न मात्र उदात्त का नहीं है, प्रश्न इसे निभाने का है। आचार्य वाजपेयी के अनुसार इसका व्यक्तीकरण सफल है। वह कैसे और किस तरह है इसका संकेत भी दिया गया है—"कामायनी का कथानक दुःखान्त कृति के उपादानों से बना है। समस्त सन्धियों का विनियोग दुःखान्त रचना के ही अनुकूल हुआ है। ऐसी अवस्था में घटना-चक्र को **सहसा** दूसरी दिशा में मोड़कर बिल्कुल भिन्न परिणाम पर पहुँचने के **औचित्य** पर शंका और विरोध के लिए पूरा स्थान है।"[3] सवाल न तो सहसा दूसरी तरफ़ मोड़ने का है और न ही **औचित्य** का है। कवि क्यों इसे **सहसा** मोड़ते हैं और क्यों आनन्दवाद के परिणाम पर पहुँचने का इतना नहीं है जितना क्या–कैसे–किस तरह मोड़ने का है या मुड़ने का है। यदि **कामायनी** इस दिशा में मुड़ जाने से इन्कार

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास: पृष्ठ ६३६।

१. आधुनिक साहित्य, कामायनी।
२. वही, पृष्ठ ७६।
३. वही, पृष्ठ ६७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करती है और कवि इसे मोड़ना चाहते हैं तो कवि इस पर हावी होकर इसे असफल बना सकता है। आनन्द की अखण्डता को निरूपित करने का अधिकार कवि को है और आलोचक इसे अपने दृष्टिकोण को साकार होते देखने के लिए इसे छीन नहीं सकता; **लेकिन यदि आनन्द की अखण्डता सृजन की अखण्डता को भंग करती है और कामायनी का अभिन्न अंग नहीं बन पाती तो इसे आरोपित ही कहा जाएगा।**

आचार्य नगेन्द्र भी एक तरफ़ तो **कामायनी** के उपसंहार का मूल-कथा से सम्बन्ध सहज नहीं मानते और दूसरी तरफ़ इसके संकेत-अर्थ की स्पष्टता से बाधित होकर इसे आगे ले जाने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस तरह वह कवि का साथ देने में कृति का साथ नहीं देते, अपने और कवि के निकट होकर कृति के मूल्यांकन से दूर होने की साक्षी देने लगते हैं। इनकी युक्ति यह है कि समष्टि-रूप में मानव-जीवन की परिणति आनन्द में परिणत कराने के लिए उपसंहार आवश्यक है। यह आनन्द शैव योगी का आत्मानन्द है जो भीतर के साक्षात्कार से उपलब्ध होता है।[1] आनन्द के स्वरूप या कवि के उद्देश्य के बारे में 'क्यों या क्यों नहीं' का सवाल पूछना बेकार होता है। यह उसके हक़ को छीनना है; लेकिन पाठक जब कृति की राह से गुज़रता है तब वह यह सवाल कर सकता है कि स्वरूप-उद्देश्य क्या, किस तरह और कैसे है। आनन्दवाद कवि के मानस का अभिन्न अंग है और यह आलोचक के रसवादी-आनन्दवादी दृष्टिकोण के निकट भी हो सकता है; लेकिन जब तक **कामायनी** के भीतर से यह नहीं निकलता तो इसे सृजन और मूल्यांकन दोनों स्तरों पर आरोपित ही कहना पड़ेगा। आचार्य नगेन्द्र उपसंहार को मूल-कथा का असहज सम्बन्ध मानकर इसे सहज बनाने के लिए **कामायनी** पर अपनी आवाज़ को आरोपित कर उसकी आवाज़ को दबा देते हैं। कृतिकार सृजन के बाद कृति से अलग हो जाता है और कृति एक स्वतन्त्र अस्तित्व धारण कर लेती है। यह आवश्यक नहीं है कि आनन्दवाद कवि के मानस का अभिन्न होकर कृति के मानस का भी अभिन्न अंग बन जाए। आनन्दवाद के पक्ष या विपक्ष में प्रश्न उठाना असंगत है; लेकिन यह क्या, कैसे और किस तरह **कामायनी** में है का प्रश्न संगत हो जाता है। सुधी आलोचक यह तो मान लेते हैं कि **कामायनी** इस उपसंहार की अनुमति नहीं देती; लेकिन प्रसाद के कथन और उद्देश्य से बाधित होकर इसकी वकालत इस तरह करने लगते हैं—यह ठीक है कि यह असंगत है, रचना में यह स्वर विषम है, लेकिन आनन्दवाद के निरूपण के लिए इसे संगत और सम के रूप में आँकना बेहतर है। इसी तरह आचार्य नगेन्द्र महाकाव्य की शास्त्रीय दृष्टि से अनुशासित होकर **कामायनी** में असंगतियों की भरमार आँकते हैं, कथा-विकास के स्तर पर इसमें अनेक जोड़ों का संकेत भी देते हैं और फिर इसे महाकाव्य कहने से परहेज़ भी नहीं करते। वह **कामायनी** को ऐहिक जीवन का महाकाव्य नहीं मानते, मानव-चेतना का महाकाव्य कहते हैं। इसलिए इनके अनुसार रूपक-तत्त्व, जो महाकाव्य के रचना-विधान में बाधक होता है यहाँ साधक है। इसी तरह प्रगीत-तत्त्व जो महाकाव्य के रूप-गठन में बाधक होता है यहाँ साधक बनकर आया है। यह शायद इसलिए करना पड़ा है कि आनन्दवाद की संगति **कामायनी** में बैठ सके। संगति का बैठना एक बात होती है और इसे बिठलाना दूसरी। आलोचक इसे बिठलाते हैं। प्रसाद ने **कामायनी** के आमुख में इसे बिठलाने की कोशिश की है। इस तरह आलोचक कृतिकार की धारणा के आधार पर कृति को उपलब्धि के रूप में आँकने के लिए **कामायनी** में महाकाव्य और रूपक के समन्वय को आँकना आवश्यक समझते हैं। हर कृति का रचना-विधान निजी होता है, इसके कला-नियम अपने होते हैं। **कामायनी** के भी अपने हैं। क्या बाधक को साधक इसलिए नहीं बनाया गया है ताकि आनन्दवाद की संगति **कामायनी** के सृजनात्मक स्तर पर बैठ सके, इसकी खण्डित सृजनात्मक प्रक्रिया में जोड़ लग सके? यदि यह सही है तो आलोचक की दृष्टि **कामायनी** पर हावी होकर इसकी पहचान और परख से दूर होने की ही गवाही दे सकती है। इस तरह आरोपण की परम्परा कवि से शुरू होकर लंबी और गहरी होती रही है। इस परम्परा को गहराने में अनेकों ने अपना-अपना योग दिया है। डॉ० प्रेमशंकर ने **कामायनी** में अन्य रसों को अंगी-रस के सहयोग के रूप में आँका है और निर्वेद भाव से शान्त रस की उत्पत्ति मानी है जो शास्त्रानुसार श्रव्य-काव्य के अनुसार है। इसका परिपाक आनन्द की स्थिति में रस-रूप में होता है।[1] **कामायनी** की

१. कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृ० ५०।

१. प्रसाद का काव्य, पृ० ४१८।

079587

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तु-योजना और उसके चिन्तन तथा काव्य की रचना-विधान के इस साँचे में ढालकर मूल्यांकन की रसवादी परम्परा को ही विस्तार दिया गया है। डॉ० द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने भी मूल्यांकन की इसी परम्परा का पालन-पोषण किया है। वह भी इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि **कामायनी** में हर तरह और हर तरफ़ समन्वय-ही-समन्वय है, सामंजस्य-ही-सामंजस्य है। यह चाहे भाव-विभाव का हो या वस्तु-रस का, भाव-रूप का हो या चिन्तन-मनन का, बुद्धि-हृदय का हो या व्यक्ति-समाज का, अभेद-आभास का हो या शिव-शक्ति का। इस तरह समरसता का निरूपण **कामायनी** की रचना-प्रक्रिया में उपलब्ध है। इसके माध्यम से ही इसका मूल्यांकन बड़े विस्तार से किया गया है।[1] इस तरह के मूल्यांकन में प्रायः आनन्दवाद को आधार बनाया गया है जिसका निरूपण कवि ने कृति में किया है। कवि के मानस का आनन्दवाद **कामायनी** के मानस में किस तरह और कैसे उतरा है और इस प्रक्रिया में वह कृति का अभिन्न अंग बन सका है या सृजनात्मक स्तर पर वह अखण्ड या खण्डित है—इसे इतना आवश्यक नहीं समझा गया है। इसका नतीजा यह निकला है कि हर आलोचक ने **कामायनी** को बोलने का कम अवसर दिया है और कृति की पहचान को धुँधला दिया है।

: ३ :

यह एक तरह का समवेत गायन है जो काव्यशास्त्रीय है, एक दूसरी तरह का भी है जो समाजशास्त्रीय है। इनके आरोपित होने के कारण **कामायनी** का संगीत सुनने को कम मिलता रहा है। इसका समाजशास्त्रीय विश्लेषण करने की पहल गजानन माधव मुक्तिबोध ने की है।[2] **एक निबन्ध के रूप में कामायनी : कुछ नये विचार** नवम्बर १९४५ और फरवरी १९४६ क्रमशः **हंस** में यह छपा था। इस निबन्ध में पात्रों की समाजशास्त्रीय व्याख्या है जो इन पर रोशनी डालती है और यह साबित करती है कि रूपक आधुनिक यानी प्रसादकालीन है और इनके माध्यम से युग की समस्याओं पर विचार किया गया है। अपनी पुस्तक में **'कामायनी'** पर विस्तार से समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार किया गया है।

१. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन।
२. कामायनी : एक पुनर्विचार (१९६१)।

इसमें इसके रचना-विधान या काव्य-रूप को फेंटेसी कहा गया है जो एक झीना परदा होता है जिसमें जीवन-वास्तव झाँक-झाँक उठता है। मुक्तिबोध ने अपनी पैनी दृष्टि से मनु, इड़ा, श्रद्धा आदि रूपकों को समाजशास्त्रीय आँख से देखने की कोशिश की है और इनके पीछे छिपी वास्तविकता को पकड़ने की। यह पुरानी लीक से हटकर हुआ है। आलोचक का अनुरोध है कि काव्य तीन तरह से परखा जाना चाहिए—एक तो इसका जन्म कहाँ से है या किन वास्तविकताओं से पैदा होता है, दूसरे इसका कलात्मक प्रभाव क्या है और तीसरे इसकी रूप-रचना क्या है। मुक्तिबोध के अनुसार **कामायनी** की रूप-रचना फेंटेसी है और इसमें छायावाद-युग की समस्याओं को उठाया गया है। इसका मनु वेदकालीन नहीं है, वह अपनी ऐतिहासिक भूमि से पैदा हुआ है।[1] वह मनु की समस्या को **कामायनी** की मूल समस्या मानते हैं। उसके चरित्र का विश्लेषण समाजशास्त्रीय आधार पर किया गया है, उसे ठोस भूमि पर खड़ा किया गया है। यह विश्लेषण मनु के आत्म-विश्लेषण को लेकर किया गया है—वह हिम-खण्ड है जो पिघलता नहीं है, पाखण्ड है, अहंकारी और विलासी है, निराश और चिन्तित है, उसका शासन और विलास छिन गया है। वह पराजय का पुत्र है जो अपनी पराजय को पलायन से ढाँकता है। मनु का स्वभाव पूँजीवादी व्यक्ति का है।[2] इस बिन्दु पर पहुँचकर मुक्तिबोध का समाजशास्त्र **कामायनी** पर हावी होने की गवाही देने लगता है। आलोचक का यह शिकायत करना कि मनु अपनी पराजय को क्यों पलायन से ढाँपता है, क्यों सामरस्य से छिपाता है, क्यों पराजय से पराजय की ओर ले जाता है, आरोपित दृष्टि का परिणाम है। सवाल यह नहीं है कि मनु इस तरह क्यों है और इस तरह क्यों नहीं है। सवाल यह है कि **कामायनी** में, न कि उसके कवि में, वह क्या—कैसे—किस तरह है। क्या पलायन कृति के सृजन का अभिन्न अंग बन सका है? क्या सामरस्य से पराजय को छिपाने का चित्रण **कामायनी** से निकलता है? मुक्तिबोध ने जो समरसता को **जबरदस्ती** लाए जाने की बात की है वह संगत है और यह **कामायनी** को एक असफल कृति बनाती है।[3]

१. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ० २०।
२. वही, पृ० २१।
३. वही, पृ० २१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महादेवी के कुछ गीतों में पलायन और पलायन पर आवरण सृजनात्मक स्तर पर हैं, इसलिए वे कृतियाँ हैं जिनके स्वर से सहमत-असहमत होने का सवाल गौण है। मनु की 'विजय-पराजय' को मूल्यांकन का आधार बनाना **कामायनी** की आवाज़ पर अपनी आवाज़ को लादना है। इसी तरह मुक्तिबोध का **कामायनी** पर यह आरोप लगाना कि इसमें शिव-अशिव, मंगल-अमंगल में युद्ध क्यों नहीं छिड़ता, अशिव पर शिव की विजय क्यों नहीं होती—**कामायनी** की राह से गुज़रना नहीं कहा जा सकता, अपनी राह को उस पर लादना ही कहा जा सकता है।[1] मुक्तिबोध का यह गिला करना भी आरोपित दृष्टि का परिणाम है कि शिव और अशिव में समझौता क्यों करवाया गया है? यह तो छायावादी बोध की एक विशेषता है कि इसमें मध्यकालीनता और आधुनिकता में कभी समझौता है, कभी समन्वय या सामंजस्य है। इसे ही अशिव और शिव की शक्तियों में समझौता या समन्वय कहा जा सकता है। अनेक कृतियाँ हैं जिनमें शिव-अशिव में घमासान युद्ध नहीं छिड़ता, फिर भी वे कृतियाँ हैं। क्या काफ़्का, कामू, ब्रेख़्त की कृतियों को इस अधिकार से वंचित करना संगत है? क्या केशव की **रामचन्द्रिका**, जिसमें राम-रावण युद्ध का चित्रण है, कृति है या अनुकृति या विकृति? मुक्तिबोध ने अपने समाजशास्त्र के आधार पर प्रसाद के दृष्टिकोण की यह कहकर कड़ी आलोचना की है कि यह ग़लत है, मूलतः असामाजिक है। इसी तरह मनु एक कमज़ोर चरित्र क्यों है, वह क्यों भाग खड़ा होता है, डटकर मुकाबला क्यों नहीं करता, वह निराश क्यों है, वह विगत विलास की सुख-स्मृतियों पर क्यों रोता है, वह स्वयं को पाखण्ड क्यों कहता है और क्यों है, वह हिमखण्ड क्यों है, उसमें गहरी मनुष्यता का क्यों अभाव है, यदि उसमें यह अभाव है तो कवि उससे सहानुभूति क्यों करता है, वह रूप-रंग-गंध पर क्यों मुग्ध है? इस तरह आलोचक मनु के बारे में प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं जिसका मतलब यह है कि मनु ऐसा क्यों है और ऐसा क्यों नहीं है। वह जब मनु से घृणा करते हैं तब कवि उससे स्नेह क्यों करता है। कवि का इस पात्र पर मुग्ध होना आलोचक को खलता है। इस तरह वह अपनी आवाज़ को मनु पर हावी करते हैं और मनु की पहचान पाकर इसे खो देते हैं।

१. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ० २२।

मुक्तिबोध की दृष्टि पैनी और गहरी है। इसका परिचय **कामायनी** के विश्लेषण में मिल जाता है। असल में मनु-समस्या प्रसाद-समस्या है। यह सही हो सकता है। यह भी सही हो सकता है कि यह **कामायनी** की मूल समस्या है। मुक्तिबोध का यह कहना है कि यह **कथा-काव्य** होते हुए भी **चरित-काव्य** नहीं हो सकी।[1] इसलिए यह मनोवैज्ञानिक छायावादी **महाकाव्य** है; यह आत्मपरक **काव्य** है। इस विश्लेषण में बल इस बात पर दिया है कि **कामायनी** इस तरह का काव्य क्यों है और इस तरह का क्यों नहीं है। काव्य किसी तरह का हो सकता है, इसे उसके कला-नियमों के आधार पर आँकना संगत है, न कि आरोपित कला-नियमों के आधार पर। यदि **कामायनी** के रचना-विधान से गुज़रा जाए तो यह कृति नहीं बन सकी है, **यह कृति न होकर खण्ड-कृतियों का समूह ही बन सकी है।** प्रसाद की दृष्टि वैज्ञानिक है या अवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय है या रसवादी, आनन्दवादी—इस पर बल देना परखने की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता। मुक्तिबोध का यह मत है कि कथा के बाधित होने का मूल कारण उसके विकास की गति में बाधा की असली वजह **मनु-समस्या** का समाधान है जो **ग़लत** है, प्रसाद की अवैज्ञानिक जीवन-दृष्टि का परिणाम है। कवि मनु को कैलास पर क्यों ले गए हैं? यहाँ भी सवाल क्यों का इतना नहीं है जितना कैसे और किस तरह **कामायनी** में हुआ है। यह समाधान कवि का है, कृति का नहीं बन पाया है, कृति से निःसृत नहीं है, **कामायनी** में इसकी संगति नहीं बैठती। यह उसी तरह आरोपित है जिस तरह मुक्तिबोध का मूल्यांकन, जो इस आधार को लेकर चलता है कि मनु इस तरह क्यों है और इस तरह क्यों नहीं है, मनु प्रसाद की तरह क्यों है, मुक्तिबोध की तरह क्यों नहीं है। मनु की चीड़-फाड़ जितने पैने औज़ारों से मुक्तिबोध ने की है उतने तेज़ हथियारों से किसी ने अब तक नहीं की है, उसके गहरे में जितना मुक्तिबोध उतरे हैं उतना अन्य आलोचक नहीं उतर सका है। इसलिए मनु पर इनकी पकड़ तो गहरी है; लेकिन वह जब हाथ धोकर इसके पीछे पड़ जाते हैं तो वह मनु को अपने साँचे में ढालने की भूल कर बैठते हैं जो सम्भव नहीं है। वह यह भी शिकायत करते हैं कि मनु में अनुताप क्यों नहीं है। उसने इड़ा पर

१. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृष्ठ ३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमला किया, लोगों को मारा और एक बार भी उसे इसका पछतावा नहीं होता। श्रद्धा को छोड़ने का दुःख उसे अवश्य होता है। आचार्य शुक्ल की तरह मुक्तिबोध भी श्रद्धा के पीछे पड़ जाते हैं और इड़ा की वकालत करते हैं, आचार्य शुक्ल पूरी तरह और मुक्तिबोध आधे मन से। यह शायद इसलिए कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि **समाज-मंगलीय** है और मुक्तिबोध की **समाजवादी और समाजशास्त्रीय**। आचार्य शुक्ल इड़ा की तरफ़दारी करते हुए यह सवाल श्रद्धा से पूछते हैं—'तू रसपगी रही, पायी न बुद्धि'। यह इसलिए कि श्रद्धा से वह चिढ़ते हैं और उसे इड़ा को यह कहने का अधिकार नहीं देते—'तू सिर चढ़ी रही, पाया न हृदय'। मुक्तिबोध इड़ा को श्रद्धा से बेहतर तो समझते हैं; लेकिन यह गिला भी करते हैं कि उसमें रहस्यवाद का पुट क्यों है। इस तरह दो तरह के आलोचकों में श्रद्धा और इड़ा के बीच होड़ लगी रहती है, आनन्दवादी आलोचक श्रद्धा का साथ देते हैं और सामाजिक चिन्तन को लेकर चलने वाले इड़ा के पक्ष में हैं। इस होड़ में इनके अपने-अपने दृष्टिकोण हैं जो पात्रों पर आरोपित होने का आभास देने लगते हैं। मुक्तिबोध ने श्रद्धा पर यह गम्भीर आरोप लगाया है कि वह नारी के सहज विवेक से हीन है, वह मूढ़ है, वह भारतीय नारी नहीं है। कवि को **कामायनी** की रचना करते समय यह वहम हो गया कि पात्र सांकेतिक अभिव्यक्ति के लिए हैं। यह मनोवैज्ञानिक काव्य नहीं है। क्या मनोविज्ञान आकाश से चूता है या वास्तविकताओं से उपजता है?[१] कवि का चिन्तन निखर नहीं पाया है। यह सही है कि चित्रों में जीवन की धड़कन है। मुक्तिबोध श्रद्धा से खुश भी हो जाते हैं जब वह व्यक्तिवाद का खण्डन करती है—कलियाँ तभी खिल सकती हैं जब वे सौरभ फैलाती हैं।[२] मुक्तिबोध के अनुसार श्रद्धा के मानी हैं कवि का भाववादी अद्वैतवाद, समरसता में श्रद्धा, समरसता से आशय है नैतिक-अनैतिक से छुटकारा। इसका प्रश्न ही नहीं उठता। आलोचक की समझ से यह बाहर है कि श्रद्धा गांधार देश की घुमक्कड़ नारी होकर खूँटावादी कैसे बन जाती है।[३] एक तरफ़ तो मुक्तिबोध का यह कहना कि मनु वेदकालीन न होकर छायावादी साँचे में ढला हुआ है और दूसरी तरफ़ यह कहना कि श्रद्धा गांधारी साँचे में क्यों नहीं ढली रहती—एक असंगति को ही सूचित करता है। मुक्तिबोध को इड़ा से भी शिकायत है। वह नियतिवादी है, उसका बोध सीमित है, वह शोषित की आँख से स्थिति को नहीं देख पाती, शोषक की आँख से देखती है। अराजकता को मनोवैज्ञानिक क्यों दिखाया गया है, सामाजिक क्यों नहीं दिखाया गया? (सब मत्त लालसा घूँट पिये है।) जहाँ तक इन पात्रों की पहचान का सवाल है मुक्तिबोध गहरी दृष्टि का परिचय देते हैं। इड़ा के बारे में उनका कहना कि वह बुद्धिवाद की प्रतीक नहीं है, उसमें रहस्यवाद का भी पुट है; उसकी अन्तिम तान रहस्यवाद पर टूटती है। इड़ा मुक्तिबोध को पूँजीवादी संस्कृति की प्रतीक लगती है, वास्तविक जीवन और पूँजीवादी व्यवस्था का संकेत देती है। इसी तरह वह श्रद्धा को सामन्ती संस्कृति और मध्ययुगीन चिन्तन का प्रतीक मानते हैं। मनु, इड़ा, श्रद्धा का कवि के मानस से क्या सम्बन्ध है—उसका विश्लेषण मनोवैज्ञानिक शब्दावली में किया गया है। श्रद्धा कवि का सुपर ईगो है, आदर्श-चेतना है। इड़ा और मनु कवि के मनोमय जीवन का अंग बन गए हैं। मनु कवि के आन्तरिक मानस और संस्कारों का प्रतीक है। इस तरह कवि अपने बाहर और भीतर के जीवन को, समूची जीवन-स्थिति को रूपक में बाँधना चाहते हैं। इसके साथ ही वह मन की महीन तरंगों का विश्लेषण और चित्रण भी करना चाहते हैं। यह सब-कुछ वह चाहते हैं; लेकिन **कामायनी** में क्या कुछ हो पाया है उसे आँकना है।

मुक्तिबोध अपने समाजशास्त्रीय और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण को **कामायनी** और उसके कवि पर इस तरह आरोपित करते हैं—कवि ने **कामायनी** में बड़ी लम्बी यात्रा की है। वह आत्मचेत और विश्वचेत भी है। वह हीगल आदि के चिन्तन से परिचित है, भारतीय द्वन्द्व की भाषा भी खूब जानते हैं। यदि वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी से अवगत होते तो सत्य को शायद पा लेते।[१] (वह सत्य को **शायद** पा लेते लेकिन **कामायनी** न लिख पाते)। मुक्तिबोध की कवि से शिकायत है कि उनकी दृष्टि गतिशील या गत्यात्मक नहीं है, स्थितिशील और शाश्वत है। उनके पास मानव-समाज के भावी विधान का व्यापक चित्र नहीं था। **कामायनी** में

१. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृष्ठ १०२।
२. वही, पृष्ठ १०३।
३. वही, पृष्ठ १५१।

१. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृष्ठ १७५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवतावाद रहस्यवादी है, आदिम स्थिति का निरूपण है जिसमें सामाजिक जीवन सरलतर और कठिनतर था, सरलतर सम्बन्ध और कठोरतर स्थिति, शाश्वत विषमता, शाश्वत द्वन्द्व—

द्वन्द्वों का उद्‌गम तो सदैव
शाश्वत रहता यह मूल मन्त्र।
विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान
नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान

इसमें कवि की दृष्टि को आँका गया है जो मुक्तिबोध के अनुसार अधूरी, एकांगी और ग़लत इसलिए है कि कवि में गति नहीं, अगति है।[1] कवि के चिन्तन का सम्बन्ध चूँकि ऐतिहासिक, सामाजिक क्षेत्र से न होकर मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक क्षेत्र से है, इसलिए अन्तिम निदान रहस्यवादी है।[2] **कामायनी** की कमज़ोरी क्या है? मुक्तिबोध के अनुसार **आँसू** में जिस तरह रहस्यवाद बनावटी है, **कामायनी** में उसी तरह मूल-कथा का घुमाव है, समस्याओं से पलायन है, हल खोजने से बचाव है। यह पलायन रहस्यवाद ने करवाया है। इस तरह व्यक्ति का छुटकारा तो समस्याओं से हो जाता है, लेकिन समष्टि की समस्याओं से छुटकारा नहीं होता। क्या होगा या क्या करना चाहिए था? **कामायनी** में अनुताप होना चाहिए था, हो गया है आनन्द। मनु को चाहिए था कि वह शासन-सूत्र को फिर से अपने हाथ में लेकर इड़ा और श्रद्धा की सहायता से अपनी भूल सुधारते, काम करते, ऐसे समाज को बनाते जहाँ समता होती (समरसता नहीं)। वह राजा से बदलकर लोक-नायक बनते, मानव की शक्तियों को आगे बढ़ाते। यह सब-कुछ **कामायनी** में नहीं किया गया है। कवि के चिन्तन ने न केवल **कामायनी** के कथा-विकास को बिगाड़ा है, चरित्र-विकास में दोष पैदा कर दिये हैं। इतना ही **कामायनी** की भीतरी रचना को भी बिगाड़ा है (यहाँ मुक्तिबोध **कामायनी** की दुखती रग को पहचानते हैं)। **आशा** से लेकर **लज्जा** तक नारी-पुरुष की रमणीय वास्तविकता को लेकर चित्रण है। मनु-समस्या इनमें अंकित है। इड़ा के बाद घटनाएँ तो घटती हैं, लेकिन समस्याओं को सही तौर पर स्थापित नहीं किया गया है। अधिक कहने की आवश्यकता महसूस होने लगती है। क्या इस विश्लेषण-विवेचन में, जो क्यों यह है और क्यों यह नहीं है, **कामायनी** बोल रही है या मुक्तिबोध अपनी आवाज़ को इस पर लाद रहे हैं? क्या वह अपनी **कामायनी** की बात कर रहे हैं या प्रसाद की **कामायनी** की? क्या वह **कामायनी** की कमज़ोरी या इसकी असफलता का कारण खोजते-खोजते इससे दूर और अपने निकट होने की गवाही नहीं देने लगते? क्या इस तरह का मूल्यांकन वस्तुनिष्ठ होने के बजाय आत्मनिष्ठ नहीं हो जाता? मूल्यांकन चाहे रसवादियों का हो या आनन्दवादियों का, भौतिकवादियों का हो या मनोविज्ञानवादियों का, मिथकवादियों का हो या रहस्यवादियों का। असल में पाठक या आलोचक अपनी प्रक्रिया को जब कृति में ग़ायब पाता है तो वह उसे खलने लगती है। कृति की रचना-प्रक्रिया से गुज़रना और उसके आधार पर इसे आँकना एक बात है और अपने रचना-विधान को उस पर आरोपित कर इसे परखना दूसरी बात है, जो गहरी होकर भी कृति से दूर कर देती है। अन्त में मुक्तिबोध तान इस बात पर तोड़ते हैं कि **कामायनी** में शोषित की वकालत क्यों नहीं है, इसमें इच्छा-ज्ञान-क्रिया का वास्तविक सामंजस्य क्यों नहीं बताया गया, श्रद्धा में भी इसका क्यों अभाव है। आचार्य शुक्ल की समाज-मंगल की दृष्टि के अनुसार रहस्यवादी प्रकृति के कारण यह असंभव है, मुक्तिबोध की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि के अनुसार भी यह असम्भव बना है। इस तरह दोनों ने कारण अलग-अलग बताए हैं; लेकिन इसकी असम्भवता में सन्देह किसी को नहीं है। मुक्तिबोध अपनी बात को आगे बढ़ाने के लिए यह कहते हैं कि सामंजस्य वास्तविक जीवन में होता है, न कि संसार से पलायन करने में, हिमालय की शिखरों पर पहुँचने में। वह **कामायनी** के काव्य-रूप को फ़ैंटेसी तो मानते हैं; लेकिन फ़ैंटेसी में ठोस, वास्तविक जीवन के चित्रण की माँग भी करते हैं। क्या यह अपने-आपमें कहीं असंगत तो नहीं है? मुक्तिबोध **कामायनी** को इस आधार पर परखते हैं कि इसमें आनन्दवाद या समरसता का क्यों निरूपण किया गया है? यह इस तरह क्यों है? हर कवि अपने जीवन-बोध को लेकर रचना करता है। इस जीवन-बोध से सहमत या असहमत होने का हर आलोचक को अधिकार होता है; लेकिन जब वह अपने जीवन-बोध के

१. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ० १८०।
२. वही, पृ० १८१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार पर इसे परखने लगता है तो उसकी परख और पहचान जितनी उसके निकट होने लगती है उतनी कृति से दूर। मुक्तिबोध इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि **कामायनी** में गड़बड़ है। यह ठीक है कि **कामायनी** एक असफल कृति है, इसकी असफलता का कारण आनन्दवाद नहीं है। इसकी असफलता का कारण आनन्दवाद का **कामायनी** पर आरोपित होने में है। यदि समरसता का निरूपण कामायनी **पर** न होकर कामायनी **में** होता, इसकी रचना-प्रक्रिया या सृजन-प्रक्रिया में होता तो यह इसके सृजनात्मक स्तर का अभिन्न अंग होता। यदि की बात करना भी बेकार है। यह उसी तरह है जिस तरह अगर मैं न होता तो खुदा होता। मुक्तिबोध केवल एक बार **कामायनी** की दुखती रग पर अंगुली रखकर इसे उठा लेते हैं और फिर वह अपनी **कामायनी** की बात में उलझ जाते हैं। मुक्तिबोध जब यह कहते हैं कि आनन्दवाद **कामायनी** के भीतर को बिगाड़ता है तो वह इसके निकट हैं।[1] कवि का आनन्दवादी संसार हो सकता है; लेकिन **कामायनी** में वह क्या-कैसे-किस तरह है, इसके आधार पर इसे पहचानना संगत है। कवि का आनन्दवादी संसार **कामायनी** के सृजनात्मक या रचनात्मक स्तर पर इसका अंग बनने में असफल रहा है। इसलिए **कामायनी** में सृजन के खण्ड तो अवश्य मिल जाते हैं; लेकिन सृजन की अखण्डता खण्डित है। मुक्तिबोध **अखण्ड आनन्द** को जब **कामायनी** की गड़बड़ का अपराधी ठहराते हैं तो वह **अपनी कामायनी** को मूल्यांकन का आधार बनाते हैं, **प्रसाद की कामायनी** को नहीं। इस तरह आलोचकों ने इसका मूल्यांकन आरोपित मूल्यों के आधार पर किया है।

डॉ० नामवरसिंह मुक्तिबोध के मूल्यांकन को आधार बनाकर प्रतीकों का गतिशील, व्यापक और सामाजिक अर्थ खोजने की कोशिश में इन्हें समकालीन सन्दर्भ में फ़िट करते हैं और इस प्रक्रिया में वह मुक्तिबोध की समाजशास्त्रीय दृष्टि को सरल बना डालते हैं। इस प्रयास के कुछ उदाहरण पेश हैं—कामायनी का सारस्वत नगर भारत के विकासोन्मुख जागरण का प्रतीक है। इच्छा-ज्ञान-क्रिया के निरूपण में इसके वैज्ञानिक विकास, औद्योगिक उन्नति और लोक-संगठन को इंगित किया गया है। पुरानी पीढ़ी के आलोचक इड़ा के महत्त्व को नहीं समझ सकते, नयी पीढ़ी के इसे समझेंगे। (आचार्य शुक्ल इस तरह नयी पीढ़ी के हो जाते हैं)। 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' का नारा लगाने वाले, जो इसे **कामायनी** का सन्देश भी बताते हैं, नारी की दासता चाहने वाले हैं।[1] मनु और श्रद्धा के बीच संघर्ष आधुनिक युवक के मन में अहिंसा, वन्य सरलता, सन्तोष और स्थिरता के खिलाफ संघर्ष है। यह उस समय की स्थिति है जब सन् तीस के आस-पास भारतीय समाज को अहिंसावाद पीछे खींच रहा था और प्रगतिवाद आगे कदम उठाना चाहता था।[2] इसी तरह डॉ० नामवरसिंह बाढ़ के चित्रण को शासकों की तहस-नहस से जोड़ देते हैं।[3] इड़ा पर मनु के हमले में लोकतन्त्र से पैदा होते फासिज्म को आँका गया है।[4] काम के जीवन की मूल शक्ति और आदि-वासना के रूप में निरूपण से आलोचक को फ्रायड के सेक्स की गन्ध आती है। मनु में भारतीय युवक की स्वस्थ-अस्वस्थ भावनाओं को आँका गया है: प्रेम-भावना स्वस्थ और अहं-भावना अस्वस्थ; चिन्ता-असंतोष स्वस्थ और एकाकीपन अस्वस्थ; कर्म की प्रवृत्ति स्वस्थ और स्वप्नलोक में पलायन अस्वस्थ।[5] आलोचक की कवि से यह शिकायत है कि उन्होंने आधुनिक समस्याओं को शाश्वत रूप देकर उनकी आधुनिकता पर परदा क्यों डाल दिया है? आलोचक को यह परदा **कामायनी** में जगह-जगह मसका हुआ भी लगता है। रूपक का विधान **कामायनी** में ही नहीं जायसी के **पद्मावत** में भी जगह-जगह ढीला हो गया है और तुलसी के लाख सँभालने पर भी राम की मानवीय कमज़ोरी छिपी नहीं रहती। यह वास्तविकता की विजय और अवास्तविकता की पराजय को सूचित करता है। इसलिए डॉ० नामवर सिंह ने इस परदे के पीछे से झाँककर **कामायनी** में आधुनिक जीवन को पहचानने की कोशिश की है। यह उसी तरह जिस तरह मुक्तिबोध ने प्रतीकों से शाश्वतवादी परदे को उठाकर **कामायनी** में धड़कते जीवन को परखने की कोशिश की है। डॉ० नामवर सिंह के प्रयास में कभी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का सरलीकरण हुआ है तो कभी छायावादी बोध का दखल। इनके कथनों से अनुमान

१. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ० १८३।

१. इतिहास और आलोचना, पृ० १५५।
२. वही, पृ० १४६।
३. वही, पृ० १४५।
४. वही, पृ० १५१।
५. वही, पृ० १५५, १५६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगाया जा सकता है कि वह **कामायनी** के कितने पास आ सके हैं। छायावादी काव्य में मध्यकालीनता और आधुनिकता में कभी विरोध की स्थिति है तो कभी तनाव की, कभी सामंजस्य की स्थिति है तो कभी समझौते की। यह क्यों है का जवाब समाजशास्त्र और मनोविज्ञान का पण्डित दे सकता है, यह क्या, कैसे और किस तरह का जवाब रचनाओं में ही मिल सकता है। **कामायनी** के समस्या-समाधान में जिस समरसता का निरूपण हुआ है वह इसका अभिन्न अंग न होकर कवि के चिन्तन का अभिन्न अंग लगता है। डॉ० रमेश कुन्तल मेघ **कामायनी** के बारे में जब यह कहते हैं कि इसमें काव्य-खण्ड हैं तो वह इसकी पहचान के अधिक निकट हैं, लेकिन जब वह आचार्य वाजपेयी की भाषा में महाकाव्य और महान् काव्य की तुलना करते समय इसे महान् काव्य के रूप में आँकते हैं तो वह इससे दूर हो जाते हैं। इसे एक असफल कृति में आँकना अधिक संगत है। इसकी असफलता भी साधारण कोटि की न होकर असाधारण कोटि की इसलिए है कि इसके मिथकीय पात्र युग-बोध के बदलने पर नये संकेत दे सकते हैं, छायावादी बोध की स्थिति में मध्यकालीनता या चिरन्तनता के और समकालीन बोध की स्थिति में आधुनिकता या ऐतिहासिकता के। डॉ० मेघ ने विस्तार से पहली बार मिथकीय धरातल पर **कामायनी** की पहचान को गहराया अवश्य है, लेकिन इसे कृति के मूल्यांकन का आधार बनाना असंगत होगा। वह मिथक और इतिहास में अन्तर को साफ़ करने के बाद कवि से यह गिला करते हैं कि **कामायनी** में इन दोनों को मिलाया क्यों गया है। इससे इतिहास को बिगाड़ा गया है।[1] इसमें इतिहास शाश्वत सत्य के रूप में चिरन्तन क्यों है? इसमें इतिहास द्वन्द्वरहित और संघर्षरहित क्यों है?[2] इस तरह कवि इतिहास के माध्यम से अपने युग की दुविधा को व्यापक (शाश्वत) अभिव्यक्ति देना चाहते हैं। इतिहास-चक्र में क्यों घूमता है, इसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि से निरूपित क्यों नहीं किया गया?[3] डॉ० मेघ की शिकायत यह है कि "एक कवि ने इतिहास का सहारा लेकर क्यों उड़ाया है इतिहास का मज़ाक?" इस तरह इतिहास कवि के हाथ से छूट गया है और युतोपिया हाथ लग गया है। इतिहास के लोप हो जाने की चिन्ता आलोचक को है; लेकिन **कामायनी** की सृजनात्मक असफलता का खेद इस चिन्ता से बड़ा है। डॉ० मेघ **कामायनी** के रूप-स्वरूप पर रोशनी डालते हुए कहते हैं कि इसमें तीन यात्राएँ हैं या आयामों के तीन स्तर हैं—ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक। ऐतिहासिक यात्रा महावट से शुरू होकर सारस्वत देश के बीच से होकर कैलास के शिखर तक चलती है; मनोवैज्ञानिक यात्रा **काम, वासना** और **लज्जा** में पूरी हो जाती है और आध्यात्मिक यात्रा में मनु और श्रद्धा का रूपांतरण है—मनु का शिव के रूप में और श्रद्धा का शक्ति के रूप में। **कामायनी** की सफलता और असफलता को परखने की कसौटी यह है कि इन तीन आयामों को एक-दूसरे में किस तरह गूँथा गया है। डॉ० मेघ की राय में ऐतिहासिक आयाम में बिखराव आ गया है। इसका कारण पहले दिया जा चुका है। **कामायनी** में 'सामाजिकता' और नैतिकता का अभाव भी महाकाव्य की दृष्टि से एक **दरार** है। वेदना और आनन्द में समन्वय स्थापित नहीं हो पाया है। मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक आयामों में सामंजस्य का अभाव भी एक और दरार है। इस तरह वेदनामूलक भाषा (आकुल, विकल, कौंध) और आनन्दमूलक भाषा (लास, रास, ताण्डव) में संगति नहीं बैठती; **तड़प** और **पुलक** की भाषा में मेल नहीं बैठता। यह महाकाव्य में एक और **दरार** है। **लज्जा** का देना अनावश्यक लगता है। इसे शायद खरौंच कहा जा सकता है। इसलिए डॉ० मेघ महाकाव्य की दृष्टि से **कामायनी** को असफल कहते हैं; लेकिन काव्य की दृष्टि से इसे महान् कहते हैं।[1] इसका मतलब यह हुआ कि आचार्य शुक्ल का मत भी ठीक है और आचार्य वाजपेयी का भी, समाज-मंगल की कसौटी भी है और छायावाद की भी। आचार्य शुक्ल महाकाव्य-सम्बन्धी आचार्य विश्वनाथ के साँचे को बदलने से झिझकते थे, लेकिन आचार्य वाजपेयी ने पुराने की जगह नया साँचा **कामायनी** का आँकने के लिए ढाल दिया। डॉ० मेघ की कवि से यह शिकायत है कि उन्होंने **वेदना** को तो मान लिया है, लेकिन वह त्रासदी की महानता को नहीं समझ सके हैं जिसकी भारी कीमत उन्हें चुकानी पड़ी है। कालिदास भी **शाकुन्तल** में इसके शिकार कहे जा सकते हैं। क्या यह असफल कृति है? इस

१. मिथक और स्वप्न, पृष्ठ १३६।
२. वही, पृष्ठ १४१।
३. वही, पृ० १४३।

१. मिथक और स्वप्न, पृ० १६२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह हर आलोचक अपनी **कामायनी** को कवि की **कामायनी** पर आरोपित करता आया है। अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए डॉ० मेघ का कहना है कि कवि ने **कामायनी** में मिथकीय चेतना को सामाजिक चेतना में बदलना चाहा है, वह इसे रोमांटिक साँचे में ढालकर सामाजिक रूप देने की कोशिश करते हैं, योग और भोग के माध्यम से वह सामाजिक सवालों को हल करना चाहते हैं। इस तरह की परख में आलोचक का समाजशास्त्र तो बोलने लगता है; लेकिन **कामायनी** मौन हो जाती है। सामाजिक विधान को बदलने के बजाय तान्त्रिक विधान **क्यों** रचा गया है? सारस्वत नगर से कैलास धाम पर **क्यों** ले जाया गया है? यही शिकायत मुक्तिबोध को है जिसका पहले विवेचन हो चुका है। डॉ० मेघ आखिरी तान इस परिणाम पर तोड़ते हैं कि कवि ने मिथक से स्वप्न में लम्बी छलांग **क्यों** लगाई है? **कामायनी** ऐतिहासिक स्थिति को लाँघकर ऐतिहासिक स्थिति का भुलावा देती है। मिथकीय-काल चिरन्तन या महाकाल हो गया है। वैदिक मनु, श्रद्धा और इड़ा को महाकाल की प्रक्रिया में आँकने से मिथक का जाल झुलस जाता है। यदि इसे सीधी भाषा में कहा जाए तो कवि ने सामाजिक वास्तव को क्यों **लांघा** है और सपनों की रचना क्यों की है?[१] कवि जीवन से भागने का सन्देश **क्यों** देते हैं? (आँख बन्द कर लिया क्षोभ से, दूर-दूर ले चल मुझको, ले चल इस छाया के बाहर, मुझको दे न यहाँ रहने)। इस तरह **कामायनी** में समाज के हाशिए गुम हो जाते हैं और प्रकृति के अंचल में "मुक्त नील नभ के नीचे या कहीं गुफा में रह लेंगे" की असंगत बात होने लगती है जो आलोचक को खलती है। क्या "ले चल कहीं भुलावा देकर" छायावादी कविता का एक स्वर नहीं है? क्या इस स्वर के आधार पर इसे असफल कविता कहना आरोपित दृष्टि का परिणाम नहीं है? **कामायनी** एक असफल कृति है; लेकिन इस आधार पर इसे असफल कहना कृति की पहचान से दूर और अपने निकट होने की गवाही देना है, अपनी राह को इसकी राह पर लादना है। यह राह चाहे समाज-मंगल की हो या रस-शास्त्र की, महाकाव्य की हो या रूपक-काव्य की, मनोविज्ञान की हो या समाजशास्त्र की, मिथकशास्त्र की हो या छलांग-शास्त्र की। इन शास्त्रों की सहायता से कृति की पहचान को गहराया तो जा सकता है; लेकिन इनके आधार पर एक कृति के रूप में इसे आँकना अधूरा साबित होता रहा है। डॉ० मेघ ने मिथक-शास्त्र और समाज-शास्त्र की दृष्टि से मुक्तिबोध की तरह **कामायनी** में असंगतियों को खोजते-खोजते उस पर अपनी भाषा में यह आरोप लगाया है कि इसमें मिथक से स्वप्न में छलांग है और यह छलांग इसमें असंगति का मूल कारण है। इस दृष्टि से यह महाकाव्य नहीं बन सकी, महान् काव्य बनकर रह जाती है। महान् काव्य और महाकाव्य में अंतर का संकेत आचार्य वाजपेयी दे चुके हैं।

: ४ :

इस तरह **कामायनी** में असंगति को प्रायः हर आलोचक ने खोजा और पाया है, प्रायः इसलिए कि आचार्य वाजपेयी और डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी इसमें असंगति का अनुभव इसके छायावादी रचना-विधान के धरातल पर न खोजना ही ठीक समझते हैं और पाना असंगत मानते हैं। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी यह कहना चाहते हैं कि पुराने आलोचक रचना के अनुभव और अर्थ को शास्त्र में बाँधने की कोशिश करते रहे हैं और नये आलोचक इसे खुला छोड़ देने के हक़ में हैं। इसकी वजह यह है कि **जीवन्त, सुकुमार और संवेदनशील प्रक्रिया अक्षत बनाये रखने का यही एक तरीका है।**[१] इसलिए वह **कामायनी** के मूल्यांकन को खण्ड-दृष्टि का परिणाम समझते हैं—जैसे महाकाव्य, रूपक काव्य, ऐतिहासिक इतिवृत्ति, दार्शनिक रचना के रूप में। आचार्य वाजपेयी के सिवाय अन्य आलोचक इसकी आस्वादन-प्रक्रिया को न तो साफ़ कर सके हैं और न ही इसे आगे बढ़ा सके हैं। इनके अनुसार आलोचक की खण्ड-दृष्टि आरोपित दृष्टि साबित हुई है और यह **कामायनी** के रचना-विधान को समेटने में असफल रही है। यदि इसके रचना-विधान से गुज़रा जाता, रचना के दो अर्थ-स्तरों को संश्लिष्ट रूप में आँका गया होता तो एक स्तर के चरित्र को दूसरे स्तर में ले जाकर संगति बिठाने की आवश्यकता ही न पड़ती। इन आलोचकों ने जिन असंगतियों को खोजा और पाया है उसका कारण खंड-दृष्टि या आरोपित दृष्टि से मूल्यांकन का परिणाम है। वह स्वयं

१. मिथक और स्वप्न, पृ० २१३।

१. कामायनी का पुनर्मूल्यांकन—माध्यम, अक्तूबर १९६७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचकों की आलोचना-प्रक्रिया से तो गुज़र गए हैं, लेकिन **कामायनी** की आस्वादन-प्रक्रिया से परहेज़ कर गए हैं। वह इतना कहकर सन्तोष पा लेते हैं कि **कामायनी** के विधान में एक बड़ी समग्र और जटिल परिकल्पना का रूप उभरता है, मानवीय संस्कृति का विकास किस तरह भिन्न रूप में होता है, मनुष्य को वरण की स्वतन्त्रता काम के अभिशाप के रूप में मिली है और सारी प्रक्रिया **रचना में जीवन्त व्यक्ति जैसी यह स्वाधीनता और स्वायत्तता की स्थिति संभव हो जाना ही उसकी सफलता और सार्थकता का चरम स्तर है।**[1] इस प्रक्रिया को समझने के लिए यह ज़रूरी है कि दृष्टि को प्रतिमानों में न बाँधा जाए, इन्हें कृति पर आरोपित करने से परहेज़ किया जाए। इतना तो ठीक है; लेकिन केवल यह कर सन्तोष पा लेना कि **कामायनी** का बिम्ब-विधान कुशल है, इसका बिम्ब-गठन सृजनात्मक स्तर पर है, इसलिए इसमें किसी असंगति को खोजना या पाना बेकार है। यह केवल फ़तवा देना है। यदि वह खुद **कामायनी** की आस्वादन-प्रक्रिया से गुज़रते और इसकी आलोचना-प्रक्रिया तक खुद को सीमित न करते तो इन्हें अपनी अखण्ड-दृष्टि के अनुसार **कामायनी** एक असफल कृति लगती। डॉ० नामवरसिंह का यह कहना सही जान पड़ता है कि सपाट भाषा और बिम्ब भाषा की असंगति संरचना की बनावट का तनाव है। इसलिए ज़रूरत उस असंगति को तनाव के रूप में देखने की है।[2] यह तनाव आलोचक की आँखों से ओझल हो गया है। इसका **कामायनी** में बार-बार शिथिल पड़ जाना, बिखर जाना, और टूट जाना इसे असफल कृति बनाता है। एक तरफ़ **कामायनी** की रूपवादी आलोचना है और दूसरी तरफ़ इसकी समाजशास्त्रीय आलोचना। और दोनों आरोपित होने के कारण इसकी पहचान पर रोशनी तो डालती हैं; लेकिन इसे परखने में अतिवाद का सहारा लेती हैं। एक तरफ़ यह कहना कि इसमें जीवन की वास्तविकता की गहरी पहचान तो है; **लेकिन मानव समाज के भविष्य का व्यापक और स्पष्ट चित्र न होने** के कारण इसकी कलात्मकता बाधित है।[3] इसलिए यह असफल है। यदि किसी रचना में मानव-समाज के भावी का व्यापक और स्पष्ट चित्र मुक्तिबोध के अनुसार मिल जाए तो क्या इससे उसकी कलात्मकता बाधित नहीं हो सकती? मुक्तिबोध की अधिकांश रचनाओं में इसके पूरे चित्र तो नहीं मिलते, लेकिन स्पष्ट संकेत अवश्य मिल जाते हैं। इनकी कुछ रचनाओं का काव्य-रूप भी **कामायनी** की तरह फ़ेंटेसी है। क्या इनकी सभी रचनाएँ 'अँधेरे में' की तरह सफल कृतियाँ या केवल कृतियाँ बन सकी हैं? इस तरह **कामायनी** की असफलता और सफलता को आरोपित आधारों पर आँका गया है। डॉ० चतुर्वेदी आस्वादन-प्रक्रिया की सही बात करने के बाद, अपने बिम्ब-विधान या बिम्ब-गठन को कुशल और सृजनात्मक स्तर पर घोषित करने के बाद, इसके बिखरने, टूटने की बात भुलाकर इसे सफल कृति के रूप में आँकने की गवाही देने लगते हैं। एक तरफ़ मुक्तिबोध रूपवादी मूल्यांकन की सीमाओं का सही संकेत देते हैं और दूसरी तरफ़ डॉ० चतुर्वेदी समाजशास्त्रीय सीमाओं का सही संकेत देते हैं। **कामायनी** बेचारी कहाँ, कैसे और किस तरह है इसकी इतनी परवाह करना आरोपित **'मूल्यों'** के कारण आँखों से ओझल हो जाता है। यह चाहे इसका मूल्यांकन हो, फिर से मूल्यांकन या 'और' मूल्यांकन हो। मूल्य शब्द चूँकि इससे जुड़ा हुआ है, इसलिए हर आलोचक अपने-अपने मूल्य के आधार पर इसे पहचानने और परखने की कोशिश में रहा है। इसकी असफलता-सफलता, असंगतियों-संगतियों को भी इसी तरह खोजा और पाया गया है।

: ५ :

सबसे पहले प्रसाद ने **कामायनी** के बारे में आमुख में अपनी बात को समझाने की कोशिश की है। इससे रचनाकार के मानस का परिचय मिल जाता है जो उसकी रचना के मानस में उतरने की प्रक्रिया को एक सीमा तक स्पष्ट तो कर सकता है; लेकिन इसके मूल्यांकन का आधार नहीं बन पाता। **कामायनी** के आमुख में कवि ने इन बातों का उल्लेख किया है—(१) आदि पुरुष मनु का **इतिहास** वेदों से लेकर पुराणों और **इतिहासों** में बिखरा हुआ मिलता है। (२) श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को पहले भी कहा गया है। इसलिए **वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष** ही मानना उचित है। (३) कहीं-कहीं घटनाएँ अतिरंजित-सी भी जान पड़ती हैं। ऐसी घटनाओं में **रूपक का आरोप**

१. कामायनी का पुनर्मूल्यांकन—माध्यम, अक्तूबर १९६७।
२. कविता के नये प्रतिमान, पृ० ८०।
३. वही, पृ० ८२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लेने की सुविधा हो जाती है। (४) आज के मनुष्य के समीप तो उसकी **वर्तमान संस्कृति** का क्रमपूर्ण इतिहास भी होता है। संभवतः इसीलिए हमको अपनी प्राचीन श्रुतियों के **निरुक्त** के द्वारा अर्थ करना पड़ा, जिसके उन अर्थों का अपनी वर्तमान रुचि से सामंजस्य किया जाए। (कवि से लेकर आज तक यह होता आया है) (५) यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से **मानवता का विकास रूपक है**, तो **भी** बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है (**भी** से कवि के संशय का भान होता है और **मानवता के विकास रूपक को** आलोचकों ने गाँठ लिया है) (६) **इतिहास की घटना** के भीतर कुछ देखने की चाह, उसके मूल में रहस्य की खोज, आत्मा की अनुभूति या भाव के **चिरन्तन सत्य** को उस घटना में पाने और कहने की कोशिश **कामायनी** में है। यह घटना जल-प्लावन से सम्बद्ध है। (७) मनु, श्रद्धा, इड़ा के स्वरूप को पुराने ग्रन्थों के आधार पर मन में उतारने का प्रयास। (८) इड़ा देवताओं की स्वसा थी, मनुष्यों को चेतना प्रदान करने वाली थी, इसलिए यज्ञों में इड़ा **कर्म** होता है। यह इड़ा का **बुद्धिवाद** श्रद्धा और मनु के बीच **व्यवधान** बनाने में सहायक होता है। फिर **बुद्धिवाद के विकास में, अधिक सुख की खोज में, दुःख मिलना स्वाभाविक है** (इस परिणाम में कवि का युग बोलने लगता है) (९) यह आख्यान इतना पुराना है कि **इतिहास में रूपक** का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा **इत्यादि** अपना **ऐतिहासिक** अस्तित्व रखते हुए, **सांकेतिक अर्थ की भी** अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। (१०) हाँ, **कामायनी** की कथा-श्रृंखला के लिए कहीं-कहीं **थोड़ी-बहुत** कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार मैं नहीं छोड़ सका हूँ। (कवि के इस अधिकार को कौन छीन सकता है? इस 'थोड़ी-बहुत', कभी थोड़ी तो कभी बहुत कल्पना ने इतिहास को छायावादी साँचे में ढाल दिया है। इससे **कामायनी** की सृजन-प्रक्रिया के बनने-टूटने का परिचय भी मिल जाता है)। इस तरह रचनाकार के मानस में **कामायनी** की कल्पना या परि-कल्पना का संकेत इस आमुख में मिल जाता है। **कामायनी** में यह क्या-कैसे-किस तरह है—इसके आधार पर इसे जाना और पहचाना जा सकता है। कृति रचना के बाद अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना लेती है, उसका अपना रचना-संसार हो जाता है कृतिकार से यह अलग हो जाती है। इसे मुक्ति-बोध ने भी सृजन-प्रक्रिया-सम्बन्धी अपने लेख में स्वीकार किया है।[1] प्रसाद मनु के **इतिहास** की बात करते हैं; लेकिन वह इतिहास और मिथक में अन्तर को भूल जाते हैं। वह बात तो वैवस्वत मनु की भी करते हैं; उसे ऐतिहासिक पुरुष मानने की करते हैं; लेकिन इतिहास किस तरह मिथक में बदल जाता है इसे डॉ० मेघ ने स्पष्ट किया है। आगे चल-कर वह घटनाओं में रूपक के आरोपित कर लेने की सुविधा का संकेत देते हैं। क्या यह सुविधा **कामायनी** के सृजन को बाधित तो नहीं करती; आरोपित होने की गवाही तो नहीं देती? आज के मनुष्य (कवि) के पास आज की संस्कृति का इतिहास होता है। इस इतिहास को कवि ने **कामायनी** में सृजनात्मक अभिव्यक्ति देने की कोशिश की है। यह छाया-वादी युग के साँचे में ढला हुआ है। इसकी जानकारी सही है या ग़लत, इसकी दिशा सही है या ग़लत—इसके आधार पर **कामायनी** को आँकने की जब कोशिश होती रही है तो यह कोशिश **कामायनी** के बारे में न होकर इसमें इतिहास के स्वरूप और इतिहास की दिशा के बारे में होती रही है। इसमें मानव-विकास या सामाजिक इतिहास के बारे में दृष्टि अधूरी है, अवैज्ञानिक है—इसके आधार पर **कामायनी** की अस-फलता को घोषित करना उतना ही असंगत लगता है जितना यह कि मुक्तिबोध के 'अँधेरे में' द्वन्द्व की स्थिति का चित्रण क्यों है, समंजस की स्थिति का क्यों नहीं। 'कामायनी' की असफलता इसके भीतर है, न कि इसके बाहर, इसके रचना-विधान में है, न कि इसके चिन्तन या इतिहास के सही-ग़लत होने में। इन दोनों में तनाव है और तनाव का सृजन अनेक स्तरों पर हो सकता है। एक में तनाव को समंजस में परिणत करने की प्रक्रिया है और दूसरी में इसे द्वन्द्व के स्तर पर व्यक्त करने की। **कामायनी** में यह प्रक्रिया बार-बार टूट जाती है इसे जोड़ने की कोशिश में कवि ने जिस थोड़ी-बहुत कल्पना को काम लाने के अधिकार की बात की है वह गाँठ तो लगा देती है, लेकिन जोड़ साफ़ नज़र आते हैं।

: ६ :

यदि **कामायनी** की राह से गुज़रा जाए तो सबसे पहले मनु को हिमगिरि के शिखर पर शिला की शीतल छाया में

१. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैठे चिन्तित रूप में पाते हैं। इसके पास ही [illegible] से बँधी नौका पड़ी है जिससे वह उतरा है। बाढ़ उतर चली थी और मही निकलने लगी थी। इसका चित्रण छायावादी भाषा में उपलब्ध है। मुक्तिबोध का यह सवाल उठाना कि वह इतना निराश क्यों है, असंगत है। वह अकेला है, असहाय है और विगत विलास-सुख की स्मृतियों के कारण उदास है, चिन्तित है। कवि चिन्ता का चित्रण तथा निरूपण काल-विशेष या स्थिति-विशेष में करने के बजाय एक मनोवृत्ति के रूप में करते हैं (हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल रेखा!) मुक्तिबोध यह शिकायत करते हैं कि मनु को विगत विलास की स्मृतियाँ अधिक क्यों सताती हैं? उसे आज की और आगे की सोच करनी चाहिए, इसकी अधिक चिन्ता करनी चाहिए।[1] मनु के मन की (आगे चलकर शायद केवल मन की) यह स्थिति है—

> विस्मृति आ, अवसाद घेर ले
> नीरवते! बस चुप कर दे;
> चेतना चल जा, जड़ता से
> आज शून्य मेरा भर दे।[2]

इस तरह मनु जड़ होना चाहता है। अतीत सुख की वह जितनी चिन्ता करता है उतनी दुख की लकीरें बढ़ती जाती हैं। उसे भावी में आशा नज़र नहीं आती। प्रकृति को वश में करना कितना कठिन है? अपने मद के कारण मानव पराजित है। वह अब तक विलासिता के नद में तिरता रहा है। यह मनु में तनाव की स्थिति का चित्रण है; लेकिन **चिन्ता** में अतीत का चित्रण इतना विस्तार पाने लगता है कि इस विस्तार में बिखरने का खतरा पैदा होने लगता है।[3] इसके बाद **चिन्ता** से **आशा** फूटती है। **चिन्ता** के अन्त में—

> वाष्प बना उड़ता जाता था
> या वह भीषण जल-संघात,
> सौर-चक्र में आवर्तन था
> प्रलय निशा का होता प्रात।

इसके बाद **प्रात** शब्द से कवि **आशा** में उषा के चित्रण से जोड़ना चाहते हैं—

> उषा सुनहले तीर बरसाती
> जयलक्ष्मी-सी उदित हुई,

१. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ० ३१।
२. चिन्ता से।
३. कामायनी, पृ० ८ से १५ तक।

> [illegible] काल-रात्रि भी
> जल में अन्तर्निहित हुई।

आशा के संचार के चित्र को कवि ने गतिशील रूप दिया है और व्यापक यौन-बिम्ब के माध्यम से व्यक्त किया है—

> सिंधु सेज पर धरा-वधू अब
> तनिक संकुचित बैठी-सी;
> प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में
> मान लिए सी ऐंठी-सी।[1]

इस तरह निराश मनु के मन में आशा का संचार होने लगता है और आस-पास इसकी गवाही देने लगता है जिस पर मानवीय भावों का आरोप किया गया है। जीवन की लालसा जाग उठती है, लेकिन मनु को जीकर क्या करने का सवाल बार-बार कचोटता है। उसे अकेलापन भी अखरने लगता है—

> कब तक और अकेले? कह दो
> हे मेरे जीवन बोलो?
> किसे सुनाऊँ कथा? कहो मत,
> अपनी निधि न व्यर्थ खोलो।[2]

मनु की समस्या न केवल अकेलेपन की है, निरुपाय और असहाय होने की भी है। वह आत्म-विश्लेषण इन शब्दों में करता है जिसकी कड़ी आलोचना मुक्तिबोध अपनी दृष्टि से करने के लिए बाधित हो उठते हैं। मनु की समस्या यह है—

> शैल निर्झर न बना हतभाग्य
> गल नहीं सका जो कि हिमखंड;
> दौड़कर मिला न जलनिधि अंक
> आह वैसा ही हूँ पाखण्ड।[3]

मुक्तिबोध का कहना है कि वह हिमालय जाने के पहले तक 'जलनिधि' से नहीं मिल पाता। उसके रास्ते में अनेक जलनिधि पड़ते हैं। वह उनके तट पर बैठता है, उनमें नहाता भी है, किन्तु उनसे एकाकार नहीं हो पाता; अन्त तक नहीं हो पाता, जब तक कि श्रद्धा उसे हिमालय नहीं ले जाती।[4] इस आलोचना से यह आवाज़ निकलती है कि मनु पहले किसी जलनिधि से क्यों नहीं मिल पाता। हिमालय पर उसका चले

१. आशा से।
२. वही।
३. श्रद्धा, पृ० ४६।
४. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ० ३२, ३३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाना आलोचक को खलता है, इतना खलता है कि वह इसे ठोस रूप में भी निरूपित करते हैं। मनु स्वयं को पाखण्ड कहता है, हिमखण्ड बताता है जो कभी गल नहीं पाता। उसकी भावुकता के पीछे उसका भयानक अहंकार है जो शान्त होने में नहीं आता। यह हो सकता है कि मनु-समस्या आदि-मानव की समस्या रही हो; लेकिन यह समस्या छायावादी युग के कवि की भी रही है। अभी तक मनु आदि-मानव के रूप में चल रहा है। उसकी जीवन-स्थिति का सजीव चित्रण **श्रद्धा** में किया गया है।[1] मनु की मानसिक स्थिति के बारे में श्रद्धा का कहना है—

> दुःख के डर से तुम अज्ञात
> जटिलताओं का कर अनुमान,
> काम से झिझक रहे हो आज,
> भविष्यत् से बनकर अनजान।

इन शब्दों में न केवल छायावादी युग-बोध बोल रहा है जो जीवन की जटिलताओं को लिये हुए है, वरन मानव-नियति का संकेत भी दिया गया है जो काम के अभिशाप का परिणाम है। इस अभिशाप पर महाचिति के लीलामय आनन्द का रंग भी चढ़ा दिया गया है जो कवि के मानस की देन है।[2] मनु-श्रद्धा संवाद के माध्यम से समरसता का काव्यात्मक निरूपण किया गया है। इस संवाद को **कामायनी** में इतना विस्तार दिया गया है कि समरसता का निरूपण शिथिल पड़ने लगता है और वक्तव्य का रूप भी धारण करने लगता है।[3] प्रसाद का कवि मानवता की विजय का गायन करने में अपना आसन उसी तरह जमा लेते हैं जिस तरह मैथिलीशरण गुप्त **साकेत** के नवें-दसवें सर्ग में उर्मिला के विरह को विस्तार देकर यह दिखाना चाहते हैं कि अधिक रोने से अधिक दुःख की अभिव्यक्ति हो सकती है। काम-देवता का आना और काम-वासना का आदि-मानव में जागना—इसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति **कामायनी** के सृजन-खण्डों में एक खण्ड है जिसे एक उपलब्धि के रूप में आँका जा सकता है—

> मधुमय वसन्त जीवन वन के,
> वह अन्तरिक्ष की लहरों में;
> कब आये थे तुम चुपके से

१. कामायनी, पृ० ४८, ४६।
२. वही, पृ० ५३।
३. वही, पृ० ५३-५६।

> रजनी के पिछले पहरों में।[1]

काम जो देवों के विनोद का साधन था, मानव के जीवन को घेर लेता है। काम-रति के चित्रण को अनादि रूप दिया गया है। यह छायावादी बोध का परिणाम है जो देश और काल को अनादि, शाश्वत या चिरन्तन-रूप में आँकता है। काम और रति के व्यापार को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

> सुर बालाओं की सखी रही
> उनकी हृत्तन्त्री की लय थी;
> रति, उनके मन को सुलझाती
> वह राग भरी थी, मधुमय थी।
> मैं तृष्णा था विकसित करता,
> वह तृप्ति दिखाती थी उनको;
> आनन्द समन्वय होता था
> हम ले चलते पथ पर उनको।

इनमें विगत सुख का विलाप है, अतीत की याद की कचोट है। मनु अपनी आँख खोलकर पूछते हैं—

> पथ कौन वहाँ पहुँचाता है ?
> उस ज्योतिमयी को देव ! कहो
> कैसे कोई नर पाता है ?[2]

इस तरह मनु के अनोखे स्वप्न का चित्रण **काम** में हुआ है, अन्त में यह टूट भी जाता है और मनु के हाथों में देवों के सुधा-रस की बेल रह जाती है जो उसे परम्परा में मिली है।[3] अब तक मनु आदि-मानव के रूप में अंकित है, अब वह **वासना** में गृहपति होने जा रहा है, एक से दो और दो से तीन होने जा रहा है। आज तक वह शिशु के समान भटकता रहा है, नारी को पाकर वह अपनी चेतना का दान करना चाहता है। श्रद्धा के मन में लाज का भाव जागता है—

> गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
> भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
> स्पर्श करने लगी **लज्जा** ललित कर्ण कपोल,
> खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गद्गद बोल।[4]

श्रद्धा के मन में यह सवाल उठता है कि क्या मनु के दान को ले सकेगी जिसे उपभोग करने में विकलता पैदा हो रही

१. कामायनी (काम), पृ० ६३।
२. वही, पृ० ७८।
३. वासना के अन्त में।
४. कामायनी, पृ० १३०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो। इन पंक्तियों में **लज्जा** शब्द आने वाले सर्ग की सूचित करने के लिए दिया गया है जो **कामायनी के भीतर से न निकल कर इससे लटका रह जाता है।** इस सर्ग को चिपकाने के लिए **वासना** के अन्त में **लज्जा** का संकेत दिया गया है। **लज्जा** स्वतन्त्र रूप में एक सृजन-खण्ड है जिसमें श्रद्धा-लज्जा संवाद के माध्यम से नारी के संकोच-भाव को काव्यात्मक अभिव्यक्ति मिली है। नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो की बात, जो कुछ आलोचकों को खली है, वास्तव में **कामायनी** का अभिन्न अंग न होकर उस पर आरोपित होने के कारण इसके सृजन को गहरा आघात पहुँचाती है, यह इसके सृजन में खरोंच न होकर ठेस है। इस स्वतन्त्र खण्ड को **कामायनी** में देने के लिए कवि ने **वासना** के अन्त में **लज्जा** का संकेत आवश्यक समझा है। इसके अन्त में स्मित-रेखा से सन्धि-पत्र लिखने की बात आने वाले सर्ग को जोड़ने के काम भी नहीं आती। इस तरह **लज्जा** सर्ग अपने दोनों छोरों से कटा हुआ लगता है, पहले छोर से इसे लटकाने के लिए श्रद्धा की गिरी पलकों, झुकी नासिका और लाल कान-कपोल का सजीव चित्रण किया गया है जो सहज है। इस तरह **लज्जा** इस काव्य-रचना में असंगति नहीं है, अपैंडेक्स है जो मानव-शरीर की रचना में अनावश्यक समझी जाती है और जिसके दुखने पर इसका ऑपरेशन भी करना पड़ता है। **कामायनी** का ऑपरेशन अब संभव नहीं है। यह इसके रचना-विधान में दुखता रहेगा। **लज्जा** में आकर **कामायनी** की सृजन-प्रक्रिया किस तरह अवरुद्ध हो जाती है, टूटने की गवाही देने लगती है—इसका परिचय इसके पहले और बाद के सर्गों से भी मिल जाता है। **लज्जा** के पहले **काम** और **वासना** है और इसके बाद **कर्म** है। कर्म के शुरू में ही मनु सोच की स्थिति में अंकित है, "उसके कान में **काम** का कथन भरा है और मन में नव अभिलाषा है।" इसका सृजनात्मक सम्बन्ध **काम** और **वासना** में है जो **लज्जा** में आकर टूट जाता है। इस तरह **लज्जा कामायनी** पर आरोपित है, इसे गहरी ठेस पहुँचाता है, समूची कृति में दरार डाल देता है जिसे भरने के लिए छायावादी आलोचकों ने बेकार कोशिश की है। **लज्जा** एक अनावश्यक सृजन-खण्ड है जो स्वयं में पूरा है; लेकिन **कामायनी** में फ़िट नहीं बैठता। **कर्म** में आकर **कामायनी** मनु की समस्या को गहराने लगती है—

तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
श्रद्धे ! वह भी कुछ है;
दो दिन के इस जीवन का तो
वही चरम सब-कुछ है।[1]

इसलिए वह श्रद्धा से अनुरोध करता है—

उधर सोम का पात्र लिये मनु
समय देख कर बोले—
श्रद्धा ! पी लो इसे बुद्धि के
बन्धन को जो खोले।[2]

मनु और श्रद्धा के दृष्टिकोणों में तनाव की स्थिति है जिसे **कर्म** में सृजनात्मक अभिव्यक्ति मिली है। मनु के दृष्टिकोण को मुक्तिबोध व्यक्तिवादी कहते हैं और आचार्य वाजपेयी अहंवादी। कवि शायद यह कहना चाहते हैं कि सोम-पान ने देवों में वासना, सुख-भोग को उकसाया है और यही सोमपान मनु में वासना, सुख-भोग को उकसा रहा है। यह अहंवाद देव-संस्कृति के नाश का कारण बना और यह मानव-संस्कृति के नाश का भी कारण बन सकता है। श्रद्धा बार-बार मनु को समझाती है और चेतावनी भी देती है—

अपने में सब-कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकांत स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा।[3]

इसलिए वह उपदेश देती है जो वक्तव्यमूलक होने के कारण **कामायनी** की सृजन-प्रक्रिया को ठेस तो नहीं लगाता; लेकिन खरोंच अवश्य लगा जाता है। इस तरह के वक्तव्य कहीं-कहीं खरोंचों के रूप में बिखरे हुए हैं—

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सबको सुखी बनाओ।[4]

श्रद्धा को पूरी तरह पाने के बाद और उसकी माँ बनने की प्रक्रिया में मनु में मोहभंग की अनुभूति गहराने लगती है। मनु शिकार खेलने और श्रद्धा तकली कातने में व्यस्त हो जाती है। वह अकेलेपन को महसूस करने लगती है और मनु अभाव को—

१. कामायनी, पृ० १३०।
२. वही, पृ० १३०।
३. वही, पृ० १३२।
४. वही, पृ० १३२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रद्धे ! तुमको कुछ कमी नहीं
पर मैं तो देख रहा अभाव;
भूली-सी कोई मधुर वस्तु
जैसे कर देती विकल घाव ।[१]

ईर्ष्या में एक साधारण गृहस्थी का एक साधारण चित्र उतारा गया है जो **कामायनी** के स्तर से उतरा हुआ लगता है; लेकिन इसके अन्त में यह फिर उठने की गवाही देने लगता है । मनु को श्रद्धा से अलग करने की योजना में कवि मनु के मन में जलन का भाव पैदा करते हैं—

यह संचित क्यों हो रहा स्नेह
किस पर इतनी हो सानुराग ।[२]

वह घर छोड़कर इसलिए चल देता है—

तुम अपने सुख से सुखी रहो
मुझको दुख पाने दो **स्वतन्त्र**
'मन की परवशता महा दुःख'
मैं यही जपूँगा महा मन्त्र ।

मन की परवशता मनु के लिए महा दुःख है; वह स्वतन्त्र रहने के महामन्त्र का जाप करना चाहता है । यह मनु के व्यक्तित्व का मूल मन्त्र है जिसे मुक्तिबोध ने मनु के गहरे में उतरकर उसी तरह पकड़ा है जिस तरह कवि ने उसका सृजन किया है और जो सतह पर रहने के कारण डॉ० मेघ की पकड़ में पूरी तरह नहीं आ पाया है । यदि यह आ पाता तो वह यह न कहते कि मनु आदि मानव से गृहपति होते हैं ।[३] वह गृहपति होते नहीं, बनाये जाते हैं । इसी तरह वह प्रजापति, साधक और शिव बनते नहीं, बनाए जाते हैं । इसमें **कामायनी** की कमजोरी झलकने लगती है । श्रद्धा के पास चेतावनी देने के सिवाय और चारा ही क्या है—

रुक जा, सुन ले ओ निर्मोही !
वह कहती रही अधीर श्रान्त ।[४]

इस तरह चेतावनी उसे आगे चलकर भी मिलती है जब पवन उसे साधना के पथ से लौटने के लिए अनुरोध करता है; लेकिन वह उसे अनसुना कर देता है ।

इसके बाद मनु की नियति जीवन के अन्धकार में भटकने की है । वह सारस्वत नगर में पहुँचता है जो सूना और उजड़ा है । वह गहरी सोच में डूब जाता है । आत्म-विश्लेषण उसका स्वभाव है । वह श्रद्धा को भूलकर गहरे अनुताप से घिर जाता है । मनु-समस्या आधुनिक या छायावादी युग की समस्या का रूप धारण करती है । कोलाहल और कलह को अनन्त रूप में आँका गया है, द्वयता की स्थिति को शाश्वत रूप में । शंकाओं से घिरा हुआ मनु इस परिणाम पर पहुँचता है—'यातना चलेगी अन्तहीन ।' वह अपने भीतर से बाहर आकर सरस्वती के मधुर नाद को सुनता है जिसमें 'हिम-शीतल लहरों का रह-रह कूलों से टकराते जाना' सुनता है और 'आलोक अरुण किरणों का उन पर अपनी छाया बिखराना' देखता है ।[१] यह अंश बाहर से सृजन-प्रक्रिया से टूटा हुआ लगता है; लेकिन भीतर से जुड़ा हुआ इसलिए है कि बाहर-भीतर एक हो गए हैं । इस स्थिति में इड़ा का आना होता है—'बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल ।' मनु-समस्या एक दूसरे स्तर पर खुलने लगती है—ज़िन्दगी क्या है ? कौन इसे रचने वाला है ? विषाद जीवन को क्यों घेरे रहता है ? बुद्धि के सिवाय और चारा ही क्या है ? विज्ञान को साधन बनाकर जड़ता में चेतना का संचार करने के सिवाय और रास्ता ही क्या है ? इस तरह के सवालों का जवाब वह इड़ा को अपनाने में पाता है जिसे **बुद्धिवाद** कहा गया है । मनु अपने सुख-साधनों के दरवाज़ों को इसके सहारे ही खोल सकता है । उधर मनु सुख-साधनों के द्वारों को खोलने की सोच में है, इधर कामायनी 'एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ' के रूप में 'कुसुम वसुधा' पर पड़ी है । वह विरहिणी नारी है । उसके परिवेश का चित्रण मेघ-चपला, शतदल-सरसी, मधुप-मधुकर की भाषा में किया गया है जो थोड़ा कटा हुआ भी जान पड़ता है ।[२] श्रद्धा और मानव के संवाद के बाद **स्वप्न** का आयोजन किया गया है ताकि श्रद्धा-मनु की कड़ी पूरी तरह टूट न पाए । इसमें उस नगर का चित्रण है जो देव नगर से भिन्न है । इस नगर में उस नगरी का चित्रण है जहाँ धातु गलते हैं, नये हथियार ढलते हैं, नये गहने बनते हैं । इस तरह पुरी की शोभा निखरती है । इसकी आभा भी शायद देव नगर की तरह मिटने वाली है । यहाँ इड़ा आसव-ढाल रही है । मनु का मानस-देश सूना

१. कामायनी, पृ० १४५ ।
२. वही, पृ० १४८ ।
३. मिथक और स्वप्न, पृ० १३७ ।
४. कामायनी, पृष्ठ १५४ ।

१. कामायनी, पृष्ठ १६७ ।
२. वही, पृष्ठ १७५-१७६ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उजड़ा हुआ है। वह इड़ा से पूछता है—तू किसकी है, ये किसके हैं ? उसका 'मन उन्मत्त है और काया शिथिल।' उसका नर-पशु हुंकार उठता है—'तब तुम प्रजा बनो मत रानी।'[1] आलिंगन के बाद वसुधा काँप उठती है और चारों ओर हलचल, उथल-पुथल शिव के ताण्डव के रूप में साकार होती है। **कामायनी** में सृजन की लय के शिथिल पड़ते ही शिव का ताण्डव उसमें तेज़ी ला देता है। श्रद्धा इस सपने से **स्वप्न** में काँप उठती है और मनु के बारे में चिन्तित हो जाती है। उधर **संघर्ष** में मनु भी चिन्तित पड़े हैं, दोनों तरफ़ बराबर चिन्ता है—मनु को अपनी और श्रद्धा को मनु की। ताण्डव-लीला जारी है। मनु की सबसे बड़ी खूबी है कि वह अपना विश्लेषण एकदम शुरू कर देते हैं—

महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना,
चेतना की तुष्टि वही है फिर सब सपना।[2]

इस दृष्टिकोण में मनु का व्यक्तित्व झलकता है। मुक्तिबोध का गिला यह है कि मनु 'व्यक्तिवादी' क्यों है या **कामायनी** में कवि ने क्यों इसे इस रूप में उतारा है। इस तरह की आलोचना **कामायनी** की न होकर उसके कवि की हो सकती है। मनु अपने गहरे में उतरकर यह पाता है कि 'नियामक वशी किस तरह रह सकता है, वह चिर-बन्धनहीन है, मृत्यु-सीमा का उल्लंघन करेगा और सतत चलता रहेगा।'[3] यह उसके 'उद्दाम और अदम्य' मन का परिचय देता है। उसके मन में अनुताप नहीं है। यदि नहीं है तो क्यों नहीं है का सवाल भी मुक्तिबोध ने उठाया है।[4] क्या मुक्तिबोध अपनी **कामायनी** की बात करना चाहते हैं या प्रसाद की **कामायनी** की ? मनु अपनी बाँहों में इड़ा को ले लेता है और सिंह-द्वार अर्राने लगता है, **जनता** भीतर घुस आती है। **प्रजा** अब **जनता** के रूप में अंकित है। इसके बाद फिर वही उथल-पुथल और ताण्डव जो **कामायनी** में रीति-रूढि का आभास देने लगता है।[5] इसे बार-बार दोहराने से सृजन में विकार आने लगता है। भीषण जन-संहार के बाद सारस्वत रानी मनु की रानी नहीं बन सकती। महाशक्ति अन्तरिक्ष में फिर हुंकार उठती है और मनु धरती पर बेसुध होकर गिर पड़ते हैं।

१. कामायनी, पृष्ठ १८४।
२ वही।
३. वही, पृष्ठ १६१।
४. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृष्ठ ८६।
५. कामायनी, पृष्ठ २००।

इसके बाद सारस्वत नगर का चित्रण **निर्वेद** में किया गया है जिसकी तुलना इलियट के **वेस्टलैण्ड** से करना अपनी भूल का ही परिचय देना होगा। यह इसलिए कि सारस्वत नगर और **वेस्टलैण्ड** के उजाड़ में जो अन्तर संवेदना के स्तर पर पाया जाता है उसकी अवहेलना नहीं हो सकती। **निर्वेद** में आकर दुखी जगत् और आनन्दमय जगत् में **अलगाव** और **तनाव** की स्थिति का चित्रण है। डॉ० मेघ का यह मत कि **संघर्ष** के बाद **कामायनी** की सृजनात्मक प्रक्रिया टूटने लगती है संगत नहीं जान पड़ता। वह अपनी भूल को आगे चलकर अपनी भाषा में सुधार भी लेते हैं जब वह यह कहते हैं—'आनन्दवादी होने के नाते त्रासदी की महानता वह (कवि) नहीं समझ सके। इसकी कीमत उन्हें चुकानी पड़ी।'[1] (कीमत यह कि **कामायनी** इसके बाद चलने से इन्कार करती है) इसे साफ़ तौर पर कहा गया है—'वे **निर्वेद** के बाद सामाजिक यथार्थता का अतिक्रमण करते हुए कृति को रहस्यात्मक त्रिपुर तथा कैलाश के आनन्द लोक में घसीट ले गए।'[2] इसे आरोपित मूल्यांकन का परिणाम कहा जा सकता है जो कृति से दूर और आलोचक के निकट होने की गवाही देने लगता है। **कामायनी** निर्वेद के बाद आगे जा नहीं सकी है, आनन्द-लोक इस पर आरोपित है, इसकी सृजन-प्रक्रिया को भंग करता है। इसलिए यह अन्तिम रूप में असफल कृति बन जाती है। इन समाजशास्त्रीय आलोचकों का दृष्टिकोण यह है कि **कामायनी** को आनन्दलोक में **क्यों** ले जाया गया है। इसलिए यह गड़बड़ है, इसलिए इसमें असंगति है। कालिदास भी त्रासदी की महानता को नहीं समझते हैं। **'शाकुन्तल'** को चौथे अंक के बाद इसे चलाना इसका परिणाम है। क्या 'शाकुन्तल' कृति नहीं बन सका ? इसलिए **कामायनी** की असफलता को मुक्तिबोध और मेघ भाँप तो लेते हैं; लेकिन इसका आधार ग़लत बना लेते हैं। यह ग़लत इसलिए है कि यह **कामायनी** से **कामायनी** की पहचान न होकर अपनी **कामायनी** के आधार पर उसकी परख है। **निर्वेद** में मनु एक बार फिर अपने गहरे में उतरना चाहते हैं, अब तक जो किया है या जो हुआ है उसकी चीर-फाड़ करने में लग जाते

१. मिथक और स्वप्न, पृष्ठ १६४।
२. वही, पृष्ठ १६४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। वह मन और तन से घायल है; कवि उसे अपनी सहानुभूति देता है, देता रहे। कवि की भाषा शून्य, ताण्डव की है, होती रहे। हर कवि की अपनी भाषा होती है, हर रचना के अपने कला-नियम होते हैं। **कामायनी** अपने कला-नियमों का पालन करने में असफल है, अन्तिम रूप में ताण्डव की भाषा आरोपित है, **निर्वेद** के बाद इसे बैसाखियों के बल पर चलाया गया है, अन्तिम तीन सर्गों को इस पर चिपकाया गया है। **निर्वेद** की अन्तिम **पंक्तियाँ** गोंद का काम देने के लिए गढ़ी गई हैं, ताकि **निर्वेद** के बाद श्रद्धा मनु की खोज में लगकर **दर्शन** में उसे पाकर मनु को शिव का दर्शन करवा सके। एक बार फिर श्रद्धा **निर्वेद** में मनु को पा लेती है। मनु का मोह भंग हो चुका है; सारस्वत नगर उसके लिए छाया है जिससे वह बाहर निकलना चाहता है। उसका पलायन-भाव इतना ज़ोर पकड़ लेता है कि वह कहीं भी रहने को तैयार है—

> मुक्त नील नभ के नीचे या
> कहीं गुहा में रह लेंगे,
> अरे झेलते ही आये हैं
> जो कुछ होगा सह लेंगे।[१]

मनु की स्थिति का सजीव चित्रण **निर्वेद** में मिल जाता है, मनु-समस्या जो **कामायनी** की मूल समस्या है इसमें बार-बार उभरती है। इड़ा की दृष्टि में मनु की स्थिति—

> बाधाओं का अतिक्रमण कर
> जो अबाध हो दौड़ चले,
> वही स्नेह अपराध हो उठा
> जो सब सीमा तोड़ चले।[२]

श्रद्धा और मानव दोनों मनु को घायल अवस्था में पा लेते हैं और तीनों के मिलन से छोटा-सा परिवार बन जाता है जिस पर श्रद्धा का संगीत एक मधुर स्वर के रूप में छा जाता है। यह गीत जितना मधुर है उतना ही आरोपित—

> तुमुल कोलाहल कलह में
> मैं हृदय की बात रे मन।[3]

इस गीत से मनु के मुँदे नयनों को खोलने का काम लिया गया है। मनु भयावने अंधकार में श्रद्धा को खो देना नहीं चाहते; लेकिन वह अपने पर खीजने से भी बाज़ नहीं आते, अपना किया अपराध भीतर से आँधी की तरह उठने लगता है। वह श्रद्धा को मुँह दिखाने के लायक नहीं रहे। वह सबको अपना शत्रु समझने लगते हैं। इनका विश्वास करना बेकार है, मन-ही-मन में घुलने की बात सोचता है। मनु को शांति पाने की खोज में वहाँ से भगाया जाता है ताकि अगले सर्गों की रचना हो सके। यहाँ आकर **कामायनी** की सृजन-प्रक्रिया टूट जाती है जो इसकी असफलता को सूचित करती है, जिसे डॉ० मेघ ने मिथकीय दृष्टि से मिथक से स्वप्न में छलांग कहा है। इसका मतलब यह है **कामायनी** में मिथक और लिरिकल में समन्वय नहीं हो पाया है; लिरिकल विधा में मिथक के सामंजस्य की संभावना तो होती है; लेकिन रूपक विधा में इसकी असंगति रचना को असफल बना देती है। मनु का भाग जाना एक बात है; लेकिन उसे भगा देना आरोपित जान पड़ता है। यह कथा-योजना की दृष्टि से संगत हो सकता था, आनन्दवाद की निरूपित दृष्टि से भी संगत हो सकता था, समस्या का सही-ग़लत समाधान खोजने की दृष्टि से भी संगत हो सकता था (समस्या आधुनिक और समाधान मध्यकालीन); लेकिन यह आन्तरिक संरचना की दृष्टि से आरोपित है, **कामायनी** का न होकर कवि का हो गया है। कवि इसे स्वतन्त्र रूप में कह पाया है, **कामायनी** के माध्यम से कहने में असफल रहा है। यह **कामायनी** की असफलता है, असफलता भी साधारण कोटि की न होकर असाधारण कोटि की है। एक को **कामायनी** में ऐतिहासिक चेतना या दिशा के खो जाने की चिन्ता है, दूसरे को आनन्दवाद के निरूपित होने की, तीसरे को कथा-वस्तु के बाधित होने की, चौथे को नारी को श्रद्धा मानने की, पाँचवें को मिथक से स्वप्न में छलांग लगाने की है। क्या इन चिन्ताओं से **कामायनी** की असफलता का खेद बड़ा नहीं है? क्या साधारण सफलता से **कामायनी** की असाधारण असफलता बेहतर नहीं है?

१. कामायनी, पृ० २१६।
२. वही, पृ० २०८।
३. वही, पृ० २१६-२१७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुक्लोत्तर आलोचना : एक विश्लेषण

नित्यानन्द तिवारी

द्विवेदी-युग के बाद हिन्दी कविता की मुख्य धारा की उद्भावना टकराहट से हुई और शुक्लोत्तर आलोचना का विकास सम्भवतः उसी टकराहट का प्रतिफलन है। टकराहट और प्रतिक्रिया द्वारा गति के एक नवीन 'स्वभाव' की पहचान भारतीय मानस को कदाचित् आधुनिक युग में ही हुई। प्रायः भारतीय मानस प्रतिक्रियाशील नहीं रहा है, वह इतिहास के सहज विकास को स्वीकार कर लेने का आदी रहा है। इसलिए व्यक्ति-प्रयत्नों और उसकी प्रतिक्रियाओं द्वारा इतिहास की गति को कितनी शीघ्रता से तीव्र बनाया जा सकता है अथवा उसे परिवर्तित किया जा सकता है, भारतीय चेतना इससे शायद अपरिचित नहीं तो उदासीन अवश्य रही है। इसके विपरीत यूरोपीय चेतना अपने दर्शन, साहित्य तथा अन्य मानवीय विधाओं के विकास में प्रतिक्रियात्मकता के स्वरूप और योग से बहुत पहले से परिचित रही है। व्यक्तित्व का अपेक्षाकृत तीखा बोध ही वहाँ इसका कारण रहा है। हमारे यहाँ यह व्यक्ति-बोध ऐतिहासिक गति को संचालित करने के संदर्भ में यूरोप के संपर्क में आने तथा अन्य अनेक परिस्थितियों के कारण आधुनिक युग की ही देन है।

प्रतिक्रिया में तात्कालिकता सन्निहित होती है और वही सघन होकर दायित्वपूर्ण विरोध में परिणत होती है और जीवन तथा विचार-जगत् में किसी नवीन क्षेत्र का अनुसंधान करती है। उसी तात्कालिकता के कारण प्रयत्न में आवेग की प्रधानता हो जाती है जो आन्दोलन को जन्म देता है। आधुनिक युग के पहले आन्दोलन की अवधारणा इसी रूप में विद्यमान थी, शायद ऐसा नहीं कहा जा सकता। १५-१५,२०-२० वर्षों में साहित्यिक आन्दोलनों का सूत्रपात और नवीनता की अपेक्षाकृत ललक तात्कालिक प्रतिक्रिया और दायित्वपूर्ण विरोध के नये स्वर को उभारते हैं। आधुनिक जीवन और साहित्य में यह प्रवृत्ति छायावाद काल में ही स्थापित हो चुकी थी, जिसे पहचानना और उसके आधार पर साहित्य की व्याख्या-सराहना करना शुक्लोत्तर आलोचना का दायित्व था। इस पहचान में निश्चित रूप से शास्त्र सहायक नहीं हो सकता था और न प्रयत्नों के स्वरूप और दिशानिर्धारण में ही उससे बहुत अधिक सहायता ली जा सकती थी। ऐसी हालत में समसामयिकता का पूर्ण बोध साहित्यिक समझ और उसकी व्याख्या-सराहना करने की नूतन पद्धति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण केन्द्रीय तत्त्व सिद्ध होता है। निराला की कविताओं का मूल्यांकन करते समय पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने यह अनुभव किया कि "जिस कृति में ओजस्विता हो, प्रवाह हो, जिसका प्रभाव हम पर पड़े, उसमें काव्य की प्रतिष्ठा मानी ही जायेगी। यदि इस सिद्धान्त के व्याख्याताओं में आज इतनी व्यापकता नहीं है तो उन्हें व्यापक बनना होगा। आधुनिक युग प्रत्येक दिशा में नई काव्य-सामग्री का संग्रह करने को कटिबद्ध है।" (**हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० १३६**)। दूसरी ओर पंतजी की कविताओं का मूल्यांकन करते हुए यदि डॉ० नगेन्द्र, रस-सम्बन्धी दो-चार उदाहरणों को प्रस्तुत करते भी हैं तो इस वाक्य के साथ कि "उपर्युक्त विवेचन मैंने थोड़ा-सा प्राचीनता-प्रेमियों की तुष्टि के लिए ही किया है। वास्तव में पंत के काव्य की विवेचना पर उससे कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।" (**सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २६**)। प्रतिक्रिया और दायित्वपूर्ण विरोध में समसामयिकता की केन्द्रीयता वाजपेयीजी की निम्न पंक्तियों में अधिक स्पष्ट हो सकी है, "नवीन काव्य जिस नैसर्गिक अदम्यता को लेकर आया है, उसमें यह संभव नहीं कि वह परम्परा-प्राप्त ध्वन्यात्मकता का ही अनुसरण करता चले। प्रचलित प्रणाली को तोड़ने में, नवीन युग का सन्देश सुनाने में, काव्य अपनी क्रम-प्राप्त मर्यादाओं को भी उखाड़ फेंकता है।" (**हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० १३७**)। 'काव्य' में इस 'नैसर्गिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदम्यता' की पहचान शास्त्र के ज्ञान से सम्भव नहीं था, समसामयिकता का आग्रह ही यह पहचान करवा सकता था और पहचान के उपरान्त उस परिपाटी को तोड़ना अनिवार्य था। तभी यह निर्णय भी लिया जा सकता था—"एक विद्रोही कवि जब नवीन भाव-प्रवाह को काव्य में प्रसारित करता है, वह अभिव्यक्त प्रणाली का गुलाम होकर नहीं रह सकता।" **(हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० १३७)**। और इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि समसामयिकता के अतिरिक्त शास्त्र उस नये प्रयत्न की दिशा का निर्धारण भी नहीं कर सकता। उस प्रयत्न की दिशा विद्रोह की है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—"और इसके प्रति विद्रोह का अर्थ है उपयोगितावाद के प्रति भावुकता का विद्रोह, नैतिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातंत्र्य का विद्रोह और काव्य के बंधनों के प्रति स्वच्छन्द कल्पना और टेकनीक का विद्रोह।" **(सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २)**। यहाँ तक तो हमने शुक्लोत्तर आलोचना में समसामयिकता के बोध और उसके कारण प्रयत्न की विद्रोही दिशा के सम्बन्ध में थोड़ी चर्चा की। किन्तु अब एक मिनट रुककर हम यह देखना चाहेंगे कि जिस आलोचक और जिस आलोचना-पद्धति के मुकाबले यह समसामयिकता का बोध और विद्रोही दिशा उभरती है, उसके निर्माण के पीछे कितना व्यापक अथवा संकीर्ण संदर्भ था।

यह बार-बार दोहराया गया तथ्य है कि शुक्लजी के पूर्व हिन्दी आलोचना की कोई व्यवस्थित परम्परा नहीं थी। इसलिए शुक्लजी को किसी पूर्ववर्ती हिन्दी के आलोचक से किसी तरह की टक्कर लेने की कोई गुंजाइश नहीं थी। उन्हें सब-कुछ को व्यवस्था देनी थी, सब-कुछ नये सिरे से बनाना था। उनके सामने एक ओर संस्कृत का साहित्यशास्त्र था और दूसरी ओर अंग्रेजी के माध्यम से विपुल पश्चिमी काव्य-चिन्तन, साथ ही हिन्दी का लगभग साढ़े पाँच शताब्दियों का सर्जित साहित्य, जिसकी व्याख्या-सराहना के लिए उन्हें मार्ग खोजना था। शुक्लजी के सामने हिन्दी-साहित्य की प्रकृति और स्वर की विशिष्टता का संधान ही उनके लिए समसामयिकता का आग्रह था। इन साढ़े पाँच शताब्दियों में हिन्दी साहित्य का जो श्रेष्ठतम था उसकी अद्वितीयता ही शुक्लजी की आलोचना-पद्धति का केन्द्रीय तत्त्व बनी। उन्होंने भारतीय तथा पश्चिम की आधुनिकतम आलोचना-प्रणालियों की भी परीक्षा की और उनके समानान्तर अपनी पद्धति का विकास किया। इस प्रकार शुक्लजी की आलोचना का सन्दर्भ विश्व-व्यापक था। उनके साहित्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी निबन्धों में डंटन, टालसटाय, रिचर्ड्स, क्रोचे आदि के नाम और उद्धरण ही नहीं मिलते बल्कि उनकी पूरी परीक्षा की गई है और बड़े आत्मविश्वास के साथ उनसे असहमति प्रकट करते हुए शुक्लजी ने अपनी मौलिक पद्धति को विकसित किया है। इस प्रकार शुक्लजी के सन्दर्भ में विश्वव्यापकता, पद्धति में मौलिकता और उसके व्यवहार में अपूर्व दृढ़ता आ गई। यहाँ एक बार मैं फिर दोहरा दूँ कि शुक्लजी के लिए समसामयिकता समूचे हिन्दी साहित्य की अपनी विशिष्टता की खोज थी, न कि उस काल-मात्र में रचित हिन्दी के साहित्य का मूल्यांकन। इस प्रकार उनका एक ऐसा व्यक्तित्व निर्मित हो गया कि अगर कोई चाहता (और चाहा भी गया) तो उनसे टकराकर भी प्रसिद्धि प्राप्त कर सकता था।

शुक्लजी की रुचि कर्म-संकुल जगत् में प्रयत्न की निरंतरता के सौन्दर्य की ओर अधिक आकर्षित होती थी। महत्त्वपूर्ण उसकी सफलता-असफलता नहीं, निरन्तरता है, जिसके द्वारा जीवन में अनेक विविधताओं के बीच सामंजस्य की भूमि खोजी जा सकती है। "विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य है, जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता।" **(चिन्तामणि भाग १, पृ० २१६)** शुक्लजी इसी ओर आकर्षित हुए। यह सामंजस्य का दृष्टिकोण क्लैसिक प्रवृत्ति है। मर्यादा, कर्तव्य, संयम और नैतिकता जिसके मुख्य उपकरण हैं। गेटे ने कहीं कहा था कि क्लैसिसिज़्म स्वास्थ्य है और रोमांटिसिज़्म रोग। शुक्लजी इसे मानते प्रतीत होते हैं। वस्तुतः उनका विरोध इसी बिन्दु से होता है और शुक्लोत्तर आलोचना के विकास का यही प्राथमिक लक्ष्य बिन्दु भी है।

अब छायावाद के सम्बन्ध में उनके कुछ कथन उद्धृत कर मैं यह दिखलाने का प्रयत्न करूँगा कि छायावाद को प्रतिष्ठा दिलाने वाले आलोचक उन्हीं बातों के सम्बन्ध में किस प्रकार का मत रखते हैं।

"चित्र भाषा या अभिव्यंजन-पद्धति पर ही जब लक्ष्य टिक गया तब उसके प्रदर्शन के लिए लौकिक या अलौकिक प्रेम का क्षेत्र ही काफ़ी समझा गया। इस बँधे हुए क्षेत्र के भीतर चलने वाले काव्य ने छायावाद का नाम ग्रहण किया।"

(हि० सा० का इतिहास, पृष्ठ ६१५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"रहस्य भावना और अभिव्यंजन-पद्धति पर ही प्रधान लक्ष्य हो जाने और काव्य को केवल कल्पना की सृष्टि कहने का चलन हो जाने से भावानुभूति तक कल्पित होने लगी।"

(हिन्दी साहित्य का इतिहास)

'रहस्यवाद के अन्तर्गत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने सन्तों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं, जो **तुरीयावस्था या समाधि दशा** में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध **आध्यात्मिक ज्ञान** का आभास देती हुई मानी जाती थीं।"

(वही)

"रहस्यवाद के भीतर आने वाली रचनाएँ तो थोड़ी या बहुत सभी ने उक्त पद्धति पर की हैं, पर उनकी शब्द-कला, वासनात्मक प्रणयोद्‌गार, वेदना विवृति, सौन्दर्य-संघटन, मधुचर्या, अतृप्ति-व्यंजना इत्यादि में अधिकतर नियुक्त रही।"

(वही, पृष्ठ ६१६)

"छायावाद की रचनाएँ गीतों के रूप में ही अधिकतर होती हैं। इससे उनमें अन्विति कम दिखाई पड़ती है।"

(वही, पृष्ठ ६१६)

ऊपर के उद्धरण निश्चित रूप से छायावाद के विषय में शुक्लजी की सहानुभूतिपूर्ण धारणा को व्यक्त नहीं करते।

अब इन्हीं बिन्दुओं पर क्रमशः पं० नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र के शब्द देखें—

"छायावाद मानव-जीवन-सौन्दर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न स्वरूप मानता है; उसे अव्यय की वेदी पर बलिदान नहीं कर देता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन काव्य की सीमा में मानव-चरित्र और दृश्य जगत्, अपने प्रकृत रूप में उपेक्षित ही रहे, जबकि नवीन काव्य में समस्त मानव-अनुभूतियों की व्यापकता पूरा स्थान पा सकी।" **(आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३५२)**

"छायावाद काव्य मध्य युग की काव्यधारा से प्रमुखतः इस अर्थ में भिन्न है कि वह किसी क्रमागत सांप्रदायिकता या साधना-परिपाटी का अनुगमन नहीं करता।"

(वही, पृष्ठ ३५४)

"छायावाद की काव्य-सरणी इन अध्यात्मवादी सीमा-निर्देशों से आबद्ध नहीं है, वह भावना के क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करती।"

"नयी छायावादी काव्य-धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है।"

डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं—"नवीन चेतना से उद्दीप्त कवि के स्वप्न अपनी अभिव्यक्ति के लिए चंचल हो रहे थे, परन्तु वास्तविक जीवन में उसके लिए कोई सम्भावना नहीं थी। अतएव स्वभावतः ही उसकी वृत्ति निकट यथार्थ और स्थूल से विमुख होकर, सुदूर रहस्यमय और सूक्ष्म के प्रति आकृष्ट हो रही थी। भावनाएँ कठोर वर्तमान से कुंठित होकर स्वर्ण अतीत या आदर्श भविष्य में तृप्ति खोजती थीं—ठोस वास्तव से ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्न का संसार रचती थीं—कोलाहल के जीवन से भागकर प्रकृति के चित्रित अंचल में शरण लेती थीं—स्थूल से सहमकर सूक्ष्म की उपासना करती थीं।" **(विचार और अनुभूति, पृष्ठ ५२)**

उन्होंने अन्यत्र लिखा है—"परम्परा के पाश में चिरकाल से बद्ध भावुकता एक साथ छटपटाकर अभिव्यक्त होने लगी और हृदय के समस्त आवेशों का, आत्मा के सम्पूर्ण स्पन्दनों का कवि की कृतियों में एक विशेष स्थान होने लगा। अब उसकी कल्पना स्वच्छन्द है।···कवि के व्यक्तिगत राग-विराग काव्य में बहुमूल्य समझे जाते हैं।"

(सुमित्रानन्दन पन्त, पृष्ठ ७)

"छायावाद की कविता प्रधानतः शृंगारिक है क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुंठाओं से और व्यक्तिगत कुंठाएँ प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं।"

"छायावाद में उपभोग का भाव न मिलकर विस्मय का भाव मिलता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोमय है।"

ऊपर मैंने बहुत-से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं और इन सभी उद्धरणों को एक साथ रखने से एक ओर शुक्लजी तथा दूसरी ओर नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र का अन्तर समझा जा सकता है।

शुक्लजी छायावाद को "बँधे हुए क्षेत्र के भीतर चलने वाला काव्य" मानते हैं। उसे मधुचर्या, वेदना और अतृप्ति-व्यंजना तक सीमित मानते हैं। यहाँ तक कि प्रसाद और महादेवी के लिए उन्होंने साम्प्रदायिक शब्द का भी प्रयोग किया है। इसके विपरीत वाजपेयीजी उसमें "समस्त मानव-अनुभूतियों की व्यापकता" देखते हैं तो डॉ० नगेन्द्र उसमें हृदय के समस्त आवेशों, आत्मा के सम्पूर्ण स्पन्दनों की अभिव्यक्ति पाते हैं। शुक्लजी जहाँ छायावाद को शायद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

ग़लती से मुड़ गई दिशा मानते हैं।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(हि०सा० का इति०, पृष्ठ ६२३)

"यह स्वच्छन्द नूतन पद्धति अपना रास्ता निकाल ही रही थी कि श्री रवीन्द्रनाथ की रहस्यात्मक कविताओं की धूम और कई कवि एक साथ रहस्यवाद और प्रतीकवाद या चित्र भाषावादकों को एकान्त ध्येय बनाकर चल पड़े।" **(हि० सा० का इति०, पृष्ठ ६१४)**। वहाँ वाजपेयीजी उसे "सामयिक जीवन-परिस्थितियों से ही मुख्यतः अनुप्राणित" **(आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३५१)** मानते हैं। शुक्लजी जहाँ छायावादी कविता में कल्पना के अतिरेक से खिन्न होते हैं वहाँ डॉ० नगेन्द्र उसकी कल्पना-मयता और स्वप्न-मयता का सौन्दर्य उभारते हैं। शुक्लजी छायावादी रहस्य-भावना को धार्मिक अनुभूति से पृथक् नहीं मानते और जब उनमें धर्म-साधना का अभाव देखते हैं तो उसे 'अनुकरण' मान लेते हैं। इसके विपरीत वाजपेयीजी और नगेन्द्रजी ने इस रहस्य-भावना को मानवीय और सांस्कृतिक माना है, धार्मिक नहीं। शुक्लजी जहाँ छायावाद को रहस्यवाद मान लेते हैं या मात्र-शैली **(हि० सा० का इतिहास, पृष्ठ ६२३)**, वहाँ दोनों शुक्लोत्तर आलोचक उसे न रहस्यवाद मात्र मानते हैं न शैली-मात्र। जहाँ शुक्लजी प्रकृति के सच्चे स्वरूप और उसकी सच्ची व्यंजना का अभाव पाते हैं वहाँ बाद के आलोचकों ने उसे 'प्रकृति के जीवित अस्तित्व' की नयी अवधारणा के रूप में देखा है। इसीलिए शुक्लजी या तो प्रकृति के स्वतन्त्र वस्तुगत सौन्दर्य का उद्घाटन पसन्द करते हैं या उसके उद्दीपन रूप का चित्रण। **जग के दुख-दैन्य शयन पर यह रुग्णा जीवन बाला** के रूप में चाँदनी के चित्रण की व्याख्या वे नहीं कर सकते, क्योंकि वे मानते हैं कि "चाँदनी अपने आप इस प्रकार की भावना मन में नहीं जगाती।" किन्तु प्रकृति को जीवित सत्ता के रूप में मान लेने से इसमें कोई कठिनाई नहीं पड़ती।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि छायावादी काव्य की प्रेरणा, स्वरूप और प्रक्रिया के कई स्तरों पर पं० नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र ने शुक्लजी से भिन्नता स्थापित की है। इस भिन्नता के प्रत्यक्ष में शुक्लजी से उनकी टक्कर लेना अनिवार्य था। इसीलिए मैंने कहा है कि शुक्लोत्तर आलोचना का विकास टकराहट से हुआ है। इस टकराहट का सन्दर्भ, उद्देश्य और आधार सब-कुछ तात्कालिक था। इस तात्कालिकता के आग्रह के कारण परम्परागत शास्त्रीय शब्दावली की उपेक्षा और नवीन अवधारणाओं को व्यक्त करने वाली परिस्थितियों तथा विचार-धाराओं के प्रति शुक्लोत्तर आलोचकों का ध्यान गया। हम पहले दिखा चुके हैं कि नगेन्द्रजी रसों के आधार पर पन्तजी के काव्य की विवेचना में उदासीन हैं तो वाजपेयीजी नयी परिस्थितियों के अनुरूप रस के स्वरूप में विकास की माँग करते हैं। इनकी आलोचनाओं में नवीनता, स्वतन्त्रता, उन्मुक्तता आदि शब्द बार-बार आते हैं और इनके आधार पर छायावादी काव्य के औचित्य तथा उसकी श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है। स्वप्न, कल्पना, प्रकृति, व्यक्तिवाद और अन्तर्मुखता, आध्यात्मिकता का मानवीय सन्दर्भ आदि ऐसे शब्द हैं जो नई अवधारणाओं को व्यक्त करते हैं और छाया-वादी काव्य की आलोचना में ही पहले-पहल इस रूप में यद्यपि जाने नहीं गए तो प्रतिष्ठित अवश्य हुए। शुक्लजी के बाद के इन आलोचकों को पढ़ने से स्पष्ट लगता है कि उनके विरुद्ध, (उनकी दृष्टि और उनकी पद्धति के विरुद्ध) एक आन्दोलन किया जा रहा है। इस प्रकार सभी परम्पराओं का अध्ययन कर, व्याख्या कर, कुछ अस्वीकार कुछ स्वीकार कर, सामंजस्यपूर्ण विवेकसम्मत पद्धति जिस प्रकार शुक्ल-जी ने विकसित की, उसके बाद की आलोचना का विकास उस प्रणाली पर नहीं हुआ। इसमें प्रतिक्रिया, आवेग और विरोध का स्वर है, जिसमें सामंजस्य नहीं स्वच्छन्दता की कामना है।

विश्लेषण की सूक्ष्मता और विस्तार तथा व्यापक सन्दर्भ किसी भी आलोचना-पद्धति के महत्त्वपूर्ण होने के निर्णायक तत्त्व कहे जा सकते हैं। आलोचक अपने विश्वासों और अपनी मान्यताओं से उतना स्थापित नहीं होता जितना अपने विश्लेषण की सूक्ष्मता, गम्भीरता और विस्तृति से। ऊपर के विवेचन से भिन्न दृष्टि की स्थापना अवश्य होती है और उसे महत्त्व मिलना ही चाहिए किन्तु विश्लेषण का वह सूक्ष्म तथा विस्तृत रूप जो शुक्लजी में मिलता है, निस्संकोच कहा जा सकता है कि इन बाद के आलोचकों में वह उतना भी नहीं है। यही कारण है कि शुक्लजी से असहमत हुआ जा सकता है किन्तु बड़ी-से-बड़ी मेधा का भी अप्रभावित होना असम्भव है। दूसरी ओर इन परवर्ती आलोचकों से (छायावाद के संदर्भ में) शायद सहमत होना ज़्यादा आसान है, किन्तु उसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मात्रा में प्रभावित भी हुआ जा सकता है—इसमें सन्देह की पर्याप्त गुंजाइश है। शायद यही एक कारण हो जिससे व्यावहारिक आलोचना की तर्कसंगति से ये आलोचक सिद्धांत की ओर अधिक झुकते गए और विश्लेषण की व्यापकता के मुकाबले सिद्धान्त की व्यापकता की चाहना करने लगे। शुक्लजी ने 'लोक मंगल', 'आनन्द की प्रयत्नावस्था और सिद्धावस्था' जैसे अवधारणासूचक शब्दों को अपने विश्लेषण द्वारा ही नया और विशिष्ट अर्थ दिया था, शास्त्र की परिपाटी का अनुगमन करके नहीं। शुक्लोत्तर आलोचक यदि उस प्रकार परम्परा से हटे, किन्तु उसी में से उद्भूत अवधारणा-प्रधान शब्दों का निर्माण कर सके होते तो उनके आलोचक-व्यक्तित्व की सार्थकता अधिक व्यापक और गम्भीर धरातल पर स्थापित हुई होती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टी० एस० इलियट और 'नई आलोचना'

रामसेवक सिंह

: १ :

बीसवीं शती के पहले दशक के समाप्त होते-न-होते योरोपीय वातावरण में एक नई चेतना आई। अब आलोचकों के लिए कवि के जीवन-वृत्त तक सीमित रहना सम्भव न था। उन्हें कवि के बदले काव्य की चर्चा अभीष्ट हुई। कविता के गठन और उसके स्वरूप पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। स्वाभाविक था कि इस समय का आलोचक इस नई चेतना से ओतप्रोत हो, और कवि भी 'विक्टोरियन निश्चितता' से मुक्त होकर अपने कवि-धर्म को ज़िम्मेदारीपूर्वक निभाये। कविता के क्षेत्र में जैसे बिम्बवाद (इमेजिज़्म) इसका एक सीधा परिणाम था, उसी प्रकार आलोचना के क्षेत्र में प्रभाववाद (इम्प्रेशनिज़्म) का अन्त और विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रारम्भ। इसलिए अब आलोचकों के लिए आवश्यक था कि वे समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान-जैसी अन्य विद्याशाखाओं से भी अपेक्षित सहायता लें। इन तमाम जलधाराओं को लेकर जो गंगा निकली वह थी 'नई आलोचना'। इस नई आलोचना के जन्मदिवस के बारे में मतैक्य भले न हो, इतना सभी स्वीकार करते हैं कि लक्षण-रेखाएँ इन पुस्तकों में स्पष्ट देखी जा सकती थीं : टी० एस० इलियट की 'द सेक्रेड वुड' (१९२०), मिडलटन मरी की 'द प्रॉब्लेम ऑफ़ स्टाइल' (१९२२) तथा आई० ए० रिचर्ड्स की 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटररी क्रिटिसिज़्म' (१९२४)।[१] इंगलैंड में यह धारा एफ० आर० लीविस के हाथों तक आते-आते एक स्वस्थ परंपरा बन चुकी थी। अपनी पुस्तक 'रिवैल्युएशन' (१९३६) में बहुत स्पष्ट शब्दों में लीविस ने कहा था कि वे "अंग्रेज़ी काव्य-परंपरा में आये नवीनतम दृष्टिकोण" को अपना रहे थे जिसकी नींव एज़रा पाउण्ड, टी० एस० इलियट तथा आई० ए० रिचर्ड्स जैसे आलोचकों के हाथों पड़ चुकी थी। अमेरिका में इस प्रवाह के आने में उतना ही समय लगा। सही बात तो यह है कि एक के बाद एक करीब आधा दर्जन पुस्तकें १९२० और १९४० के बीच छपीं जिनमें इसी दृष्टिकोण का निरूपण था। इनमें प्रमुख आलोचक थे : इलियट, रिचर्ड्स, जान क्रो रैंसम, केनेथ बर्क, एलीसिओ वाइवास, ब्लैकमुर, आर० एस० क्रेन, अलेन टेट, क्लींथ ब्रुक्स, विलियम एम्पसन, राबर्ट पेन वैरेन, रेने वेलेक, इत्यादि।

: २ :

यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि ये सभी 'नये आलोचक' मानते हैं कि 'नये' से उनका मतलब यह नहीं कि उन्होंने कोई एकदम नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।[२] उनका प्रयत्न तो यह रहा है कि वर्तमान युग की प्रकृति जुदा होने से जो कुछ धुँधला हो गया है अथवा दृष्टि से ओझल हो गया है, उसी को पुनः स्पष्ट रूप से और बल देकर प्रस्तुत करें। वर्षों से जो बातें बार-बार दोहराई जाने से घिस गई हैं, व्यर्थ या व्यतीत हो गई हैं उन्हें छोड़ें और नकली वैज्ञानिकता को ठुकरावें। इस तरह इन आलोचकों को 'नया' कहने में कुछ हेच हो सकती है। किन्तु यह एक और मज़ेदार बात है कि बीसोत्तरी के बीस वर्ष पहले ही मनोविज्ञान की उपलब्धियों की सहायता से जो नई आलोचना-पद्धति शुरू हुई उसे 'नया' कहने में लोग हिचकते हैं। यद्यपि मनोविज्ञान के प्रभाव में लगभग सभी आलोचक आये हैं। वे आलोचक थोड़े हैं जिन्होंने, फ्रायड, युंग अथवा किसी और मनोवैज्ञानिक की पद्धति का पूरा-पूरा उपयोग किया हो। अब ऐसा लगने लगा है कि नये और पुराने का झगड़ा छोड़कर जिसने जो कुछ भी योग दिया है उसे स्वीकार किया जाए। गंगा किसी एक धारा का नाम नहीं। उसका फैलाव और गहराई इसलिए सम्भव हुए कि कितनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही दिशाओं से जलराशि बिखरती मिलती आकर एक प्रबल धारा में परिवर्तित हुई। 'नई आलोचना' के लिए भी कुछ ऐसा ही कहा जा सकता है। हर आलोचक का अपना स्थान है क्योंकि उसने कुछ 'नया' किया है। अच्छी बात यह है कि ये आलोचक एक-दूसरे से कभी नहीं उलझे। समझदार और भले किरायेदारों की तरह नये आलोचक' एक ही मकान में रह रहे हैं। वे एक-दूसरे से प्रभावित भी हुए हैं और उन्होंने एक-दूसरे को प्रभावित भी किया है। इलियट ने कितनी ही जगहों पर रिचर्ड्स से विचार-विमर्श किया है। 'द यूस ऑफ़ पोएट्री एंड द यूस ऑफ़ क्रिटिसिज्म' (१९३३) की भूमिका में तो यहाँ तक कहा है कि "मुझे इस बात का खेद है कि जब मैं अमेरिका में इन भाषणों को तैयार कर रहा था तब रिचर्ड्स इंगलैंड में थे, और जब मैं उन्हें छपवाने के लिए इंगलैंड में तैयार कर रहा था तब वे अमेरिका में थे। मैंने आशा की थी कि उनकी आलोचना का लाभ इन भाषणों को मिलता।"[३] इस बात का ज़िक्र औरों ने भी किया है। आर० पी० ब्लैकमुर ने इसी विषय पर लिखे अपने निबन्ध में कहा है कि "टी० एस० इलियट पर आई० ए० रिचर्ड्स का प्रभाव कम होकर भी महत्त्वपूर्ण है।"[४]

यह एक दुर्भाग्य की बात है कि समय-समय पर कवियों और काव्य-रसिकों के लिए यह आवश्यक हुआ है कि वे साहित्य की सार्थकता सिद्ध करें। अपने पूर्ववर्ती और समकालीन कवियों को अतिभावुक और तर्कहीन देखकर अफ़लातून ने अपने 'आदर्श राज्य' में से कवियों को निकाल बाहर किया था। इसलिए आवश्यकता हुई थी कि साहित्य की सार्थकता सिद्ध की जाए और अरस्तू ने यह काम बखूबी किया भी था। वैसे ही जब सोलहवीं शताब्दी में प्योरिटनों ने धार्मिक कट्टरता के कारण साहित्य का बहिष्कार किया था तब सर फिलिप सिडनी को 'एपॉलोजी फ़ॉर पोएट्री' लिखनी पड़ी थी। अभी विज्ञान का प्रभाव जीवन पर शुरू ही हुआ था कि पीकॉक-जैसे लोगों ने मान लिया कि संस्कृति के चार चरण सम्भव थे और वर्तमान युग चौथा चरण होने से साहित्य-सृजन के लिए सहायक नहीं था, तब एक बार फिर शेली ने 'डिफ़ेंस ऑफ़ पोएट्री' लिखकर बताया कि किस प्रकार कवि द्रष्टा होता है और उसका चरित्र चाहे जैसा भी हो वह समाज का नियामक होता है। शेली के बाद अभी सौ वर्ष भी नहीं बीते थे कि फिर वही प्रश्न सामने आया: क्या वर्तमान युग में साहित्य का कोई अर्थ है?—नये सिरे से इस बार फिर विचार हुए और लोगों ने महसूस किया कि इस बार साहित्य की सार्थकता सिद्ध करना कठिन था। अब काव्य पढ़कर कोई सत्य या विराट् के दर्शन करता हो यह बात अनर्गल लगने लगी थी। जो सत्य विज्ञान ने हमारे समक्ष रखे हैं वे ज़्यादा ठोस, विश्वसनीय हैं, जब कि काव्य में जिस सत्य का साक्षात्कार होता है वह वायवीय और अनावश्यक होता है। यदि किसी को इस विश्व के पीछे काम कर रही शक्ति या उसमें व्यक्त सौन्दर्य के स्रष्टा को जानना हो तो वह काम दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने से सम्पन्न हो सकता है। उसे वह कुछ पाने के लिए कविता पढ़ने की आवश्यकता नहीं जो विज्ञान अथवा दर्शनशास्त्र से मिल सकता है। इसलिए अब काव्य-सृष्टि नीति-प्रचार और सत्यदर्शन के लिए नहीं हो सकती थी। अब कविता की सार्थकता एकदम नये और निरुपम दृष्टि-विन्दु से सिद्ध करनी थी। कविता अपने-आप में कोई ऐसी चीज़ है जिसका सानी और कोई विद्याशाखा नहीं। और साथ ही वह जीवन के लिए आवश्यक है। यह काम तभी हो सकता था जब यह बात मान ली जाती कि साहित्य किसी भी प्रकार धर्म का पर्याय नहीं जैसा कि मैथ्यू आरनोल्ड ने माना था, और न ही वह किसी प्रकार की विशेष अनुकूलता पर आधारित—जीवित है। वह अपने-आप में एक इकाई है, उसका अपना अलग अस्तित्व है। यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी जिसे सभी आलोचकों तथा कवियों ने महसूस किया।[५] आई० ए० रिचर्ड्स ने बहुत स्पष्ट शब्दों में लिखा कि इलियट की कविता 'द वेस्ट लैंड' में काव्य और विश्वास एकदम असम्पृक्त हैं। कविता पर धर्म हावी नहीं हुआ है।[६] इस कविता का आकर्षण ही इस बात में है कि जो कुछ हम इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र इत्यादि में पा सकते हैं वह सब इसमें है, फिर भी यह कविता वही अथवा उतना ही नहीं है जितना उन विषयों के अध्ययन से मिलता है। यह-कुछ न तो ज्ञान का स्थान-पूरक है और न ही जीवन का। उन्नीसवीं शताब्दी की यह मान्यता ग़लत है कि "साहित्य जीवन का एक टुकड़ा" है, ठीक वैसे ही जैसे यह कहना कि साहित्य "जीवन की आलोचना" है।[७] इस उत्साह में, पुरानी शब्दावली में ही, रिचर्ड्स ने यहाँ तक कह डाला कि कवि का सत्य संवेगपरक होता है जब कि वैज्ञानिक का तथ्यपरक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

अंग्रेज़ी आलोचना साहित्य के इतिहास में जितने स्मरणीय आलोचक हुए हैं उनमें लगभग सभी उच्चकोटि के कवि भी रहे हैं। सिडनी, बेन जानसन, ड्राइडेन, पोप, वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली, मैथ्यू आर्नोल्ड, आस्कर वाइल्ड, इलियट और जान क्रो रैंसम—ये सभी आलोचक अच्छे कवि रहे हैं।[८] बेन जानसन ने तो यहाँ तक कहा था कि "कविता पर निर्णय देने का अधिकार सिर्फ़ कवि को है।"[९] यहाँ यह अनिवार्य नहीं है कि इस कथन की मर्यादाओं पर विचार किया जाए। विचारणीय सिर्फ़ यह है कि क्या कवि में कविता समझने की सामर्थ्य ज़्यादा होती है? साधारण रूप से यही स्वीकार्य है। इसीलिए आलोचक में सहृदयता का गुण आवश्यक माना गया है। बुद्धि और हृदय के संघर्ष का इतिहास काफ़ी पुराना है, किन्तु इस द्वन्द्व को ख़ास ढंग से उभारा स्वच्छन्दतावाद ने। और तब से यह खाई चौड़ी ही होती रही है। परन्तु इस विज्ञानयुग में कोई कब तक हृदय की दुहाई देकर बुद्धि का बहिष्कार करता रहेगा? इसलिए जब इस नये परिवेश में कविता की उपयोगिता को फिर से प्रतिष्ठापित करने का प्रश्न आया तो इलियट ने कहा कि कविता में किसी प्रकार की तर्कहीनता नहीं होती। कवि जिस संवेग को काव्य में स्थान देना चाहता है उसकी अनिवार्यता और उपयोगिता पर पुनः-पुनः विचार करता है। शब्दों में आकार ग्रहण करने के पहले कविता का कोई अस्तित्व नहीं, और शब्दों में लाने से पहले कवि को कितना विचार करना पड़ता है इसका अन्दाज़ लगाना उन लोगों के लिए मुश्किल है जो कविता को अन्तःप्रेरणा की देन मानते हैं। कवि एक-एक शब्द के साथ उलझता है—उसके बारीक अर्थों, माधुर्य, अर्थवत्ता और अनिवार्यता पर हर पहलू से विचार करता है। शब्दों को उनकी पूरी अर्थवत्ता में पकड़ने में अभ्यास की आवश्यकता होती है। शेक्सपीयर जैसे जीनियस को भी वर्षों की रगड़-घिस के बाद उस उपयुक्त अभिव्यक्ति पर काबू आया जो उसके पके विचारों को सफलतापूर्वक सक्षम शब्दों में बाँध सकी।[१०] इलियट भी अन्यों की तरह होमर, दान्ते और शेक्सपीयर को कीर्तिस्तम्भ मानकर चलते हैं। किन्तु वे यह बात कतई मानने के लिए तैयार नहीं कि उनकी सृजनात्मक शक्ति उनकी आलोचनात्मक शक्ति से ज़्यादा प्रबल थी। सही बात तो यह है कि कवि की आलोचनात्मक शक्ति उसकी सृजनात्मक शक्ति से ज़्यादा अच्छी होती है।[११] इस बात को लेकर उन्होंने मिडलटन मरी का प्रतिवाद अपने निबन्ध 'द फंक्शन ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' में काफ़ी विस्तार से किया है। कवि-कर्म इतना सरल नहीं जितना लोग मानकर चलते हैं। इसीलिए इलियट यह मानते हैं कि एज़रा पाउण्ड का सबसे बड़ा योगदान, जो उनके समकालीन कवियों की कृतियों को मिला है, वह है उनका इस बात पर बल कि कवि को अपार सजग परिश्रम करना पड़ता है।[१२] इलियट जिस कमरे में बैठकर कविताएं गढ़ते थे उसे 'वर्कशाप' कहते थे।[१३] इसी वर्कशाप में बैठकर वे अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति एकदूसरे माध्यम से भी करते रहे हैं, यानी आलोचना के माध्यम से। अतएव आलोचना लिखते समय न तो वे हृदय को ताक पर रखते थे और न ही कविता लिखते समय बुद्धि को। दोनों का एक-दूसरे से अटूट सम्बन्ध है, आवश्यक सम्बन्ध है।

: ४ :

इलियट ने अपना लेखक-जीवन कवि और आलोचक की हैसियत से लगभग साथ ही शुरू किया। अतः उनकी विचार-पद्धति में कवि को आलोचक से और आलोचक को कवि से जो अपेक्षाएँ होती हैं उन्हीं पर विशेष बल दिया गया। उन्होंने 'द परफ़ेक्ट क्रिटिक' में यह लिखकर कि आलोचक का काम 'सिर्फ़ अर्थविस्तार करना है'[१४] आगामी चालीस वर्षों के लिए आलोचना की परिभाषा दे दी। 'नई आलोचना' इसी को लेकर कविता की व्याख्या में लग गई। वैसे स्पिगर्न ने अपने १९१० में लिखे गये निबन्ध का शीर्षक 'द न्यू क्रिटिसिज़्म' रखा था, इस शीर्षक के ध्वनितार्थों को जान क्रो रैंसम ने १९४१ में इसी शीर्षक से छपी अपनी पुस्तक में उभारा। १९२० से लेकर १९४० तक 'नई आलोचना' आकार ग्रहण करती रही थी, फिर चाहे रिचर्ड्स का कविताओं के शीर्षक और कवि का नाम हटाकर छात्रों से उनकी प्रतिक्रिया जानकर उन कविताओं का सही मूल्यांकन करना रहा हो, चाहे एम्पसन का कविता में अन्तर्निहित 'अनेकार्थों' (एम्बिग्विटीज़) का उद्घाटन, और चाहे रहा हो एफ़० आर० लीविस का अपनी कक्षाओं में कविता की सविस्तार व्याख्या। ये सभी आलोचक एक ही काम कर रहे थे : कविता का अर्थविस्तार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मगर दुर्भाग्य की बात यह है कि इलियट की ऊपरी परिभाषा पर ही आलोचकों का ध्यान केन्द्रित रहा। उसी निबन्ध में थोड़ा आगे चलकर इलियट ने कहा था कि आलोचक 'कविता की व्याख्या' करने के बाद अपने मन पर पड़ी छापों को इस प्रकार सुव्यवस्थित करता है कि वह 'साहित्यिक का सामान्यीकृत वक्तव्य' बन जाता है। परेशानी इसलिए हुई थी कि इलियट ने 'व्याख्या' के साथ एक विशेषण लगाया था 'सिर्फ़'। ये दोनों बातें 'सिर्फ़ व्याख्या' और 'सामान्यीकृत व्याख्या' परस्पर-विरोधी हैं। अतः कविता को 'निराली कृति' मानकर कविता की व्याख्या करने के साथ कुछ आलोचकों ने मूल्य के प्रश्न को भी नज़रअन्दाज़ न करने की गरज़ से कवि के सामाजिक एवं नैतिक उत्तरदायित्वों के प्रति सजगता बरती। परिणाम यह हुआ कि एक विचित्र प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व प्रत्यक्ष हुआ। विलियम एम्पसन ने वर्ड्सवर्थ की कविता 'टिंटर्न एबी' की व्याख्या लगकर की। उन्होंने कहा कि भाषा के उलझी हुई और कथ्य के असन्तोषकारी होने से इस कविता को उच्चकोटि की कृति नहीं कहा जा सकता, किन्तु इसके बावजूद उन्होंने इस कविता की तारीफ़ की।[१५] प्रश्न है, ऐसा क्यों? इसलिए कि आलोचक की अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाएँ चाहे कैसी भी हों, कुल मिलाकर उसके मन पर कविता की क्या छाप पड़ी यह महत्त्वपूर्ण है। और इस दृष्टि से एम्पसन की आलोचना में 'व्याख्या' और 'मूल्यांकन' दोनों को ही लेकर चलने से एक अपरिहार्य अस्पष्टता आ गई है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जिन आलोचकों ने यह माना था कि आलोचना पाठक तक "सानुनय अपनी बात पहुँचाने का मात्र साधन" है उनकी आलोचना में एम्पसन की अस्पष्टता नहीं के बराबर थी। इन आलोचकों में आई० ए० रिचर्ड्स, रैंडेल जैरेल, डी० डब्ल्यू गोटशाक और मार्टिमर एडलर प्रमुख हैं जिन्होंने थोड़े अन्तर से यह माना कि आलोचना हमेशा किसी एक ख़ास वर्ग की रुचि की अभिव्यक्ति होती है। इन आलोचकों[१६] की आँखों से जो बात ओझल हो गई थी वह यह थी कि आलोचना किसी वर्ग की रुचि की अभिव्यक्ति होकर भी औरों की रुचि का परिष्कार करती है। परिणाम यह हुआ कि आलोचना में आलोचक सिर्फ़ अपने प्रति उत्तरदायी हुआ, न कि कविता के प्रति, न ही विवेक या साहित्यिक परम्परा अथवा पाठक के प्रति। बीसोत्तरी और तीसोत्तरी के लगभग सभी आलोचक मूल्यपरक आलोचना से कतराते रहे। जैसे उनकी धारणा बन गई थी कि मूल्यपरक आलोचना न सम्भव है और न ही सार्थक। इस धारणा के कितने ही कारण थे: उन्नीसवीं शती की प्रभाववादी आलोचना के प्रति विरोधी भावना, वर्तमान शती का सापेक्ष्यतापरक दृष्टिकोण, मूल्य के बदले शिल्प-पद्धति के प्रति आग्रह, मनोविज्ञान के प्रभाव में उभरी आत्मपरक दृष्टि और विज्ञान के क्षेत्र में बरती जाने वाली वस्तुपरक, निर्विकार भेदक दृष्टि। साथ ही अध्यापकी वृत्ति भी ज़िम्मेदार है जिसके कारण कक्षा के अन्दर इस प्रकार के फ़तवे दिये जाते हैं कि साहित्य की श्रेष्ठता कालान्तर में ही स्थापित होती है: यानी जो कृति पीढ़ी-दर-पीढ़ी पढ़ी जाए वही शुद्ध साहित्य, बाकी नहीं। इतना ही नहीं, हर बात को सिद्ध करने के लिए तथ्य इकट्ठा करने की वृत्ति इतनी प्रबल हो गई थी कि साहित्य को पृष्ठभूमि में धकेल दिया गया था, और विद्वत्ता रंगमंच पर आ गई थी। और अध्यापकी दार्शनिकता का तो कहना ही क्या जो हर कविता से, जान क्रो रैंसम के शब्दों में, "आचार शुद्धि और मानवता के कल्याण"[१७] के लिए शुभ सन्देश की अपेक्षा रखती है। इस सिलसिले में उन शैलीभक्तों को भूलना नामुनासिब होगा जो शैली की किसी एक बारीकी, जैसे छन्द, मात्रा या शब्दों तक ही अपने को सीमित रखते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में सभी प्रकार के निर्णय अवैज्ञानिक होते हैं। मुश्किल तो सिर्फ़ यह थी कि ये तृतीय श्रेणी की कविता पर उतना ही श्रम करते हैं जितना किसी उच्च कोटि की कृति पर। हेलेन गार्डनर का कहना है कि मूल्यपरक दृष्टिकोण से लिखी गई आलोचना से पाठकवर्ग को बड़ी दिक्कत होती है: जिस सिद्धान्त अथवा मूल्य को लेकर आलोचना की गई होती है वह पाठक के रसास्वादन में बाधक होता है।[१८] इस परेशानी को दूर करने के लिए ही जैसे केनेथ बर्क ने[१९] हेलेन गार्डनर के बारह वर्ष पूर्व ही लिख दिया था कि "आलोचक जटिलताओं को बोधगम्य बनाने के लिए सुलझी हुई सरल भाषा में" रखने की कोशिश करता है ताकि पाठक को परेशानी न हो।

मूल्यपरक आलोचना की अनिवार्यता में विश्वास रखते हुए भी प्रारम्भ में इलियट आलोचना के सैद्धान्तिक प्रश्नों की चर्चा की ओर से थोड़ा उदासीन थे, क्योंकि उनका मानना था कि किसी भी बात का बोध किसी को एकाएक नहीं होता बल्कि धीरे-धीरे कई स्थितियों में होता है।[२०] यह ठीक भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि आलोचना को 'संवेग की अभिव्यक्ति' से मुक्त करा- यदि साहित्य का 'विवेकपूर्ण सौन्दर्यदर्शन' कराना है तो जरूरी है कि उस प्रत्यक्षज्ञान को किसी खास क्रम में रखकर सिद्धान्तसृष्टि की जाए, और प्रतिक्रियाओं को उसी प्रकार एक क्रम में रखकर मृत्युपरक सिद्धान्त बनाए जाएँ। यह दूसरी बात है कि इलियट स्वयं इस विचार को कार्यरूप में परिणत न कर सके। प्रश्न तो सिर्फ़ यह है कि आलोचक कविता को पढ़ने के बाद अपनी किन प्रतिक्रियाओं को क्रमबद्ध करे : कथ्य और शिल्प के सम्बन्धों को लेकर कविता में व्यक्त अथवा गर्भित 'सत्य' (यदि हो तो) को लेकर, या कवि और कविता के सम्बन्धों को लेकर। ये प्रश्न कोई भी साहित्यिक कृति पढ़ने पर उठ सकते हैं, किन्तु सन् १९२० के बाद की आलोचना ने विशेष ध्यान प्रगीतों पर दिया है, कुछ तो इसलिए कि प्रगीत अपेक्षाकृत छोटे होते हैं अतः उन पर जमकर विचार किया जा सकता है, और कुछ इसलिए भी कि गीत के अलावा कोई भी ऐसी और विधा नहीं जिसमें असाहित्यिक प्रश्न लिपटे न होते हों। नाटकों की भी जहाँ चर्चा की गई है वहाँ अंक-अंक और दृश्य-दृश्य की भरपूर व्याख्या की गई, न कि समग्र नाटक की।[२१]

इस प्रकार यह 'नई आलोचना' इतनी दूर तक 'शिल्पपरक' हुई कि कविता का मूल्यांकन न करके शिल्पचर्चा में विशेष प्रवृत्त हुई। इस प्रयत्न के पीछे जो आधारभूत विचार काम कर रहे थे उनमें तीन महत्त्वपूर्ण हैं : एक तो यह कि काव्य का मूल्य इसलिए है कि कविता एक खास प्रकार की निराली संरचना होती है, दूसरे यह कि जीवन में जो कुछ भी कुरूप, सड़ा-गला और क्षयग्रस्त है वह भी साहित्य में ढलकर 'सुन्दर' बन जाता है। जीवन कच्चे माल के समान है। जो, जैसा कि जेम्स जायस ने कहा, कवि की 'आत्मा की भट्ठी में से होकर जब बाहर निकलता है तब वह 'सुन्दर', और इसीलिए 'आनन्दप्रद' होता है। इस तरह जो-कुछ एक साहित्यकार को दूसरे से अलग करता है वह है 'शिल्प' यानी जीवनानुभवों को एक खास प्रकार के क्रम में निबद्ध करने की क्षमता, न कि उनकी अभिव्यक्तियों की पृष्ठभूमि। ये विचार मूलतः कॉलरिज की—आवयविक रूप (ऑर्गेनिक फार्म) और कल्पना (इज़ेम्प्लैटिक इमेजिनेशन) के ही विकसित रूप हैं। आधुनिक कविता की उपलब्धि ही है 'आत्मशुद्धि की खोज'···हर प्रकार के असम्बद्ध अथवा बाह्य तत्वों से बचाने के लिए कविता का शुद्धीकरण, यानी कविता के निखालिस तत्त्वों की खोज।[२२] इस माने में आलोचकों ने कविता को जितना मार्गदर्शन दिया है उतना ही वे उससे प्रभावित भी हुए हैं।

: ५ :

यह कहना कठिन है कि इलियट ने किस बात को ज़्यादा महत्त्व दिया, कविता के शिल्प या अर्थ को। दान्ते के 'डिवाइन कामेडी' के सिलसिले में इलियट ने एक तरफ़ यह कहा है कि "कविता के रसास्वादन की परिणति होती है उस विचारमग्नता में जिसमें व्यक्तिगत संवेगों के लिए कोई स्थान नहीं होता", तो दूसरी तरफ़ शेली की कविताओं के बारे में यह भी कहा है कि "शेली के कुछ विचारों को मैं नापसन्द करता हूँ। परिणाम यह हुआ है कि ये विचार उन कविताओं के रसास्वादन में आड़े आते हैं जिनमें ये व्यक्त हैं।"[२३] हो सकता है कि शेली की कविताओं के रसास्वादन के लिए इलियट से जिस तटस्थता की आवश्यकता थी वह सम्भव न हो पाई। 'धर्म में कैथोलिक, राजनीति में राजशाही के विश्वासी और साहित्य में क्लोसिसिस्ट' होने से इलियट के अपने निजी विचार शेली तथा अन्य रोमांटिक कवियों के रसास्वादन में बाधक हुए हों यह खूब सम्भव है। किन्तु इलियट और कॉलरिज के विचारों की समानता यहाँ महत्त्वपूर्ण है : दोनों ही मानते हैं कि कविता किस क़िस्म की है। यह इस बात पर निर्भर है कि कवि को इष्ट क्या है और वह विश्व को किस रूप में व्यक्त करना है। कॉलरिज ने भी माना था कि विश्व बड़ा संकुल है और धीरे-धीरे उलझता जा रहा है, इसीलिए इस युग की कविता भी उलझी हुई होगी। इसी बात को इलियट ने भी दोहराया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इलियट जिस नई आलोचना के विकास के लिए प्रयत्नशील थे उसके लिए उचित शब्दावली उनके पास न थी। इसलिए ली० टी० लैमन ने कहा कि "इलियट विद्रोही स्वर न होकर एक संक्रमणकालीन आलोचक बनकर रह जाते हैं।"[२४] इस स्थिति में होने से इलियट के लिए यही सम्भव था कि दो में से एक ही काम करते : कविता के कथ्य के लिए शिल्प के औचित्य पर विचार करते, अथवा शिल्प के लिए कथ्य की अनुकूलता पर। किन्तु हुआ यह कि इलियट ने दोनों ही मानदंडों का उपयोग किया। इस धारणा की पुष्टि के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचक का एक वाक्य काफ़ी होगा : 'सिर्फ़' वही शैली टिक पाती है जिसमें स्थायी, रुचिकर कथ्य की अभिव्यक्ति होती है।"[२५] इसी आधार पर इलियट ने अपने १९३६ के निबन्ध में मिल्टन-जैसे कवि की भर्त्सना की थी और कहा था कि 'श्रवण कल्पना' के कविता के अन्य मूल्यों पर हावी हो जाने के कारण कवि अपनी संवेदनाओं को 'सार्थक अनुभव' में ढाल नहीं पाया है। कविता में, इलियट के ही शब्दों में, सिर्फ़ 'महत्त्वपूर्ण संवेगों' के लिए ही स्थान होता है न कि किसी भी संवेग के लिए। इस प्रकार इलियट की आलोचना में हमेशा दोनों बातें अलग रही हैं : 'मुख्य बात' यानी 'कथ्य' एक तरफ़ और 'तकनीक' यानी जो कुछ उस मुख्य बात को स्थापित करता है वह दूसरी तरफ़। यों यह बात ज़रा मुश्किल से समझ में आएगी कि क्यों इलियट जब मिल्टन और शेली को उनके विचारों और जीवन-दर्शन के लिए नापसन्द करते हैं तो शेक्सपियर को जीवन-दर्शन हल्का होने के बावजूद पसन्द करते हैं।

इलियट से कहीं ज़्यादा व्यवस्थित ढंग से अन्य 'नये आलोचकों ने कविता के अर्थ पर विचार किया है। विलियम एम्पसन ने एक पते की बात कही कि यद्यपि हममें से हरेक के अपने विचार होते हैं, अपनी धारणाएँ होती हैं तो भी हम कविता को पढ़-सुनकर आनन्दित होते हैं। इसका कारण है हमारे "सांस्कृतिक विश्व में व्याप्त अनिर्णय की स्थिति।"[२६] हमें विरोधी विचारों के बीच जीने की आदत हो गई है। रिचर्ड्स भी इलियट की तरह कविता के 'अर्थ' के बारे में दोतरफ़ा वृत्ति रखते हैं। रिचर्ड्स एक तरफ़ यह मानते हैं कि कविता की भाषा 'संवेगवाही' होती है, क्योंकि उसमें 'असत्य कथन' होता है। कविता में 'ट्रॉथ' के लिए स्थान है 'ट्रुथ' के लिए नहीं। तो दूसरी तरफ़ वे कहते हैं कि "कलाएँ हमारे मूल्यों के भण्डार हैं...कला का यदि ठीक ढंग से अध्ययन किया जाए तो हमें पता चलेगा कि कौन-से अनुभव मूल्यवान हैं और कौन-से निरर्थक।"[२७] इन विरोधी वक्तव्यों से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि रिचर्ड्स के विचार अस्पष्ट थे। जब कविता विचारशून्य होकर सिर्फ़ भाषा होती है तो फिर यह कैसे सम्भव है कि वह मानव-मूल्यों और अनुभवों का भण्डार हो। और भण्डार है तो बौद्धिक, इन्द्रियजन्य और संवेगात्मक—सभी प्रकार के अनुभवों का क्यों नहीं? इस तरह रिचर्ड्स की स्थिति इलियट से किसी क़दर ज़्यादा सुलझी हुई नहीं है। जान क्रो रैंसम मानते हैं कि अत्यन्त आवश्यक होकर भी कविता में न्यूनतम मात्रा में तर्क होता है[२८], क्योंकि इसी के आस-पास कवि उन अप्रासंगिकताओं का ताना-बाना बुनता है जिससे कविता को आकार मिलता है। आइवोर विंटर्स के विचार इस दृष्टि से बिल्कुल स्पष्ट हैं : "मेरा विश्वास है कि कविता...शब्दों में मानवीय अनुभव का वक्तव्य है...हर कविता में एक कथ्य होता है जो बुद्धिगम्य होता है और हर कविता में उस संवेग के संप्रेषण का प्रयत्न होता है जो बुद्धिगम्य बनाने के लिए आवश्यक होता है। इसप्रकार कविता कुल मिलाकर एक नीतिपरक निर्णय है जिसमें तार्किक और सांवेगिक दोनों ही स्तर पर अनुभवों का मूल्यांकन होता है। मेरे विचार से यह दृष्टिकोण अपरिहार्य है।"[२९]

किन्तु 'मूल्य' और 'कथ्य' से हटकर विशेष ध्यान कविता के शिल्प पर ही 'नये आलोचकों' ने दिया है। इन आलोचकों का मुख्य प्रयत्न ही जैसे कविता के शिल्प की व्याख्या करना रहा है ताकि राजनीति, नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र अथवा मनोविज्ञान आदि इतर विषयों के भँवर से वे बचे रहें। इनका कहना है कि कविता एक 'संवृत्त आकृति' है, एक 'स्वायत्त व्यवस्था' है, अतः जो कुछ भी कवि कहना चाहता है अथवा कह सकता है, मूर्त या अमूर्त, वह कविता में ही होता है। पाठक के पास जो कुछ भी है वह कविता है बाकी कुछ नहीं—न तो कवि या उसका जीवन और न ही उसका मन्तव्य जिससे प्रेरित होकर उसने यह कविता लिखी। यदि कविता को पढ़ते समय कविता में ही पाठक एकदम तल्लीन नहीं हो जाता और उसको कविता का कोई भी तत्त्व उस "प्रतीकों की सहायता से बने स्वयंपूर्ण व्यवस्थित आकृति" से हटाकर 'संसार में वापस' ले जाता है तो उसका सौन्दर्यात्मक आनन्द बाधित होता है।[३०] इसलिए आवश्यक है कि पाठक और इसीलिए आलोचक भी कविता के मूलपाठ तक अपने को सीमित रखे। और इस प्रकार कविता के अन्दर ही निहित विविध सम्बन्धों की छानबीन करे। इस प्रकार कविता को कविता मानकर ही कविता की आलोचना करना आलोचक का उचित कार्यक्षेत्र माना गया। आरटेगा या गैसेट ने यहाँ तक कहा कि "यदि कविता में इस विश्व का एक भी कण किसी प्रकार घुस जाय तो नाक में दुश्मन की बू आयेगी।"[३१]

इस प्रकार 'नई आलोचना' ने कविता के विस्तृत विश्लेषण की नींव डाली। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ कवि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताओं की बड़ी ही सुस्पष्ट व्यावहारिक आलोचना हुई, और क्लींथ ब्रुक्स की 'अंडरस्टैंडिंग पोएट्री' (१९३८) लेकर स्टेनली वर्नेशा द्वारा सम्पादित 'द पोएम इटसेल्फ़' (१९६०) तक कितने ही निबन्ध-संग्रह छपे जिनमें इसी प्रकार के विश्लेषण थे।[32] इस उद्देश्य से कई पत्रिकाएँ भी निकलने लगीं। जबकि 'एक्सप्लिकेटर' जैसी पत्रिकाएँ किसी भी साहित्यिक कृति के विश्लेषण के लिए शुरू हुई तो 'क्रिटीक' जैसी पत्रिका मुख्यतया उपन्यासों की व्याख्या के लिए। काव्येतर किसी भी विचार से निरपेक्ष इस दृष्टि से कृति की "आन्तरिक समनुगति" पर पूरा-पूरा विचार हुआ। किन्तु एक सीमा तक जाकर यह दृष्टिकोण अतिवाद का शिकार हुआ। इस सिलसिले में तीन बातें ख़ास तौर से महत्त्वपूर्ण हैं : एक तो यह कि कविता शब्दों की बनी होती है और शब्द अपने परिप्रेक्ष्य में ही सार्थक होते हैं, अतः कविता से बाह्य विश्व को एकदम अलग रख सकना मुश्किल ही है। जैसे इलियट की कविता 'द लव सांग ऑफ़ अल्फ्रेड, जे० प्रूफ़ॉक' को लें। इस कविता में किसी एक व्यक्ति की ओर निर्देश नहीं है, कोई ख़ास सेटिंग भी नहीं है और वह व्यक्ति काल्पनिक विचारों और भावनाओं में उलझा हुआ है, किन्तु कविता की सौन्दर्यानुभूति का अधिकांश इस बात के मान लेने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रूफ़ॉक नामक व्यक्ति वर्तमान युग के 'आर्थिक मानव' का सम्मिलित नाम है। इस कविता की सोद्देश्यता ही इस बात में है कि पाठक के सामने धीरे-धीरे एक मनुष्य के अनुभवों के माध्यम से बृहत्तर विश्व की झाँकी के लिए द्वार खुलते हैं। इस उदाहरण से दूसरी बात पर भी प्रकाश पड़ता है। कविता और पाठक के बीच ऐसी कई सत्ताएँ हैं जिनको नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता : मानसिक स्थिति, शिक्षा इत्यादि। अर्थात् कोई भी यों ही साहित्यानुरागी नहीं हो जाता, उसे प्रयत्नपूर्वक संवेदनाओं को विकसित करना पड़ता है। संवेदना कोई ऐसा पैदायशी थक्का नहीं है जो शरीर के अन्दर कविता पढ़ने पर धड़कने लगता हो। अतः पाठक और कविता के बीच की दूरी को न तो नज़रअन्दाज़ किया जा सकता है और न ही इस बात से इनकार कि हरेक पाठक उसी कविता के साथ कुछ-न-कुछ नया जोड़ता रहता है। इससे ज़ाहिर है कि कविता के बाहर भी कुछ है जो कविता के अर्थ को प्रभावित करता है। इसीलिए कविता के अन्दर ही रहने के आग्रही क्लींथ ब्रुक्स को भी, पादटिप्पणी में ही सही, स्वीकार करना पड़ा है कि "हम कविता के बाहर विचरण करते हैं क्योंकि निहित उसमें 'तनाव' और 'समंजनों' को समझने के लिए कविता के बाहर निकलना एक अनिवार्य आवश्यकता है।"[33] इसी सिलसिले में एक तीसरी बात। कविता 'बन्द' है अथवा 'खुली' यह प्रश्न सापेक्ष है निरपेक्ष नहीं। शेली की पंक्ति 'आइ डाइ, आइ फ़ेंट, आइ फ़ेल' अथवा शेक्सपीयर की 'राइपनेस इज़ ऑल' अथवा 'रेस्ट इज़ साइलेंस' अपने संदर्भों से बाहर भी उतनी ही प्रभावकारी और सार्थक है, किन्तु कोई भी व्यक्ति इनके मर्म को नहीं समझ सकता जब तक कि संदर्भों को न जाने। अतः बन्द कविता में भी कहीं एक सुराख का होना ज़रूरी है, ठीक वैसे ही जैसे एकदम खुली कविता से भी किसी-न-किसी प्रकार के आकार की अपेक्षा है।

कविता के बन्द आकार को लेकर जो समस्याएँ उभरी हैं उनमें भाषा की समस्या प्रधान है। कविता की भाषा कॉलरिज के समय से ही विज्ञान या दर्शन की भाषा से अलग मानी गई है। रिचड्र्स के भाषा-सम्बन्धी विचार इस सिलसिले में उद्धरणीय हैं। विज्ञान की भाषा तथ्यात्मक होती है जब कि कविता की संवेगात्मक। कविता की भाषा से यह अपेक्षित नहीं है कि वह जो कुछ कहे वह यथातथ्य हो, किन्तु यह ज़रूरी है कि वह 'सार्थक' हो। 'भीगा हुआ' अथवा 'शीतल' जैसे शब्दों से यथार्थ की उम्मीद करने वाला कविता का रसास्वादन नहीं कर सकता। कीट्स की कविता 'लॉ बेल दाम साँ मर्सी' की पंक्ति 'आइ शट हर वाइल्ड वाइल्ड आइज़ विद किसेज़ फ़ोर' में यथार्थ की खोज करना व्यर्थ है। इस पंक्ति में कवि को अनुभूति के तीखेपन का अहसास कराना अभिप्रेत था, और यह काम दक्षतापूर्वक सम्पन्न हुआ है।

इलियट खुद काव्यात्मक और सामान्य भाषा को नज़दीक लाने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। उनके मतानुसार 'सामान्य भाषा' वह भाषा है जिसे सर्वसाधारण सभी वर्गों के लोग बोलते हैं। और चूँकि उनकी भावनाएँ और संवेग शुद्ध होते हैं उनकी शब्दावली को लेकर ही कवि उस संगीत की सृष्टि करता है जो कविता को सामान्य अनुभव से अलग करती है। किसी भी वर्ग के लोगों की भाषा में निहित विन्यास, लय, ध्वनि और मुहावरे उनके व्यक्तित्व को वाणी देते हैं, किन्तु कवि को उनकी भाषा को आत्मसात करने के बाद एक काम और करना होता है, 'उस सामान्य शैली का उन्नयन'[34] अथवा 'अर्थ-विस्तार एवं सुधार करना'[35] इतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो कॉलरिज ने भी माना था, इलियट थोड़ा भिन्न है। आधुनिक काव्यशास्त्र में सामान्य भाषा के अन्तर्गत शब्दचयन ही नहीं बल्कि व्याकरण, शब्द-योजना इत्यादि सभी कुछ शामिल है। इसलिए रैंसम कविता के 'तंतु-विन्यास' (टेक्सचर) और संरचना (स्ट्रक्चर) दोनों को अलग करके देखते हैं। इनके मतानुसार कविता में एक विशिष्ट प्रकार की भाषा का प्रयोग होता है : ऐसी भाषा जो गद्य की भाषा से जान-बूझकर अलग किस्म की बनाई हुई होती है। 'जान-बूझकर' इसलिए कि सामान्य भाषा अभिधात्मक एवं अपरिष्कृत होती है और कवि के लिए यह अनिवार्य होता है कि वह अनगढ़ भाषा को अपने लिए परिमार्जित-परिशोधित करके उपयुक्त बनाये। इतना ही नहीं, कवि को कविता के तत्त्व, ख़ासतौर से तन्तु-विन्यास और अप्रासंगिकताएँ, वह-कुछ कहने से रोकते हैं जिसे सामान्यतया मनुष्य उन शब्दों की सहायता से कहता है। परिणाम यह होता है कि कविता के आन्तरिक और उसके बाह्य उपकरणों में भारी अन्तर होता है। कवि को खूब पता होता है कि वह क्या कहना चाहता है, किन्तु इस ज्ञात और सुनिश्चित से शुरू करके जब कवि भाषा में उसे रूपायित करना चाहता है तब मुश्किलें पैदा होती हैं। उसे स्थान-स्थान पर जो ध्वनि या अर्थ अभिप्रेत होता है उससे कुछ दूसरे ही प्रकार की योजना करनी पड़ती है, जो अपूर्व-निश्चित होता है। कविता के आकार से जूझने में यह भी होता है उसका मूल विचार एकदम मौलिक न रहकर काफ़ी बदल जाता है।[३६] यह तो ठीक है कि शब्द और आकार से जूझने में काफ़ी-कुछ बदलना पड़ता है, किन्तु जो कुछ नया उसे करना पड़ता है उसे अपूर्वनिश्चित न कहकर 'नवीन पूर्व-निश्चित' कहना उचित होगा।[३७] बहरहाल रैंसम की पद्धति भारी-भरकम होकर भी आकार और कथ्य के संघर्ष के अलावा कोई नई बात नहीं कह सकी है। इसी रचना-प्रक्रिया को राबर्ट फ्रास्ट ने 'दोहरी सर्जनात्मकता' कहा है।[३८]

कविता की आकार-व्याख्या के सम्बन्ध में रैंसम की एक बात और महत्त्वपूर्ण है। वे यह मानते हैं कि कविता के कथ्य की कोई अपनी विशिष्ट संरचना नहीं होती। किन्तु कविता के रूप में ढलते ही एक ऐसी 'ठोस सार्वभौमिकता' बन जाती है जो निराला होता है तथा कोई भी आलोचक उसकी तुलना ठीक वैसी ही दूसरी वस्तु से नहीं कर सकता। कविता की विशिष्टता उसके अर्थ या कथ्य में नहीं बल्कि उसके छंद, परिकल्पना और अलंकरण-आवर्त में होती है। परिकल्पना और अलंकरण तो साहित्य की अन्य विधाओं में भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिए कविता के आकार की चर्चा में छन्द को ही रैंसम ने प्रधानता दी है। परिणाम यह हुआ कि रैंसम की आलोचना में छन्द को कविता का अपरिहार्य उपकरण माना गया है और लय को छन्द-योजना का ही एक रूप। छन्द के दो मुख्य फ़ायदे हैं : एक तो यह कि छन्द पर ध्यान देने के कारण कविता में अर्थ का महत्त्व अपने-आप कम हो जाता है। दूसरे यह कि छन्द कवि पर एक प्रकार का नियंत्रण रखता है, नहीं तो कथ्य को कवि बहुत ही असभ्य ढंग से पकड़ने की कोशिश करेगा। यों छन्द शुरू में भाषा के बहाव में बाधक लगते हैं, सही बात तो यह है कि छन्दों में ढलकर मुहावरे चमक उठते हैं। अगर छन्द पूरी तरह क्रियाशील हों तो उनसे बड़े घंटों के टकराने की टन-टन ध्वनि निकलती है न कि छोटी घंटियों की टिन-टिन ध्वनि।[३९]

जैसे काव्य के आकार की चर्चा के लिए नए शब्दों को रैंसम ने अर्थवत्ता प्रदान की है, उसी प्रकार कुछ अन्य आलोचकों ने भी कुछ नए शब्द चलाए हैं जिनसे 'नई आलोचना' की दूसरी उपलब्धियों पर प्रकाश पड़ता है। अलेन टेट ने काव्य के उस गुण को 'तनाव' कहा है जिसका अनुभव हमें काव्य में निहित 'अर्थों के संरूप' से होता है। आलोचना का कर्तव्य है इन्हीं संरूपों का परीक्षण तथा मूल्यांकन करना। वैसे 'तनाव' की ठीक-ठीक व्याख्या कठिन है, कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि टेट ने कविता में शब्दों के मुख्यार्थों और संपृक्त्यार्थों के उचित सम्मिश्रण पर भार दिया है। इसी बात को दूसरे ढंग से कहा जाए तो कविता में शब्द-योजना ही इसलिए की जाती है कि या तो 'अन्तस्तनाव' (इन्टेन्शन) पैदा हो या 'विस्तार' (एक्सटेन्शन) का अहसास हो और उससे उत्पन्न प्रभाव कवि के उद्देश्य को स्पष्ट कर सके। टेट ने इस सिद्धान्त की बड़े संक्षेप में व्याख्या की है। अतः यह बात स्पष्ट नहीं होती कि 'अन्तस्तनाव' और 'विस्तार' के किस अनुपात में होने से कविता सुन्दर बन जाती है। वैसे टेट[४०] ने इस सिद्धान्त को व्यक्तिगत पूर्वग्रह और लेख्य-बंधन माना है। उन्होंने सभी प्रकार की कविताओं को इस सिद्धान्त के प्रकाश में देखना चाहा है। इससे अन्तर्विरोध ही पैदा हुए हैं। एम्पसन का अनेकार्थवादी सिद्धान्त कुछ कम उलझनभरा नहीं है। एक-एक शब्द की पूरी-पूरी व्याख्या, उसके अनुषंगों,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थों और प्रभावों का पूरा-पूरा वि[illegible] यह बताना चाहा कि कविता तकनीकी दृष्टि से बिल्कुल फ़िल्म जैसी है। जैसे सिनेमा के पट पर चित्रों का नैरन्तर्य प्रेक्षक के मन पर एक विकसित कहानी का अहसास कराता है, और साथ ही उसके मन को प्रभावित करता है, ठीक वैसे ही कविता में प्रयुक्त शब्द भी चित्रों जैसे हैं जिनका सम्यक् प्रभाव उन शब्दों के अर्थों से कुछ अलग ही होता है। इसलिए पाठक को रोककर एम्पसन उसे बताता है कि क्यों किसी ख़ास शब्द के ख़ास तरह से ख़ास जगह पर प्रयुक्त होने से कोई ख़ास प्रभाव उत्पन्न हो सका। जहाँ तक कविता को उसकी समग्रता में पकड़ने का सवाल है इस विश्लेषण में आलोचक हमेशा पाठक के पीछे रहता है। इससे भी ज्यादा बुरी बात यह है कि आलोचक पाठक को अपनी व्याख्या में इतना उलझा देता है कि वह कविता के अन्य महत्त्वपूर्ण पहलुओं से विमुख होकर गलत रास्ते पर चलने लगता है। रैंसम की यह बात काफ़ी ठीक लगती है।[४१]

आर० पी० ब्लैकमुर कुछ हद तक एम्पसन की अतिवादिता को नियन्त्रित करने में सफल हुए हैं। उनके मतानुसार भाषा मात्र अंगविक्षेप (जेश्चर) है, अर्थात् ऐसी चेष्टा कि जो अन्दरूनी और काल्पनिक अर्थों को नाटकीय ढंग से कुछ इस तरह बाहर लाती है कि हम प्रभावित हो जाते हैं।[४२] जैसे कष्ट और ग्लानि की अनुभूति होने पर हमारी आत्मा का निर्णय हमारे चेहरे पर अपने-आप उभर आता है, उसी प्रकार भाषा जब चेष्टा बन जाती है तो अर्थ अपने-आप अभिव्यक्त हो जाता है। सार्थक अथवा अनर्थक शब्दों के दोहराये जाने से अथवा अलंकार के प्रयोग से जो असर उत्पन्न होता है वह शब्दों के अर्थों के कारण नहीं बल्कि उनकी संयोजना के कारण। कवि और लिपिक की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। लिपिक को जो शब्द-वाक्य सुनाई पड़ते हैं वह उन्हें लिख देता है, किन्तु आवाज़ के आरोह-अवरोह, शब्दों के बीच के अन्तर या स्वरोच्चारण के कारण जो अर्थवत्ता उन शब्दों या वाक्यों को मिलती है वह लिपिक की पकड़ से बाहर होती है। कवि का कर्तव्य होता है इसी अव्यक्त को मूर्त करना ताकि पाठक अपने-आप कवि का कथ्य समझ जाए। शेक्सपीयर के नाटक 'ओथेलो' में जब नायक अपनी पत्नी डेसडिमोना से आड़ी-तिरछी बातें करता है तो वह कहती है, "मैं तुम्हारे शब्दों से इतना तो समझ सकती हूँ कि [illegible]ं का अर्थ क्या है यह मेरी समझ के परे है।" यहाँ भाषा का चेष्टा के रूप में प्रयोग तो नहीं हुआ, किन्तु बात कुछ ऐसी ही है : नायक के अन्दर की भावना श्रोता पर व्यक्त हो गई, वैसे उसके शब्द दुरूह ही बने रहे। ब्लैकमुर का सिद्धान्त काफ़ी महत्त्वपूर्ण है, किन्तु उनके कुछ उदाहरण अतिवादी आग्रह होकर रह गए। उन्होंने कहा कि मैकबेथ अपनी पत्नी की मृत्यु का समाचार सुनते ही एकाएक निराश और शोकग्रस्त हो गया। मैकबेथ की उस मानसिक स्थिति को लेखक ने 'टुमारो एण्ड टुमारो एण्ड टुमारो' वाले स्वगत-भाषण में व्यक्त किया है। ब्लैकमुर का कहना है कि शब्द अपने-आपमें अन्धी गली जैसे हैं। अतः शेक्सपीयर ने यहाँ 'टुडे एण्ड टुडे एण्ड टुडे' भी लिखा होता तो प्रेक्षक के मन पर वही प्रभाव होता जो 'टुमारो एण्ड टुमारो···' से होता है। इस प्रकार ब्लैकमुर ने यहाँ शब्दों के अर्थ को एकदम महत्त्वहीन माना है और सारा महत्त्व कुछ शब्दों के दोहराये जाने को दे दिया है। यह अतिवादिता नहीं तो और क्या है! अच्छी बात यह है कि ब्लैकमुर ने आगे चलकर अपने विचार परिमार्जित कर लिए हैं। 'ए बर्डन फ़ॉर क्रिटिक्स' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने यह बात मान ली है कि आलोचना का कर्तव्य सिर्फ़ कविता के बाह्य उपकरणों तक उलझे रहना ठीक नहीं है, बल्कि उसे कवि की प्रमुख धारणाओं, मनोग्रस्तियों और अन्तर्दृष्टियों पर ध्यान देना चाहिए ताकि वह समझ सके कि किस प्रकार कवि इनकी सहायता से मानव-सम्बन्ध खड़े कर पाया है। इसी प्रकार उसे चाहिए कि वह उन प्रतीकों का अध्ययन करे जिनके कारण कविता अनेकार्थी हो जाती है।

क्लींथ ब्रुक्स ने तीन नए शब्दों, व्यंग (आइरनी), नाटक (ड्रामा) और रूपक (मेटाफर) को नई अर्थवत्ता प्रदान की है। व्यंग में, जिसमें 'विट' और 'विरोधाभास' भी शामिल हैं, उस 'संरचनात्मक संबोध' का पर्याय है जो विविध अभिवृत्तियों और अर्थों को मिलाकर एकीकृत अनुभव की प्रतीति कराता है। अतः ब्रुक्स की मान्यता है कि जिस कविता में 'व्यंग' नहीं होता वह कविता नहीं। वर्ड्सवर्थ का सानेट 'वेस्टमिंस्टर ब्रिज' कथ्य की दृष्टि से (कविता में व्यक्त भाव की उदात्तता के आधार पर) बिल्कुल साधारण कविता है, किन्तु यदि यह कविता इतनी लोकप्रिय हुई है तो इसका कारण यह है कि इसमें कवि ने उस आश्चर्य की अभिव्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की है जिसका अनुभव उसे वेस्टमिंस्टर ब्रिज को देखकर उस सुबह हुआ था। यदि उस 'आश्चर्य' को कविता से निकाल दिया जाए तो कुछ भी ऐसा नहीं रह जाएगा जो पाठक को अपील करे। इस व्याख्या से सहमत होना[४३] भले सम्भव न हो, यह ज़ाहिर है कि आलोचक ब्रुक्स की आलोचना का आधार ठीक वैसे ही एकपक्षी है जिस प्रकार उन आलोचकों का जिन्होंने कविता में सिर्फ़ अनेकार्थ अथवा आतति ढूँढ़ा, अथवा कविता की भाषा को 'अंगविक्षेप' माना। इन सभी शब्दों से ज़्यादा व्यापक और सक्षम शब्द है जटिलता जिसके अन्तर्गत कविता के विश्लेषण के लिए किन्हीं उपायों का भी प्रयोग हो सकता है। जहाँ तक ब्रुक्स के अन्य दो पारिभाषिक शब्दों 'नाटक' और 'रूपक' का सम्बन्ध है यह कहा जा सकता है कि उनमें 'रूपक' ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। कविता को रूपक मानने में तब तक आपत्ति नहीं हो सकती जब तक कि आलोचक हर कविता से अपेक्षा न करे कि वह अनिवार्यतः प्रतीकात्मक ही हो। ब्रुक्स की यही ज़िद कि कविता प्रतीकात्मक होती है यह कहने को बाध्य करती है कि राबर्ट फ्रास्ट की कविता 'टू ट्रैम्प्स इन मड-टाइम' प्रतीकात्मक न होने से 'गद्य होकर रह गई है,'[४४] जो किसी भी सहृदय पाठक को मान्य नहीं होगा।

सन् १९२० के बाद की अँग्रेज़ी और अमरीकी आलोचना में एक प्रकार की एकांगिता और हठवादिता का ज़ोर रहा है।[४५] किन्तु इन प्रवृत्तियों का एक ज़बरदस्त फ़ायदा यह हुआ है कि कविता का विश्लेषण मनोयोगपूर्वक किया गया है। सन् '२० से पहले कवि के जीवन से कविता को जोड़ने की प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो गई थी कि कविता बहाना मात्र रह गई थी। उसी प्रकार आलोचना के दूसरे निकायों ने भी कविता के अलावा अन्य सभी पक्षों पर ध्यान दिया था फिर चाहे वह वातावरण-स्थान-समय पर भार देने वाला टेन का सिद्धान्त रहा हो और चाहे मैथ्यू आर्नोल्ड का सिद्धान्त कि कविता जीवन की आलोचना है। सबसे ज़्यादा आपत्तिजनक वह प्रभाववादी आलोचना थी जिसमें किसी भी कृति को पढ़कर जो कुछ भी छाप मन पर पड़ी उसका ज़िक्र कर देना मात्र काफ़ी था, कृति को उसकी समग्रता में देखने-परखने का प्रश्न ही नहीं था। अब जब 'नई आलोचना' भी कृति का विश्लेषण करते-करते अतिवादिता और एकांगिता का शिकार हो गई तो आर० एस० क्रेन जैसे आलोचक ने इस बात पर बल दिया है कि आलोचना किसी एक दृष्टिकोण से नहीं होनी चाहिए। साहित्यिक आलोचना "एक दृष्टिकोण का पर्याय न कभी रही है और न है···बल्कि वह ऐसे ढाँचों और भाषाओं का कलाप रही है जो पृथक् और काफ़ी हद तक बेमेल थे।"[४६] इस प्रकार क्रेन दृष्टिकोणों की अनेकता में विश्वास करते हैं और यह काफ़ी हद तक उचित है। यों क्रेन का अपना भी एक सुनिश्चित, सुपरिभाषित दृष्टिकोण है। अरस्तू की आलोचना-परम्परा में विश्वासी क्रेन का कहना है कि आज की आलोचना का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह साहित्य की किसी भी विधा को अन्य विधाओं से अलग करके नहीं देख पा रही है। हर विधा का अपना एक आकार होता है, अतः आलोचक को चाहिए कि वह कृति को इस दृष्टि से देखे कि वह कहाँ तक अपना विशिष्ट आकार ग्रहण कर पाई है। अर्थात् उस विधा के दायरे में उस कृति का आकार उचित है या नहीं। वह कृति ठीक आकार ले पाई है या नहीं। यह जान लिया जाए कि कृतिकार किस विधा में अपनी सामग्री को प्रस्तुत करना चाहता था तो यह कहना सरल हो जाएगा कि किन कारणों से उसे अपनी सामग्री को आकार देने में सफलता मिली है और किन कारणों से बाधा उत्पन्न हुई है। कृतिकार की 'आकारान्तर्दृष्टि' ही संरूपक कारण होने से उसका मार्गदर्शन करती है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि क्रेन कृतिकार की नीयत के विश्लेषण के आग्रही हैं, और न ही कि वे रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण में विश्वास रखते हैं। उनका कहना है कि आलोचक का कर्तव्य है कि वह उस आधारभूत विचार का विश्लेषण करे जिसका उपयोग कृतिकार को अपनी काव्यगत समस्याओं को हल करने के लिए करना पड़ता है।[४७] इस प्रकार कृतित्व में कृतिकार को क्या कहना और करना अभिप्रेत है उसे ईमानदारीपूर्वक प्रयत्न करके आलोचक को भी जान लेना चाहिए। सैद्धान्तिक रूप से यह बात ठीक है, किन्तु यह व्यावहारिक नहीं है। सम्भव है कि कृतिकार की दृष्टि से कृति के कथानक में किसी तत्त्व का आना अनिवार्य रहा हो, किन्तु आलोचक या पाठक को ऐसा लग सकता है कि वह 'अनिवार्य तत्त्व' रसास्वादन अथवा प्रभावोत्पादन में बाधक है। ऐसी स्थिति में उस अनिवार्य तत्त्व को क्या दोष न माना जाए? आर० एस० क्रेन के पास इसका कोई उत्तर नहीं है। परिणाम यह है कि उनके सिद्धान्त अच्छी और सुन्दर कृतियों को बुरी और असुन्दर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृतियों से पृथक् करने में असमर्थ हैं।

इस प्रकार कृति विश्लेषण की पद्धति सन् '२० के बाद की आलोचना में खूब प्रचलित हुई। परिणामतः कृति की बखिया इतनी दूर तक उघाड़ी जाने लगी कि लिविंग्स्टन लोव ने कॉलरिज की दो मुख्य कविताओं का विश्लेषण ६०० पृष्ठों वाली किताब 'रोड टु ज़नाडू' में किया, और जे० कैम्पबेल तथा एच० एम० राबिन्सन-जैसे समर्थ आलोचकों ने जेम्स जॉयस की 'फ़िनेगेन्स वेक' का विश्लेषण उतनी ही मोटी दूसरी पुस्तक 'ए की टु फ़िनेगेन्स वेक' में किया। ज़ाहिर है इतनी मोटी पुस्तकें पढ़ते-पढ़ते पाठक इतना थक जायेगा कि मूल कृति को पढ़ने के नाम से कतराएगा। इलियट ने अपने निबन्ध 'द फ्रंटियर्स ऑफ़ क्रिटिसिज्म' में इसी अतिवादी आलोचना की भर्त्सना करते हुए कहा कि यह 'नीबू-निचोड़क'[४८] आलोचना पाठक के रसास्वादन में भयंकर बाधाएँ उत्पन्न करती है। और आगे कहा कि पाठक कविता को सिर्फ़ समझना ही नहीं चाहता, बल्कि उसका आनन्द भी लेना चाहता है, जबकि दुर्भाग्य से ऐसी भारी-भरकम विश्लेषणात्मक आलोचनाएँ उसे बरगलाती हैं। साहित्येत्तर सामग्री का उतनी ही दूर तक उपयोग ज़रूरी है जहाँ तक कि वह कविता के रसास्वादन में सहायक होती है। इससे ज़्यादा कुछ करने वाली आलोचना 'साहित्यिक' नहीं रह जाती, बाकी चाहे जो-कुछ भी हो। यह समझना हमारा प्रयत्न होना चाहिए कि कविता कुल मिलाकर क्या करना चाहती है, वह अपनी विकसित पूर्णता में क्या है।[४९]

: ६ :

उपर्युक्त मुद्दे के सिलसिले में इस बात की ओर भी संकेत किया गया है कि कविता को पढ़ने वाला जो कोई व्यक्ति होता है उसके अस्तित्व को खयाल में रखे बग़ैर कविता की रचना सम्भव नहीं। कविता और कवि के बीच में ही पाठक का अस्तित्व है, और सारी आलोचना ही इसलिए लिखी जाती है कि पाठक के रसास्वादन में बाधक कठिनाइयों को दूर किया जा सके। जब कवि पाठक की उपस्थिति को झुठलाकर रचना-प्रवृत्त होता है तब निश्चित ही वह दुरूह हो जाता है। अथवा इतना आत्मपरक हो जाता है कि उसकी अभिव्यक्ति के असामाजिक और विकृत हो जाने का डर होता है। कृति का अपना अस्तित्व होता है; उसकी ठोस उपस्थिति से इन्कार नहीं किया जा सकता, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि वही कृ[ति] अलग-अलग पाठक के लिए अलग-अलग चीज़ होती है। अस[ल] में कविता और पाठक की चेतना के परस्पर-संघर्ष में आ[कर] पर जो कुछ पाठक के मानस-पटल पर उभरता है वही उ[स] पाठक के लिए कविता होता है। अतः यह बात पाठक [की] शिक्षा, संवेदना और सावधानता पर निर्भर करती है कि व[ह] कविता को कितना और कैसे समझता है। इलियट ने कहा "यह एक सामान्य बात है कि कविता का अर्थ पाठक के लि[ए] कवि के चेतन उद्देश्य से कहीं ज़्यादा हो सकता है।"[५०] इतन[ा] ही नहीं, "हो सकता है कि पाठक द्वारा की गई कविता [की] व्याख्या कवि की व्याख्या से बिल्कुल जुदी हो और उतनी [ही] वैध, कदाचित उससे ज़्यादा अच्छी। जितने-कुछ के प्रति कवि सजग था उससे भी ज़्यादा-कुछ कविता में अन्यों को दिखलाई पड़े, यह सम्भव है।"[५१] कवि कॉलरिज अपनी कविता '[द] राइम आफ़ द एंशेंट मैरिनर' में बलि-छाग के आद्यरूप [के] विभिन्न ध्वनितार्थों से अवगत नहीं थे। इन ध्वनितार्थों का जितना विशद विवेचन मॉड बॉडकिन ने अपनी पुस्तक 'द आर्कि[टाइपल] टाइपल पैटर्न्स ऑफ़ पोएट्री' में किया है वह इस युग की देन है।

अतः पाठक और कविता के बीच की दूरी रुचि-परिष्कार और अध्ययन से प्रयत्नपूर्वक कम की जानी चाहिए। आलोचक भी समयान्तर में यही सीखता है कि किस प्रकार कविता की व्याख्या करते वक्त 'न्यूनतम मात्रा में आत्मपरक' और 'अधिकतम मात्रा में वस्तुपरक' हो। न तो यही सम्भव है कि पाठक एकदम आत्मपरक हो क्योंकि कविता में भी ऐसे तत्त्व होते हैं जो उसे बिल्कुल आत्मपरक होने से रोकते हैं, और न ही यह सम्भव है कि पाठक एकदम आत्मपरक हो, क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच समानता भी इतनी है कि एक-दूसरे की बात समझी जा सकती है। इस समानता को केनेथ बर्क ने 'अतिच्छाद का हाशिया'[५२] कहा है। इस प्रकार तीन बातें महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं—कविता की समृद्धि, पाठक की प्रसामान्य स्थिति और पाठक से यथापेक्षिताएँ तथा निधीयन। ली टी० लेमन[५३] ने कविता और पाठक के बीच के सांबन्धिक संबोधों को स्पष्ट करने के लिए इन शब्दों का उपयोग किया है। 'समृद्धि' से लेमन का मतलब है कविता की उस विशेषता से जो पाठक के सामने नये-नये आयाम उपस्थित करती है तथा युग-युगान्तर में मानव-मन को छू जाने की रहस्यमय शक्ति से सम्पन्न होती है। यह शक्ति ब्रुक्स ने शेक्सपीयर [की]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखी थी—"शेक्सपीयर ने अपने प्रशंसकों के लिए अपेक्षाकृत यह सरल कर दिया है कि वे जो चाहें पसन्द करें और जिस चीज़ को नापसन्द करते हों उसे छोड़ दें।"[५४] इस प्रकार विचारतत्व की दृष्टि से 'समृद्धि' का अर्थ है अनेकानेक सौन्दर्यबोधी मूल्य, और संरचना की दृष्टि से वे सारे ताने-बाने जो कविता की रचना में आवश्यक होते हैं और हमारी भावनाओं को आकृष्ट करने में सहायक सिद्ध होते हैं। पाठक की ओर से भी इस प्रकार की तैयारी होनी चाहिए कि वह कविता को उसकी समग्रता में समझ सके। इसलिए पाठक से अपेक्षा होती है कि उसकी शिक्षा और संवेदना तथा दृष्टिकोण अनिवार्यतः इतने विकसित हों कि वह कविता को समझने योग्य हो सके। इस प्रकार की साधनसम्पन्नता को लेमन ने निधीयन कहा है। एक ही पाठक एक कविता को हर बार पढ़ने पर कुछ नया पाता है। (इसका मतलब यह कदापि नहीं कि ऐसा अनिवार्यतः होता है, किन्तु इस बात की प्रबल सम्भावना ज़रूर होती है।) इन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ज़रूर 'आदर्श पाठक' का काम कर सकता है।[५५] किन्तु इस मनोवैज्ञानिकता का विरोध एलीसिओ वाइवास और मरे क्रीगर[५६] ने खास प्रकार से किया है। उनका कहना है कि हर कविता में कुछ 'निहित मूल्य' होते हैं जिनको उस कविता के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। जो कुछ पाठक अपनी ओर से कविता की व्याख्या में जोड़ता है वह उसी कविता से ही प्रेरित होकर भी 'बाहरी मूल्य' होता है, वह पाठक की आनुभूतिक संरचना का अंश होता है न कि काव्य-संरचना का। यह बात इन आलोचकों को इसलिए सूझी कि वे कविता की संरचना के विश्लेषण में विश्वास रखते हैं, अतः ईमानदारीपूर्वक वे कविता तक अपने-आपको सीमित रखना चाहते हैं। बात सिर्फ़ इतनी है कि वस्तुपरक होने के पहले ईमानदार-से-ईमानदार आलोचक भी 'क्या मूल्यवान है और क्यों' प्रश्न का उत्तर देने के बाद ही व्याख्या-विश्लेषण शुरू करता है। इसलिए सभी मूल्य कविता में निहित हों, यह ज़रूरी नहीं। इस दृष्टि से लेमन का निष्कर्ष विवेकपूर्ण लगता है कि "सम्भवतया कविता में पाया जाने वाला मूल्य कहीं कविता और पाठक के बीच होता है।"[५७]

: ७ :

इलियट के मानस-विकास में फ्रांसीसी प्रतीकवाद का का ही योगदान है। यदि किसी आधुनिक आलोचक में अरस्तू की तरह अपनी व्यक्तिगत और आत्मपरक प्रतिक्रियाओं के आधार पर साहित्यालोचन के सिद्धान्त बनाने की क्षमता है तो शायद रेमी द गुरमाँ में। यह स्वाभाविक है कि अपनी प्रतिक्रिया को, या कृति को पढ़ने पर मन पर पड़ी छापों को ज्यों ही आलोचक शब्दबद्ध करना चाहता है, इस बात की आवश्यकता होती है कि वह उन प्रतिक्रियाओं और छापों का विश्लेषण और मूल्यांकन करे। इस प्रकार अनिवार्यतः आलोचक एक निर्मिति करता है जो सीमाओं में रहकर सर्जनात्मक आलोचना बन सकता है और सीमोल्लंघन करके स्वयं एक कृति बन सकता है। 'द सिम्बोलिस्ट मूवमेंट इन लिटरेचर' के लेखक सिमन्स की प्रतिक्रियाएँ आलोचना न होकर गद्य-कविता हो गई हैं।[५८] आस्कर वाइल्ड ने भी अपनी पुस्तक 'द क्रिटिक ऐज़ आर्टिस्ट' में इस बात पर जोर दिया है। किन्तु इलियट की मान्यता है कि आलोचना कविता की तरह स्वतःपूर्ण नहीं होती, क्योंकि वह किसी चीज़ के बारे में होती है, और कृति के पूर्व उसका जीवन भी नहीं होता है। अतः आलोचना को हमेशा कृति के सन्दर्भ में सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना चाहिए।

वह 'कृति' क्या है यह अलग विचारणीय प्रश्न है। कवि का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। कृति में गुँथी घटनाएँ कवि के जीवन की घटनाओं से अलग होती हैं। कृति में कवि की भावनाओं और उसके विचारों से 'किसी माने में' अलग किस्म की भावनाएँ और विचार होते हैं। यह बात इलियट ने 'द सेक्रेड वुड' के १९२८ के संस्करण की भूमिका में दोहराई थी, किन्तु इस सिद्धान्त का प्रारूप 'ट्रेडिशन एंड द इंडिविजुअल टेलेंट' शीर्षक निबन्ध में ही मिल जाता है। जहाँ उन्होंने कवि को सिर्फ़ माध्यम 'केटेलिटिक एजेंट' माना था और कहा था कि कविता में कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं होती, क्योंकि यह सम्भव है कि जो अनुभव कवि के जीवन में महत्त्वपूर्ण हों वे कविता में आएँ ही नहीं, और कविता में जो अनुभव महत्त्वपूर्ण हों वे कवि के जीवन में किसी प्रकार की भूमिका ही न अदा करें। उन्होंने यह भी कहा कि कृति का संवेग निर्वैयक्तिक होता है और कवि तब तक पूर्ण रूप से निर्वैयक्तिकता की स्थिति नहीं प्राप्त कर सकता जब तक कि वह अपनी कृति के प्रति आत्म-समर्पण न कर दे। इतना ही नहीं, कविता संवेगों को निर्बाध नहीं करती,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल्कि संवेगों से पलायन करती है, क्योंकि कविता व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि व्यक्तित्व से पलायन है।[५९] इस तरह के कथनों से पाठकों को काफ़ी धक्का लगा। लोगों को आश्चर्य हुआ कि इलियट-जैसा कवि किस प्रकार इतना अरोमांटिक हो सकता था। इस बात की संपुष्टि १९२८ में हुई जब उन्होंने घोषणा की कि वे 'साहित्य में क्लासिसिस्ट' थे। यहाँ मुद्दे की बात है कि इन कथनों में एक प्रकार की विसंगति है। यदि कवि संवेगों और व्यक्तिपरक अनुभवों से पलायन करता है तो निश्चित ही वह प्रयत्नपूर्वक अपने-आप को वस्तुपरक बनाने के लिए अन्तः या बाह्य, किसी-न-किसी प्रकार का नियन्त्रण ज़रूर स्वीकार करता है। यह नियन्त्रण उसे अत्यन्त वैयक्तिक होने से जहाँ बचाता है, वहीं अपने स्व को समष्टि में तिरोहित करने में सहायक भी होता है। अनुभव तो बेमेल और बेतुके, सभी प्रकार के होते हैं, किन्तु उनको मिलाकर उनका 'एकीकरण' करना कठिन कार्य है। यह कार्य सत्रहवीं शताब्दी के मेटाफ़िज़िकल कवियों ने भी किया था, और निकट भूत में उन्नीसवीं शती के प्रतीकवादी कवि जूल लाफोर्ग तथा तिस्तन कारवायर ने भी किया था। उनके विचार और भाव पृथक्-पृथक् थे। सभ्यता ने उन्हें मजबूर किया था कि वे दोनों में अन्तर करें, क्योंकि उनकी संवेदना 'छिन्न-भिन्न' हो गई थी। किन्तु उनकी तारीफ़ इस बात में है कि उन्होंने "विचारों को भोगा और भावों को सोचा।" आखिर यह संभव कैसे हुआ?

इसी प्रश्न के संदर्भ में ऊपर कही गई विसंगति की चर्चा भी कर लेना ठीक रहेगा। जब इलियट यह कहते हैं कि "कविता का एक माने में अपना स्वतन्त्र जीवन" होता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता जो कुछ भी कवि के दिमाग में था उससे अलग होती है, अतः उसके अपने निजी नियम होते हैं जिनका अध्ययन आलोचक को करना चाहिए। इस सिलसिले में यह ज्ञातव्य है कि कविता की स्वतन्त्र अवस्थिति पर ज़ोर देकर इलियट ने काव्य-प्रक्रिया के बदले काव्य पर ध्यान केन्द्रित किया था। किन्तु वे इस बात से इनकार न कर पाये कि कवि की नीयत और उसकी कृति में सम्बन्ध होता है। इसीलिए इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने 'वस्तुपरक सापेक्षता'[६०] (ऑबजेक्टिव कोरिलेटिव) सिद्धान्त की चर्चा की। 'हैमलेट एंड हिज़ प्राब्लेम्स' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने कहा कि जब कवि किसी संवेग को अभिव्यक्त करना चाहता है तो वह उसके अनुकूल एक ऐसी स्थि[ति] की खोज करता है जिसमें एक खास तरतीब में घटनाओं [को] उपस्थित करके वह उस संवेग को प्रक्षेपित कर सके। चूँ[कि] कवि के लिए यह माध्यम चुनना अनिवार्य होता है ताकि [वह] अपनी बात सीधे ढंग से पाठक तक पहुँचाये, वह एक 'आ[ब]जेक्टिव कोरिलेटिव' की तलाश में काफ़ी सावधानी बरत[ता] है। यह बात फ्रांसीसी प्रतीकवादियों ने भी स्वीकार की [थी] कि चूँकि कवि अपनी बात सीधे ढंग से पाठक तक नहीं पहुँ[चा] सकता इसलिए उसे किसी माध्यम की खोज करनी पड़[ती] है। एज़रा पाउण्ड ने भी १९१० में ही इस बात को स्वीका[र] किया था कि "कविता उस गणित की तरह है जो मानव-संवे[गों] के लिए समीकरण प्रस्तुत करता है।[६१] बाद में भी १९३५ [में] यह कहा था कि "कविता सिर्फ़ संकेत करती है, वस्तुस्थाप[न] नहीं।"[६२]

इलियट के इस मत की बड़ी ज़ोरदार चर्चाएँ हुई [हैं] जिनमें एलीसिओ वाइवास का तर्क काफ़ी ठीक लगता है [कि] इलियट का यह मानकर चलना कि शेक्सपीयर के मन [में] पहले 'संवेग' स्पष्ट था, बाद में उसने उसके लिए 'आ[ब]जेक्टिव कोरिलेटिव' की खोज की, यानी घृणा की अभि[व्यक्ति] व्यक्ति के लिए उस स्थिति का चुनाव किया जिसमें हैमले[ट] की माँ अपने नैतिक पतन के कारण अपने बेटे की घृणा [का] पात्र बन सके। इलियट की दृष्टि से यह नाटक असफ[ल] इसलिए रहा कि अपनी माँ के जघन्य अपराधों के कार[ण] संवेदनशील पुत्र हैमलेट के मन में जो घृणा थी उसका भा[र] उसकी माँ वहन न कर सकी, अर्थात् उसकी माँ उचि[त] 'आबजेक्टिव कोरिलेटिव' न बन सकी। एलीसिओ वाइवा[स] ने[६३] इस मत को नकारते हुए कहा कि कविता की रच[ना] ज्यों-ज्यों होती जाती है त्यों-त्यों कवि के संवेग स्पष्ट हो[ते] जाते हैं, आकार ग्रहण करते जाते हैं। यह कहना ग़लत है [कि] पहले संवेग होते हैं और बाद में उनकी अभिव्यक्ति के लि[ए] पर्याय स्थिति की खोज होती है। यहाँ यह कहना समीची[न] होगा कि आइवोर विंटर्स ने भी इलियट के उपर्युक्त सिद्धा[न्त] को मानने से इनकार किया है। विवेक और संयम में विश्वा[स] करने वाले विंटर्स ने इलियट को रोमांटिक माना है।[६४] क्योंकि कवि को 'माध्यम' मानने का अर्थ होगा उसको कि[सी] बाह्य शक्ति का हथकंडा मानना, फिर चाहे उसकी सं[ज्ञा] 'प्रेरणा' ही क्यों न हो। यद्यपि यह बात दूसरी है कि अत्य[न्त]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों से बचने के लिए ही इलियट ने प्रतीक की खोज पर बल दिया है। विंटर्स को जो बात नापसन्द है वह है प्रतीकों में व्याप्त नाटकीय तत्त्वों पर भार, जिनके बिना इलियट के मतानुसार कविता नहीं बन सकती।[६५] किन्तु विंटर्स के अनुसार अपने कथ्य पर कवि की गिरफ़्त कमज़ोर होने पर ही ऐसा होता है। आश्चर्य है कि क्यों विंटर्स कविता को 'कथन' मानते हैं जबकि 'रूपक' भी एक प्रकार की क्रिया[६६] है जिनकी सहायता से कवि अपने मन के अन्दर की बात को अभिव्यक्त करता है।

इस प्रकार कविता को प्रतीकात्मक आकृति मानने का अर्थ है कविता को यथार्थ की 'व्याख्या' मानना, न कि यथार्थ का 'प्रतिरूपण', इसीलिए क्लींथ ब्रुक्स ने 'समनुगति पर आधृत निर्णय' यानी 'संरचनात्मक संबन्ध' तथा 'तदनुरूपता पर आधृत निर्णय' में अन्तर माना है। कविता के अन्तर्गठन की व्याख्या को ही ब्रुक्स आलोचना का उचित कार्यक्षेत्र मानते हैं। यथार्थ से कविता कितनी दूर तक तदनुरूपता प्राप्त कर पाई है महत्त्वपूर्ण होते हुए भी गौण है, क्योंकि तदनुरूपता की मात्रा कितनी भी हो वह कविता के विशिष्ट अन्तर्गठन के कारण ही संभव होती है। अतः उचित बात यह है कि आलोचक इस बात पर ही ध्यान दे कि कितनी मात्रा में और कैसे यथार्थ से कविता में व्यक्त कथ्य की 'संगति' बैठती है।

इस मत को थोड़े दूसरे ढंग से नार्थरोपफ्रॉय ने प्रस्तुत किया। उन्होंने कविता को प्रतीक माना, लेकिन प्रतीक-योजना की चर्चा करते हुए उन्होंने 'आद्यरूपों' का ही विश्लेषण किया। चूँकि हमारे संवेगों और अनुभवों के ही प्रतिरूप ये आद्यरूप हैं इनकी व्याख्या हर युग अपने नये परिवेश में पुनः-पुनः करता है। उनके इस कथन का कि "प्रत्येक कृति के अर्थ की दिशा अन्तर्मुखी होती है"[६७] संकेत स्पष्ट है: वे कविता में समनुगति के पक्षधर हैं। ठीक इसके विपरीत इलियट के विचार हैं जो क्लासिकल साहित्य के अध्येता रहे हैं और परम्परा के विश्वासी हैं। 'वाट इज़ ए क्लासिक' में इलियट ने जिन तत्त्वों को किसी भी क्लासिक कृति में अनिवार्य रूप से देखना चाहा था, उनमें मस्तिष्क और शिल्प दोनों की 'प्रौढता' ही सर्वप्रमुख थी, ताकि यह ज्ञात हो सके कि जिस युग की वह कृति है उस युग के जनसमुदाय के संवेग-समुच्चय का, उनकी आकांक्षाओं-योजनाओं का यानी उनके 'संयुक्त व्यक्तित्व' का आकलन उचित ऐतिहासिक बोध के साथ हो पाया है कि नहीं। कथानक को इतना 'व्यापक' होना चाहिए कि उसको पढ़ने पर उस युग के मनुष्य-समाज के जीवन की झाँकी मिल सके। इस दृष्टि से इलियट इस बात पर भार देते हैं कि काव्य और कथ्य की उस युग के यथार्थ से कितनी दूर तक 'संगति' बैठती है। किन्तु हम यह भी जानते हैं कि न तो पूर्ण रूप से 'संगति' ही संभव है और न ही 'समनुगति'। अतः कविता को कविता की तरह, यानी उसकी संरचना को पहले देखना चाहिए और बाद में यह कि उस कविता का मूल्य क्या है और वह जीवन के लिए कितनी उपयोगी है।

: ८ :

इस सिलसिले में यह जान लेना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इलियट ने कवि के 'व्यक्तित्व' को कितना महत्त्व दिया है। ऊपर इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि इलियट ने कविता को 'संवेग से पलायन' माना है। जो कुछ कवि का निजी होता है यानी उसके विशिष्ट अनुभव और संवेग, उन्हें वह इस प्रकार कविता में ढालता है कि वह सामान्यीकृत होकर सामाजिक एवं सार्वभौम हो जाता है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति में दो व्यक्तित्व होते हैं: एक वह जो जीवन जीता है और दूसरा वह जो पहले व्यक्तित्व द्वारा अर्जित अनुभवों की सहायता से कला का निर्माण करता है। अतः कोई मानव कलाकार बनना चाहता है तो उसे अपने 'स्व' की सीमा में से बाहर निकलकर 'सर्वस्व' के सामने नतमस्तक होना पड़ता है। 'व्यष्टि' को भूले बिना कलाकार को 'समष्टि' के लिए कलानिर्माण करना पड़ता है। उसे कला-निर्माण से आत्मतोष होता है, किन्तु इतने से वह संतुष्ट नहीं होता। वह चाहता है कि उसकी कला युगयुगान्तर में लोगों को आनन्द दे। इस प्रकार वह व्यक्तिगत अनुभवों को उनकी सारी विशिष्टताओं के साथ स्वीकार करता है और उन्हें एक सामान्य प्रतीक में इस प्रकार ढालता है कि वे व्यक्तिगत अनुभव न रहकर सार्वभौम और व्यापक हो जाते हैं। यह सिद्धान्त वैयक्तिक तथा निर्वैयक्तिक दोनों ही हैं। इसीलिए इलियट ने अमरीकी नाट्यकार ओ'नील की प्रशंसा में लिखा, "ओ'नील की सफलता इस बात में नहीं है कि वे नीग्रो समस्या को समझते हैं, बल्कि इसलिए है कि वे उस समस्या को वर्तमान युग की एक विराट् समस्या के रूप में रखकर उसे 'स्थानिक' से उठाकर 'सार्वभौम' बनाने में सफल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए हैं।"[६८]

कोई भी कृतिकार अपने निजी अनुभवों को ही अभिव्यक्ति देकर महान् कलाकार नहीं बन सकता। इसीलिए इलियट ने आत्माभिव्यक्ति में विश्वासी रोमांटिक कवियों की भर्त्सना की है। 'महान कविता में' एलियट ने लिखा है, 'किसी-न-किसी ऐसे निर्वैयक्तिक की ओर संकेत होता है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए कवि काफ़ी हद तक निश्चेष्ट होकर माध्यम का काम करता है।"[६९] वह अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर अपनी आत्मा को उसकी स्वेच्छा से आकार ग्रहण करने देने के लिए[७०] खुद माध्यम बन जाता है। वैसे यह विचार काफ़ी हद तक दार्शनिक है और युंग के साहित्योत्पत्ति सम्बन्धी विचार से मिलता-जुलता है, इलियट दार्शनिक या तत्त्ववेत्ता नहीं हैं, वे शुद्ध साहित्यिक आलोचक हैं।

इलियट ने निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त १९२० में प्रतिपादित किया था, किन्तु समयान्तर में वे व्यक्तित्व-प्रधान साहित्य के पक्षधर बन गये थे। अतः उन्होंने जॉन फोर्ड शीर्षक निबन्ध में स्पष्ट कहा कि किसी भी कृतिकार के कृतित्व पर उसके 'व्यक्तित्व' की छाप होती है। 'व्यक्तित्व' ही उसके समग्र कृतित्व को एक प्रकार की एकता प्रदान करता है। और जिस कृतिकार में यह एकता परिलक्षित नहीं होती "उसकी आत्मा का संघर्ष निश्चय ही प्रकट नहीं हो पाता है। एलिज़ाबेथकालीन नाट्यकार जान फोर्ड के नाटकों में यह कमी खटकती है।"[७१]

जान क्रो रैंसम प्रारम्भिक इलियट के काफ़ी समान हैं। वे 'कविता के अनाम' होने पर बल देते हैं। अतः उनकी दृष्टि में कविता या तो कवि के मनमानेपन पर नियंत्रण का काम करती है अथवा उस नियंत्रण का प्रतिफल होती है, इसलिए 'द वर्ल्ड्'स बॉडी' १९३८ में उन्होंने कहा कि कवि अपने चेहरे पर एक प्रकार का मुखौटा चढ़ाकर कविता लिखता है ताकि उसके सही भावों को पाठक न देख सके। इससे इतना तो स्पष्ट है कि काव्य-सृष्टि के लिहाज़ से कवि के व्यक्तित्व का कौन-सा हिस्सा मूल्यवान है यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। हरबर्ट रीड ने इसी बात को स्पष्ट करने के लिए 'व्यक्तित्व' और चरित्र में भेद किया है।[७२] व्यक्तित्व एक व्यापक शब्द है जिससे मनुष्य के सर्वस्व का बोध होता है जबकि चरित्र से व्यक्तित्व के उस हिस्से का बोध होता है जिसको हरेक मनुष्य समाज में जीवित रहने के लिए विकसित करता है: यानी संस्कार का वह मुखौटा जिसे पहनकर हम अपनी आदिम वृत्तियों को छिपाते हैं ताकि समाज में रह पाना दूभर न हो जाए। कवि उस व्यक्तित्व को कविता में व्यक्त करना चाहता है, न कि चरित्र को।

व्यक्तित्व का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी इलियट ने कभी व्यक्तित्व और संवेग को समानार्थी नहीं माना और न ही यह कि व्यक्तित्व ही कवि के लिए सब-कुछ है। 'ट्रेडिशन एण्ड द इंडिविजुअल टैलेंट' में उन्होंने जिस परम्पराबोध और ऐतिहासिक अवस्थिति का ज़िक्र किया था वह आजीवन उनकी विचार-सरणी के अंग बने रहे। किसी भी कृति को उसकी विधा के संदर्भ में देखना उतना ही आवश्यक है जितना मानव के सांस्कृतिक उत्थान के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में। होमर से लेकर आज तक जो कुछ लिखा गया उसमें कुछ ऐसा ज़रूर है जिसका सातत्य अक्षुण्ण रहा है। उन सभी महान् कृतिकारों में कुछ बातें समान ज़रूर रही हैं। अतः कोई भी नया लेखक अपने कर्तव्य के प्रति पूरी सजगता नहीं दिखाता जब तक कि वह यह न जाने कि हमारी साहित्यिक परम्परा का बहाव किस दिशा में रहा है। उस परम्परा से अलग उसकी मौलिकता निरर्थक है। हर लेखक को इतिहास-बोध होना चाहिए और साथ ही अपने समय की माँगों का तीखा अहसास। इस प्रकार हर युग का 'नया नवीन' अगले युग के लिए 'पूर्वगामी नवीन' हो जाता है। परम्परा इसीलिए कभी मरती नहीं, हमेशा नवीन रहती है। हमारा भूत हमारे वर्तमान में उपस्थित है क्योंकि उसी से वर्तमान का जन्म हुआ है और इसी वर्तमान में से हमारे भविष्य का जन्म होगा। इसीलिए परम्परा का ज्ञान आवश्यक है। शेक्सपीयर-जैसे जीनियस लेखकों को अनायास यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है किन्तु अन्य लेखकों को यह ज्ञान प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना पड़ता है। इससे मुक्ति नहीं है।

'नये आलोचकों' की उस अतिवादी प्रवृत्ति की कटु आलोचना इलियट ने अपने निबन्ध 'द फ्रंटियर्स ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' में की जिसके फलस्वरूप कविता को स्वयंपूर्ण, स्वतन्त्र और इसीलिए समाज-समय-परम्परा निरपेक्ष मान लेने का आग्रह था। यों इस वृत्ति का अच्छा नतीजा यह निकला कि कवि के बदले कविता को केन्द्र में रखकर विशद विश्लेषण हुए, किन्तु बुरा यह हुआ कि कविता समाज से इतनी अलग-थलग हो गई कि उसकी उपयोगिता का प्रश्न फिर-फिर उठने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगा। इलियट ने विशेष रूप से कविता के [illegible] की उस वृत्ति को आपत्तिजनक कहा था जिसमें विश्लेष्य कविता को कृतिकार की अन्य कृतियों से अलगियाकर देखा जाता है। कविता की विस्तृत व्याख्या की परम्परा इलियट ने ही शुरू की थी, किन्तु इसलिए नहीं कि कविता को विश्व के सन्दर्भ में न देखा जाए। उनकी दृष्टि में आलोचना के दो औज़ार हैं : विश्लेषण और तुलना, और इनमें से एक भी त्याज्य नहीं है। ऑस्टिन वैरेन और रेने वेलेक ने 'थियरी ऑफ़ लिटरेचर' १६४६ में जब कहा कि साहित्य के अध्ययन के 'अन्तर्गामी' और 'बहिर्गामी' दो में से कोई भी तरीका अपनाया जा सकता है तो लोगों को यह शक हुआ कि ये लोग कृति को सब-कुछ से अलगियाकर देखना चाहते थे। अतः इन्होंने आगे चलकर यह स्पष्ट किया कि उनके उपर्युक्त कथन का अर्थ यह कदापि नहीं था कि वे कृति को उस कृतिकार की अन्य कृतियों के संदर्भ में नहीं देखना चाहते थे। अथवा उसी विधा, समयखंड और परम्परा में लिखी अन्य कृतियों से उस कृति की तुलना नहीं करना चाहते थे। उन्होंने इलियट के इस विचार की पुष्टि की कि ऐतिहासिक बोध का अर्थ अपनी पीढ़ी की विशिष्टता तथा उसके दायित्व के प्रति उत्तरदायी होना ही नहीं होता, बल्कि इस बात की प्रतीति भी ज़रूरी है कि होमर से लेकर आज तक के यूरोप के सम्पूर्ण साहित्य और उसके ही अन्दर उस देश के सम्पूर्ण साहित्य का युगपद अस्तित्व है। इसी दृष्टि से इन लोगों ने अपनी उसी पुस्तक के अन्त में साहित्यिक इतिहास के नवीनीकरण की बात की थी ताकि वे इस बात को स्पष्ट कर सकें कि साहित्य का इतिहास न तो सामाजिक प्रवृत्तियों को समझने के लिए माध्यम है और न ही वह विभिन्न प्रकार की कृतियों के विश्लेषण का समयक्रम में प्रस्तुत कोई व्योरा ही। साहित्य का इतिहास सच्चे अर्थ में कला और उसकी परम्परा के अन्तर्प्रवाह को समझने का यत्न है।[७३] इसी दृष्टि से आगे चलकर उन्होंने अपनी नयी पुस्तक 'कंसेप्ट्स ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' में आलोचक से यह अपेक्षा की कि वह विकासवाद के सिद्धान्त को, जिसको आजकल लगभग भुला दिया गया है, नज़रअन्दाज़ नहीं करेगा तथा उसे ऐतिहासिक कालखंडों, रोमांटिक युग, यथार्थवादी युग, इत्यादि का ही नहीं, बल्कि अपने युग की विशिष्टताओं का भी पूरा-पूरा ज्ञान होगा।[७४] इस तरह आलोचक यदि आवश्यक ज्ञान से सज्ज [illegible]गा तो निश्चित ही कविता की संरचना जिन मूल्यों को लेकर हुई है उन्हें पहचान पाएगा। मूल्य के प्रश्न को परे रखकर अथवा विज्ञान की तरह आलोचना को वस्तुपरक बनाने के प्रयत्न असफल ही होंगे। विश्लेषण, व्याख्या और मूल्यांकन एक ही काम की विविध अवस्थाएँ हैं।

इस प्रकार 'नई आलोचना' १६२० से चलकर वर्तमान दशक तक पहुँचते-पहुँचते इस नतीजे पर पहुँची है कि उसके मानदंड एकांगी थे। और जो बात इलियट ने १६२० में ही कही थी वह काफ़ी ठीक थी कि किसी भी कृति का मूल्यांकन यूरोपीय साहित्य के संदर्भ में किया जाय। ट्रंगो सील्डर ने अपने निबन्ध 'द आइकोनोलेट्रिक फ़ैलेसी ऑन लिमिटेशंस ऑफ़ इंटर्नल मेथड ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' में कहा है कि "अब कोई भी ऐसा 'नया आलोचक' नहीं है जो 'मात्र आन्तर रीति' का प्रयोग करता हो और न ही 'नये आलोचक' की तरह विशिष्ट ही है। ये सभी आलोचक रूढ़ि से हट रहे हैं।"[७५] वर्तमान धारणा यह है कि "साहित्यिक आलोचना के लिए न्यूनतम हवाला कृतिकार का सम्पूर्ण कृतित्व है और अधिकतम हवाला मानव-इतिहास का सम्पूर्ण संदर्भ।"[७६] इस सिलसिले में यह कहना ज़रूरी है कि रेने वेलेक ने एक कदम आगे चलकर इस बात पर ज़ोर दिया है कि "अब समय आ गया है कि हम देश और महाद्वीप के दायरे में बँधे साहित्य का सम्बोध पीछे छोड़कर विश्व-साहित्य की बात करें। इसके लिए आवश्यक होगा कि पश्चिमी आलोचना के साथ-साथ विश्व के पूर्वी अंचल में समादृत उस काव्यशास्त्र का भी अध्ययन किया जाए जिसका विकास पश्चिम के सम्पर्क में आने के पहले हुआ है।"[७७] इसके लिए आवश्यक है कि 'ऐतिहासिक सापेक्षतावाद' के साथ-साथ 'अनैतिहासिक निरपेक्षवाद' का भी पल्ला छोड़ें और 'परिप्रेक्ष्यवाद' का नया सिद्धान्त अपनायें ताकि प्रत्येक कृति को सभी सम्भव पहलुओं से देखा जा सके।[७८]

: ६ :

१६६१ में लीड्स विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह के अवसर पर दिये गये भाषण 'टु क्रिटिसाइज़ द क्रिटिक'[७६] ने अपनी उपलब्धि पर विचार किया था। तीन प्रकार के आलोचक होते हैं : पेशेवर, उत्साही तथा सैद्धान्तिक आलोचक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनमें से किसी भी कोटि में इलियट नहीं आते। [illegible] आत्माओं का मिलन ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है उन आलोचकों की जो मुख्यत: कवि हैं और आलोचना अपनी ही कविता की निजी विशिष्टताओं को स्पष्ट करने तथा उसकी तरफ़दारी करने के लिए लिखते हैं। जार्जियन कविता और आलोचना के खिलाफ़ इलियट ने १९२० के आस-पास जो आवाज़ उठाई थी उसी की अनुगूँज आखिर तक उनकी आलोचना में देखी जा सकती है। इलियट के अनुसार यह उनके साथ अन्याय है। उनके विचार समयान्तर में बदले हैं और उन्होंने हमेशा अपनी रुचि के लेखकों को पढ़ने पर जो विचार आये हैं उनको ही सिद्धान्त-रूप में प्रतिपाद्य किया है। अत: उनकी आलोचना के वे अंश ही भविष्य में पढ़े जाएँगे जिनमें उन्होंने कवि के रूप में जिन लेखकों से प्रभावित हुए हैं उन पर अपनी राय ज़ाहिर की है। अत: यह कहना समीचीन नहीं लगता कि उन्होंने बीसवीं शती के पाठकों का रुचि-परिष्कार किया और मेटाफ़िज़िकल कविता को पुन: प्रतिष्ठापित किया। उन्होंने बताया कि मेटाफ़िज़िकल कवि तो उनके साहित्य-क्षितिज पर आने के पहले ही पहचान लिये गये थे। १८९९ में ही एडमंड गॉस ने अपनी पुस्तक 'लाइफ़ एंड लेटर्स' में जॉन डन के प्रति आकर्षण बताया था। और १९१२ में ग्रियर्सन ने 'मेटाफ़िज़िकल पोएट्री' शीर्षक से दो भागों में सत्रहवीं शताब्दी के मेटाफ़िज़िकल कवियों का संग्रह छापा था। इसी संग्रह को ग्रियर्सन ने जब इलियट को समीक्षा के लिए दिया तो कवि इलियट को पहली बार ऐसे कवियों से साक्षात्कार हुआ जिनकी संवेदना उनकी संवेदना के काफ़ी

पूर्ण है बनिस्बत इस बात के कि इलियट ने उन कवियों को पुनर्स्थापित किया। अत: अगला प्रश्न यह है कि क्या कवि की अपनी रुचि परिष्कृत नहीं होती? हाँ, होती है। इलियट का कहना है कि जो लेखक उन्हें जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में अच्छे लगे थे वे बाद में भी अच्छे लगते थे, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि नये लेखकों-कवियों को उन्होंने रुचिकर नहीं पाया। यह सच है कि जिस लेखक को वे पसन्द नहीं कर पाये वह चाहे जितना बड़ा हो उसके प्रति अपने पूर्वग्रह को छिपा नहीं पाये। टॉमस हार्डी और डी० एच० लारेंस ऐसे अभागे लेखक हैं जो इलियट को कभी न भाये। लारेंस के उपन्यास 'लेडी चैटर्लीज़ लवर' पर लगे प्रतिबन्ध को उठाने के लिए जो दलीलें पेश की गईं उनमें साहित्येतर दलीलें भी थीं, जैसे लेखक का नैतिक प्रयोजन आदि। अत: कृति का मूल्यांकन मात्र साहित्यिक गुणों के आधार पर ही नहीं हुआ करता। किन्तु जब कृतिकार अपनी कृति के बारे में लिखता है तो उसमें अहसास का तीखापन होता है, और इसीलिए ऐसी आलोचना ज़्यादा ईमानदार होती है। इलियट ने आजीवन 'अपनी' बात कही, किन्तु हमेशा प्रयत्नपूर्वक वस्तुपरक होकर और साहित्यिक सीमा में रहते हुए। इसीलिए 'नई आलोचना' का अग्रदूत होकर भी उन्होंने समय आने पर उसकी अतिवादिता की भर्त्सना की। उन मानदंडों का समर्थन किया जिनपर आधृत आलोचना साहित्य के 'साहित्यिक' गुणों की व्याख्या कराती है।[१०]

पाद-टिप्पणियाँ

1. Ray B. West, Jr., (Editor) *Modern Literary Criticism*, (New York, Renehart & Co. Inc.), pp. 4 & 115.
2. "The New Critics are not presenting a *new* way of literature but are regaining an old view lost or obscured by the temper of our age and the demands of an over-worn pseudo-scientific scholarship." —Eric Bentley, 'The Importance of Scrutiny', collected in *F.R. Leavis* ed. by C.D. Narsimhaia, 1963.
3. T.S. Eliot, *The Use of Poetry and The Use of Criticism*, (London, Faber and Faber, 1951) p. 11.
4. R.P. Blackmur's 'A Critic's Job of Work' in *Literary Opinion in America*, ed. by M. Zabel, (N.Y. Harper & Bros, 1937), p. 748.
5. Murray Kreiger, *The New Apologists for Poetry*, (Minnesota, University Press, 1956), p. 6.
6. I.A. Richards, *Principles of Literary Criticism*, (Routeledge and Kegan Paul, 1924).
7. T.S. Eliot, *The Sacred Wood*, (London, Methuen & Co., 1920), p. ix
८. डॉ० जॉनसन, हैजलिट, वाल्टर पेटर और रिचर्ड्स कुछ अपवाद हैं।
9. "To judge of poetry is the faculty of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

poets." Ben Jonsen.

10. (a) "Only once in every five or ten years does inspiration flood the barriers, the rest is practice and patience." Eliot's Introduction to Ezra Pound's *Selected Poems* (London, Faber & Faber), p. xviii.
(b) "For those who obey the inner voice (perhaps, 'obey' is not the word) nothing that I can say about criticism will have the slightest value. For they will not be interested in the attempt to find away common principles for the pursuit of criticism Why have principles when one has the inner voice ? Thus speaks the Inner Voice. It is the voice to which for convenience we may give a name ; and the name I suggest is Wiggery." T.S. Eliot in 'The Function of Criticism', *Selected Essays*, (London, Faber and Faber), p. 29
11. "I do not intend from this the usually silly inference that the creative gift is higher than the critical. When the creative mind is better than another, the reason often is that the better is the more critical." T.S. Eliot, *The Sacred Wood*, p. xiv.
12. T.S. Eliot, 'Ezra Pound, I-II', *New English Weekly*, Oct. 31 & Nov. 7, 1946.
13. T.S. Eliot, 'The Frontiers of Criticism', *On Poetry and Poets*, p. 106.
14. T.S. Eliot, 'The Perfect Critic, *The Sacred Wood*. p. 11.
15. William Empson, *Seven Types of Ambiguity*, (3rd edition, N.Y. Meridian Books, 1955), p. 174.
16. देखें : I. A. Richards, *Practical Criticism*, (N.Y. Harvest Books) p. 10 ;
Randell Jarrell, *Poetry and the Age*, (N.Y., Vintage Books, 1955), p. 80 ;
D.W. Gotshalk, *Art and the Social Order* N.Y., Dover Books, 1962), p. 186.
Mortimer Adler, *Art and Prudence*, (N.Y., Longmans, 1937), p. 458-59.
17. "a nudget of wisdom, a principle that makes for righteousness and the welfare of mankind", John Crowe Ransom, *The World's Body* (N Y. Charles Scribner & Sons, 1938), p 309.
18. Helen Gardner, *The Business of Criticism*, (Oxford, Clarendon, 1953), p. 13.
19. "The critic tries to explain a complexity in terms of simplicity… ..and a simplicity is what a complexity is not. "Kenneth Burke, *The Philosophy of Literary Form*, (Baton Rouge, Louisiana University Press, 1941) p. 22.
20. "Perceptions do not accumulate as a mass but form themselves as a structure," T.S. Eliot, 'The Perfect Critic', *The Sacred Wood*, p. 15.
२१. देखिये एल० सी० नाइट्स द्वारा किये गए शेक्सपियर के नाटकों के अध्ययन ।
22. Jaques Maritain, *Creative Intuition In Art and Poetry*, (N.Y., Meridian Books, 1955), p. 53.
23. T.S. Eliot, 'Shelley and Keats', *The Use of Poetry*, p. 91.
24. "He is a transitional figure rather than a radical innovating force," Lee T. Lemon, *The Partial Critics*, (N.Y., Oxford University Press), p. 53.
25. T.S. Eliot, *Selected Essays*, p. 495.
26. *Seven Types of Ambiguity*, p. 275.
27. *Principles of Criticism*, p. 33 & 62.
28. "Art gratifies a perceptual impulse and exhibits a minimum of reason," John Crowe Ransom, *The World's Body*, p. 30.
29. Yvor Winters, *The Function of Criticism*, (Denver, Swallow Press, 1957) p. 26.
30. Murray Kreiger, *The New Apologists For Poetry*, p. 129.
31. Jose Artega Gasset, *The Dehumanization of Art*, (Garden City, Doubleday Anchor Books, 1956), p. 69.
32. अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं : Cleanth Brocks, *The Well Wrought Urn* 1938.
W.K. Wimsatt and Monroe E. Beardley, *The Verbal Icon* (1954), John Wain, (ed.) *Interpretations* (1956), Edgar Lohner (ed) *Passion and Intellect* (1967).
33. Cleanth Brooks, *The Well Wrought Urn*, (N.Y. Reynal Hithcock, 1947) p. 228-29.
34. T.S. Eliot, Milton II, *On Poetry and Poets*, p. 154.
35. T.S. Eliot, 'The Social Function of Poetry' *On Poetry and Poets*, p. 20.
36. "The independent character of the detail is the texture of the poem and it *depends* from the logical arguments in a sense, though not closely determined by it." J.C.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Ransom, *The New Criticism*, (Norfollk, New Directions, 1941) p. 271.
37. Lee T. Lemon, *The Partial Critics*, p. 121.
38. *The Poems of Robert Frost* (N.Y. Modern Library, 1946), p. xxi.
39. John Crowe Ransom, *Poems and Essays*, (New York, Vintage Books, 1955), p. 156-7.
40. Allen Tate, *Reason in Madness*, (N.Y. Putnam's Sons, 1941), p. 76.
41. J.C. Ransom, *The New Criticism*, p. 273-74.
42. R.P. Blackmur, *Language as Gesture*, (N.Y. Harcourt Brace & Co.) p. 6.
43. इस बात का खण्डन ली० टी० लेमन ने *The Partial Critics* किया है: If there is surprise in the poem it is not the surprise of paradox, but the surprise of fulfilment. 'Realization' is a much better word here than 'surprise', p. 143.
44. Cleanth Brooks, *Modern Poetry and the Tradition*, (Chapel Hill, 1939) p. 113.
45. 'Much literary criticism since 1920's has been theoretically irresponsible.' Lee T. Lemon, *The Partial Critics*, p. 139.
46. R.S. Crane, *The Language of Criticism*, (Toronto, University of Toronto Press, 1953), p. 13.
47. "The actual rationale of the poem's construction in terms of the poetic problems the writer faced and the reasons which determined his solutions"...R.S. Crane, *The Language of Criticism*, p. 166-7.
48. T.S. Eliot, 'The Frontiers of Criticism', *Selected Essays*, p. 106.
49. Ibid. p. 106.
50. T.S. Eliot, 'The Music of Poetry', *On Poetry and Poets*, p. 30.
51. Ibid, p. 31.
52. Kenneth Burke, *Counter Statement*, (Chicago, University of Chicago, 1957), p. 78.
53. Lee T. Lemon, *The Partial Critics*, p. 163.
54. Cleanth Brooks, *The Well Wrought Urn*, p. 27.
55. Cleanth Brooks, 'The Formalist Critics', Kenyon Review, xiii, 1951, p. 75.
56. Murray Krieger, *The Apologists for Poetry*, pp. 140-41.
57. Lee T. Lemon, *The Partial Critics*, p. 159.
58. William K. Wimsatt, Jr., and Cleanth Brooks, *Literary Criticism: A Short History* (N.Y., Alfred A. Knopf, 1959), p. 658.
59. T.S. Eliot, *Selected Essays*, pp. 8, 10, 11.
60. "The only way of expressing emotion in the form of art is finding an 'objective correlative'; in other words, a set of objects, a situation, a chain of event, which shall be the formula of that particular emotion; such that when the external *facts* which must terminate in sensory experience is immediately evoked." T.S. Eliot, *Selected Essays*, p. 124-5.
61. Ezra Pound, *The Spirit of Romance*, (London, 1910), p. 5.
62. Ezra Pound, *Make it New*, (New Haven, 1935) p. 187.
63. "What the poet really felt can only be expressed precisely in and through the poem, which is to say that he had to discover through the act of composition." Eliseo Vivas, 'The Objective Correlative of T.S. Eliot', *Creation and Discovery*, (N.Y., Noonday Press, 1955) p. 164.
64. Yvor Winters, *In Defence of Reason*, (N.Y. Allan Swallow), 1937.
65. T.S. Eliot, 'A Dialogue of Dramatic Poetry, *Selected Essays*, p. 38.
66. Yvor Winters, *In Defence of Reason*, p. 72.
67. "Final direction of meaning is inward" Northrope Frye, *Anatomy Of Criticism*, (Princeton University Press, 1957), p. 73.
68. T.S. Eliot, Review of *All God's Chullun Got Wings*, *The Criterion*, April, 1926.
69. T.S. Eliot, Commentry, *Criterion*, October, 1932.
70. T.S. Eliot, *On Poetry and Poets*, p. 101.
71. T.S. Eliot, 'John Ford', *Selected Essays*, p. 196, 203.
72. Herbert Read, 'The personality of the Poet', *Collected Essays* (London, Faber and Faber, 1938), p. 23.
73. Rene Welleck, 'Some Principles of Criticism.' *The Critical Moment*, (London, Faber and Faber, 1964) p. 43.
74. Ibid, p. 44 45.
75. *The Journal of Aesthetics and Art Criticism*, Fall, 1967, Footnote, 9b, p. 15.
76. Ibid,
77. Rene Wellek, 'Some Principles of Criticism', *The Critical Movement*, p. 46.
78. Ibid, p. 47.
79. T.S. Eliot, *To Criticise the Critic*. (London, Faber and Faber, 1966).
80. T.S. Eliot, 'Frontiers of Criticism', *On Poetry and Poets*, p. 116.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिकागो समीक्षक

डॉ० राजनाथ

वर्तमान शताब्दी के चौथे और पाँचवें दशक में शिकागो विश्वविद्यालय के छः प्राध्यापकों[1] ने एक नए समीक्षा-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जो शिकागो सम्प्रदाय के नाम से विख्यात हुआ। साहित्यिक समस्याओं के प्रति समान दृष्टि ही इन समीक्षकों के मध्य सामान्य भूमि है।

शिकागो समीक्षकों को पूर्ण रूप से समझने के लिए इस सम्प्रदाय को 'नई समीक्षा' के समानान्तर रखना पड़ेगा क्योंकि 'नई समीक्षा' ही वह सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि है जिसकी प्रतिक्रिया में इस सम्प्रदाय का जन्म हुआ। नये समीक्षकों ने अपनी समीक्षा के केन्द्रीय तत्त्वों को आधुनिक समीक्षा के दो महान् स्तम्भों, टी० एस० इलियट और आई० ए० रिचर्ड्स, से लिया है। समीक्षक का कार्यक्षेत्र किस प्रकार उसके समक्ष प्रस्तुत कृति तक ही सीमित होता है इसका प्रतिपादन विस्तार से इन दोनों समीक्षकों ने किया है। अपनी व्यावहारिक समीक्षा में इलियट ने यह प्रदर्शित कर दिया है कि किस प्रकार समीक्षक को कृति की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार अपनी पुस्तक **'प्रैक्टीकल क्रिटिसिज्म'** में रिचर्ड्स ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कृतिकार का व्यक्तित्व समीक्षक के लिए कुछ भी मूल्य नहीं रखता। सम्प्रेषण का सिद्धान्त, जो रिचर्ड्स की समीक्षा का सबसे बड़ा आग्रह है, इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत है कि समीक्षक का सम्बन्ध पूर्ण रूप से कवि के माध्यम से है।

तथाकथित नये समीक्षक इलियट और रिचर्ड्स से काफ़ी आगे बढ़ गए और उन्होंने अपने सिद्धान्तों को इतनी विस्तृत भूमि पर रखने का प्रयास किया कि उनकी सशक्त प्रतिक्रिया एक आवश्यकता हो गई। नये समीक्षकों की कमज़ोरियों का बहुत-कुछ उत्तरदायित्व रिचर्ड्स और इलियट के ऊपर भी है। समीक्षा में एकसूत्रीय प्रवृत्ति, जो शिकागो सम्प्रदाय के अनुसार नई समीक्षा का प्रधान विषय रही है, इलियट और रिचर्ड्स में भी परिलक्षित होती है यद्यपि उस मात्रा में नहीं जितना नई समीक्षा में। प्रत्येक नये समीक्षक ने एक विशिष्ट समीक्षात्मक शब्द चुन लिया है और अपनी समीक्षा में उसी शब्द पर अधिकाधिक ध्यान दिया है। नये समीक्षकों ने इन एकल सूत्रों पर इतना अधिक बल दिया है कि वे कोई भी विकल्प स्वीकारने को तैयार नहीं होते। स्वभावतः प्रत्येक नया समीक्षक अपने प्रिय सिद्धान्त का प्रयोग, बिना कोई भेद किये, सभी कलाकृतियों के मूल्यांकन में करता है। इन समीक्षात्मक शब्दों को उँगलियों पर गिना जा सकता है। ब्रुक्स के अनुसार काव्य-शैली का अनिवार्य सिद्धान्त 'विरोधाभास' है, एम्पसन 'श्लेष' को, रैन्सम 'विन्यास' को, टेट 'प्रतति' को तथा ब्लैकमर 'अंगविक्षेप' को काव्य-कला का निर्णायक तत्त्व मानते हैं। प्रथमतः ये समीक्षक काव्य-माध्यम को ही केन्द्रीय तत्त्व मानकर काव्य के अन्य उपादानों को नगण्य मानते हैं। यही नहीं, काव्य-माध्यम अर्थात् भाषा में भी, सम्प्रेषण की सम्पूर्ण प्रक्रिया को वे विरोधाभास अथवा प्रतति जैसे एकल शब्दों तक सीमित कर देते हैं। प्रमुख रूप से नये समीक्षकों की इसी एकसूत्रीय दृष्टि को ही शिकागो समीक्षकों ने अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया है। नई समीक्षा, विशेष रूप से ब्रुक्स और एम्पसन, की निकट से जाँच करने पर शिकागो समीक्षक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि नये समीक्षक समीक्षा के सही लक्ष्यों की उपलब्धि में अपनी एकसूत्रीय पद्धति और सैद्धान्तिकता के कारण असफल रहे हैं। यही नहीं कि नया समीक्षक एक सिद्धान्त-विशेष में आस्था ही रखता हो, वह यह भी मान लेता है कि कृति की व्यापक समीक्षा के लिए केवल उसी का सिद्धान्त सही है। ब्रुक्स पर लिखे गए क्रेन के निबन्ध का शीर्षक ही क्रेन के विरोध को स्पष्ट कर देता है।[2] क्रेन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि किस प्रकार ब्रुक्स ने कॉलरिज को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सिद्धान्त के घेरे में बन्द कर दिया है। क्रेन का विचार है कि सभी नये समीक्षकों की यही हालत है, समीक्षात्मक एकसूत्रता सभी नये समीक्षकों में विद्यमान है। शिकागो सम्प्रदाय के अन्य समीक्षक एल्डर आल्सन ने भी विलियम एम्पसन पर ऐसा ही दोष लगाया है। आल्सन क्रेन के समान ही यह विश्वास करते हैं कि सामान्य रूप से सारे नये समीक्षक और एम्पसन विशेष रूप से किसी एक सिद्धान्त विशेष पर अनावश्यक बल देते हैं। एम्पसन ने सम्पूर्ण समीक्षात्मक कार्यक्रम को श्लेष में ही निहित माना है। एम्पसन की व्याख्या-पद्धति सभी काव्य-विवेचन को भाषा-विवेचन तक तथा भाषा-विवेचन को भी श्लेष की समस्याओं के विवेचन करने तक सीमित करने की है।[3]

आल्सन का विचार है कि भाषा काव्य का बहुत महत्त्व-पूर्ण अंग नहीं है, और श्लेष जो काव्य-भाषा का मात्र एक पहलू है वह तो बिल्कुल ही नहीं। इस प्रकार एम्पसन का सिद्धान्त दो अर्थों में एकसूत्रीय है :

"एम्पसन का सिद्धान्त, इस प्रकार काव्य के केवल एक अंश तक सीमित है और वह अंश काव्यात्मकता की दृष्टि से बहुत कम महत्त्वपूर्ण है, वस्तुतः (एम्पसन का सिद्धान्त) उस अंश के केवल एक गुण, जिसका कि काव्य से बहुत ही अस्पष्ट और सतही सम्बन्ध है, तक सीमित है। श्लेष न तो काव्य की विशिष्टता है और न ही सभी अथवा सर्वोत्तम काव्य का सार्वभौम गुण।"[४]

इसी सन्दर्भ में आगे विचार करते हुए आल्सन फिर कहते हैं कि यह सैद्धान्तिक एकसूत्रता एम्पसन ही नहीं अपितु उन सभी समीक्षकों में है जो अपने को 'नये समीक्षक' कहते हैं :

"ये कमियाँ केवल एम्पसन में ही नहीं हैं, अपितु सम्पूर्ण 'नई समीक्षा' में, और इस प्रकार सामयिक समीक्षा में, इनकी बहुलता है।"[६]

नई समीक्षा की इस एकसूत्रता के विरोध में शिकागो समीक्षकों ने अपने बहुसूत्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसका मतलब यह है कि शिकागो समीक्षकों के मत में समीक्षक को किसी एक सिद्धान्त से चिपकना नहीं चाहिए, साहित्य के विवेचन और विश्लेषण के लिए जितने भी सिद्धान्तों की आवश्यकता पड़े उन्हें ग्रहण करना चाहिए। सभी शिकागो समीक्षक इस बात पर एकमत हैं कि बहुसूत्रता उनके समीक्षा का आधारतत्त्व है। शिकागो समीक्षकों के अगुआ आर० एस० क्रेन ने बार-बार इस बात को दोहराया है कि वे तथा उनके साथी समीक्षक बहुसूत्रता को आधार मानकर चलते हैं। **क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज्म** (१९५७) में संकलित निबन्धों पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं कि "इन निबन्धों का समीक्षा-दर्शन बहुसूत्रता है।"[७]

उनके अनुसार समीक्षा को किसी एक सिद्धान्त के घेरे में सीमित नहीं करना चाहिए। इसमें विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों एवं मान्यताओं का समाहार होना चाहिए :

"साहित्य-समीक्षा, जिसमें परवर्ती लेखकों का योगदान पूर्ण न होकर आंशिक रहा है, न तो कभी अमिश्रित अनुशासन रही है और न है, इसके विपरीत उसे स्पष्ट तथा न्यूनाधिक रूप में अतुलनीय 'संघार' एवं 'भाषाओं' का संग्रह कहा जा सकता है।"[८]

इस प्रकार किसी भी समीक्षा-पद्धति को इसलिए नहीं अस्वीकार किया जा सकता कि वह किसी विशिष्ट समीक्षक की पद्धति का अनुमोदन नहीं करती है। प्रत्येक पद्धति के अपने निजी गुण-दोष होते हैं। गुण यह है कि इसके द्वारा किसी साहित्यिक कृति के किसी एक पक्ष का उद्घाटन होता है और दोष यह है कि यह तमाम उन पक्षों को छोड़ देती है जिनका विवेचन-विश्लेषण आवश्यक होता है। 'बहुसूत्रता' शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए क्रेन ने कहा है कि समीक्षा की अनेक मान्य पद्धतियाँ हैं जिनमें से प्रत्येक साहित्यिक कृति पर विभिन्न रूप से प्रकाश डालती है और प्रत्येक की अपनी शक्तियाँ एवं सीमाएँ हैं।"[९]

क्रेन की ही भाँति एल्डर आल्सन भी समीक्षक के लिए किसी दृष्टिकोण-विशेष से प्रतिबद्ध न होकर विभिन्न दृष्टियों के स्वागत की बात करते हैं। उनका मत है कि कोई भी महान् कलाकृति स्वयं में ही एक प्रकार की पूर्ण इकाई होती है, उसके रूप एवं गुण के अनुसार उसे समझने के लिए एक दृष्टि-विशेष की आवश्यकता होती है। स्वाभाविक है कि एक कलाकृति के लिए जो समीक्षा-पद्धति उपयुक्त है दूसरी के लिए उपयुक्त न हो। डब्ल्यू० बी० येट्स का एक गीत 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम' एक विशेष प्रकार का गीत है और चूँकि गीत-काव्य की अनेक कोटियाँ होती हैं अतः सभी प्रकार के गीतों के विश्लेषण के लिए एक ही समीक्षा-पद्धति समीचीन नहीं हो सकती :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"'लिरिक' शब्द का प्रयोग अनेकार्थक अर्थों में किया गया है। सूक्ष्मदर्शी विश्लेषक और समीक्षक इस धारणा के साथ कि महान् कलाकृति—उसकी रचना-प्रक्रिया कितनी भी परिचित क्यों न हो—अन्ततोगत्वा स्वतंत्र कृति होती है, विभिन्न समीक्षा-पद्धतियों का अनुसरण करेंगे।"[10]

अपनी बहुसूत्रीय पद्धति को विकसित करने के लिए शिकागो समीक्षक अरस्तू की **पोइटिक्स** में प्रतिपादित अनुकरण सिद्धान्त का सहारा लेते हैं। अरस्तू ने वस्तु, साधन और रूप के तिहरे वैशिष्ट्य का उल्लेख किया है। इन्हीं तीन तत्त्वों के आधार पर उन्होंने साहित्य की एक विधा को दूसरी विधा से विभेदित किया है। उदाहरण के लिए हम अरस्तू की सबसे प्रिय विधा, त्रासदी के विवेचन को ले सकते हैं। अरस्तू ने त्रासदी की परिभाषा ऊपर के तिहरे वैशिष्ट्य को ध्यान में रखकर की है। त्रासदी की परिभाषा करते हुए अरस्तू ने कहा है :

"त्रासदी ऐसे क्रियाकलापों का अनुकरण है जो गम्भीर तथा विस्तृति के साथ, अपने में पूर्ण हो, जिसकी भाषा सुखद उपसाधनों से पूर्ण तथा कृति के विभिन्न अंशों के अनुरूप बदलने वाली हो, जो वर्णनात्मक न होकर अभिनेय हो तथा जो करुणा तथा भय को विभिन्न उपाख्यानों से उद्‌बुद्ध करके इन संवेगों का रेचन निष्पादित करती हो।"[11]

ऊपर की परिभाषा के परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह परिभाषा अनुकरण की वस्तु, उसके साधन तथा उसके रूप पर निर्धारित है। अनुकरण की वस्तु गम्भीर क्रियाकलाप है, साधन भाषा है और रूप नाटकीय है। परिभाषा का अन्तिम अंश—करुणा और भय का रेचन—तीनों उपादानों का परिणाम है। यही तिहरा विभेदन साहित्य की अनेक विधाओं, त्रासदी, महाकाव्य, कामदी और व्यंग्य-काव्य को एक-दूसरे से अलग करता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य की इन तमाम विधाओं के लिए समीक्षा की विभिन्न पद्धतियों को विकसित करना पड़ेगा। त्रासदी की संरचना महाकाव्य अथवा कामदी से भिन्न होती है और स्वभावतः त्रासदी की समीक्षा के लिए अपनाई गई पद्धति महाकाव्य या कामदी के लिए उपयुक्त नहीं होगी।

इसके अतिरिक्त अरस्तू ने त्रासदी की संरचना को भी छः भागों में बाँटा है—कथानक, चरित्र, विचार-शृंखला, भाषा, दृश्य-विधान और संगीत; जिनमें प्रथम तीन का संबंध त्रासदी की विषय-वस्तु से तथा अन्तिम तीन का सम्बन्ध उसके रूप-विधान से है। इन छः संघटकों में अरस्तू कथानक को सर्वोपरि महत्त्व का समझते हैं। उन्होंने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि "कथानक त्रासदी की आत्मा है।"[12]

शिकागो समीक्षकों ने अरस्तू के काव्य-शास्त्र में निहित बहुसूत्रता को अपने समीक्षात्मक विवेचनों और विश्लेषणों का आधार बनाया है। मैंने पहले ही संकेत कर दिया है कि किस प्रकार शिकागो समीक्षक नई समीक्षा की एकसूत्रीय पद्धति का प्रतिरोध करते हैं, क्योंकि इसे वे भाषा अथवा माध्यम के प्रति अतिशय अनुराग का परिणाम मानते हैं। इस प्रकार कृति का जो अंश नए समीक्षकों के लिए सर्वाधिक महत्त्व का है अरस्तू के लिए उसका महत्त्व द्वितीय श्रेणी का है। नया समीक्षक भाषा को लेकर अपनी समीक्षा प्रारम्भ करता है और प्रायः उसी के साथ समाप्त भी करता है, परिणाम यह होता है कि वह साहित्य की एक विधा और अन्य विधाओं में, समीक्षात्मक मूल्यांकन के लिए अपेक्षित, विभेद करना भूल जाता है और इसका कारण यह है कि साहित्य की सारी विधाओं में भाषा सामान्य माध्यम है। दूसरी ओर अरस्तू की पद्धति संवेगात्मक प्रभाव से प्रारम्भ होकर साधनों से होते हुए बहुसूत्रीय परिणति प्राप्त करती है। नए समीक्षकों से अरस्तू तक की यात्रा एकसूत्रता से बहुसूत्रता की ओर विकास-क्रिया है। आर० एस० क्रेन ने अधोलिखित उद्धरण में अरस्तू और क्लियन्थ ब्रुक्स जैसे नए समीक्षकों में अन्तर स्पष्ट कर दिया है :

"अरस्तू जैसे समीक्षकों, जिनके लिए काव्य-कृति संरचनाओं की विविधता प्रदर्शित करती है जिसे किसी वर्ग-विशेष में सीमित नहीं किया जा सकता और क्लियन्थ ब्रुक्स जैसे समीक्षक, जिनका यह आग्रह है कि काव्य-कृति की संरचना मूलतः एक होती है और जोद **ओडेसी** और **द वेस्टलैण्ड** 'टियर्स आइडिल टियर्स' और **द रेप ऑफ़ द लाक**-जैसी एक-दूसरी से सर्वथा भिन्न कृतियों के सामान्य प्रतिमान की परिभाषा में अपनी शक्ति खर्च करते हैं, में भेद बिलकुल स्पष्ट है।"[13]

इस प्रकार अपने समीक्षा-सिद्धान्तों को अरस्तू के काव्य-शास्त्र पर आधृत करते हुए इन समीक्षकों ने यह विश्वास प्रकट किया है कि समीक्षक का प्रथम कर्तव्य जिस कृति का विश्लेषण और विवेचन करने वह जा रहा है उसकी प्रजाति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को समझना और फिर उसके अनुकूल पद्धति का अन्वेषण करना है। यदि कृति 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम'-जैसा कोई गीत है जिसमें अरस्तू के अर्थ में प्रयुक्त कोई कथानक नहीं है तो उसकी समीक्षा उसी रूप में होनी चाहिए। एल्डर आल्सन ने 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम' के विवेचन में यही किया है। लेकिन यदि कृति फील्डिंग के **टाम जोन्स** के समान अनुकरण-वस्तु तथा घटनाक्रम से व्यवस्थित एक स्पष्ट कथानक संरचना है तो समीक्षक को कथानक के विश्लेषण को अपना उद्देश्य मानना चाहिए। टाम जोन्स की समीक्षा में अपनी कथानक सम्बन्धी मान्यता का प्रतिपादन करते हुए अरस्तू की भाँति क्रेन भी अनुकरण-कृति में कथानक को केन्द्रीय मानते हैं और अन्य संघटनों से इसका अधिक महत्त्व बतलाते हैं। कथानक को परिभाषित करते हुए क्रेन कहते हैं :

"...हम कह सकते हैं कि किसी भी उपन्यास अथवा नाटक का कथानक लेखक द्वारा सम्पन्न किया हुआ क्रियाकलाप, चरित्र और विचार-श्रृंखला के तत्त्वों का, जो उसकी उपज्ञता के पदार्थ हैं, एक विशिष्ट अस्थायी संश्लेषण है।"[१४]

इस प्रकार क्रेन तीनों में से किसी एक तत्त्व के, जो संभाग शक्ति के रूप में कार्य करता है, अनुसार कथानक के तीन भेद करते हैं—घटनाक्रम का कथानक, चरित्र का कथानक और विचार-श्रृंखला का कथानक।

संश्लेषणात्मक सूत्र में तीनों नैमित्तिक उपकरणों में किसी एक अथवा दूसरे के प्रयोग के अनुसार भिन्न-भिन्न संरचनाओं के कथानक हो सकते हैं। इसीलिए क्रियाकलाप का कथानक, चरित्र का कथानक और विचार-श्रृंखला का कथानक अलग-अलग होते हैं।[१५]

कथावस्तु के इन तीनों प्रकारों को स्पष्ट करते हुए क्रेन ने कहा है :

"पहले प्रकार में संश्लेषणात्मक सूत्र नायक की स्थिति में, क्रमिक अथवा आकस्मिक, पूर्ण परिवर्तन है जो चरित्र तथा विचार-श्रृंखला द्वारा निर्णीत तथा सम्पन्न होता है (जैसे इडिपस और द ब्रदर्स कारमजोव में), दूसरे में यह सूत्र नायक के चरित्र में पूर्ण नैतिक परिवर्तन है जो क्रियाकलाप द्वारा निस्साहित तथा सचंकक्रत होता है और चरित्र, विचार-श्रृंखला तथा संवेगों में प्रकट होता है (जैसे जेम्स के द पोर्ट्रेट ऑफ़ ए लेडी में), तीसरे में यह सूत्र नायक की विचार-श्रृंखला और परिणामस्वरूप उसके संवेगों में परिवर्तन की पूर्ण प्रक्रिया है जो चरित्र और क्रियाकलाप द्वारा निर्धारित एवं निर्देशित होती है (जैसे पेटर के मेरियस द इपीक्यूरियन में)।"[१६]

कथानक की इस प्रकार व्याख्या करके क्रेन उस अग्र भूमि पर आ जाते हैं जहाँ वे कथानक को कृति का मौलिक तत्त्व मानते हैं। इस प्रकार संघटक तत्त्वों का विश्लेषण करने के पूर्व कथानक की इस स्पष्ट धारणा की उपलब्धि समीक्षक का प्रथम कर्तव्य होता है :

"समीक्षक के लिए कथानक का रूप प्रथम सिद्धान्त है जिसे उसे किसी भी कृति के विभिन्न अंगों द्वारा उठाए गए प्रश्नों से उलझने के पहले उसकी परीक्षा करने के लिए यथा-संभव स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।"[१७]

चूँकि टाम जोन्स का कथानक (क्रियाकलाप कथानक) पहले प्रकार का है।[१८] क्रेन ने अपना विवेचन क्रियाकलाप या अरस्तू के शब्दों में पुरावृत्ताख्यान (फेबुल) पर केन्द्रित किया है, परन्तु साथ ही चरित्र और विचार-श्रृंखला पर भी उचित ध्यान दिया है।

नार्मन मैक्लियन की शेक्सपीयर के किंग लियर की व्याख्या,[१९] आल्सन और क्रेन की क्रमशः 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम' तथा टाम जोन्स की व्याख्या से भिन्न, किंग लियर के चरित्र पर केन्द्रित है। और यह उचित भी है। यह एक तथ्य है कि केवल किंग लियर ही में नहीं, अपितु शेक्सपीयर की सभी त्रासदियों में नायक का चरित्र ही नाटक का केन्द्र है और इसीलिए चरित्र, जो किंग लियर के संदर्भ में उसकी विक्षिप्तता है, की व्याख्या औचित्यपूर्ण है। जैसा पहले ही कहा जा चुका है कि क्रियाकलाप, चरित्र और विचार-श्रृंखला तीनों मिलकर एक आंगिक एकता का निर्माण करते हैं। किसी एक का विवेचन शेष दो के विवेचन से अलग नहीं किया जा सकता। लियर की विक्षिप्तता पर ध्यान केन्द्रित करने का तात्पर्य यह नहीं कि नाटक के घटनाक्रम और विचार-श्रृंखला को अछूता छोड़ दिया जाता है। सबका उचित विवेचन होता है, परन्तु चूँकि चरित्र नाटक का नियामक तत्त्व है अतः स्वाभाविक है कि सम्पूर्ण विवेचन में इसका केन्द्रीय स्थान हो।

शिकागो समीक्षक सिद्धान्तवादियों और संशयवादियों के मध्य में स्थित हैं, एक ओर उनका विश्वास है कि कोई भी समीक्षा-पद्धति, उसकी विचार-भूमि कितनी भी विस्तृत क्यों न हो, सभी प्रकार की कृतियों पर लागू नहीं हो सकती और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी ओर उनका यह भी विचार है कि साहित्य के विवेचन के लिए कुछ सामान्य धारणाएँ भी हो सकती हैं। क्रेन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वह और उनके अनुयायी संशयवादी नहीं हैं। साहित्य-समीक्षा सैद्धान्तिक सीमाओं से आवृत्त नहीं है यह कहने का तात्पर्य संशयवादिता नहीं है।

"साहित्य अथवा काव्य के सत्य को किसी विशिष्ट शब्द-योजना अथवा सिद्धान्त-व्यवस्था में नियोजित नहीं किया जा सकता ऐसा आग्रह करने का मतलब संशयवाद की पुष्टि करना नहीं है।"[२०]

परन्तु यदि शिकागो समीक्षक संशयवादी नहीं हैं तो वे सिद्धान्तवादी भी नहीं हैं। जैसा कि क्रेन ने कहा है कि शिकागो समीक्षकों के लिए सिद्धान्तवादिता सर्वाधिक असंगत प्रतीत होती है, क्योंकि उसका उनकी बहुसूत्रीय पद्धति से मेल नहीं बैठता। वे यह नहीं चाहते कि कोई समीक्षक अपनी ही पद्धति का सर्वाधिक समीचीन होने का दावा करे।

बहुसूत्रीय समीक्षा सिद्धान्त, जिसकी चर्चा मैं इस निबंध में करता आ रहा हूँ, का सर्वाधिक विरोध उस सामान्य धारणा से है जो विभिन्न परम्पराओं के समीक्षकों में वाक्-युद्ध की तह में है और जो ऐसे निश्चयात्मक कथन कि अमुक पद्धति ही काव्य-विवेचन अथवा अध्ययन के लिए 'उचित' या 'एकमात्र उपयोगी' पद्धति है, को प्रेरित करती है।[२१]

यहाँ इस बात का भी उल्लेख आवश्यक है कि क्रेन के अनुसार 'सिद्धान्तवाद' शब्द भी एक विशिष्ट अर्थ में सभी समीक्षा-पद्धतियों को समाविष्ट कर लेता है और इस विशिष्ट अर्थ में शिकागो समीक्षक भी सिद्धान्तवादी है। वस्तुतः कृति के विश्लेषण के लिए प्रत्येक समीक्षक कुछ बुनियादी सिद्धान्तों का सहारा लेता है। और यदि हम 'सिद्धान्तवादी' शब्द को विस्तृत अर्थ में ग्रहण करें, जिसमें प्रत्येक समीक्षा-पद्धति का समाहार होता हो, तो स्वभावतः शिकागो समीक्षक इस कोटि में आ जायेंगे यद्यपि उनकी सिद्धान्तवादिता नकारात्मक और अवरोधक न होकर सकारात्मक तथा स्वस्थ प्रकृति की होगी।

"यह (शिकागो समीक्षकों की बहुसूत्रीय पद्धति) सिद्धान्त-वादिता तो है परन्तु अनुपेक्ष्य एवं श्रेयस्कर कोटि की, जिसके बिना किसी भी विज्ञान एवं कला में कोई विकास नहीं हो सकता। इसे नकारात्मक तथा प्रतिबंधक सिद्धान्तवादिता, जो आजकल सुरुचिपूर्ण समीक्षकों और इतिहास-मनीषियों के पारस्परिक प्रत्यभियोगों में प्रकट हो रही है, के साथ सम्भ्रमित नहीं करना चाहिए।"[२२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी समीक्षा-पद्धति में संदेहवादी तत्त्वों के होते हुए भी शिकागो समीक्षक न तो स्पष्ट संदेहवादी ही हैं और न कट्टर सिद्धान्तवादी ही, यद्यपि एक विशिष्ट अर्थ में उनकी समीक्षा सिद्धान्तवादी तत्त्वों से अछूती भी नहीं। वास्तव में ऐसा कहते समय कि वे सिद्धान्त-वादी नहीं हैं आर० एस० क्रेन के मस्तिष्क में नये समीक्षकों का ध्यान था जो कि पूर्णरूपेण सिद्धान्तवादी हैं। नया समी-क्षक समीक्षा को केवल एकसूत्रीय परिकल्पना के रूप में विच्युत ही नहीं करता अपितु वह यह भी मान लेता है कि समीक्षा की यह एकमात्र पद्धति है। इसके विपरीत शिकागो समीक्षक, क्योंकि वह समीक्षा को बहुसूत्रीय मानता है, विभिन्न पद्धतियों का स्वागत करता है, क्योंकि उसका विश्वास है कि इन सारी पद्धतियों का, बिना किसी विपर्यय अथवा असंगति के, सह-अस्तित्व हो सकता है।[२३] शिकागो समीक्षक अपनी पद्धति के विषय में इतने उदार हैं कि वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि उनकी समीक्षा-पद्धति भी अन्तिम नहीं। उन्होंने कुछ तर्कसिद्ध पद्धतियों को सूत्रबद्ध किया है परन्तु उन्हें वादों के रूप में बदलना उनके समीक्षा के उद्देश्यों की पराजय होगी। "यदि मेरे समीक्षा-सिद्धान्त के पुनरुन्नयन से सिद्धान्त-वादी समीक्षकों की वृद्धि हुई तो इससे कोई लाभ नहीं होगा।"[२४] एल्डर आल्सन भी इसी तरह सावधान करने में एक कदम और आगे बढ़ जाते हैं जब वह यह कहते हैं कि उनकी व्यावहारिक समीक्षा (सेलिंग टु बाइजेन्टियम का विवेचन) को किसी सिद्धान्त-विशेष का आग्रही न समझा जाए जिसे उसी प्रजाति की अन्य कृतियों पर लागू किया जा सकता हो। 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम' के विवेचन के लिए उन्होंने उस सिद्धान्त का प्रयोग किया है जो उस कविता के विवेचन के लिए उनकी दृष्टि में प्रयुक्त था, लेकिन सभी प्रकार की लिरिक कविता पर उसी सिद्धान्त का प्रयोग नहीं होना चाहिए, क्योंकि लिरिक कविता की भी विभिन्न कोटियाँ होती हैं।

"कुछ विशिष्ट कविताओं का परिनिरीक्षण, इस प्रकार, समीक्षात्मक उपक्रम का प्रारम्भ होगा, परन्तु विश्लेषण द्वारा आविष्कृत जिन सिद्धान्तों तक अन्ततः हम पहुँचते हैं वे किसी भी दूसरी कविता की संरचना में सन्निहित क्रिया-पद्धति का नियमन करने वाले सूत्र नहीं होंगे और न ही काव्य-अवयवों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

और काव्योक्तियों की परिगणना को विश्लेषणीय लक्ष्यों से आगे दीर्घाकरण ही किया जा सकता है।"[२५]

अपनी व्यावहारिक समीक्षा में नये समीक्षकों की ही भाँति शिकागो समीक्षक भी अपने को मूल पाठ तक सीमित रखते हैं। पाठगत-विश्लेषण की समानता के कारण कुछ समीक्षकों का कहना है कि शिकागो समीक्षकों और नये समीक्षकों का विवाद पारिवारिक है। डब्ल्यू० एस० स्कॉट इसी मत का पोषण करते हैं।[२६] इसी तरह जार्ज वाटसन का भी मत है कि दोनों प्रकार के नये समीक्षकों के मध्य का विवाद पारिवारिक है।[२७] लेकिन मेरे विचार से नये समीक्षक अपना ध्यान एक ऐसे बिन्दु पर केन्द्रित करते हैं जिसे शिकागो समीक्षक बहुत ही कम महत्त्व देते हैं। यह सच है कि वे मूलपाठ का विश्लेषण करते हैं क्योंकि उनके विचार में मूलपाठ की सन्निकटता अधिक उपादेय होगी। एल्डर आल्सन कहते हैं कि "विवेचना का प्रधान विषय कृति ही होती है।"[२८] परन्तु यहाँ हमें ध्यान रखना चाहिए कि पाठगत विश्लेषण अपने में कुछ भी मूल्य नहीं रखता। इसका मूल्य इसमें प्रयुक्त सिद्धान्तों तथा इससे निस्सारित होने वाले परिणामों पर निर्भर करता है। इस तर्क का आधार लेकर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शिकागो समीक्षकों और नये समीक्षकों में एक अन्तर्विरोध है। नया समीक्षक एक ही सिद्धान्त को साहित्य की प्रत्येक विधा पर लागू करता है। क्लियन्थ ब्रुक्स जिस किसी भी कविता का अनुशीलन करते हैं उसी में विरोधाभास का आरोप करते हैं, इसी तरह एम्पसन [illegible] का दर्शन करते हैं। यही नहीं विवेच्य कृत्य में ये समीक्षक अपनी प्रिय पद्धतियों को खोजने में असफल होने पर उस कृति को निरर्थक करार देते हैं। इसके ठीक विपरीत शिकागो समीक्षक कृति को केन्द्र मानकर चलता है। प्रथमतः वह कृति की मूल प्रजाति का अन्वेषण करता है और तत्पश्चात् उस प्रजाति-विशेष के लिए सर्वाधिक समीचीन पद्धति का निर्माण करता है। यदि कृति डब्ल्यू० बी० येट्स की 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम'-जैसी कोई गीत-रचना है जिसमें अरस्तू की कथावस्तु का कोई लक्षण नहीं है तो वह रूप को विवेचन का केन्द्र मान लेता है जिसके विश्लेषण से क्रमशः वह अन्तिम परिणाम तक पहुँचता है। आल्सन द्वारा 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम' की विवेचना नए समीक्षकों की विवेचना के ही सदृश है। यही कारण है कि डब्ल्यू० एस० स्कॉट ने इस निबन्ध को रूपवादी समीक्षा के अन्तर्गत रखा है।[२९] लेकिन आल्सन और नये समीक्षकों की विश्लेषण-पद्धति में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। आल्सन ने कविता के रूप का विश्लेषण इस विश्वास के साथ किया है कि कोई दूसरी पद्धति उसके उपयुक्त नहीं है। परन्तु नये समीक्षक ऐसे किसी भी तर्क को नहीं मानते और वे रूप का विश्लेषण इसलिए करते हैं क्योंकि इसे वे समीक्षा की अनिवार्य शर्त मानते हैं। इसके अतिरिक्त रूप के किसी विशिष्ट अंग पर आल्सन ने अत्यधिक बल नहीं दिया है, वह रूप के विभिन्न संघटकों तथा कवि की अनुभूति से उनके सम्बन्धों का विश्लेषण करके कुछ ठोस निष्कर्षों पर पहुँचते हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. आर० एस० क्रेन, डब्ल्यू० आर० कीट्स, नार्मन मैक्लियन रिचर्ड मकियन एल्डर आल्सन और बर्नार्ड वाइनबर्ग।
२. 'क्लियन्थ ब्रुक्स आर द बैन्क्रप्सी ऑव क्रिटिकल मोनिज़्म' मॉडर्न फिलालजी, (१९४८), पृ० २२६-४५।
३. विलियम एम्पसन, 'कन्टेम्पोरेरी क्रिटिसिज़्म, एण्ड पोयटिक डिक्शन, 'क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज़्म', सं० आर० एस० क्रेन (शिकागो, १९५७), पृ० २७।
४. वही, पृ० ३५।
५. वही।
६. प्राक्कथन, 'क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज़्म', पृ० ६।
७. 'द लैंग्वेजेज़ ऑव क्रिटिसिज़्म एण्ड द स्ट्रक्चर ऑव पोयट्री (टोरंटो, १९५३), पृ० १३।
८. वही।
९. 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम : प्रोलेगोमेना टु ए पोयटिक्स ऑव लिरिक', 'फ़ाइव एप्रोचेज़ टु लिटररी क्रिटिसिज़्म, सं० डब्ल्यू० एस० स्कॉट (न्यूयार्क, १९६२), पृ० २२९-३०।
१०. पोयटिक्स, अनु० इंग्राम बाइवाटर (लन्दन, १९६२) पृ० ३५।
११. वही।
१२. 'द लैंग्वेजेज़ ऑव क्रिटिसिज़्म एण्ड द स्ट्रक्चर ऑव पोयट्री, पृ० ५।
१३. पोयटिक्स, पृ० ३७।
१४. क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज़्म, पृ० ६६।
१५. वही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६. क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज़्म, पृ० ६६-६७।
१७. वही, ६८।
१८. वही, ६७।
१९. 'इपीसोड, सीन, स्पीच एण्ड वर्ड : द मैडनेस ऑव लियर' क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज़्म, पृ० ९४-११४।
२०. द लैंग्वेजेज़ ऑव क्रिटिसिज़्म एण्ड द स्ट्रक्चर ऑव पोयट्री, पृ० २७।
२१. वही, पृ० २९-३०।
२२. वही, पृ० ३०।
२३. वही, पृ० ३१।
२४. वही।
२५. 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम : प्रोलेगोमेना टु ए पोयटिक्स ऑव लिरिक', 'फाइव एप्रोचेज़ टु लिटररी क्रिटिसिज़्म, पृ० २१६-७।
२६. फ़ाइव एप्रोचेज़ ऑफ़ लिटररी क्रिटिसिज़्म, पृ० १८२।
२७. लिटररी क्रिटिक्स, पृ० २२२।
२८. फ़ाइव एप्रोचेज़०, पृ० २१६।
२९. फ़ाइव एप्रोचेज़ ऑफ़ लिटररी क्रिटिसिज़्म, पृ० २१५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नॉर्थ्रप फ्राई के मूलरूपकीय आलोचना-सिद्धान्त

शिवमूर्ति पाण्डेय

कोई भी विचार मात्र अर्द्ध सत्य है यदि उसमें स्वयं उसी का विपर्यय भी निहित न हो और वह अपने स्वयं के ही खण्डन या परिमार्जन द्वारा विस्तृत न किया जा सके।

—नॉर्थ्रप फ्राई[1]

मानवी परिकल्पना के इतिहास में सभी वस्तुएँ उसी सीमा तक नई हैं जहाँ तक वे पुरानी हैं; नई दुनिया पुरानी का ही एक रूप है।

—नॉर्थ्रप फ्राई[2]

आज की मूलरूपकीय आलोचना के अग्रेसर अठारहवीं शती के इटालियन विद्वान् वीको और उनसे प्रभावित जर्मन विद्वान् हर्डर माने जाते हैं।[3] लेकिन बीसवीं शती के मूलरूपकीय आलोचकों पर सबसे अधिक प्रभाव आदिम सभ्यता की छान-बीन करने वाले दो बाद के विद्वानों की कृतियों का है—सर एडवर्ड टाइलर की **प्रिमिटिव कल्चर** (१८७१) और सर जेम्ज़ फ्रेज़र की **गोल्डन बाउ** (१८९०-१९१५) का। आदिम सभ्यता से प्रभावित इस शती के प्रारंभिक विद्वानों में मैरिट, गिल्बर्ट मरी, ऐंड्रू लैंग, जेन हैरिसन, कॉर्नफर्ड, जॉन स्ट्यूअर्ट, फ्रित्स स्ट्रीछर, और मिस जेसी वेस्टन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मूलरूपकीय आलोचना पर आदिम सभ्यता के अतिरिक्त आधुनिक मनोविज्ञान का, मुख्यतया फ्रॉइड, युंग और एडलर की कृतियों का भी प्रभाव पड़ा है। व्यावहारिक और सैद्धांतिक मूलरूपकीय आलोचना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य इस शती के तीसरे दशक के अन्त से प्रारंभ होता है—प्रेस्कॉट, अर्न्स्ट कासिरेर, डग्लस बुश, मॉड बॉड्किन, लॉर्ड रैगलन, राइनहोल्ड नीबूर, रोझेर कैल्वा, विलियम ट्रॉय, ओ'डॉनिल, और विल्बर अर्बन ने इस दिशा में काम किया। पाँचवें दशक और बाद के मूलरूपकीय आलोचकों में विशेष उल्लेखनीय हैं रिने ग्वास्ताला, सुज़ैन लैंगर, फ़िलिप वील्राइट, कार्ल केरेन्यी, टॉमस मान, नॉर्थ्रप फ्राई, रिचर्ड चेस, हास्केल ब्लॉक, विल्हेल्म एम्रिछ, और लेस्ली फीड्लर।[4] उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूलरूपकीय आलोचना इस शतक के पाश्चात्य जगत् का एक विकासोन्मुख अन्तर्राष्ट्रीय आलोचना-प्रवाह है। विल्बर स्कॉट के अनुसार मूलरूपकीय आलोचना साहित्य के सन्निहित अध्ययन पर बल देते हुए भी मानववादी है, पाठक पर साहित्य के मनोवैज्ञानिक प्रभाव का विश्लेषण करते हुए भी समाज और संस्कृतिपरक है, सांस्कृतिक अनुसंधान में ऐतिहासिक होते हुए भी साहित्य की शाश्वत उपादेयता पर बल देने में अनैतिहासिक है।[5] अतएव स्पष्ट है कि मूलरूपकीय आलोचना में अन्य आलोचना-प्रवाहों को आत्मसात कर लेने की क्षमता है।

यद्यपि नॉर्थ्रप फ्राई के आलोचनात्मक निबन्ध सन् १९३६ से ही विभिन्न पत्रिकाओं में छपते रहे हैं और उनके विचार समकालीन आलोचकों का ध्यान आकर्षित करते रहे हैं, तथापि १९५७ में जब उन्होंने अपने पूर्वप्रकाशित कुछ निबंधों को **अनैटमी ऑव क्रिटिसिज़्म** के नाम से न्यूनाधिक हेरफेर के साथ संकलित किया तो आलोचना-जगत् में इसकी धूम मच गई। वैसे, विलियम ब्लेक का उनका मूलरूपकीय अध्ययन पहले ही ख्याति प्राप्त कर चुका था।[6] **अनैटमी** के प्रकाशन के दश वर्ष के अन्दर ही अमेरिकन 'इंग्लिश इंस्टीट्यूट' ने इस कनाडियन आलोचक के विचारों पर कान्फ़रेंस आयोजित की और उसमें पठित निबन्धों में से कुछ को प्रकाशित किया।[7]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब तक व्यावहारिक आलोचना की बीसियों ऐसी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें नॉर्थ्रप फ्राई के विचारों का स्पष्टतः उपयोग किया गया है। नॉर्थ्रप फ्राई के विचारों का जैसा प्रभाव समसामयिक नवोदित आलोचकों पर पड़ा वैसा किसी अन्य का नहीं, टी० एस० इलियट का भी नहीं।[८] उनकी 'स्किमैतिकी' की विशेषता यह है कि वह अफलातून से लेकर आज तक की सैद्धांतिक आलोचना को आत्मसात करते हुए सबसे भिन्न एक ऐसी मानव-केन्द्रित, वर्ग-निरपेक्ष, सार्वभौम, लोकतांत्रिक अबाध स्वच्छन्दतावादी 'खुली' आलोचना-पद्धति का निरूपण करती है जो अपने ऐतिहासिकता, स्वरूपकीयता, मूलरूपकीयता और भाषा-अलंकारिता के सिद्धान्तों के अन्तर्बंध से सर्वकालीन विश्व-साहित्य के सभी पक्षों को अपने अध्ययन की परिसीमा के अन्तर्गत समेट लेने का साहस करती है। इस लेख का उद्देश्य अप्रतिम मेधावी प्रोफेसर नॉर्थ्रप फ्राई की आलोचना के मात्र एक पक्ष पर प्रकाश डालना है, उनके मूलरूपकीय आलोचना-संबंधी सिद्धान्तों पर।

: १ :

नॉर्थ्रप फ्राई के अनुसार, साहित्य के आधारगत सिद्धान्त साहित्य और पुरागाथा से ही प्राप्त किए जा सकते हैं; और चूंकि पुरागाथाओं में साहित्यिक आधार-विधान अपने शुद्धतम रूप में विद्यमान हैं, अतः वे बाइबिल और क्लासिकीय पुरागाथिकी के प्रतीकवाद को पाश्चात्य साहित्यिक मूलरूपकों का व्याकरण मानते हैं।[९] 'पूर्ण शुद्धता' से फ्राई का तात्पर्य है जीवन-सादृश्य-शून्यता, जैसा कि हम आधुनिक अमूर्त चित्रकला में भी पाते हैं। अतः पुरागाथाओं का जगत् विशुद्धतम कथा और अर्थ का जगत् है—"प्रत्येक युग में ऐसे विचारों, बिंबों, विश्वासों, धारणाओं, आशंकाओं और आशाओं का आधारविधान रहता है जो मनुष्य की स्थिति और भविष्य के प्रति उस समय के सामान्यतः मान्य मनः-दर्शन को व्यक्त करते हैं।"[१०] विचारों आदि के इसी आधार-विधान को फ्राई पुरागाथिकी कहते हैं और इसकी इकाइयों को पुरागाथाएँ। इस अर्थ में, पुरागाथा "मनुष्य की अपने प्रति, वस्तुओं के विधान में अपने स्थान के प्रति, समाज और ईश्वर से अपने संबन्ध के प्रति, अपनी व्यक्तिगत या सारी मानव-जाति की परिणत उत्पत्ति और अन्तिम भाग्य के प्रति उसकी चिंता, उद्वेग और औत्सुक्य की अभिव्यक्ति है।"[११] कथा की दृष्टि से, पुरागाथा "इच्छा के परिकल्पित सीमांतक कार्यव्यापारों की अनुकृति है।"[१२] दिव्य कार्य-व्यापारों की अनुकृति और अर्थ की दृष्टि से, पुरागाथा "कार्यक्षेत्र के रूप में देखा गया वही जगत् है।"[१३]—अर्थ विचारपूर्ण बिंब-विधान में निहित रहता है, स्वर्ग की परिकल्पना में, पूर्ण-रूपकीय ऐशोन्मेषीय जगत् में। यदि पुरागाथा साहित्यिक रूपविधान की शुद्धतम सीमा है तो प्रकृतिवाद उसकी संकरतम सीमा, और बीच के सारे क्षेत्र में अद्भुत-साहित्य परिव्याप्त है। फ्राई इस स्थिति को स्थानान्तरण की दृष्टि से देखते हैं—विशुद्ध साहित्यिक आधारविधान पुरागाथा से स्थान-भ्रष्ट होकर अद्भुत-साहित्य, यथार्थवाद या प्रकृतवाद में आ गिरता है; किन्तु आधारविधान प्रत्येक दशा में वही रहता है, अपरिवर्तित, अक्षुण्ण, और बीसवीं शती के व्यंग्यात्मक साहित्य में वह पुनः पुरागाथा की ओर लौटता दृष्टिगत होता है। नॉर्थ्रप फ्राई की मूलरूपकीय आलोचना में पुरागाथी बिंबों या प्रतीकों और कथाओं के इस स्थानांतरण के सिद्धान्त का विशेष स्थान है। पुराकथाओं और मूलरूपकीय बिंबों या प्रतीकों के अमूर्त आधारविधान हमें अडिग, अच्युत या अस्थानांतरित पुरागाथा में मिलेंगे, जो पूर्णरूपकीय एकरूपता वाले ऐशोन्मेषी या दिव्य और पैशाचिक, इन दो परस्पर-विरोधी जगतों से संबंधित हैं। अद्भुत-साहित्य और यथार्थ-वाद में हमें स्थानान्तरित पुरागाथा मिलेगी।

: २ :

ऐशोन्मेषीय जगत्, स्वर्ग, यथार्थ के प्रवर्गों को मानवीय इच्छाओं के अनुरूप प्रस्तुत करता है, क्योंकि पुरागाथिकी, फ्राई के अनुसार, "विश्व को सदा मानव-केन्द्रित दृष्टिकोण से देखती है।"[१४] मनुष्य के कार्यों और इच्छाओं द्वारा वनस्पति-जगत् को दिया गया रूप बाग, कृषि, कुंज या उद्यान का रूप है; प्राणिजगत् को दिया गया रूप मेष आदि पालतू जानवरों का रूप है; द्रव्य-जगत् को दिया गया रूप नगर का रूप है। नगर, वाटिका और मेषगोष्ठ बाइबिल के प्रतीक विधान में संयोजक रूपक हैं; और फ्राई की दृष्टि में, अपनी पूर्ण एकरूपता के कारण इनमें से प्रत्येक पिंड सार्वभौम है, जिसमें दिव्य, मानव, प्राणि, वनस्पति और द्रव्य—इन पाँचों की इकाइयाँ, समाज, और जगत् सन्निहित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण के लिए क्राइस्ट पिण्ड-सार्वभौम के रूप में एक देव, एक मनुष्य, एक दिव्य मेष, एक जीवन-तरु, और एक चर्च-भवन के अतिरिक्त इन इकाइयों के प्रत्येक के समाज और जगत् भी हैं। नॉर्थ्रप फ्राई बृहदारण्यक से भी एक पिण्ड-सार्वभौम का उदाहरण देते हैं; बृहदारण्यक के बलि-अश्व के शरीर में अखिल विश्व निहित है।[१५] धार्मिक दृष्टि से एक-रूपीकरण अस्तित्वपरक होता है, किन्तु साहित्य की दृष्टि से एकरूपीकरण मात्र रूपकात्मक है। मूलरूपकीय स्तर पर, काव्य मानव-सभ्यता के शिल्पजन्य पदार्थों में है और प्रकृति मानव को अपने में समाहित रखती है; लेकिन गूढार्थ-स्तर पर मनुष्य ही प्रकृति को अपने में समाहित किए हुए है, और उसके नगर और बाग मानवी-विश्व के ही अंग हैं। अतः ऐशोन्मेषीय प्रतीकवाद के क्षेत्र में क्षिति, अप, तेज, वायु और आकाश—सभी का समाहार होता है।

ऐशोन्मेषी प्रतीकवाद के विपरीत पैशाचिक प्रतीकवाद है, जिसमें वह जगत् प्रस्तुत किया जाता है जिसे मानव-इच्छा एकदम अस्वीकार करती है। यह जगत् दुःस्वप्न और बलि-पशु का, बन्धन, कष्ट और संभ्रम का, कुकर्म और कर्मनाश का, विनाश और श्मशान का, यंत्रणा-यंत्रों और मूर्खता स्तूपों का जगत् है, जो अस्तित्वपरक नरक से सम्बन्धित है। पैशाचिक जगत् का आकाश मानव की पहुँच के बाहर है; वह मनुष्य के रहस्यमय अदृष्ट की ओर इशारा करता है, और उसमें स्थित देवता स्वयं आनन्द करते हैं और मनुष्य को सुख से वंचित रख उन्हें यातना देते हैं। पैशाचिक बिंब-विधान के मानवीय जगत् में अहं के तनावों का संघर्ष चलता है; निष्ठुर, निर्दय, निरंकुश शासक होते हैं, नरभक्षण होता है; विनाशकारी वासनाओं का विकृत यौनसम्बन्ध, सहयौन और सहलिंग सम्बन्ध, तथा अगम्यागमन होता है। भीड़-प्रवृत्तियाँ पैशाचिक नर्तन करती हैं। पैशाचिक प्राणि-जगत् में भेड़ियों, बाघों, गिद्धों, सर्पों, ड्रैगनों आदि का प्राधान्य रहता है। पैशाचिक वनस्पति जगत् में भयावह जंगल, झाड़ियाँ, बैताली बाग, मृत्यु-वृक्ष, सूली-काष्ठ, क्रॉस, फाँसी का तख्ता, विनाशकारी जलती लकड़ी, कोड़ों आदि की बहुलता रहती है। पैशाचिक द्रव्य-जगत् में मरुभूमि, चट्टान, ऊसर, विनाशोन्मुख पापी नगर बाबुल की मीनार, यंत्र, शस्त्र, कारागार, आग की जलती भट्ठी, भयंकर बाढ़, भँवराह जल, नियति-चक्र, श्मशान, कब्रगाह, आदि हैं।

ऐशोन्मेषी बिंबविधान में मानव-इच्छाओं के अनुरूप विशुद्ध आधारविधान है, और पैशाची बिंबविधान में मानव के दुःस्वप्नों के विशुद्ध आधारविधान। इन दोनों आत्यन्तिक बिंबविधानों के बीच सादृश्यपरक बिंबविधानों का जगत् है। ऐशोन्मेषी बिंब पुरागाथाविधा के अनुकूल पड़ते हैं और पैशाचिक बिंब व्यंग्यविधा के उस सोपान के, जहाँ वह पुरागाथा की ओर बढ़ती है। शेष तीन विधाएँ—अद्भुतविधा, उच्चानुकृतिविधा और निम्नानुकृतिविधा—बिंबों का सादृश्यात्मक प्रयोग करती हैं। अद्भुतविधा, जिसमें 'रोमांस', शूर-साहित्य, लोक-कथा और परी-कथाएँ आती हैं, आदर्शीकृत जगत् को प्रस्तुत करती है, जो ऐशोन्मेषी जगत् का मानवी प्रतिरूप है और निर्विकार पर बल देता है। अद्भुतविधा में माता-पिता, बुद्धिमान-बुजुर्ग, जादू-कुशल व्यक्ति, शुभचिंतक बैताल आदि के रूप में दैवी-बिंब प्रस्तुत किये जाते हैं, और मानवी बिंब बच्चों, युवकों और युवतियों के रूप में, जिनमें निर्विकार, कौमार्य, हृदय-शुद्धता, आदि गुण होते हैं। आकाश-जगत् का शीतल चन्द्रमा भी विद्यमान रहता है। प्राणियों में मेष, मेमने, श्वान, 'यूनिकॉर्न', 'डॉल्फिन', गर्दभ, पक्षियाँ, तितलियाँ, बिंब के रूप में प्रस्तुत की जाती हैं, और वनस्पति-जगत् से 'ईडन' वाटिका, जादू की लकड़ी और पुष्प। द्रव्य-जगत् से मीनारों, किलों, कुटीरों, जल, निर्झरों, बावलियों, नदियों आदि के बिंब रहते हैं। अद्भुतविधा के बिंबों में ऐशोन्मेषी बिंबों के प्रति निर्विकार का सादृश्य रहता है, तथा कौमार्य और जादू उनके संयोजक सिद्धान्त हैं। उच्चानुकृतिविधा के संयोजक प्रेम और आचार हैं, और इसका बिंब-क्षेत्र प्रकृति और विवेक के प्रति सादृश्यात्मकता है। मानव आदर्शीकृत रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। राजाओं में दैवत्व का स्पर्श रहता है, और राजसभा की रमणियों में देवित्व का। प्राणि-जगत् से बाज़, सिंह, वाजि, चील, मोर, हंस और 'फीनिक्स' के बिंब रहते हैं, वनस्पति-जगत् से गृहोद्यान, राजदंड और ध्वजाओं के। द्रव्य-जगत् के बिंब राजनगर, राजप्रासाद, नियन्त्रित नदियाँ और शाही बजरे हैं।

निम्नानुकृतिविधा का बिंबक्षेत्र अनुभव का सादृश्य है और पैशाचिक जगत् से सम्बन्धित है, वैसे ही जैसे अद्भुत-विधा और उच्चानुकृतिविधा का सम्बन्ध ऐशोन्मेषी जगत् से है। निम्नानुकृतिविधा का यदि कोई सम्बन्ध ऐशोन्मेषी जगत् से है तो वह मात्र व्यंग्यानुकृत्यात्मक है। निम्नानुकृतिविधा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बिंब अनुभव-जगत् के सामान्य जीवन से लिए जाते हैं और इसमें दिव्य बिंबों और आध्यात्मिकता की शून्यता रहती है। मानव-जगत् के बिंब 'यथार्थ मानवी दशा' पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, और अद्भुतविधा के आदर्शीकृत जीवन का विडम्बन रहता है; प्राणिजगत् के बिम्ब मानव को बन्दर और बाघ के रूप में प्रस्तुत करते हैं; वनस्पति-जगत् के बिम्बों में उद्यान का स्थान खेत-खलियान ले लेता है, जिसमें अभिषप्त मानव अनन्त श्रम के फावड़े चलाता है; शहर भूलभुलैया है, भीड़ से ठसाठस, और यहाँ मानव अत्यन्त अकेलेपन का अनुभव करता है, जलबिम्ब विनाशकारी समुद्र के रूप में आता है, और नावें दैत्य के समान हैं जो मानव को अपने उदर में रखता है; अग्नि अपने विनाशकारी रूप में प्रस्तुत की जाती है।

निर्विकार का ऐशोन्मेषी बिम्ब से तथा अनुभव का पैशाचिक बिम्ब से सम्बद्ध होना, फ्राई के अनुसार, नैतिक दिशा में स्थानान्तरण है। फ्राई के आलोचकों ने उनकी विचार-श्रृंखला में प्रायः विरोधाभास पाया है,[१६] और स्वयं फ्राई के अनुसार भी पूर्ण-सत्ययुक्त विचार में स्वयं उसी का विपर्यय भी निहित रहता है।[१७] उनके अनुसार अकाट्य तर्क वह नहीं है जो काटा न जा सके अपितु जिसके कट जाने पर भी उसका आधारभूत सत्य अक्षुण्ण रह जाए। ऐशोन्मेषी बिम्बों की निर्विकारता और अनुभव-बिम्बों की पैशाचिकता का आधारभूत सत्य भी कुछ इसी अकाट्य प्रकृति का है, जो उन्हीं की तर्क-श्रृंखला में स्पष्ट हो जाती है। पूर्णतया आकांक्षित और पूर्णतया अनाकांक्षित ये दो आत्यन्तिक आधार-विधान हैं, और अनैतिक काम-तृप्ति की भी आकांक्षा की जाती है। कुछ आदिम संस्कृतियों में अबाध, अनियंत्रित आकांक्षा-उद्भूत पुरागाथाप्रियता के उदाहरण मिलते, लेकिन ज्यों-ज्यों धर्म और नैतिकता का विकास होता गया त्यों-त्यों धार्मिक और काव्यात्मक मूलरूपक एक-दूसरे के समीप आते गये। अतः काव्य और धर्म का तारतम्य नैतिकता के उभय परिवेश में होता गया। किन्तु साहित्य और काव्य अनाकांक्षित नैतिकता के बन्धन तोड़कर इच्छा की दिशा में दौड़ते हैं, और साहित्य का परिकल्पित जगत् "मानव-आकांक्षाओं की पूर्ण तुष्टि से लेकर, जिसका वे पूर्णतया परित्याग करती हैं, वहाँ तक परिव्याप्त मानवी रूप में विश्व है।"[१८] नैतिकता और अकांक्षा में प्रायः प्रतिद्वंद्व रहता है। साहित्य, नैतिकता की तुलना में कम कट्टर है और जिसे धर्म अवाच्य, अश्लील, ध्वंसात्मक, लंपट और अधम कहते हैं, साहित्य उसे भी स्थान देता है, अपने स्थानान्तरण-उपायों से। स्थानान्तरण की सरल युक्ति को फ्राई पैशाचिक संक्रम की संज्ञा देते हैं। कोई भी प्रतीक अपना अर्थ संदर्भ से प्राप्त करता है;, अतएव 'ड्रैगन', द्वीप, सर्प, डाकू, समुद्री लुटेरे, 'जिप्सी' आदि का प्रयोग साहित्य में पैशाचिक संक्रम द्वारा भी किया गया है। मूल रूपकों के नैतिक संकेत को उलट देना ही पैशाचिक संक्रम है, और मूलरूपक वह "साहित्यिक प्रतीक या प्रतीक-पुंज है जिसकी समस्त साहित्य में प्रत्यावृत्ति हुई हो।"[१९] अतएव सच्चे प्रेम को पैशाचिक संक्रम द्वारा ही परस्त्रीगमन, समलिंगसम्बन्ध और अगम्यागमन के बिम्बों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। 'सादवाद', 'प्रमीथ्यूसवाद' तथा 'शैतानवाद' भी पैशाचिक संक्रम के उदाहरण हैं।

ऐशोन्मेषी प्रतीकवाद में असीम आकांक्षा को प्रस्तुत किया जाता है—मनुष्य की वासनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं को दिव्य रूप में देवताओं पर आरोपित किया जाता है। निर्विकार के सादृश्य का साहित्य आकांक्षित को मानवी, परिचित, सुलभ और नैतिकतासम्मत रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है—इस प्रकार के साहित्य में सुखान्त, सौम्य, अद्भुत और भक्तिसाहित्य, प्रशस्तिकाव्य, आदर्शीकृत और जादू या अलौकिक तत्त्व-सम्पन्न साहित्य आते हैं। अनुभव के सादृश्य का साहित्य भी नैतिक आधार पर ही पैशाचिक जगत् से सम्बद्ध है—उदाहरण के लिए, त्रासदी का परिकल्पना-दर्शन ऐसी घटनाओं को प्रस्तुत करता है जो वास्तविक जगत् में घटित हो सकती हैं और जिन्हें नैतिकता की दृष्टि से स्वीकार करना चाहिए। अतएव आकांक्षाओं के मार्ग की सभी बाधाओं के प्रति मानव के तीक्ष्ण विक्षोभ का विशुद्ध पुरागाथी पैशाचिक जगत् से नैतिक और अनुभवसम्मत सन्दर्भ में स्थानांतरण होता है। किसी भी रचना को सन्निहित ऐशोन्मेष या पैशाची तत्त्व ही इतिवृत्तात्मकता से उठाकर साहित्य की श्रेणी में लाता है।

: ३ :

काव्य का अर्थ उसके प्रस्थित्यात्मक बिंबविधान में निहित है और उसकी कथा बिंबों के गत्यात्मक विधान में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्विकार और अनुभव के सादृश्य पुरागाथा को प्रकृति के अनुरूप संयोजित करते हैं और नगर-निर्माण तथा उद्यानारोपण के प्रक्रम का मनोदर्शन प्रस्तुत करते हैं। प्रक्रम का आधारभूत रूप वृत्ताकार गतिमयता है; तथा उत्थान और पतन की, प्रयास और विराम की, जीवन और मृत्यु की परिवृत्ति प्रक्रम की लय है। अतएव सातों श्रेणियों के बिंब वृत्ताकार गतिमयता के विभिन्न रूपों में देखे जा सकते हैं। देव-जगत् का केन्द्रीय प्रक्रम मृत्यु और पुनर्जन्म पर आधृत है, जो प्रकृति के वृत्ताकार प्रक्रम से सम्बद्ध है—दैनिक वृत्त में, सूर्यदेव रात को मरता है और प्रातः पुनर्जीवित हो जाता है; वार्षिक वृत्त में, वह मकर-संक्रान्ति के अवसर पर पुनर्जन्म ग्रहण करता है। वनस्पति-देवता शरद में मरता है और वसन्त में पुनर्जन्म ग्रहण करता है। वृत्त का विशुद्ध या पुरागाथी आधारविधान जन्म से मृत्युपर्यन्त प्रक्रम के समान ही मृत्यु से पुनर्जन्मपर्यन्त आत्मसंज्ञा की अविच्छिन्नता है। मृत्यु और पुनर्जन्म के इस आधार-विधान पर ही अन्य बिंब-प्रक्रम-वृत्ति भी आधृत हैं। आकाशीय अग्नि-जगत् में तीन महत्त्वपूर्ण वृत्ताकार लयें हैं—सूर्य की दो लयों की चर्चा की जा चुकी है; तीसरी लय चन्द्रमा की है, जो महीने में तीन दिन तक लुप्त रहने के पश्चात् पुनः प्रकट होता है। मानव-जगत् में जाग्रत और सुषुप्त जीवनों का परिकल्पना-वृत्त है, और जन्म, मृत्यु तथा जातीय पुनर्जन्म का दूसरा वृत्त भी, जो प्राणि-जगत् का भी वृत्त है। वनस्पति-जगत् का मृत्यु-पुनर्जन्म वृत्त ऋतव्य वृत्त के समरूप है। सभ्यताओं के विकास, पराकाष्ठा, पतन, मृत्यु और पुनर्जन्म का वृत्त भी होता है। जल-प्रतीकवाद में वर्षा, नाले, नदी, समुद्र या बर्फ़ और पुनः वर्षा का वृत्त है।

कथा की दो आधारभूत गतियाँ हैं—एक, प्राकृतिक-विन्यास के ही अन्तर्गत वृत्ताकार-गति और दूसरी, प्राकृतिक विन्यास से ऐशो मेषी-जगत् की ओर तार्किक गति। पैशाचिक-जगत् के प्रति उन्मुख गति बहुत ही कम पाई जाती है क्योंकि प्रकृति-विन्यास की सतत वृत्यानुवृत्ति स्वयं में ही पैशाचिक है। प्रत्नकथा-वृत्त के ऊपरी अर्द्ध-क्षेत्र में अद्भुत-साहित्य तथा निर्विकार का साहित्य स्थित है, और निचले में यथार्थवाद तथा अनुभव का सादृश्य। इस प्रकार हमें चार प्रकार की प्रत्नकथागतियाँ मिलती हैं—अद्भुत में, अनुभव में, एकदम नीचे और एकदम ऊपर। ऊपर से नीचे की गति त्रासदीय और ऊर्ध्वोन्मुख गति कामदीय है। साहित्यिक प्रत्नकथा की कुल चार श्रेणियाँ हैं, जो सामान्य साहित्यिक वर्गों से पहले की और विशालतर हैं—अद्भुत, कामदीय, त्रासदीय और व्यंग्य-साहित्य। समस्त कथा-साहित्य फ्राई की इन चार श्रेणियों के अन्तर्गत आ जाता है, क्योंकि वे इन प्रवर्गों का प्रयोग सामान्य परम्परासम्मत अर्थ में न करके आधार-विधान और भाववृत्ति की दृष्टि से करते हैं और इस प्रकार चार प्राक्साहित्यिक प्रत्नकथाओं के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। प्रत्नकथा-विधान की दृष्टि से, त्रासदीय और कामदीय साहित्य में, अद्भुत और व्यंग्य-साहित्य में प्रतिपक्षता है। इसके विपरीत, कामदीय-साहित्य एक ओर तो अद्भुत-साहित्य में और दूसरी ओर व्यंग्य-साहित्य में घुल-मिल जाता है; अद्भुत-साहित्य त्रासदीय या कामदीय हो सकता है; और त्रासदीय-साहित्य अद्भुत के शिखर या तीक्ष्ण व्यंग्य के धरातल को स्पर्श कर सकता है।

: ४ :

कामदीय-साहित्य वासन्ती प्रत्नकथा है। एक युवक किसी युवती की आकांक्षा करता है, उसकी इच्छा-तृप्ति के मार्ग में माता-पिता या अन्य तत्त्वों द्वारा बाधा उपस्थित की जाती है, और अन्त में बाधाएँ दूर होती हैं तथा वह अपनी इच्छा पूरी करता है—यह वासन्ती प्रत्नकथा का सरल आधार-विधान है, जिसमें कई जटिल तत्त्व भी विद्यमान रहते हैं। कामदी एक तरह के समाज से दूसरे की ओर बढ़ती है—प्रारम्भ में, बाधक पात्र समाज पर हावी रहते हैं; लेकिन अन्त में, नायक और नायिका के इर्द-गिर्द एक नए समाज का निर्माण होता है, जिसका द्योतक प्रीति-भोज, कर्मकाण्ड, विवाहोत्सव या नृत्य होता है। नायक की इच्छापूर्ति के मार्ग में आनेवाली बाधाओं के कारण ही कामदी का कार्य-व्यापार आगे बढ़ता है। नायक का विरोधी उसका बाप या पैसे और शक्तिवाले बूढ़े या अन्य व्यक्ति होंगे, जिनका अन्त में मज़ाक उड़ाया जाता है और जिन्हें क्षमा कर दिया जाता है। कार्य-व्यापार मुकदमों के कार्य-व्यापार-जैसा ही होता है। कामदी का प्ररूप या तो बाधाओं पर विशेष ध्यान केन्द्रित करके बढ़ाया जाता है या अन्वेषण और वैरशमन पर बल देकर। असंगति के विरुद्ध सामाजिक निर्णय दिया जाता है। बाधक-पात्र के चरित्र में सांकेतिक विचार-बाध्यता होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, और पुनरावृत्ति के सिद्धान्त द्वारा इससे ह्रास उत्पन्न किया जाता है। नया समाज उन्मुक्त समाज होता है, और कामदी की गति बन्धन से स्वातन्त्र्य की ओर, भ्रम से सत्य की ओर होती है। कथानक में जटिलता की भरमार होती है क्योंकि जटिलता स्वयं में हास्यास्पद है, और उसका अन्त भी कथानक को अचानक मोड़ देकर किया जाता है। अप्रत्याशित विचार-परिवर्तन होते हैं, और दैवी घटनाओं का सहारा लिया जाता है। कामदी का अन्त उस स्वर्ण-युग की प्राप्ति में होता है जो सम्भवतः कथानक के आरम्भ होने के पहले था। कामदी के पात्रों को चार श्रेणियों में रखा जा सकता है—पाखण्डी, आत्मनिन्दक, विदूषक और गँवार। कामदी सामाजिक और नैतिक न्याय का रूपात्मक प्रयोग करती है, तथा सहानुभूति एवं उपहास की भावना को जागृत कर उनसे मुक्ति दिलाती है। इसका क्षेत्र तीक्ष्ण व्यंग्य से लेकर आकांक्षा-तृप्ति तक व्याप्त है, किन्तु प्रत्येक दशा में आधार-विधान और चरित्र-चित्रण का सिद्धान्त एक-सा रहता है। वासन्ती कथा के छः सोपान होते हैं। पहला कामदी का अति व्यंग्यात्मक सोपान है—नायक का समाज अपने बचपन में रहता है, तथा बाधक पाखण्डी समाज अपरास्त रह जाता है। पैशाचिक जगत् अधिक दूर नहीं होता। कामदी का दूसरा सोपान नायक की किशोरावस्था का सोपान है और पाखण्डी-समाज अपने स्थान पर स्थिर रह जाता है। तीसरा कामदी का सामान्य सोपान है, जिसमें नायक का समाज पूर्ण वयस्क हो जाता है, और पाखण्डी-समाज को नायक की आकांक्षाओं के सामने घुटने टेकने पड़ते हैं। चौथा कामदी के हरे जगत् का सोपान है, जिसमें अनुभव की दुनिया से निर्विकारी और अद्भुत जगत् में प्रवेश होता है। पाँचवें सोपान में नायक समाज सुव्यवस्थित और धार्मिक प्रवृत्ति का होता है। छठे सोपान में कामदीय समाज टूटता दृष्टिगत होता है, सामाजिक इकाइयाँ छोटी हो जाती हैं, गुप्त स्थान और अध्यात्म का प्राधान्य रहता है, प्रेत-बैताल प्रवेश करते हैं, और कामदीय समाज पुनः गर्भाशय की ओर लौटता है।

ग्रीष्म-प्रत्नकथा अद्भुत-साहित्य में, आकांक्षा-तृप्ति की सर्वाधिक प्रधानता रहती है। शासक-वर्ग या बुद्धिजीवी अद्भुत-साहित्य में अपने आदर्शों का प्रक्षेपण करते हैं। इसके कथानक का आवश्यक तत्त्व अद्भुत-कर्मप्रधान अन्वेषण-यात्रा है, जिसके तीन भाग होते हैं—विपत्संकुल-यात्रा, संघर्ष और नायक का उत्कर्ष। अद्भुत-साहित्य के नायक का सम्बन्ध पाठकों के मूल्यों और आदर्शों से रहता है; नायक पैग़म्बर के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उसके प्रतिपक्षी में पैशाचिक शक्तियों का सादृश्य होता है; वह शिशिर, अन्धकार, अस्त-व्यस्तता, अनुर्वरता, म्रियमाण दशा और बुढ़ापे से सम्बद्ध होता है। एक देश बूढ़े असहाय राजा द्वारा शासित है। एक समुद्री दैत्य देश को बर्बाद कर रहा है और प्रतिदिन एक युवक या युवती को खा जाता है। वृद्ध राजा की लड़की की बारी आती है। इसी समय नायक आता है और 'ड्रैगन' को मारकर राजा की लड़की से शादी करता है और सिंहासनारूढ होता है। संघर्ष में नायक की सांकेतिक या वास्तविक मृत्यु होती है, और उसका सांकेतिक पुनरुत्थान या पुनर्जन्म होता है। अन्वेषण-प्रत्नकथा के पात्र या तो अन्वेषण के पक्ष में होते हैं या उसके विपक्ष में। प्रकृति के देवी-देवता निष्पक्ष होते हैं। अद्भुत-साहित्य का प्रथम सोपान नायक के जन्म से, दूसरा सोपान उसकी निर्विकार किशोरावस्था से सम्बद्ध रहता है, और तीसरा अन्वेषण-कथा का सोपान है। चौथे सोपान में निर्विकारिता पर अनुभव के आघात होते हैं, किन्तु वह अक्षुण्ण बनी रहती है; नैतिकता और संयम का प्रतीकात्मक दृष्टान्त निहित रहता है। पाँचवें सोपान में सौम्यता और विचारात्मकता के उच्च स्तर पर से अनुभव-जगत् को देखा जाता है, और छठे सोपान में साहसिक कार्यों का स्थान ध्यान-चिंतन ले लेता है।

शारदीय प्रत्नकथा त्रासदी का अन्त प्रशान्ति, हर्ष या संदिग्ध भाव में होता है, और हमारा ध्यान समाज के बदले नायक पर सर्वाधिक केन्द्रित किया जाता है। नायक प्रेक्षक से महान् होता है और वह अपने से भी किसी बड़ी शक्ति के संपर्क में रहता है जो किसी अटल नियम के रूप में रहस्योद्घाटित होती है। यह अटल नियम अपने सरल रूप में प्रतिशोध है और सूक्ष्म में दैवी न्याय। दैवी प्रकोप या नैतिक प्रतिशोध त्रासदीय साहित्य के प्रक्रम में आता है; वह उसका मूल आधार कदापि नहीं है। नायक अडिग रहने के लिए सक्षम होते हुए भी पतित होने के लिए स्वतन्त्र है। नायक किसी अन्य स्थिति के लिए अपनी वर्तमान स्थिति का विनिमय करता है; उसके इस वरण के कारण त्रासदी में एक ऐसा क्षण आता है जब प्रेक्षक या पाठक को दो मार्गों की स्पष्ट झलक मिलती है—एक जिसे नायक ने अपनाया होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और दूसरा जिसे वह ग्रहण करेगा। मूलरूपकीय दृष्टि से त्रासदी में बलि और स्वप्न की अनुकृति रहती है; प्रेक्षक को एक तीसरे जगत् का आभास मिलता है। वास्तव में अद्भुत, त्रासदीय, कामदीय और व्यंग्य साहित्य—सभी पूर्ण अन्वेषण-प्रत्नकथा में उपाख्यान हैं। नायक पर दैवी प्रकोप का स्रोत एक दैवी उत्प्रेरक पात्र होता है दूसरा साधन-पात्र। इनके अतिरिक्त पारिपार्श्विक पात्र होते हैं, जो सामाजिक विधि पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। त्रासदी में कामदी का बीज रहता है। व्यक्ति परिवार से और परिवार समाज से विलग हो जाता है। त्रासदी के प्रथम सोपान का नायक सर्वाधिक निर्विकार, साहसी और जीवन-सक्षम होता है। दूसरे सोपान में उसकी अनुभवहीनता पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है; तीसरे में दुःखान्त के बावजूद नायक के आदर्शों की विजय होती है; चौथे में नायक अपनी ग़लती और घमण्ड के कारण पतित होता है; पाँचवें में शौर्य कम होता है तथा व्यंग्यात्मकता बढ़ती है; छठे में संक्षोभ की प्रधानता रहती है और पैशाचिक जगत् का आभास मिलता है।

शिशिर-प्रत्नकथा व्यंग्य-साहित्य अनादर्शीकृत अस्तित्व की जटिलता और अस्तव्यस्तता को प्रस्तुत करता है। अद्भुत-कथा की व्यंग्यानुकृति ही इसका आधार-विधान है। इसके प्रथम तीन सोपानों में आक्षेपगर्भ आक्रामक व्यंग्य रहता है, और उनके नैतिक आदर्श स्पष्ट होते हैं। असंगत, अपरूप और विषम समाज पर आघात करने के लिए कल्पना-जगत् का निर्माण होता है। लेखक की दृष्टि से असंगति, अपरूपता और विषमता को चुनना स्वयं में ही नैतिक कार्य है। आक्षेप-व्यंग्य के लिए दो बातें आवश्यक हैं—कल्पनाजन्य ह्रास और आघात का विषय। प्रथम सोपान निम्नादर्श का है, जो विधिविरोध, अन्याय, मूर्खता और अपराध के जगत् को प्रस्तुत करता है। कथक सरल, सहजबुद्धि और लोकाचार को मानने वाला होता है। दूसरे सोपान में लोकाचार के मूल्यों पर आघात किया जाता है और अनुभव, सहजबुद्धि का पक्ष रूढिवाद के विपक्ष में लिया जाता है। तीसरा सोपान उच्चादर्शों का है, जो सहजबुद्धि पर विजय पाते हैं। चौथे सोपान में त्रासदीय स्थिति की व्यंग्यानुकृति की जाती है, पाँचवें में प्राकृतिक वृत्तों पर बल रहता है; और छठे में, जीवन सतत बाध्यता में जकड़ा हुआ प्रस्तुत किया जाता है।

स्पष्ट है कि पुरागाथा से नॉर्थ्रप फ्राई का तात्पर्य धर्म-कथा के किसी धार्मिक पक्ष या आध्यात्मिकता, विषयवस्तु की सत्यता-असत्यता से न होकर उसमें निहित साहित्यिक रूप के प्राक्साहित्यिक आधारगत संयोजक सिद्धान्त से है, जो साहित्यिक विश्व की सात बिंब-श्रेणियों को इक्कीस प्रस्थित रूपों में देखता है—प्रकृतार्थ को मूलरूपक में, मूलरूपक को गूढार्थ में और इन सब को पिंड-सार्वभौम में तथा साहित्यिक बिंबों की वृत्ताकार गत्यात्मकता को चार प्रत्नकथाओं के चौबीस सोपानों के रूप में। अर्थ और कथा की दृष्टि से फ्राई के प्रत्नकथा के प्राक्साहित्यिक आधारविधानों की परिसीमा के अन्तर्गत आज तक का विश्वसाहित्य समाहित हो जाता है, एक तो इसलिए कि उनके साहित्यिक प्रवर्ग समस्त साहित्य से ही प्राप्त किये गए हैं, और दूसरे इसलिए कि साहित्य और मनःकल्पना के इतिहास में फ्राई के अनुसार "सभी वस्तुएँ उसी सीमा तक नई हैं जहाँ तक वे पुरानी हैं।"[२०] फ्राई का मूलरूपकीय खाका जो रचना-विशेष की 'विलक्षणता' को पूर्ण साहित्यिक रूप के संदर्भ में देखता है, मात्र अन्योपदेशिक भाष्यकारों की भव्य बुद्धिचातुरी की निरर्थकता पर आघात करता है।[२१] फ्राई का मूलरूपकीय आधारविधान आलोचना-शास्त्र की वैचारिक रूपरेखा है, जो साहित्य से वैसे ही अनुमानित या प्राप्त की गई है, जैसे आधुनिक भौतिकशास्त्र की वैचारिक रूपरेखा स्वयं विश्व के अध्ययन से ही प्राप्त की गई है। फ्राई की अध्ययन-विधि वैज्ञानिक अध्ययन विधि के समरूप होने का दावा करती है और उनके अनुसार साहित्य का अन्तिम रूप अस्तित्वपरक न होकर गणित के अन्तिम रूप के समान 'स्वायत्तशासी भाषा' है।[२२] विज्ञान के समान ही फ्राई साहित्यानुमानित आलोचनात्मक विचार-रूपरेखा का प्रतिपादन साहित्य के अध्ययन के लिए करते हैं। अपने इस रूप में फ्राई की आलोचना-विधि उन सभी आलोचना-विधियों से भिन्न है जो किसी साहित्येतर मापदण्ड या वैचारिक रूपरेखा को साहित्यिक अध्ययन पर लागू करते हैं।

नॉर्थ्रप फ्राई का मूलरूपकीय सिद्धान्त गूढार्थक आलोचना पर आधृत होने के कारण रहस्यवादी है, लेकिन यह आध्यात्मिक रहस्यवाद न होकर साहित्यिक रहस्यवाद है—साहित्य का ऐशोन्मेषी मूलरूपक, गूढार्थक, पिण्ड-सार्वभौम वह बिन्दु है जहाँ "विषय, विषयवस्तु, सार्वभौम—आलोचक,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य, कवि, कृति, जगत् और साहित्य का स्वप्नजगत् — सभी उस 'एक' में विलीन हो जाते हैं जो सबका समाहार करता है, 'एक' जिसका रूप स्वप्नजगत् वैसे ही धारण करता है जैसे वह स्वयं मनुष्य की सर्व-संपरिवर्तक प्रसर्जनक्रिया बन जाता है।"[२३] नॉर्थ्रप फ्राई ने स्वयं कहा है कि उनकी मूलरूपकीय आलोचना साहित्यिक रसानुभव को हटाकर उसके स्थान पर साहित्यिक रहस्यवाद को प्रस्थापित करती है।[२४] अतएव फ्राई का मूलरूपकीय रहस्यवाद एक ओर उनकी मूलरूपकीय आलोचना को अरस्तू से लेकर आधुनिक शिकागो-संप्रदाय तक की रसवादी आलोचना से पृथक् करता है तो दूसरी ओर साहित्य-केन्द्रित होने के कारण, अफ़लातून के दार्शनिक मूल-रूपकों के आध्यात्मिक रहस्यवाद से। युंग के मूलरूपक भी अध्यात्मवाद पर आधृत हैं जिन्हें "हमारी विचारणा भी स्पष्टतया ग्रहण नहीं कर सकती, क्योंकि उसने उन्हें कभी जन्म ही नहीं दिया,"[२५] जबकि फ्राई के मूलरूपकों की सृष्टि मानव-परिकल्पना ने मनुष्य की इच्छाओं के उत्तर में की है।[२६] फ्राई और फ्रायड में भी अन्तर है—फ्रायड के अनुसार काव्य में अर्थ का स्थानान्तरण कवि के वैयक्तिक जीवन से उसकी गुप्त इच्छाओं और उनकी विफलताओं से संबद्ध है[२७] जबकि फ्राई के अनुसार, मूलरूपकीय अर्थ का स्थानान्तरण, उसकी जन्मदात्री इच्छाओं और उनकी विफलताओं के ही समान, सार्वभौम और समस्त मानवजाति का है। फ्राई इच्छा का प्रयोग सामान्य अर्थ में करते हैं, "जिसका शारीरिक आवश्यकताओं और मनोवैज्ञानिक कमियों से कोई सम्बन्ध नहीं है।"[२८] समस्त मानव की, अर्थात् समग्र जन की, सुपरिचित इच्छा को साहित्य-सृजन का आधार मानने के कारण फ्राई की आलोचना एक अर्थ में लोकतांत्रिक और मानववादी है।

ऐशोन्मेषी और स्वच्छन्दतावादी होने के कारण नॉर्थ्रप फ्राई की मूलरूपकीय आलोचना बीसवें शतक की अस्तित्व-परक आलोचना से भी पृथक् है—टी० ई० ह्यूम ने क्लासिकी ससीमता पर बल दिया; टी० एस० इलियट ने अपने को क्लासिकीयवादी घोषित किया; जे० सी० रैन्सम 'विश्व की देह' पर अपना केन्द्रित करते हैं; ऐलन टेट का 'तनाव' अपनी प्रतीकात्मक उड़ान में प्रकृतार्थक यथार्थ को अपने साथ खींच ले जाता है; इलिसिओ वाइवस के अनुसार कवि को 'अनुभव के प्राथमिक तत्त्वों' पर बल देना चाहिए; मरी क्रीगर के अनुसार कविता में 'अस्तित्वपरक अभिव्यंजना' होनी चाहिए;[२९] और केनथ बर्क के अनुसार, "कविता को यथार्थ की सेवा करनी चाहिए।"[३०] इसके विपरीत, फ्राई अस्तित्व-परक प्रक्षेपण की निन्दा करते हैं, क्योंकि ऐसा आग्रह साहित्यिक विश्व की स्वायत्तता को नष्ट कर देता है और उसे 'निम्न अनुभूति-जगत्' में बदलने का प्रयास करता है। फ्राई के अनुसार, "साहित्य अपने स्वयं के ही विश्व में निहित है; वह जीवन या यथार्थ पर भाष्य कदापि नहीं है।"[३१] इसके अतिरिक्त, फ्राई की मूलरूपकीय आलोचना मूल्यांकन का कोई मापदण्ड नहीं देती; वह हर तरह के साहित्य को बिना किसी भेदभाव के अपनी विचार-रूपरेखा की परिसीमा में अध्ययन के लिए खींच लेती है। फ्राई मूल्यांकन के खोखलेपन पर प्रकाश डालते हैं और सिद्धान्ततः उसके विरुद्ध हैं। इसके बावजूद फ्राई के प्रतिपक्षी भी यह मानते हैं कि उनका मूल-रूपकीय विधान अन्तर्दृष्टि और पैनी सूझ से पूर्ण है।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, मूलरूपकीय आलोचना आधुनिक पाश्चात्य जगत् का अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह है; नॉर्थ्रप फ्राई की आलोचना का इसमें विशिष्ट स्थान है। उनकी मूलरूपकीय विचार-रूपरेखा का अन्यत्र भी स्वागत होगा, केवल इसलिए नहीं कि वह अन्तर्राष्ट्रीय और सार्व-भौम होने के कारण परम्पराभ्रष्ट या परम्पराहीन राष्ट्रों के लिए विशेष आकर्षक होगी, बल्कि मूलतः इसलिए कि वह अन्तर्दृष्टि-उद्दीपक 'खुली पद्धति' होने के कारण विशेष उपयोगी होगी। जहाँ तक भारतवर्ष का सम्बन्ध है, प्रोफ़ेसर नॉर्थ्रप फ्राई की मूलरूपकीय आलोचना के व्याकरण का 'स्थानान्तरण' यहाँ की पुरागाथाओं के सन्दर्भ में बड़ी सुगमता से किया जा सकता है—एक बृहद् भारतीय-पुरागाथी आलोचनात्मक जागरण प्रतीक्षा कर रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पाद-टिप्पणियाँ

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. द मॉडर्न सेंचुरी (टरॉण्टो, १९६७), पृ० ११६।
२. फेबल्ज़ ऑव आइडेंटिटी (न्यूयॉर्क, १९६३), पृ० ५२।
३. विलियम के० विमसैट एण्ड क्लियंथ ब्रुक्स, लिट्ररी क्रिटिसिज़्म (न्यूयॉर्क, १९५९), पृ० ६९९-७००।
४. देखिए रिने वेलक और ऑस्टिन वॉरन, थियरी ऑव लिट्रेचर (हार्मंड्ज़वर्थ, १९६३), पृ० १८६-२११, ३४८-३४९; विमसैट और ब्रुक्स, पृ० ६९९-७२०।
५. विल्बर स्कॉट, फ़ाइव एप्रोचेज़ टु लिटररी क्रिटिसिज़्म (न्यूयॉर्क, १९६२), पृ० २४७।
६. फियरफुल सिमिट्री (प्रिंस्टन, १९४७)।
७. मरी क्रीगर, सं०, नॉर्थ्रप फ्राई इन मॉडर्न क्रिटिसिज़्म (न्यूयॉर्क, १९६६)।
८. क्रीगर, पृ० १-२।
९. फ्राई के विचार अनैटमी ऑव क्रिटिसिज़्म (प्रिंस्टन, १९५७) से ही प्रधानतया प्रस्तुत किए जाएँगे। अन्य स्रोतों का विवरण दिया जाएगा।
१०. द मॉडर्न सेंचुरी, पृ० १०५।
११. वही, पृ० १०६।
१२. अनैटमी, पृ० १३६।
१३. वही।
१४. मॉडर्न सेंचुरी, पृ० १०६।
१५. अनैटमी, पृ० १४३।
१६. क्रीगर, पृ० ६।
१७. द मॉडर्न सेंचुरी, पृ० १०६।
१८. नार्थ्रप फ्राई, द वेल-टेम्पर्ड क्रिटिक (ब्लूमिंग्टन, १९६३), पृ० १५५।
१९. फेबल्ज़, पृ० १२०।
२०. वही, पृ० ५२।
२१. अनैटमी, पृ० ३४१-३४२।
२२. वही, पृ० ३५०-३५१।
२३. क्रीगर, पृष्ठ १३।
२४. अनैटमी, पृष्ठ ३५०।
२५. फ्रीडा फॉर्डम, 'अन इन्ट्रोडक्शन टु युंग्ज़ साइकॉलोजी (हार्मंड्ज़वर्थ, १९६६), पृष्ठ २८ पर युंग के 'टू एसेज़ ऑन ऐनालिटिकल साइकॉलोजी', पैरा ११९ से उद्धृत।
२६. फ्राई, 'दि ऐड्यूकेटिड इमैजिनेशन' (ब्लूमिंग्टन, १९६४), पृष्ठ ९८-१००।
२७. फ्रायड : 'डिक्शनरी ऑव साइकोअनैलिसिस', सं० फाडर और गेनर (न्यूयॉर्क, १९६६) में 'ड्रीम', 'न्यूरासिस' और 'विश-फुलफिलमेन्ट' पर देखिए।
२८. फेबल्ज़, पृष्ठ १५२।
२९. क्रीगर, पृष्ठ ७-१२।
३०. वही, पृष्ठ ७५ पर विमसैट द्वारा उद्धृत।
३१. अनैटमी, पृष्ठ १२२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तलघर | *प्रमोद सिनहा*

लंबी यात्रा के बाद—
सब वहाँ आ गए, जहाँ
बोलते हैं इतिहास की भाषा
और वह खुद-ब-खुद लिख जाता है

भाषा का प्रश्न इनके बीच
कभी नहीं उठता
क्योंकि इनके पास कहने के लिए
नहीं है बहुत कुछ विस्तार से

यहाँ उड़ती हुई धूल आवाज़ को मैला करती है
और पैर गन्दे हो जाते हैं
एक जगह से दूसरी
जगह उठ-उठ कर बैठने में

सभी पढ़ते हैं
छपते रहते हैं इश्तहार
पर ख़रीदने वाले कम हुआ करते हैं
इसलिए—यह निश्चय हुआ कि अब कोई
यहाँ जीवन की भूमिका नहीं लिखेगा, लेकिन
सारे निर्णय तोड़े
लिया था पुत्रवत जिन्होंने।
और रख दिये फ़ैसले को ताख पर
अच्छे दिनों के नाम

ऐसा कैसे संभव हुआ कि
एक-एक घर में इतने आदमी रहते हैं
और एक-दूसरे की जड़ नहीं खोदते।

अक्सर कहते हैं—
सारी दुनिया को चाहिये
पैसा-लड़की-और मकान
कितने आदिम हैं ये ?

हर शाम—
अपने गले में तख़्तियाँ लगाए घूमते रहे कि
प्रबुद्ध अधिक हम···
कर सकते सही ग़लत की तलाश सहज रूप में

लेकिन यह घोषणा अच्छी नहीं हुई क्योंकि
जहाँ-जहाँ उत्तेजना की भाषा थी
स-ह-सा बंद कर दी गई, तलघर में—
ख़तरा टालने के लिए

तलघर—एक तल्ख़—सीलन-बदबू-सड़ांध
भरी गयी औरतें साथ देने को,
जिनसे संभावना थी खड़ी कर लेगी
रोशनी की दरार।
एक शब्द ता···बू···त
शहर के नीचे एक दूसरा शहर
बहती हैं जिसमें मटमैली नालियाँ—
कीट—पतिंगे—चींटियाँ, घूमते तेलचिट
देह की सुरक्षा में व्यस्त।
इनकी मस्ती लोक-गीतों तक सीमित हो गयी।
करते शिकार केकड़ों का, खुशियाँ मनायी जातीं
हिस्से बांटे जाते और तब
यह सब अँधेरो रोशनी हो जाती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काला सूरज उगने पर एक [illegible] के
साथ कन्याओं ने किया प्रसव
तब पहली बार रोशनी जलाई गई
सभी मशक़ें लिए झुंड में बैठे रहे उत्सव के लिए
क्योंकि नहीं था किसी एक का जन्म-दिन
पैदा हुआ था स-मू-ह
विरासत में लिए हुए अँधेरे का मनोविज्ञान
सब-कुछ उन्हें रोशनी जैसा लगता
देख सकते थे बारीक सूइयाँ
और उनमें रंगों की पहचान
ऊपरी आँखों से अधिक थी,
वैसे ही नहीं
इस भाषा में इनके अलग नाम थे

अक्सर बाहरी दुनिया के लोग
तलघर में झाँकते
सुनने आते आराम सुविधा की शिकायतें
और हँस-हँस कर भरे-पूरे आश्वासन के साथ
लौट जाते
देखते सब

उ···त्सु···क···ता···से
लोग बड़े-बड़े-ग़म बूट पहने हुए
सीढ़ियाँ उतर रहे हैं।
पहले टाँगें दिखती फिर धड़ और सिर दिखने तक
फैल जाती सूचना पूरे तलघर में
—'कुछ महत्त्वपूर्ण लोगों ने कृपा की है आने की
बूढ़े नि···रा···श
इस आने-जाने से
क्योंकि जानते थे
सांत्वना की उपयोगिता जीवन के लिए क्या है ?
यह दाँत नहीं बन सकती
न इससे रोटियाँ तोड़ी जा सकती हैं।
लेकिन
इन्हें पैदा होते ही विरासत में मिली थी, केवल
[illegible]
इतनी तल्ख़ी जी लेने के बाद
उनकी दीवार की नींव अविश्वास थी
होती थी यहीं से सोचने की शुरुआत।
अक्सर वे कुएँ की जगत पर बैठ
सुना करते वृद्धगाथा—

हर बार ऐसा क्यों किया गया
कि हम सब उसी ओर देखते रहे
और लंबे-चौड़े वादे दोहराते रहे
यह दशक उनका नहीं था
न वे बुनियाद पर खड़ी दीवार ही उनकी थी
वे सब घुसपैठिये थे
जिन्होंने अपनी हथेली पर नमक लगा रक्खा था
और वे कुत्ते हर बार उसे ही चाटकर लौट आते थे
शब्दावलियाँ बदल दी गईं
और वे खुश हो गए, गहरा परिवर्तन पा
पर उनकी समझ पर छींटे पड़े थे

सारे अनाज को बड़े पैमाने पर खरीद
कील कर दिया गया
और शोर कर दिया गया
कि पूरे प्रदेश में सूखा पड़ा है
छोटे-छोटे लड़के चौपाल में बैठे किस्से सुन रहे थे
और कुछ बाप-दादे बतला रहे थे—
गाँव के बीचोंबीच एक नहर खुदेगी और तुम···
अपनी-अपनी डोंगियाँ तैरा सकोगे
कुएँ तालाब जैसे होंगे
जिसमें भैंसें नहायेंगी
गढ़ों में मछलियाँ होंगी
मनमानी झख मारोगे।
लेकिन उनकी अपनी भाषा कहाँ थी ?
अँधेरी गुहा में वे दूर-दूर तक भटकते रहे थे और
हर बार गूँगी दीवारों से पूछते रहे थे
अनगिनत प्रश्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवारा-दोबारा
फिर भी उन्हें लौटती आवाज़ों से अनुत्तरित ही रह
जाना पड़ा था।
शब्दों में
उँगलियाँ नहीं धँसती
सख़्त —काँच की तरह पारदर्शी
नदी बहती जा रही थी गहरी
जिसे देखते-देखते सुबह हो गयी।
अब—प्रतीक्षित जगह पर ढेर सारे कौए उतर
आये थे
…पर ये कहाँ जायेंगे ?
उनके नकली घोंसलों पर नाक लगाये बिल्लियाँ
बैठी होंगी
और सुरक्षित मीनार डालों पर टँगी होंगी
लेकिन—
उनके घोंसलों तक कोई गुफावासी नहीं जा सकेगा
और उनसे बिना पूछे जादुई लकड़ी नहीं ला सकेगा।

लम्बे चौड़े प्रस्ताव…और
फिर लौटा लिये गए
ऐसा कभी नहीं हुआ कि सारे रिश्ते मंजूर कर
लिये गए।
एक लम्बी कतार खड़ी कर दी गई
पीपा पुल से पानी निकालने के लिए
अब… … …?
वे अपनी परछाइयाँ देखकर खुश हो रहे थे
चिलम पी रहे थे क्योंकि यह सब आयातित था

उनके लिए सब मनु एक ही संतान से पैदा हुए थे
जिनकी नावें हिमालय नहीं, चंबल की घाटी में
लगी थीं

और वे सब सिर के बल उतारे गये थे

सुना जाता है वे सब, राजधानी की ओर लौट गए थे
और लौटती बार सभाओं में बोले थे—
हमसे कुछ, जनता से कुछ, संसद से कुछ
गोया वे बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्तित्व थे
जिसके भीतर हीनता-ग्रन्थि न थी।
लेकिन सारे संघर्षों के बावजूद उनका भविष्य
ग़रीब बच्चों की तरह था।
कभी-कभी—सोचते-सोचते वे
देखने लगते
दि…वा…स्व…प्न
गिर रही हैं
सीलन बढ़ जाने से
दीवारें, आमने-सामने की।
रोशनी बहने लगी है
सूरज डूबता जा रहा है
हवा आ रही है ठंढी, जैसा सुन रक्खा था
उन्होंने अपनी कथाओं में

ऊपर छत नहीं होगी
आसमान के छाते में खड़े
किस तरह देखेंगे
ताड़ के लम्बे वृक्ष
मोठे फल की झाड़ियाँ, बड़-पीपल।
यह एक आश्चर्य है कि उसके नीचे
एक साथ खड़े हो लेते हैं—
सैकड़ों लोग—और
ऊपर ताकने पर पत्तों के सिवा
और कुछ नहीं देख सकते

पर वे ज़रा हटकर खुले में रहेंगे खड़े
देखेंगे—आसमान
जिसके ढेर सारे पर्यायवाची नाम
छापे गये हैं कोश में
क्या सही हैं ?
सितारे चमकेंगे—
और आपस में घुल-मिलकर बातें कर लेने के बाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

सो जायेंगे चौपाल से लौटे हुए आदमी की तरह
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

याद्‌दाश्त ठीक नहीं—
सुना है—
रात-भर एक ही तरह की सूरत रख
सुबह ऊब से बचने के लिए मेकअप बदल लेते हैं
तब उन्हें पहचाना नहीं जा सकता।
हवाएँ तेज़ बहती हैं
आदमी के बाल खड़े हो जाते हैं
उड़ने लगते हैं फरफराते हुए
कितना मज़ा आता होगा ?
केवल आदमी नहीं उड़ता।
रोशनी हुआ करती है सड़कों पर
चाहे कोई चले या नहीं
और बल्ब रास्ते-भर अपनी आदत बिखेरते हैं।

देखेंगे नमक के, पहाड़
घुलकर नमकीन शर्बत बन जाते होंगे ?
खदानों में काम करते आदमी
कोयले, अबरक, शीशे—ढेर-के-ढेर।

सुना है—
होती हैं वहाँ—
पाप की मुद्राएँ अलग-थलग
डरते हैं आदमी लगातार
कहते———हैं,
'बचने के लिए जूते बदल लो'
सब-कुछ अतीत है
और वे चाहते हैं वर्त्तमान से अधिक भविष्य
    कोरे अखबारी।
आखिर हमें ही क्यों वंचित रक्खा गया ?

छपा था
ऊपर लोग कोई लम्बा सौदा तय कर रहे हैं
वे नहीं चाहते, बाधक बने कोई

मुट्ठियाँ निर्णय से कसने लगी थीं
और वे फाड़ने लगे थे पोस्टर
पूर्वजों के जहाँ कभी भी थे।
यह कैसी भाषा थी—
जिसे ज़ुबान से नहीं व्यक्त किया जा सकता
केवल हाथ ही संकेत—
परम्परा और स्वीकार के नाम पर—
    एक थूक।
दीवार भरने लगी गोटियों की तरह
और देखते-देखते तलघर दीवारों पर
    चेचक निकल आये।

कोई पिता नहीं
सब—केवल आदमी
औरतें, बच्चे······;
बीच की स्थिति इनके लिए असह्य थी
श्रेणियों में बँटे हुए लोग ?
    छोटे-बड़े कुछ नहीं—
क़द उनके लिए जन्मजात पूँजी थी
डर का आभास भी खुद से
उल्लंघित नहीं थी अँधेरी व्यवस्था
उनकी बाढ़—
फैली थी ऊपर
जड़-शाखा—टहनी-पत्तियों की तरह
कुछ भी भटकने नहीं पाता—
और नीचे सम्बन्ध
बने रहते थे यथावत
बिना टूटे-काँच के खिलौनों की तरह।

आबादी बढ़ती जा रही थी
फैलती जा रही थीं गंदमी-सड़ांध—
नाक पर रूमाल लगाये घूमते थे निवासी इधर-उधर
छपती सारी खबरें
    य···था···व···त
बढ़ती थी उत्तेजना—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

आ । त्म । बो । ध । खुद को जानने सुनने
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
जिज्ञासा भविष्य की एक साथ जन्म लेती
    भीतर-ही-भीतर

छप रहा था—इतिहास-चक्र
निरर्थक—
अनायास—
अपनी गति से (वर्तमान) पाठ्यक्रम की तरह

एक शाम इकट्ठे होने लगे सारे लोग अपने नियत
    समय पर
फैलने लगी भभक पसीने की
लथपथ, निर्णय स्वीकार
बिना किसी बहस-मुबाहसे के
'नहीं तलघर स्वीकार'
रोशनी वापस मिले जिसे सुना अपने पूर्वजों से

देखने लगे ऊपर के प्रतिनिधि
सूराखों से,
यह भाषा, कैसे जन्म ले गयी ?
डालेंगे ख़तरे में वर्तमान
आख़िर उन सम्बन्धों का क्या होगा
जो अब तक हमने बनाये
और रखते रहे इन्हीं के लिए गद्दियाँ-फिर गद्दियाँ
तह-की-तह आराम के लिए।

यह उत्तेजना ?
इसका दबाव ख़ाली कर देगा इन्हें
नियति शताब्दी की सोचने की भाषा—
    ठंडी है

एक प्रस्ताव आया
आ···श्वा···स···न
दूसरा प्रस्ताव—
तीसरा—

फिर···चौथा
'.........'

एक लम्बी तलाश के बाद
इनकी भाषा दृढ थी
    '............'
    '............'

चाहिए उन्हें अपने शब्द हक······।
    बदली व्यवस्था
जिससे वे अपने वर्तमान
    लौटा सकें—
गढ़ सकें आदमक़द, अपनी शक्लें

देख सकें पूर्वजों के देश—
जड़ें कितनी गहरी हैं।

अब तो प्रायः हर दोपहर ऐसा होता, कि
सभी लोग जगत पर धीरे-धीरे जाते और
अपने-अपने साँपों को छोड़कर
चुपके से लौट आते उस गोल खम्भों वाले नगर में
कोई किसी से कुछ भी नहीं बोलता
शब्द कहीं खाये हुए

हर तरफ़ हरियाली—बर्फ़—ऊँचाइयाँ
० लेकिन अब तो—
इस सन्नाटे में पहाड़ उगाने होंगे
झरने बनाने होंगे ताकि इन साँपों को
वक़्त-बेवक्त
तैरना सिखाया जा सके

प्रस्ताव फिर आने लगे—
    '.........'
    '...............'
'.................'

लोग चिल्लाने लगे—य । ह । ग । ल । त
य । ह स । ब ग । ल । त है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाता जाने लगा गोल खभों वाला भवन
बीच की भाषा खो गयी
सारा कुछ हिलता—; अनस्थिर मुद्राएँ
पहचान की भाषा खो गयी ।

हर तरफ़ विस्मय
तारकोल, लम्बी सड़क
बढ़ते अनगिनत पैर

टूत
ट ल
ता घ
र

—गे, आगे, फिर और आगे
और ये नारे सहित एक निश्चय के साथ ही
जनम गए ।

अब
इस द्वीप में
बहती है मीठे जल
—की
फंतासी नदी ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युवा पीढ़ी : आहत होते जाने और किए जाने की प्रतिषिद्ध जिजीविषा का नामांकन

हृषीकेश

युवा पीढ़ी—एक ऐसा भाववाचक, अनुभव-समर्थित वायवी नाम, जिससे एक ही साथ कई बोध जुड़ जाते हैं; उसके बहुत-कुछ होने की छितरायी समग्रता का—अत्यन्त तेजोमय, इमैक्यूलेट, स्थितप्रज्ञ, प्रत्यक्षतः हैपी-गो-लकी, मेधावी, अन्वेषी, सावधान, प्रभामण्डित, स्फुरणशील, कल्पनाग्रस्त, अनौपचारिक, कुपित, अस्वस्थ, पिशुन, प्रमादी, मोनोलिथ, आश्वस्तिभीरु, रिज़रेक्शनिस्ट, अवसन्न, मिसिफ़िट, रेक्लूज़िव, निःसत्व, डिस्मल, दुर्विनीत, पराङ्‌मुख एवं निश्चय ही बेहद टर्बुलेण्ट। बेहिसाब निर्दोष, कृत्रिम और आदिम। और भी नाम दिए जा सकते हैं, किन्तु उन्हें अभी दिए जा चुके नामों की शरण में तलाश लिया जा सकता है। ऐसे सारे शब्द, जो कोई-न-कोई नाम देते हैं, अब केवल स्थिर नामों के स्थिर शब्द नहीं रह गए हैं, क्योंकि अब हर शब्द एक व्यापक स्थिति है और इस तरह हर शब्द जीवन की अन्तर्भूत करुणा का प्रखर अनुभव भी है। पूर्ववर्ती पीढ़ी 'मूल्य', 'चेतना', 'दायित्व' जैसे तमाम शब्दों को उपदेशित करती थी, युवा पीढ़ी ने ऐसे सारे शब्दों से विदककर उनकी व्यंजित स्थितियों की अन्तर्भूत करुणा से निस्संग साक्षात्कार किया है। 'अभाव', 'भूख', 'बेकारी', 'यौनकुण्ठा' इत्यादि की अच्छी-से-अच्छी परिभाषाएँ पूर्ववर्ती पीढ़ी के पास मौजूद हैं, युवा पीढ़ी के सामने इन शब्दों की स्थितियों की ध्वन्यात्मकता की ग्रहणशीलता का अनुभव संसार है। इस संसार में रहने आकर युवा पीढ़ी ने गँवाना अपनाया है और बहुत क्रूर और मानवेतर होते जाना उसे प्रिय लगता गया है।

एक वर्ष पहले प्रकाशित 'विकल्प' अर्धवार्षिक के प्रवेशांक के अपने निबन्ध में मैंने युवा या नयी पीढ़ी को स्पष्टतया पहचानने और उसके व्यथाधर्म को अनुसूचित करने का प्रयास किया था तथा 'संभावना' के प्रवेशांक में युवा पीढ़ी के यंत्रणाओं में घिरे होने पर भी विचार दे चुका हूँ। इन स्थापनाओं को अपनाते हुए 'अनास्था' के एक अंक में बहुत ठेठ बयान आ चुका है जिसका उल्लेख 'आलोचना' के पूर्णांक ४१ के सम्पादकीय में है तथा अन्य बहसों में भी। मुझे लगता है कि मेरी बातें युवा पीढ़ी को कहीं केवल आदर्शवादी न लगती हों, और यदि ऐसा है तो किसी 'संवाद' की अपेक्षा हो नहीं सकती। किसने कब 'संवाद' चाहा और किसने कब 'संवाद' को व्यर्थ बनाया यह इस बात से कतई सम्बन्ध नहीं रखता कि 'संवाद' का वातावरण तनावों की स्थितियों से मुक्त था या नहीं। इससे यही सिद्ध हो सकता है कि अपने-अपने मौकों पर युवा पीढ़ी और उसकी प्रतिस्पर्धी पीढ़ी, दोनों ने एक खास किस्म का निकम्मा 'ऐडवेंचर' किया और खुश करने की नौबत पर उतरना पड़ा। सही बात इतनी है कि जब दोनों ही 'संवाद' की ज़रूरत पाएँ तभी 'संवाद' की प्रक्रिया संभव है। इस स्वीकारोक्ति के साथ मैं यह कहने की स्थिति में हूँ कि काल के एक और आयाम का स्वामित्व चाहता होऊँ तो मेरे लिए इसकी चरितार्थता ही ग़लत है, क्योंकि ग़ुलाम देश में पैदा होकर भी मैं युवा पीढ़ी से अलग तो नहीं हूँ। विशेष स्थिति मेरी यही हो सकती है कि अपनी ही पीढ़ी से और अपनी ही पीढ़ी में 'संवाद' न करा पाने की मेरी असफलता युवा पीढ़ी को उन नामों के देने के कारण ही होगी जिनके उल्लेख से इस निबन्ध की शुरुआत की गई है। मैं गम्भीरता से महसूस करता रहा हूँ कि युवा पीढ़ी का संवाद-सूत्र न केवल अपने पूर्ववर्तियों या बिचली पीढ़ी से टूटा नज़र आता है वरन यह भी कि खुद युवा पीढ़ी में अपने संवाद-सूत्रों की आत्मीय-भावना नहीं है। यह बात चाहे अनुभव कर ली जाती हो कि 'निराला' या मुक्तिबोध या इसी अभिप्राय के लिए और भी कुछ नामों से युवा पीढ़ी का 'संवाद' रहा है, पर सच यह है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि यह तथ्य केवल, उत्तम कोटि का एक तर्क ही है। इस स्थापना की संगति तर्कसिद्धता में नहीं है, क्योंकि क्या यह हकीकत नहीं है कि 'निराला' या मुक्तिबोध जैसे नामों से युवा पीढ़ी के संवाद-सूत्र को स्वीकार करने के पीछे यह अपरिहार्यता नहीं है कि युवा पीढ़ी अपनी जिन विशिष्टताओं, गुणों, साहसिकताओं, आहत होते जाने और किए जाने की गहराइयों को बहुत रोमांटिकता की सीमा पर सगर्व अपनी मौलिकता बताती है वह उसमें 'निराला', मुक्तिबोध को अपने से कई बालिश्त ऊपर अधिक सहज, अप्रतिहत और दबंग पाती है और यह भी कि संवाद-सूत्र मानने में युवा पीढ़ी के पास यह मानने के सिवा विकल्प-भाव नहीं है कि 'निराला', मुक्तिबोध का बहुत ओजस्वी कुछ उसमें तो है, उसका अपना ज़्यादा कुछ फ़ोहश 'निराला', मुक्तिबोध में नहीं था। उन्हीं की पीढ़ी में उन अन्यान्य लोगों से युवा पीढ़ी का 'संवाद' नहीं हो सकता जो संवाद-बोध के मामले में अजीवाणुक रहे—'संवाद' की बेचैनी के अहसास के प्रति पूर्णतः अपरितप्त।

युवा पीढ़ी के साथ 'संवाद' की स्थिति के न होने की संभावना के बारे में यह बात सही है कि उसकी गहरी उपेक्षा की गई, किन्तु यह कारण भी है कि 'संवाद' के लिए इच्छुक होने की सक्षमता युवा पीढ़ी में नहीं रही। युवा पीढ़ी में 'संवाद' कराने की इच्छा का मुखर होना उसके प्रति बरते गए उपेक्षा-भाव का पछतावा नहीं है, बल्कि अक्षमताओं के घेराव में युवा पीढ़ी का समर्पणशील हो जाना, भविष्य की संभावनाओं के प्रति अपनी अदूरदर्शिता की याद ताज़ा करना है। युवा पीढ़ी पहले जब 'संवाद' चाहती थी (क्या वह यही युवा पीढ़ी थी ? कहीं बिचली पीढ़ी से आशय तो नहीं है !) तब उपेक्षा हुई (यानी बिचली पीढ़ी की, या बिचली पीढ़ी की भी, उपेक्षा हुई), अब जब संवाद चाहा जा रहा है तब युवा पीढ़ी इच्छुक नहीं है (युवा पीढ़ी क्या कभी इच्छुक रही); यह स्थिति इतनी रूढ हो चुकी है कि उसे तोड़ने का सवाल है—और सारे सवाल अपने-आपसे हैं—यह सब केवल तर्कनिष्ठ नीतिभाव हैं। शायद सवाल इस बात को लेकर ही हो सकता है कि 'संवाद' कराने की शर्तें किसकी हों—युवा पीढ़ी की शर्तों पर 'संवाद' चले या बिचली पीढ़ी समेत सभी पूर्ववर्तियों की शर्तों पर। हमारे जनतंत्र की सारी शर्तें हमारे पूर्ववर्तियों की हैं, यहाँ तक कि जनतांत्रिकता खण्डित कर डालने तक का जनतंत्र चाहने की शर्तें भी, और इन शर्तों की रक्षा की चिन्ता लेकर 'संवाद' की स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती। युवा पीढ़ी की बहुत बुनियादी शर्त यह हो सकती है कि न केवल पूर्ववर्ती पीढ़ी अपनी शर्तों की स्वार्थन्यस्तता ढीली करे वरन् शर्तों की स्थिति से मुक्त भी हो। यह आसान बात नहीं मानी जा सकती। 'संवाद' की स्थिति उत्पन्न करने की पहल में भी दख़ल बनाने की अवसरवादिता घोर संक्रमण की स्थिति कायम रख सकती है। कहना न होगा कि जिसे हम युवा पीढ़ी के प्रति अपनी उपेक्षा या उस उपेक्षा के समय में युवा पीढ़ी का 'संवाद' के लिए इच्छुक होना तथा अब 'संवाद' के लिए अपनी इच्छा का जगना किन्तु तब तक युवा पीढ़ी का 'संवाद' चाहने से विरत हो जाना कहते हैं, वह मूलतः इतना है कि पहले युवा पीढ़ी की अपनी शर्तों पर 'संवाद' कराने की उम्मीद (बहुत ईमानदार और वाजिब उम्मीद) को हमने अपनी शर्तों पर झुकाने के प्रयास द्वारा निरर्थक बनाया और अब यदि हम 'संवाद' के लिए युवा पीढ़ी की शर्तों पर शुरूआत करने को तत्पर होने लगते हैं तो भी उनकी शर्तों की परिणति अपनी शर्तों के अखण्ड विस्तार में ही चाहते हैं—और यथास्थिति बनाए रखने का यह भाव युवा पीढ़ी के लिए शंका, अविश्वास, परायापन और क्षोभ मानने की बात हो गई है। यह केवल एक प्रासंगिक बात है कि इन दिनों एक कोई विप्र गोस्वामी नामक महाशय होने लगे हैं जिन्होंने 'संवाद' साबित कर डाला है।

युवा पीढ़ी विसंगतियों की मार खा रही है यह सन्देह की बात नहीं है और इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि युवा पीढ़ी ने अपने समूचे निर्माण-क्रम या विकास-प्रक्रिया को स्वभावहीन और स्थापनाच्युत बनाया है, किन्तु इस बनाए जाने के पीछे पूर्ववर्ती पीढ़ी का वह तमाम स्वच्छन्द, निर्विघ्न अवसरवाद है जिसके संस्कार में मध्यकालीन मूल्यबोधों के परवर्ती निषेधों का गहरा जमाव है। ऐसे ही निषेधों से मुक्त होते जाने के क्रम में युवा पीढ़ी को अपने पूर्ववर्तियों से 'संवाद' की संभावनाओं से मुक्त होते जाना भी सुलभ हुआ है।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद, मध्यकालीन मूल्यबोधों के परवर्ती निषेधों के गहरे जमाव के संस्कार में ग्रस्त हमारी पूर्ववर्ती या अभिभावक पीढ़ी को युद्धोत्तर विवशताओं की जिन जवाबदेहियों के गुज़रने की भारी मानसिक यंत्रणा का चाप सहना पड़ा, उसने उसे विवेक देने के बजाय निकट रूप से पराजयबोध दिया और इस पराजयबोध को दूसरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह कहें तो वह उस पीढ़ी का नितान्त आत्मकेन्द्रित और निरन्तर अनुपस्थित होते जाने का क्रूर आभास था। व्यक्तिगत जीवन, पेशेवर जीवन, अलग-अलग समूहों के विभिन्न जीवन और अन्ततः बहुत प्रकट एक मान्य सामाजिक जीवन को अवसर और सुविधा के मुताबिक जीते हुए दोहरी-तिहरी ज़िन्दगी जीने की संभावनाएँ खत्म होती नज़र आने लगीं। उसी पीढ़ी के माध्यम से यह उन संस्कारों के अन्त की सूचना थी जिसमें मनुष्य के आपसी रिश्तों के नामों, कामों, निर्वाहों, अपेक्षित बन्दिशों का लोकमत निर्धारित था और ऐसे निर्धारण की ऐतिहासिक आवश्यकताओं में साम्राज्यवाद, गुलामी, के तई तर्कातीत विनयशील विवशता, प्रश्नरहित आज्ञाकारिता, आत्मप्रतिष्ठाशून्य अनुशासनप्रियता, निजत्वहीन अनुमोदनप्रियता तथा सर्वथा आरोपित मर्यादावाद की बदबू थी। प्रत्येक व्यक्ति की एक ही साथ दो नैतिकताएँ होती थीं, नैतिक मर्यादा पोषित जीवनाचार मनवाने की तथा खुद ढोने की। आज जिसे युवा पीढ़ी पूर्ववर्तियों की बुज़दिली, ढोंग, कृत्रिमता, कपट तथा अपने लिए स्पष्टवादिता, साहसिकता, वस्तुपरकता और अनौपचारिकता कहती है वह और कुछ नहीं, केवल पूर्ववर्ती पीढ़ी का व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन का विरोधाभास बनाये रखने और उसका अपने द्वारा इन्कार जताने का आग्रह है। पूर्ववर्ती पीढ़ी के लिए व्यक्तिगत जीवन की कोई सामाजिक मान्यता स्वीकारना संभव था ही नहीं और इस जीवन को वह पीढ़ी बहुत ऐकान्तिक बनाकर जितनी स्वच्छन्दता से जीती थी उतनी ही युवा पीढ़ी ने यह जताया है कि यदि कोई जीवन-शैली छिपाकर बरती जाती है तो क्यों न उसे आधुनिक जीवन की एक प्रक्रिया मानकर स्वीकार कर लिया जाय। ऐयाशी कर आने, रिश्वत ले चुकने, ऊँची पहुँच का फ़ायदा उठा चुकने, सेक्सीय परवर्शन निभा आने के बाद निरामिष आस्वाद में उद्घोषणाएँ करने की कौन-सी मानवीयता हो सकती है! युवा पीढ़ी ने पिता और पत्नी दोनों के प्रति समान वितृष्णाएँ ज़ाहिर की हैं और पिता के माध्यम से उसने समूचे अभिभावक वर्ग की साम्राज्यवादिता और पत्नी के माध्यम से गुलामी को उसने नकारा है। अभिभावक-वर्ग की निरंकुश स्वार्थन्यस्तता और पत्नी-भाव की अर्थहीन और अमानवीय समर्पणशीलता दोनों ही में उसे निरी कायरता, धोखा और पुंसत्वहीनता नज़र आई है। यही कारण है कि अभिभावकीय दुराग्रहों से युवा पीढ़ी जेहाद बोलती है और समर्पणशील नारी से यह ऊबती-उकताती है, क्योंकि अपनी-अपनी जगह दोनों ही स्थितियाँ उसे मजबूरी अपनाने की नियति जान पड़ती हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर दिया जाए कि अभिभावकत्व केवल पुरुषों के सन्दर्भ में या समर्पणशील नारी केवल नारी के सन्दर्भ में अभिप्रेत नहीं है और पीढ़ी के उल्लेख में दोनों ही व्यंजित होते हैं। युवा पीढ़ी सोचना-समझना सीखने की वय प्राप्त करते ही शिक्षा के उद्देश्य की निस्सारता, शिक्षा और रोज़ी-रोटी के पेशे के बीच विवादी अवहेलना, अभिभावकों-शिक्षकों-अधिकारियों-संस्थानों में व्याप्त कलुषता, विवाह के प्रति बरती जाने वाली दुनियादारी, विवाह की आवश्यकताओं और दाम्पत्य-जीवन की खिंची चली आ रही रुग्ण नियमितताओं, सन्तानोत्पत्ति के संदर्भ में साम्प्रतिक जीवन की दुराशाओं के माध्यम से उत्पन्न भयातुरता इत्यादि विभिन्न महत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर पूर्ववर्ती पीढ़ी की लकीर से दूर हटकर आत्मसाक्षात्कार के आधार पर व्याकुलता से ग़ौर करती है। समूचे जीवन में तिरस्कार की मुद्रा ने उसे कहीं बहुत आत्मनिर्भर हो जाने की स्वच्छन्दता दी है। पूर्ववर्ती पीढ़ी की देशभक्ति, आदर्शोन्मुखता, सदाचार, नैतिक अनुशासन और आचरणों की पाबन्दी का बयान उसने सुन या पढ़ रखा है तथा उस पीढ़ी की प्रत्यक्ष देन—घोर धाँधली, रिश्वत-प्रेम, सिफ़ारिशबाज़ी, अड़ंगेबाज़ी, स्वार्थान्धता, जालबट्टा, सभी प्रकार की भ्रष्टताओं में अदम्य विश्वास वगैरा को अपने ऊपर झेलते हुए पाती है कि समाज का सारा इतिहास झूठे और दंभी वक्तव्यों से भरा पड़ा है, जीवन एक अव्यक्त, मन्तव्यहीन और सारहीन अवसरवाद का नाम है जिसके प्रति किसी का कोई दायित्व मानना धोखा है। यह विचित्र बात है कि युवा पीढ़ी की ऐसी तीव्र और मौलिक प्रतिक्रिया को वाणी देने वाला, स्वयं पूर्ववर्ती पीढ़ी का विशिष्ट व्यक्तित्व है—सार्त्र। कहा जा सकता है कि सार्त्र ने अपने विवेक में युवा पीढ़ी की जो अगुआई की है उसमें उसके अप्रतिबद्ध होने वाले मंत्र को तो युवा पीढ़ी अपना नुस्खा समझकर ले उड़ी, किन्तु सार्त्र के अगले सन्देश—कि जीवन को हम प्रयोजन देते हैं—इसका युवा पीढ़ी ने मतलब लगाना ज़रूरी नहीं समझा। सार्त्र की सारी चिन्ता इस प्रयोजन को लेकर है और अप्रतिबद्धता से शुरुआत करने वाले सार्त्र का फ्रांस की विराट् देश-व्यापी उथल-पुथल में अगुआई करने जाना जीवन को प्रयोजन देने की प्रतिबद्धता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निभाना है। पता नहीं हमारे देश की युवा पीढ़ी सार्त्र के इस अत्यन्त अर्थपूर्ण अभियान से क्या पाती है जबकि यह मान ली गई बात है कि वह पूर्ण विद्रोह के मूड में है। ऊपरी तौर पर लग सकता है कि युवा पीढ़ी के विद्रोह का समवेत स्वर पूरी व्यवस्था के प्रति है, अतएव उसमें कोई आधारभूत प्रयोजन भी अवश्य निहित है। किन्तु सत्यता इस बात में है कि युवा पीढ़ी का विद्रोह बहुत निजी स्तरों पर है और अप्रतिबद्ध होने की छूट लेने के इरादे में उसका निजी स्तरों की सुविधाएँ चाहना स्पष्टतया आभासित होता है। युवा पीढ़ी का निजी स्तरों पर विद्रोह, सामाजिक स्तरों से उसके बहिष्कृत हो जाने के अनुभवों का प्रतिफल है। हमारे भारतीय संस्कार में जहाँ आज भी प्याज-लहसुन खाना वर्जित है, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की कठोर परिभाषाएँ हैं, तमाम दायित्वों की प्यूरिटनिक व्याख्याएँ हैं, पारिवारिक सम्बन्धों की आरोपित ज़िन्दगी है, उसे ध्यान में रखते हुए युवा पीढ़ी का मांस-मदिरा का सेवन करने लगना, सेक्सीय अभियान में मुक्त हो जाना, पत्नी को छोड़ देना या ऐसा सारा काम बहुत साहसिक लगता है और इसे वह विद्रोह जताती है। किन्तु इस तथाकथित विद्रोह में आत्मरति, गोपनीय पछतावा, यंत्रणा में स्खलित होते जाना और निरीह बनते जाना ज़्यादा है।

युवा पीढ़ी के बात करने के अन्दाज़ में विद्रोह का स्वर मुखर करने का शोर है—ऐसा शोर जो संभवतः पहले नहीं रहा। ऐसा नहीं जान पड़ता कि युवा पीढ़ी अपने विद्रोह के स्वर की भूमिका जानती है और अनजाने ही किसी आगामी प्रभावकारी विद्रोह की भूमिका युवा पीढ़ी से बन रही है। इसके प्रति उचित चैतन्यता भी शायद उसमें नहीं है। अतएव बहुत वस्तुनिष्ठ बनने के चाव में युवा पीढ़ी बहुत आदर्शवादी, एक हद तक काफ़ी निष्क्रिय और ईर्ष्या करते-करते झुक जाने की मनःस्थिति का शिकार है और पूर्ववर्ती पीढ़ी के ढोंग, अवसरवाद और बनावटीपन को खंडित करने के प्रयास में उसने अपना नया ढोंग, नया अवसरवाद और नया बनावटीपन पैदा कर लिया है। यही कारण है कि युवा पीढ़ी अत्याधुनिकता के पूरे मतलब से अनभिज्ञ होकर, अस्वीकार की मुद्रा में निरन्तर दयनीय बनकर बहुत ग़ैर-ज़िम्मेदार, बेहूदगीपसन्द, बेभरोसा, शुबहा का पात्र और संभावनाशून्य लगती है। असहिष्णुता, लंठई, दुराचार को विद्रोह से नहीं जोड़ा जा सकता जबकि युवा पीढ़ी ने दूसरों से महज़ महती अपेक्षाएँ रखते हुए स्वयं मूल्यजड़ता, बुद्धिहीनता और उत्तरदायित्वविमुखता से अपने को जोड़ा है—इसे ही मैं निजी स्तरों का विद्रोह कहता हूँ। जिन अभिभावकों की व्यवस्था के प्रति गुस्सा, हिक़ारत और लांछन का भाव युवा पीढ़ी के मन में है उसमें मूलतः विद्रोह की आग उतनी नहीं है जितनी निजी सहूलियतें चाहने की भीरु आकांक्षा है और यही कारण है कि मौकेवश निजी सहूलियतें प्राप्त होते ही तीव्र अमानवीयता, प्रतिक्रियावाद, दमनप्रियता और निश्चय ही अभिभावकीय व्यवस्था की कामगर मशीनरी का अंग बन जाने का सुख उसमें जग जाता है। मेरी व्यक्तिगत जानकारी के अनुसार, कई ऐसे युवा उत्साही, जो जन-आन्दोलनों में हिस्सा लेते-लेते प्रशासकीय पदों की उपलब्धि पर भी नज़र रखते थे, पदों पर आते ही गिरफ़्तारियाँ कराने, गोलियाँ चलवाने और जन-आन्दोलनों को तोड़ने की ब्रिटिश सरकार वाली तरकीबें बरतने लगने में अपने अभिभावकों से भी ज़्यादा प्रवीण हो गए। ध्यान रहे कि मैं यह कह आया हूँ कि पूर्ववर्तियों के ढोंग से चिढ़ने वाली युवा पीढ़ी में ही 'संवाद' कराने की आत्मीय भावना नहीं है, क्योंकि युवा पीढ़ी के मन में व्यवस्था के प्रति सचेष्ट विद्रोह नहीं है। केवल निजी स्तरों के असन्तोष के बाद निजी स्तरों की अपेक्षापूर्तियों का, विद्रोह की व्यापक अर्थवत्ता से कोई सरोकार नहीं। पिछले आम चुनाव व उसके पूर्व की देशव्यापी अव्यवस्थाओं को ध्यान में रखकर एक धारणा यह बनती है कि जनमानस में विस्फोटक स्थिति की सजगता है और सामान्यतः सर्वत्र व्यवस्था (बनाम कांग्रेस व्यवस्था) के प्रति विद्रोह का मूर्त स्वरूप उपस्थित है और चूँकि पिछला आम चुनाव मुख्यतः युवा पीढ़ी के मतदानों की शक्ति पर हारा और जीता गया, अतएव युवा पीढ़ी ने वामपंथ की तेजस्विता को पहचाना है। बताया जाता है कि विद्रोह की प्रखरता इसी पहचान में है। यदि यह सच है तो निश्चय ही अभिनन्दनीय और स्फूर्तिप्रद भी है। चुनाव-चिन्तन की शैली का सन्दर्भ त्यागकर सोचें तो एक सवाल यह है कि क्या कांग्रेस को अपदस्थ कर देने के मंसूबे में वामपंथ का बोध व्याप्त है। फ़िलहाल कांग्रेस एक राजनीतिक दल होने के साथ-साथ सत्ता और व्यवस्था का एक स्वरूप अवश्य है, किन्तु कांग्रेस का विकल्प स्वयं कांग्रेस से बहुत पीछे का, नीचे का, अतीत का और चुके हुए का प्रतिक्रियावाद भी हो सकता है और युवा पीढ़ी के मार्फ़त है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है—जैसा कि कई जगह देखने में आ रहा है । अतएव यह मानना ग़लत निर्णयों का आधार भी हो सकता है कि कांग्रेस-विरोध के नाम पर व्यवस्था-विरोध की जागरूकता वामपंथ के स्वीकार का मौलिक लहज़ा है, असलियत यह है कि पूरे देश में, कुत्सित प्रतिक्रियावाद और दक्षिण पंथ का ज़ोर प्रबल होता गया है जो घोर चिन्ता का विषय है और हमारा किसी भी तरह काम्प्लेसेण्ट मूड अख़्तियार कर लेना घातक हो सकता है ।

युवा पीढ़ी ने जिन बहुत सारे मूल्यों में अनास्था व्यक्त की है और अस्वीकार की मुद्रा में जिन मूल्यों का खण्डन किया है उनमें एक 'जनतन्त्र' भी है । यह 'जनतन्त्र' सचेत भाव से किसी मूल्य का बोध न रहकर कांग्रेस-प्रदत्त वर्तमान व्यवस्था है, अतः मूलतः व्यवस्था का विरोध होते-होते 'जनतन्त्र' का विरोध होता गया है और ऐसे विरोध के पीछे बहुत स्पष्टता के साथ 'राष्ट्रीय जनतंत्र' के इरादे काम में आते रहे हैं । कांग्रेस-प्रदत्त व्यवस्था का ही विरोध करने का विद्रोह लेकर, वामपंथ के स्वीकार की जागरूकता का भ्रम फैलाते हुए युवा पीढ़ी के माध्यम से उभरते हुए 'पेती-बूर्जुआ वामपंथ' ने 'राष्ट्रीय जनतंत्र' की भूमिका में 'बूर्जुआ जनतांत्रिक विद्रोह' की शक्ति के आधार पर 'बूर्जुआ जनतांत्रिक समाजवाद' की स्थापना करना अपना ध्येय बनाया है । इस देश में बारह प्रकार के समाजवाद मौजूद हैं, अतः वामपंथ स्वीकारने में सन्देह कहाँ है । समाजवाद क्या है और उसका वामपंथ किस तरह का है, यह जानते हुए भी वर्तमान व्यवस्था बनाम कांग्रेस व्यवस्था का विकल्प युवा पीढ़ी के मन में वह नहीं है जिसे विगत चुनावों के नतीजों के ठेठ आधार पर समझा जाता है । वास्तव में युवा पीढ़ी में वामपंथ-विरोध का सारा अकर्मण्यवाद, पैंतरेबाज़ियाँ, कपट और दुराग्रह मौजूद है और 'संवाद' की तत्परता से प्रेरित होकर युवा पीढ़ी का मात्र पक्ष-धर हो जाने के लिए इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता । अतः 'संवाद' का संकट पीढ़ियों के सन्दर्भ में नहीं है, मान्यताओं के सन्दर्भ में ही ज़्यादा है । युवा पीढ़ी व्यवस्था : बनाम कांग्रेस व्यवस्था के विरोध में जब आक्रोश व्यक्त करती है तो वह लहज़ा वामपंथ का अमूर्त आभास भले दे दे, उसी लहज़े को अगर प्रगतिशील लहज़ा या साम्यवादी लहज़ा बताया जाए तो युवा पीढ़ी को डर लगने लगता है, क्योंकि युवा पीढ़ी के मन में अपने काम आने वाले सारे स्तम्भों का आश्रय पाते रहने का घोर अवसरवाद विद्यमान है और इस अवसरवाद के नाते ही यह युवा पीढ़ी मंच पर व्यवस्था की खिलाफ़त करने, खुलेआम व्यवस्था को कोसने, किन्तु चुपके-से, छिपे-छिपे समझौतावादी, समर्पणवादी रुख़ अख़्तियार कर लेने की चतुराई का मूल्य पहचान गई है ।

पूर्ववर्ती पीढ़ी या बिचली पीढ़ी को निश्चय ही यह दीन-भाव और सेवकाई-भाव पसन्द आता होगा और उसे यह साफ़ मालूम है कि युवा पीढ़ी का सारा विद्रोह और आक्रोश-भाव निजी स्तरों की सुविधाएँ चाहने का है । यही कारण है कि युवा पीढ़ी घटिया स्तर की रचनाएँ छपवाने और शीघ्र ख्याति अर्जित कर लेने की जल्दबाज़ी का शिकार है और व्यवस्था-वादी सम्पादक विघटन, बदला, त्रास-जैसे भावों से प्रेरित होकर निरन्तर घटिया, प्रतिक्रियावादी, मानवद्रोही रचनाएँ छापकर सस्ते लेखन को प्रोत्साहन दे रहे हैं और प्रौढ़, गम्भीर तथा टिकाऊ लेखन का प्रतिनिधित्व नहीं हो पा रहा है । युवा-पीढ़ी की स्वाभाविक, उर्वर प्रतिभा को मरोड़ देने का यह जघन्य अपराध उस पूर्ववर्ती या बिचली पीढ़ी द्वारा हो रहा है जिनमें स्वयं 'संवाद' अवरुद्ध है—ठीक वैसे ही जैसे युवा-पीढ़ी का अपना कोई 'संवाद'-स्तर नहीं है । और युवा पीढ़ी को मंजूर है कि उसे निजी स्तरों की सुविधाओं की पूर्ति अवश्य मिले । उसे जब अवहेलित होते जाने, निरादृत होते जाने की शिकायत है और यह भी शिकायत है कि अपराजेय विवशताओं में जन्म लेकर उसे ही भोगने की नियति भी उसकी ही है, तब यह क्यों सम्भव हो रहा है कि अपनी प्रति-स्पर्धी पीढ़ी के 'दबावों' को वह झेलने का साहस नहीं रखती । युवा-पीढ़ी का यह बयान सर्वथा झूठ और बकवास है कि वह दोनों तरफ़ से पिट रही है । 'दोनों तरफ़' से क्या आशय है ? क्या 'युवा पीढ़ी' के बाद भी कोई पीढ़ी है ? पिटने की बात तो एक ही तरफ़ से सम्भव है—पूर्ववर्ती या बिचली पीढ़ी की तरफ़ से—और यह पिटना, युवा पीढ़ी के मज़े की चीज़ भी रही है । दूसरी तरफ़ से पिटना अगर सम्भव है तो वह मेरे विचार से युवा पीढ़ी का अपनी तरफ़ से ही पिटना है । मुझे खूब पता है युवा पीढ़ी को जिस तरफ़ से निरन्तर पिटना पड़ा है उसी तरफ़ उसकी चापलूसी का भाव भी बढ़ा है, दयापात्रता और कृपापात्रता का निवेदन मुखर हुआ है ।

'द्वन्द्व दो दुनिया का है, दो विरोधी मूल्यों का है । इस विरोध में भी संवाद सम्भव है यदि दोनों पक्ष अपने-अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजनबी न हों', 'इतिहास से बाहर लाने की चेष्टा अटवद्दा-कर उन्हें (युवा पीढ़ी) आदिमपन में ला छोड़ती है', 'यह पीढ़ी इसी इतिहास की रौंदी हुई भग्नावशेष है', 'युवा पीढ़ी का विद्रोह विकल्प वाली व्यवस्था से ज़्यादा गहरा नहीं है और व्यवस्था के प्रति गुस्सा अस्पष्ट है', जैसे बहुत सारे कथन युवा पीढ़ी के लिए बहुत सही उतरते हैं और इस जानकारी के आधार पर ही उसे चिकनी सतहों के बहते आन्दोलनों का ऐयाश प्रेत साबित कर उसका कचूमर ढीला करने की साज़िशें रची गईं। उपलब्ध जीवन की यथास्थिति को ही जीने, उसे तोड़ने-बदलने या बढ़ाने से मुकरकर भाग खड़े होने तथा केवल अभिव्यक्ति के स्तर पर भाषा के माध्यम से जीवन के अर्थों में नई व्यंजना लाने का विरोधाभास युवा-पीढ़ी की गहरी विसंगति है। युवा पीढ़ी अपनी शक्ति न पहचान पा रही है न विसंगति तोड़ने की मुद्रा उसके पास दीखती है। वह अनेक ग़लतफ़हमियों में जकड़ती जा रही है। 'दोनों तरफ़ से पिटने', 'दोनों तरफ़ से हमलों का शिकार होने', 'किसी से प्रतिबद्ध न होने', 'प्रतिबद्धता में अपराधवृत्ति पाने' जैसे कपोलकल्पित जुमलों में युवा पीढ़ी की क्रिमिनल नेग्लिजैंस का सारा स्वाद मौजूद है और उसे अज्ञान ने इस क़दर घेर रखा है कि उसे यह भी समझना नहीं आता कि बिना प्रतिबद्ध हुए विद्रोह की बात कहना परले सिरे की मूर्खता है तथा अपने आन्तरिक संघर्ष से ही प्रतिबद्ध होकर विद्रोह नहीं उपजता, आत्महन्ता की स्थिति उपजती है।

मैं यहीं यह कहना आवश्यक समझता हूँ कि संवादहीनता की स्थिति पीढ़ियों का संघर्ष नहीं है, वह केवल विचारों का संघर्ष है—ऐसा इसलिए कि, युवा-पीढ़ी में पूर्ववर्तियों के विचार वाले भी हैं तथा एक ही पीढ़ी में विचारों का बेहद तीव्र संघर्ष है। अतएव 'संवाद' की सम्भावना के लिए विचारों की समानता या समानान्तरता या निकटतम ऐक्य की सम्भावना उत्पन्न करना ही आवश्यक है। युवा-पीढ़ी में रचनात्मकता के प्रति स्तरोन्मुखता का चाव उतना नहीं है, जितना निजी जीवन में व्यवहार-विचार-आचरण-रहन-सहन की पहनी हुई असामान्यता के प्रचार के चाव के प्रति है। 'निराला' एकमात्र ऐसे कलाकार थे जिन्होंने जीवन-भर यातनाएँ झेलने का पौरुष रखा, जो व्यक्तिगत जीवन में अधिकतम रूप से असामान्य व्यवहार-विचार-आचरण-रहन-सहन वाले थे, किन्तु उन्होंने इसी के माध्यम से अपने रचना-स्तर को प्रचारित कर उठाने का प्रयास नहीं किया। राजकमल चौधरी ने अपने औसत लेखन-स्तर को अपनी बनावटी असामान्यताओं के प्रचार-बल पर उठाते रहने का नाटक बराबर किया और युवा पीढ़ी के औसत-दिमाग़ लोगों को अनुगामी बनाया। सच तो यह है कि मादक द्रव्यों के सेवन करने, व्यभिचारी और अनैतिक जीवन जीने, बीवी-बच्चों से निस्संग होकर रहने, तलाक़ देने, दग़ा करने, साधारण, सस्ते मामूली मामलों में भी झूठ ही बोलने के तमाम अनुभवों की अपनी स्वाभाविक स्थितियाँ होती हैं, किन्तु शौक के लिए अपने संस्कारी नैतिक साहसों के विपरीत ऐसे कार्यों के किए जाने और अन्ततोगत्वा यंत्रणा, पछतावा और कर्मविमुखता में टूटते जाने का कोई मूल्य नहीं हो सकता। चाहे जो हों, उन्हें यह पता नहीं है कि पछतावे से दबते जाने के काम का विद्रोह से वास्ता नहीं होता। आज युवा पीढ़ी में बेशुमार ऐसे लेखक हैं जो अस्पष्ट प्रसंगों में व्यवस्था-विरोध का निराधार वामपंथी स्वर मुखरित कर सरासर धोखा खड़ा करते हैं, सेक्स की आत्मरतिजनित प्रस्तावनाएँ अन्वेषित करते हैं, पर ढोंग करते हैं कि वे स्वस्थ मन से वामपंथी हैं और इस बात के लिए तत्पर हैं कि सारा कलमष छँट जाए। युवा पीढ़ी अपनी बुज़दिली में इतनी चतुर होती गई है कि उसे यह मंजूर है कि उसकी रचना को सभी तबकों में पसन्द कराने के स्वाँग साधने ज़रूरी हैं और बिल्कुल प्रगतिशील तथा प्रतिगामी तबकों में एक ही रचना का समान रूप से पसन्द कर लिया जाना पूर्ववर्ती या बिचली पीढ़ी का शैतानी इरादा तो है ही, उच्छिष्ट रचनाओं द्वारा सही लेखन का ढँकते जाना भी है। ऐसी राजनीतिक बेईमानी के दौर में 'संवाद' की क्या सचमुच ज़रूरत है? क्या यह सच नहीं है कि पूर्ववर्ती पीढ़ी के पास 'संवाद' का संसार नहीं है और अपने संसार में युवा पीढ़ी को 'संवाद' की कतई ज़रूरत नहीं है? ज़ाहिर है कि 'संवाद' के लिए शर्तों का आधार आड़े आ जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिक्लोश रॉद्नोति की दो कविताएँ

अनुवादक : गिरधर राठी

मिक्लोश रॉद्नोति (१९०९-१९४४) : जन्म से यहूदी, यूरोपीय काव्य के मर्मज्ञ, युद्ध-कालीन मॉजॉर कविता के प्रमुखतम स्वर। लम्बे अरसे तक यातना-शिविरों में, फिर ग्रैग्रीन लिए नंगे पैरों हंगरी के देहातों में ज़बर्दस्ती चलाए जाते हुए—एक जर्मन एस० एस० सैनिक की गोली से मौत। क़ब्र में मिली नोट-बुक में उनकी कविता का उत्कृष्टतम रूप सामने आया।

: १ :

भले ही मैं न जानूँ

भले ही मैं यह न जानूँ
कि किसी और के लिए यह वसुन्धरा क्या मानी
रखती है,
मेरे तईं, यह मेरी जन्म-भूमि है, यह छोटा-सा देश
लपटों के आग़ोश में, मेरे बचपन का संसार डोलता
हुआ दूर
मैं उगा हूँ इसमें से, जैसे तने से एक पतली डाल
और मुझे उम्मीद है कि मेरी देह धँसेगी इसी ज़मीन में
मैं अपने घर हूँ। और जब-कभी कोई झाड़ी
झुक आती है घुटनों के बल मेरे पैरों में, मैं जानता
होता हूँ
उसका नाम और उसका फूल भी,
मैं जानता हूँ कि कहाँ और कौन टहलते हैं सड़क पर
और मैं जानता हूँ कि सई-साँझ गर्मी में
मकानों की दीवारों पर रिसते हुए बैंजनी-रँगी दर्द
का मतलब क्या हो सकता है।

उसके लिए, जो इस पर से उड़ता है जहाज़ में, यह
वसुन्धरा
महज़ एक नक़्शा है, वह नहीं जानता
कि यहाँ मिहाइ वोराश्मार्ति कहाँ रहता था :
क्या छुपाये हुए है यह नक़्शा उसके लिए ? कारख़ाने
और भयावह सैन्यागार,
लेकिन घसियारे मेरे लिए, और बैल और बुर्ज और
मृदुल खेत-खलियान ;

वह देखता है दूरबीन से कारख़ाने और क्यारियाँ,
जबकि मैं देखता हूँ मेहनतकश भी, जो थरथराता है
अपने काम के लिए (उसकी नियति के प्रति
चिन्तातुर),
मैं देखता हूँ जंगल और सीटी मारते फलोद्यान,
अंगूर के खेत
और क़ब्रें
और क़ब्रों में दादियाँ, रोती हुई नीरव,

और ऊपर ऊँचे से जो प्रतीत होती है रेल या
कारख़ाना ध्वस्त करने के लिए,
वह चौकीदार की कुटिया है, चौकीदार सामने खड़ा
हुआ
और अपने हाथ के लाल झण्डे से सन्देश भेजता हुआ,
उसे घेरे हुए हैं ढेर-से बच्चे, और कारख़ानों के
अहातों में
कूद-फाँद करते हैं भेड़-रक्षक कुत्ते, और उधर वह
सूअर है,
विगत प्रेमों के पद-चिह्न,
और मुँह में चुम्बनों का स्वाद—अभी मधुर, अभी
कसैला,

और स्कूल जाते हुए मैं चढ़ गया था दूब पर रखे एक
पत्थर पर,
उस दिन मुलाक़ात टालने के लिए,
अरे, वह पत्थर यहाँ है, मगर ऊपर ऊँचे से
यह पत्थर भी देखा नहीं जा सकता
कोई यन्त्र नहीं है जो यह सब इंगित करे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोकि हम अपराधी हैं, दूसरे मुल्कों की तरह,
और हम जानते हैं कि किसके ख़िलाफ़ हमने पाप
  किए हैं, और
कब और कहाँ और कैसे,
किन्तु श्रमजीवी लोग भी बसते हैं यहाँ, और कवि,
  निष्पाप,
भी; और दूध-पीते शिशु जिनमें विवेक विकसेगा
और उन्हें दृष्टि देगा;
और वे अँधेरी बम-शरण-गाहों में छुपे उसकी
  रखवाली
कर रहे हैं, जब तक
फिर से हमारे देश पर नहीं दिखता निशान अमन का;
और हमारे पराजित शब्द तब उत्तरित होंगे उनके
  ताज़े शब्दों से।
ढँक लो हमें अपने विशाल डैनों में, तुम,
पहरुए रात्रि-मेघ।

: २ :

फेनिल आकाश

फेनिल आकाश पर चाँद
  नाच रहा है।
मैं चकित हूँ
  कि मैं ज़िन्दा हूँ।
एक कर्मठ मौत कुरेद रही है
इस युग को
और वे सब-के-सब
  जिन्हें यह पा जाती है
बेतरह सफ़ेद हैं।

वर्ष
जब-तब
नज़र डालता है चारों तरफ़ और
चीख उठता है
वह चारों तरफ़ नज़र डालता है
और फिर बेहोश हो जाता है।
कैसा पतझर दुबक रहा है मेरे पीछे
और कैसा शीत,
दर्द से बोझिल !

जंगल
ख़ून टपकाते रहे
और घिसटन में
ख़ून टपकाता रहा वक़्त
  हर घण्टे।
हवा
लिखती रही बर्फ़ पर
बड़े-बड़े धुँधले अंक।
मैं समझता हूँ उसे, और उस
  दूसरे को भी,
महसूस करता हूँ हवा
  भारी।
एक गुनगुनी चुप्पी, सरसराहट-भरी,
भींच लेती है बाँहों में मुझे
वैसे ही
जैसे तब, जब मैं पैदा नहीं हुआ था।

ठहर जाता हूँ यहाँ वृक्ष के चरण में
गुस्से से यह
अम्बार लगा देता है
पत्तों का।
एक डाल पहुँच जाती है ज़मीन तक।
क्या यह मेरा गला पकड़ रही है ?
मैं कायर नहीं हूँ, न ही मैं कमज़ोर हूँ—
सिर्फ़
थका हूँ। मैं चुप हूँ। और वह डाल, भी,
निःशब्द और भयभीत
गुज़रती है मेरे बालों में होकर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सचमुच
आदमी को चाहिए कि भूल जाए, लेकिन मैं
अभी तक
    कभी
    कुछ नहीं भूला हूँ ।

फ़ेन थपेड़े मारता है चाँद पर, आकाश पर
अहर
एक गहरी हरी पट्टी खींच देता है ।
मैं अपने लिए
एक सिगरेट लपेटता हूँ
आहिस्ता-आहिस्ता,
होशियारी से ।
मैं ज़िन्दा हूँ ।

क़ब्रगाह की ज़मीन में

देवेन्द्रकुमार

क्या मैं पूछ सकता हूँ—
कि आपके संविधान के छाते के नीचे
कितने लोग आ सकते हैं ? यदि बुरा न मानें तो
बरसों पहले आपको इसे बता देना
    चाहिए था,
जिसे बीस बरसों बाद, आज मुझे
    पूछना पड़ रहा है
वह भी इसलिए
कि आगामी ८० बरसों में भी,
आप इसे······
शायद ही बता पाएँ ।
पैर फैलाकर वातानुकूलित कक्ष में, ऊँघ रही हैं
राष्ट्रसंघ की कुर्सियाँ
जबकि 'मैटर्निटी-वार्ड' को बेख़बर किए हुए है
नवजात शिशु का एक शब्द—कि हाँ, कि हाँ···
और यह अकस्मात नहीं है
कि एक साथ;
दुनिया की तमाम भाषाओं में किसी नये-से-
नये सम्बोधन की तलाश में;
हम शक्ल कोयले की ख़ानों में पहुँच गये हैं
जहाँ ख़तरे की जगह टँगा है
रुग्ण होने से ख़ानाबदोश होना कहीं अच्छा है ?
कागज़ की क्यारियों में खिले गुलाब का
बच्चे की मूड़न से
क्या ताल-मेल हो सकता है ?
बहस, जब यहाँ आकर टिक गई है
कब का टूट चुका है
'सब-कुछ ठीक हो जाएगा' का तिलस्म
और उसकी जगह बचा रह गया है
भुनाने के लिए
फ़िलहाल एक-दूसरे का ग़म ।
चर्च से चुनाव-आयोग तक कुछ पक रहा है
हाँ ! तो कहाँ है—वह कोहनूर !
जिसकी क़ीमत का अन्दाज़ा, जौहरियों ने
कुछ इस ढंग से लगाया है—
कि दुनिया में जितने भी लोग हैं;
कम-से-कम एक वक़्त, अच्छा-से-अच्छा भोजन
    कर सकते हैं
मतदान से पहले
मतदाता उसे देखना चाहता है । देखना और—
    परखना,
संयोग से मैं यहाँ हूँ ! और—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह 'हूँ'
उस समय और भी मुआफ़िक हो जाता है
जब किसी के मान-पत्र में शिलालेख भेंट किए
    जाते हैं
और सारे यातायात
एक अज्ञात-भीड़ से नियंत्रित होते पाए जाते हैं
सबूत कोई नहीं है
सिवाय इसके कि मैं यहाँ हूँ
और यह 'हूँ' भी अब कितना पाज़ी हो गया है
    पाज़ी और अनाहूत
जो मुझे हर बार
अपरिचित-आकांक्षाओं के बीच जबरन ठेल देता है
जहाँ ३००० वर्ष पुराने आईने के सामने
    खड़ा होने पर
एक तरह से खुद को हास्यास्पद लगने लगता हूँ।

आँखों से आँसू की जगह गिरता है—
    भय,
जिसे पोंछकर जेब में रखने का साहस जुटा पाना
अपने-आपमें एक भीड़ हो जाना है
जिसे एकदम नहीं चाहता ?
    क्यों ? (—)
आपने मेरी हर शंका को बारहा लौटाया है
और जिसे गोद लिया है
उसे भी साल में एक दिन अस्पृश्यता-निवारण-दिवस
    के रूप में मनाया है—
क्या मैं पूछ सकता हूँ
कि कब्रगाह की ज़मीन में बीज डालकर
फ़सल काटने का इतना बड़ा भ्रम ! कहीं और भी
    देखने में आया है ?

'आलोचना' के जुलाई-सितम्बर '६८ के अंक में हंगरी के कवि ऑत्तिला योझ़ेफ की कविता 'ज़िन्दगी के शिखर से' के अनुवादक श्री गिरधर राठी का नाम भूल से छूट गया था।

—सं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिनय की शैली

वीरेन्द्र नारायण

अभिनय की चर्चा प्रारंभ करते समय इसके बारे में विरोधी मतों का उल्लेख किया गया है। अभिनय के बारे में इस तरह की जितनी चर्चाएँ हैं उनकी तह में दो स्पष्ट विचारधाराओं का संकेत मिलता है। १. अभिनेता पात्रों को प्रस्तुत करता है और २. अभिनेता पात्र बन जाता है।

पहली विचारधारा के आधुनिक प्रवर्तकों में गार्डन क्रेग की यह उक्ति उसे और भी स्पष्ट कर देगी। अपनी प्रसिद्ध रचना 'द एक्टर एंड यूथर मेरिओनेट' में क्रेग लिखता है—

"रंगमंच की संपूर्ण इकाई का मकसद है उसकी कला की स्थापना और इस दिशा में पहला कदम होगा रंगमंच पर से पात्रों के स्वरूप को उपस्थित करने की मनाही प्रकृति के यथारूप-चित्रण पर प्रतिबंध। जब तक पात्रों की काया का प्रवेश रंगमंच पर होता रहेगा रंगमंच स्वतन्त्र नहीं हो सकता। अभिनेताओं को चाहिए कि पुरानी शिक्षाओं और सिद्धांतों का सहारा लें। यदि सबसे पुराने सिद्धांतों को आधार बनाना बहुत कठिन जान पड़ता हो तो कुछ आगे बढ़ जाएँ। उन्हें अपनी अभिव्यक्ति में जान डालने की प्रवृत्ति को रोकना पड़ेगा। निन्यानवे से भी अधिक प्रतिशत में तो इसका यही अर्थ होता है—अतिरंजित अंग-संचालन, चुस्त नकल, आवाज़ जो दहाड़ती है और दृश्य जो चकाचौंध पैदा करता है। रंगमंच पर यह सब इस मिथ्या आशा और विश्वास के भरोसे किया जाता है कि प्रदर्शन प्राणवान होगा। और नियम के अपवाद की तरह कभी-कभी किसी हद तक यह सफल भी हो जाता है। यह किसी हद तक सफल होता है, क्योंकि रंगमंच पर बड़ा ही प्राणवान व्यक्ति रहता है। उन लोगों के लिए नियमों के विरोध के सामने बल्कि उनके बावजूद यह सफलता बन जाती है और हम, जिन्हें देखने का अवसर मिलता है, खुशी में चीख़ उठते हैं, तालियाँ बजाते हैं, वाहवाही लुटाते हैं। हमारे लिए कोई चारा नहीं रह जाता। हम सोचना या प्रश्न करना नहीं चाहते। हम धारा के साथ बह जाते हैं प्रशंसा और सुझाव के आधार पर············हम सम्मोहित हो जाते हैं, लेकिन हमारी सुरुचि को इसकी परवाह नहीं······हमें खुशी होती है और हम इतने द्रवित हो जाते हैं कि खुशी से उछलने लगते हैं। महान् व्यक्तित्व हम और कला दोनों पर विजय प्राप्त कर लेता है। लेकिन ऐसे व्यक्तित्व बहुत ही विरले होते हैं और अगर हम यही देखना चाहते हैं कि किस प्रकार एक व्यक्तित्व रंगमंच पर हावी हो गया है और अभिनेता की तरह चरम विजय प्राप्त करता है, तो यह भी परोक्ष रूप में सिद्ध होता है कि उस समय नाटक अन्य अभिनेता और सौंदर्य के प्रति हम उदासीन रहते हैं······"

दूसरी विचारधारा के सबसे शक्तिशाली समर्थक और प्रवर्तक कान्सटेटिन एस० स्तानिस्लावस्की ने लगभग १२०० पांडुलिपियों में अपनी प्रणाली का निरूपण किया है। इसमें सभी अभी प्रकाशित नहीं हो पाई हैं। प्रकाशित रचनाओं के आधार पर स्तानिस्लावस्की के शब्दों में अभिनेता के पात्र बन जाने की सबसे सहज उक्ति यह है—

अभिनेता अपने से कहता है—

"ये सारे सज्जा-उपकरण, रूपसज्जा, वेशभूषा, दृश्यबंध, प्रस्तुतीकरण का सार्वजनिक स्वरूप मिथ्या हैं। मैं जानता हूँ कि यह मिथ्या है और यह भी जानता हूँ कि मुझे इनकी कोई ज़रूरत नहीं। यदि यह सत्य होता तो मैं यह करता, वह करता, मेरा व्यवहार ऐसा होता, इन घटनाओं के प्रति मेरी ऐसी प्रतिक्रिया होती।"

यह मेरी समझ में आया कि जिस कारण अभिनेता की आत्मा और कल्पना में यह तिलस्मी और सृजनात्मक यदि आ जाता है उसी समय सृजनात्मक प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। जब तक वास्तविक सत्य रहता है, ऐसा जिस पर विश्वास न करने का प्रश्न नहीं उठ सकता, तब तक सृजनात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिक्रिया प्रारम्भ नहीं होती। उस समय यह सृजनात्मक यदि सामने आता है, अर्थात् वह काल्पनिक सत्य सामने आता है जिस पर अभिनेता उतनी ही ईमानदारी से विश्वास कर सकता है, वास्तविक सत्य से अधिक उत्साह के साथ विश्वास कर सकता है जिस प्रकार बच्चे गुड़िया की ज़िन्दगी और उसके चारों ओर के जीवन में विश्वास करते हैं। जिस क्षण यह यदि सामने आता है उसी क्षण से अभिनेता वास्तविकता के धरातल से अलग होकर दूसरे जीवन के धरातल पर आ जाता है जिसकी कल्पना और सृष्टि उसने स्वयं की है। इस जीवन में विश्वास के साथ ही अभिनेता का सृजन प्रारम्भ हो जाता है।

दृश्यबंध का सत्य जीवन का सत्य नहीं है। उसकी अपनी विशेषता है। मेरी समझ में रंगमंच का वही सत्य है जिसमें अभिनेता विश्वास करता है। मेरी समझ में यही आया कि साफ़ झूठ को भी रंगमंच का सत्य बनना ही पड़ता है ताकि वह कला का रूप ले सके। इसके लिए जरूरी है कि अभिनेता बच्चे जैसा भोलापन और विश्वास करने की क्षमता हासिल करे, सत्य के प्रति और अपने शरीर तथा आत्मा के सत्य के प्रति असीम कलात्मक संवेदनशीलता विकसित करे। इन गुणों की समष्टि के सहारे वह दृश्य के एक भोंडे असत्य को कल्पना के जीवन से उसके सम्बन्धों के कोमलतम सत्य में बदल सकता है। इन सभी गुणों की समष्टि को मैं **सत्य की अनुभूति** के नाम से पुकारना चाहूँगा। इसमें कल्पना का खुला क्षेत्र है और सृजनात्मक विश्वास की सृष्टि है, इसमें दृश्यों के असत्य का प्रतिरोध है, इसमें सच्चे मूल्यों की अनुभूति है, इसमें बालसुलभ विश्वास का वृक्ष है और है कलात्मक अनुभूति की ईमानदारी। सत्य की इस अनुभूति को विकसित भी किया जा सकता है और उसका अभ्यास भी सम्भव है। इस काम के साधन या उसकी प्रणाली की चर्चा करने का यह स्थान नहीं। मैं सिर्फ़ यही कहूँगा कि सत्य की अनुभूति की क्षमता इस हद तक विकसित करनी चाहिए कि रंगमंच पर कोई ऐसा काम नहीं हो, ऐसा कुछ नहीं कहा या सुना जाए जो सत्य की कलात्मक अनुभूति से छनकर न आए।

यदि यह सही होता तो मांसपेशियों का तनाव दूर करने और ध्यान जमाने के मेरे सभी अभ्यास निरर्थक होते। मैंने उसे आत्मा और शरीर के सत्य से नहीं छाना। मैंने एक भाव-भंगिमा रंगमंच पर अपनाई। शरीर की दृष्टि से मेरा उस पर विश्वास नहीं था। इधर-उधर मैंने तनाव कम कर देखा। पहले से कुछ अच्छा लगा। मैंने भाव-भंगिमा में परिवर्तन किया। हाँ, अब बात समझ में आई। जब कोई बढ़कर किसी चीज़ तक पहुँचना चाहता है तो इन तनावों के कारण ऐसी भाव-भंगिमा हो जाती है। फिर मेरा शरीर और आगे चलकर मेरी आत्मा ने भी यह विश्वास कर लिया कि मैं उस चीज़ की ओर खिंच रहा हूँ, मेरी मांसपेशियों में ऐसा तनाव आ रहा है, क्योंकि मैं उस चीज़ तक पहुँचना चाहता हूँ जिसे बुरी तरह पाना चाहता हूँ।

सत्य की अनुभूति के ही सहारे, उस भाव-भंगिमा की अनिवार्यता के आन्तरिक विश्वास के सहारे जीवन में और रंगमंच के प्रदर्शन में मांसपेशियों का तनाव मैं दूर कर सका।

उस समय के बाद मांसपेशियों के तनाव दूर करने और ध्यान केन्द्रित करने के मेरे सभी अभ्यास सत्य की इस अनुभूति से नियन्त्रित होने लगे।

अभिनय के सिद्धान्त के दोनों छोरों की इन विचारधाराओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि अभिनय की शैलियों को दो प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है—अयथार्थवादी और यथार्थवादी शैली।

दोनों शैलियों में सृजन और प्रस्तुतीकरण का पहलू है। अयथार्थवादी शैली में पात्रों का निर्माण सृजनात्मक प्रक्रिया ही है। उसकी अभिव्यक्ति के समय सृजनात्मक व्यक्तित्व अलग हो जाता है और तकनीक की सहायता से शरीर, वाणी आदि के द्वारा उस पात्र का एक चित्र प्रस्तुत करता है। यथार्थवादी शैली में अभिनेता स्वयं पात्र बन जाता है और उसकी तरह बोलता-चालता-हँसता है। ग़ौर से देखें तो यथार्थवादी शैली में भी प्रस्तुतीकरण का पहलू विद्यमान रहता है। एक काम को करने के कई तरीके हो सकते हैं। रंगमंच के कई हिस्से में उतनी ही सफलता से एक क्रिया-कलाप हो सकता है। यथार्थवादी अभिनय के समय भी अभिनेता इन सभी सम्भावनाओं में से एक को चुनता है, किसी अन्य को नहीं, इसे प्रस्तुतीकरण के पहलू से अलग नहीं किया जा सकता।

अयथार्थवादी शैली में पात्र को प्रस्तुत किया जाता है इसलिए प्रस्तुतिकरण का पहलू ऊपर रहता है, दिखाई पड़ता है। और उसे दिखाई पड़ना भी चाहिए, क्योंकि अयथार्थवादी प्रदर्शन हमें यह भूलने नहीं देता कि हम एक कलात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यक्ति देख रहे हैं, हम प्रेक्षागृह में हैं। यथार्थवादी प्रदर्शन में यह कोशिश की जाती है कि हम भूल जाएँ कि हम प्रेक्षागृह में हैं बल्कि प्रेक्षागृह, अभिनेता आदि की अनुभूति ही समाप्त हो जाए।

यथार्थवादी शैली अपनी प्रकृति के कारण बहुत विविधता की गुंजाइश नहीं छोड़ती। अपनी प्रवृत्ति के कारण अयथार्थवादी शैली के विभिन्न प्रकार बन जाते हैं।

सामान्यतः दोनों शैलियों के बीच के ही अधिकांश प्रदर्शन होते हैं। यथार्थवादी अभिनय की चेष्टा में रूढ़िवादी अभिनय ही हासिल होता है। कहीं-कहीं उसमें सच्चाई की चिनगारी भी दिखाई पड़ती है। इसलिए यथार्थवादी शैली के आसपास दो शैलियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं—(१) रूढ़िवादी शैली, (२) परकाया प्रवेश की शैली।

यथार्थवाद अभिनय में अभिनेता पात्र बनकर उसकी भावदशा को अपना लेता है। बाकी सब यानी अंग-संचालन, गतिविधान, क्रियाकलाप, संवाद-निवेदन आदि उसी के अनुरूप चलते हैं। वह अपनी अभिव्यक्ति के अनुरूप इन साधनों को दिशा और स्वरूप दे देता है। रूढ़िवादी अभिनय में रंगमंच की परंपराओं को ध्यान में रखकर वह सब-कुछ किया जाता है जो एक भावदशा में होता है। अंगसंचालन, संवाद-निवेदन आदि सबका चुनाव इसी प्रकार किया जाता है। लेकिन यह अभिनेता की असमर्थता के कारण किया जाता है। इस तरह हथेली पर ठोड़ी टिकाकर बैठने से चिन्ता और परेशानी का बोध होता है। लेकिन इस रूढ़िवादी अभिनय में प्रयत्न रहता है सच्ची भावदशा को पकड़ने का, जिसका फल यह होता है कि कहीं-कहीं भावदशा की अभिव्यक्ति भी झाँकने लगती है। दरअसल ऐसे रूढ़िवादी अभिनय में यथार्थवादी अभिनय की पच्चीकारी ही उसका मुख्य आकर्षण बनती है। सामान्यतः अधिकांश अभिनय इसी श्रेणी में आते हैं। ऐसे अभिनय के लिए यथार्थवादी दृश्य-सज्जा का उपयोग किया जाता है। जब यथार्थवादी दृश्य-सज्जा की बात कर रहा हूँ तो पारसी रंगमंच के रँगे पर्दों वाले रंगमंच को भी इसमें शामिल मानता हूँ। ऐसी अभिनय-शैली का एक प्रमुख गुण होता है अतिरंजना, जो स्वाभाविकता के आधार से अलग हटने की कोशिश न करते हुए भी कृत्रिमता से अछूता नहीं रहता।

इसके पास ही है परकायाप्रवेशवाली शैली। इसमें भी अंग-संचालन, क्रियाकलाप, संवाद-निवेदन आदि यथार्थवादी अभिनय जैसे ही होते हैं। लेकिन जिस अभिनेता को हम रंगमंच पर देखते हैं वह माध्यम है उस सृजनात्मक प्रतिभा का जिसने पात्र का निर्माण किया, लेकिन इस समय अपने माध्यम से अलग हो गया है। इस शैली में अभिनेता अपने लिए पात्र का एक मण्डल तैयार कर लेता है। उस मण्डल को तैयार करते समय वह अपनी समस्त सृजनात्मक प्रतिभा का उपयोग करता है। लेकिन जब मण्डल तैयार हो गया तो उसका सृजन समाप्त हो जाता है। उसकी अभिव्यक्ति सिर्फ़ तकनीकी सफलता या असफलता से सम्बन्ध रखती है। अभिव्यक्ति में भावदशा की सच्चाई नहीं शामिल होती। भावदशा का दर्शकों को बोध कराया जाता है।

परकाया प्रवेशवाली इस शैली में अभिव्यक्ति की तकनीक यथार्थवादी भी हो सकती है और अयथार्थवादी भी। यदि अभिव्यक्ति की तकनीक यथार्थवादी हुई तो उसे यथार्थवादी अभिनय से मिलाकर देखने की ग़लती नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यथार्थवादी अभिनय और परकायाप्रवेशवाले अभिनय में मौलिक भेद भावदशा के निरूपण में होता है। यथार्थवादी अभिनय में भावदशा की सृष्टि सच्ची होती है। परकायाप्रवेशवाले अभिनय में भावदशा की सच्ची अभिव्यक्ति नहीं होती। उसका अभिनय किया जाता है। इसे रूढ़िवादी अभिनय से भी अलग समझना चाहिए। यह असमर्थता को छिपाने का साधन नहीं। यहाँ जान-बूझकर सृजनकर्ता को प्रस्तुतीकरण से अलग रखा जाता है।

इस परकायाप्रवेशवाली शैली में अभिव्यक्ति यदि रीतिबद्ध हुई तो हम कहते हैं अभिनय की शैली रीतिबद्ध है। यह ग़लत धारणा अक्सर घर कर जाती है कि रीतिबद्ध शैली में सृजन का मूल्य नहीं रहता। यह ध्यान देने की बात है कि इस शैली में भी पात्र का सृजन तो अभिनेता करता ही है। अभिव्यक्ति के समय वह यथार्थवाद का सहारा नहीं लेता।

हमारा सारा लोकनाट्य और नृत्य-नाट्य इसी शैली के अन्तर्गत आता है। यात्रा में जब श्रवण के माता-पिता विलाप करते हैं अथवा शैव्या रोती है तो हमें यह एहसास नहीं होता कि अभिनेता-अभिनेत्री सचमुच रो रहे हैं, यदि वे यथार्थवादी अभिनय की तरह सचमुच रो पड़ें तो इसे दोष ही समझा जाएगा। यहाँ वे रोने का अभिनय करते हैं। यह सचमुच का रोना नहीं एक कलात्मक प्रक्रिया है जो असमर्थता का बोधक नहीं। अभिनेता के लिए यही उचित है कि वह सचमुच रो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

न पड़े बल्कि रोने का अभिनय करे और दर्शक के लिए भी यह ज़रूरी है कि इसे अभिनय ही समझे, भावनात्मक स्तर पर आलोड़ित होकर उनकी आँखें गीली न हो जाएँ।

दर्शकों की उपलब्धि की दृष्टि से दर्शक भावनात्मक स्तर पर अछूता रहता है और ऐसे अभिनयों में उसे अछूता ही रहना चाहिए। ऐसे अभिनयों में उसकी उपलब्धि सौन्दर्य-बोध के धरातल पर ही होती है और वही अभीष्ट भी है। माँ-बेटे के चित्र को देखकर या ईसामसीह की शहादत का चित्र देखकर हमें खुशी या दुख नहीं होता। हमें दोनों चित्र अच्छे लगते हैं, क्योंकि माँ-बेटे या ईसामसीह के साथ हमारी भावनात्मक एकता स्थापित नहीं होती। कला के क्षेत्र में इस तरह के तटस्थ आनन्द का बड़ा महत्त्व होता है। इससे यथार्थवादी अभिनय के हिमायती भी इनकार नहीं करते। दर्शक की दृष्टि से यथार्थवादी अभिनय में भावनात्मक आनन्द के साथ-साथ सौन्दर्यबोध और विचारों के धरातल पर भी हमें आनन्द प्राप्त होता है। परन्तु उसका बल रहता है भावनात्मक आनन्द पर। एक दृष्टि से इसे अधिक परिपूर्ण समन्वित कहा जाएगा। लेकिन इसी आधार पर अयथार्थवादी अभिनय के हियायती उसे हेय मानते हैं। इसी को लक्ष्य कर गार्डन क्रेग ने कहा था—"उस समय नाटक, अन्य अभिनेता और सौन्दर्य के प्रति हम उदासीन रहते हैं।" कलात्मक आनन्द का प्रकार और स्वरूप भावनात्मक आलोड़न के कारण दूषित हो जाता है। नैसर्गिक आनन्द का रंग भौतिक आनन्द गँदला कर देता है।

रीतिबद्ध अभिनय के कई प्रकार हो सकते हैं जिन्हें अभिव्यक्ति के आधार पर बाँटा जा सकता है। कथकली का पात्र नाचता है और बताता है कि वह आकाशमार्ग से सीता को लिये जा रहा है। नाच का पात्र रंगमंच पर चार चक्कर लगाकर यह बताता है कि वह अपने गाँव से शहर पहुँच गया है अभिव्यक्ति भी विशिष्टता में परम्परा, स्थानीय रीति-रिवाज आदि मिल जाते हैं और एक शैली के रूप में उसका उद्‌भव होता है।

अभिनय के क्षेत्र में शैली की दृष्टि से मौलिक योगदान पिछले दिनों ब्रेख्ट का हुआ। विरोधीकरण का उसका अभिनय का सिद्धान्त इस पृष्ठभूमि में दिलचस्प है।

ब्रेख्ट के ही शब्दों में उस शैली की विशेषताएँ इस प्रकार गिनाई जा सकती हैं :

"इस तकनीक का ध्येय है कि दर्शक प्रश्नकर्त्ता का आलोचक का रुख अख्तियार करे घटनाओं के बारे में। इसके लिए जो साधन काम में लाये जाते हैं वे कलात्मक हैं।"

ऐरिक बेंटली ने ब्रेख्ट की शैली की अन्य शैलियों से तुलना करते हुए एक चार्ट तैयार किया है जो उस शैली की विशेषताओं को स्पष्ट करता है—

'नाटकीय' रंगमंच	**ब्रेख्ट का रंगमंच (एपिक रंगमंच)**
रंगमंच पर घटना घटित होती है	रंगमंच घटना का वर्णन करता है।
किसी घटना से दर्शक का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है।	उसे प्रेक्षक बनाता है, लेकिन उसकी शक्ति जाग्रत होती है।
उसकी सारी शक्ति, कार्य की इच्छा का शोषण होता है।	निश्चय की माँग की जाती है।
उसकी भावनाओं में आलोड़न होता है, अनुभवों का संप्रेषण होता है।	ज्ञान का संप्रेषण होता है।
दर्शकों को किसी क्रियाकलाप में शामिल किया जाता है	किसी क्रियाकलाप के सामने उसे खड़ा किया जाता है।
सुझावों की भरमार रहती है।	दलीलों का सहारा लिया जाता है।
स्पंदनों की सुरक्षा की जाती है।	जब तक कि वे अन्तर्दृष्टि न बन जाएँ
मनुष्य को जानी-पहचानी चीज़ की तरह रखा जाता है।	मनुष्य खोजबीन की चीज़ रहता है।
मनुष्य अपरिवर्तनशील है	जो बदला जा सकता है और बदल रहा है।
फल में तनावपूर्ण दिलचस्पी	घटना में तनावपूर्ण दिलचस्पी
हर दृश्य दूसरे दृश्य के लिए है।	हर दृश्य सिर्फ़ अपने लिए है।
....	....
दुनिया जैसी है वैसी है	दुनिया वह है जो वह बन रही है।
मनुष्यों के लिए क्या उचित है।	मनुष्य के लिए क्या अनिवार्य है
उसकी अंतश्चेतना	उसका विवेक
विचारों से यथार्थ का निश्चय।	सामाजिक यथार्थ से विचारों का निश्चय।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तुलना अपने में दिलचस्प है। यदि हम अभिनय की प्रक्रिया पर ध्यान दें तो इस शैली को स्पष्ट समझा जा सकता है। इस शैली में भी अभिनेता पात्र नहीं बन जाता। पात्र के अपने मण्डल को वह रंगमंच पर प्रस्तुत करता है। यह काम अयथार्थवादी शैलियों में भी होता है। ब्रेख्त की शैली में इन माडेलों की सृष्टि करने वाला कलाकार छिप नहीं जाता। अयथार्थवादी शैलियों में इस सृष्टि के बाद प्रस्तुतीकरण रह जाता है। ब्रेख्ट की शैली में अभिनेता का विचारक भी मंच पर उपस्थित रहता है। वह जिस पात्र को उपस्थित करता है, उस पर और उसके सहारे घटनाक्रम तथा अन्य वस्तुओं पर अपनी टीका-टिप्पणी भी करता है। संवाद-निवेदन के समय वह पात्र नहीं रहता। वह किसी व्यक्ति के कथन को सुन रहा होता है। अंग-संचालन और क्रियाकलाप में पात्र की तरह वह जो कुछ करता है, व्यक्ति की तरह उसे उसी प्रकार देखता भी है, जिस प्रकार दर्शक देखते हैं। चूँकि अभिनेता उस पात्र के साथ एकाकार नहीं हो जाता जिसे वह रंगमंच पर प्रस्तुत कर रहा है, इसलिए वह दर्शक की हैसियत से, जो एक सामाजिक प्राणी है, रंगमंच पर होने वाले सभी कुछ को देखकर उस पर टीका-टिप्पणी भी कर सकता है।

यह शैली रीतिबद्ध अभिनय से मूलतः भिन्न है। रीतिबद्ध शैली में भी अभिनेता एक पात्र को विशेष प्रकार से प्रस्तुत करता है। लेकिन अभिनेता या विचारक या दर्शक कोई काम नहीं करता रंगमंच पर। ब्रेख्ट की शैली में अभिनेता का रंगमंच का काम दो हिस्सों में बँट जाता है। एक हिस्सा तो वह होता है जो पात्र के प्रस्तुतीकरण से सम्बन्ध रखता है और दूसरा हिस्सा वह है जो उस पर सामाजिक व्यक्ति की हैसियत से अपने विचार सामने रखता है।

अयथार्थवादी शैली के अभिव्यंजनात्मक आदि रूपों की कल्पना कठिन नहीं। पात्र के प्रस्तुतीकरण की शैली जिस प्रकार बदलती है उसी के आधार पर ये नामकरण किये जा सकते हैं। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

राग दरबारी : कला-रूपों की नैतिकता का सवाल

कमलेश

कोई ज़माना ऐसा होता है जब समाज की ज़िन्दगी में साहित्य का निश्चित महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। आदर्श के तौर पर ही सही, ऐसे समाज की कल्पना की जा सकती है जब साहित्य ज़िन्दगी की मुख्य धारा में एक जीवनोपयोगी भूमिका निभा रहा होता है। उस ज़माने में ज़िन्दगी के हर क्षेत्र में सन्तुलन रहता होगा, सर्वमान्य अदब-कायदे होते होंगे, विभिन्न श्रेणियों में सुलभ संचार के कारण इतनी गतिशीलता रहती होगी कि असन्तोष इकट्ठा होकर उग्र प्रतिरोध उभरने का और समाज के असन्तुलित हो जाने का मौक़ा नहीं आता होगा। संस्कृत के शास्त्रीय कवियों का ज़माना शायद ऐसा रहा हो। उस समय किसी को भी मात्र इन्द्रियानुभूति के स्तर पर रसास्वादन कराने के लिए भी काव्य की रचना करते हुए मन में कोई अपराध-भाव नहीं उठता होगा। यह कहने के लिए यह प्रमाण जुटाने का स्थान नहीं कि आज का ज़माना वह ज़माना नहीं है। ऐसे प्रमाण जुटाने का कार्य वैसे भी फ़िज़ूल होता है।

ऐसा लगता है कि आज के ज़माने में साहित्य ज़िन्दगी की मुख्य धारा के बाहर की गतिविधि हो गया है। जैसे साहित्य के अच्छा-बुरा होने, होने या न होने से हिन्दुस्तानी आदमी की ज़िन्दगी में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ने वाला है। ज़्यादातर साहित्य के विषय भी आदमी की ज़िन्दगी के सीमान्ती पहलू हैं और स्वयं साहित्य भी सीमान्ती संवेदना वाले लोगों की अनुभूति का विषय बनकर रह गया लगता है। साहित्यकार अपने लिए नकली अस्मिताएँ विरच कर एक नकली यथार्थ से समायोजन की समरनीतियाँ गढ़ता है और आलोचक इस नकली समर के सिद्धान्तों की उपलब्धि कर उन्हें लागू करने का काम करता है। यहाँ 'नकली' से तात्पर्य मुख्य जीवन-प्रवाह से बाहर के अर्थात् सीमान्ती लस्तगों से है। यह अर्थवान ज़िन्दगी और अर्थवान साहित्य के परस्पर सत्यापन के रिश्तों के टूटने का, अर्थात् अर्थों का पद की हद के बाहर चले जाने का ज़माना लगता है। असली लड़ाई साहित्य के बाहर हो रही है और साहित्य ने असली लड़ाई की ओर पीठ कर रखी है। आलोचक साहित्य के 'शाश्वत' मानदण्ड खोजकर 'शाश्वत' साहित्य की खोज कर रहे हैं जबकि हमारी ज़रूरतें बहुत ही वक्ती हैं, ज़िन्दगी की असली लड़ाई के हथियारों की हैं। यह दूसरी बात है कि साहित्य इस ज़रूरत को पूरा करते हुए भी शाश्वत साहित्य बन जाए और साहित्य के 'हथियार' का स्वभाव अनोखा हो।

ज़िन्दगी की अव्यवस्था के समतुल्य साहित्य का व्यवस्थित होना उसके देश-काल-बद्ध होने, बहुत-कुछ शब्दाकार होने की विवशता है जो उसी स्तर को भेदने की कोशिश में उसे अगले स्तर पर देश-कालातीत भी कर देती है। पर यदि साहित्य की व्यवस्था किसी नैतिक दृष्टि का फल है—एक ऐसी नैतिक दृष्टि का फल है जो समकालीन अव्यवस्था में निहित अनैतिकता को साहित्य की व्यवस्था के रूप में नैतिकता प्रदान करके उचित ठहराने की कोशिश करती है तो यह दृष्टि समाज की मौजूदा हालत में अपराध बन जाती है। यह दृष्टि मूलतः गलत नैतिकता की देन है। ऐसे ज़माने में किसी को यह लगे कि 'ज़िन्दगी' का मात्र वस्तुपरक समतुल्य खड़ा करना, जिसका हर चूल-काँटा दुरुस्त हो, इसे नैतिक दृष्टि से भी उचित ठहराना है और यह कार्य विवेक विरुद्ध है तो वह अतिरंजना का, अव्यवस्था के कारण प्रतीकों पर व्यंग्य की चोट करने का, वस्तुपरकता को त्याग देने का रास्ता अपना सकता है। कोई भी ऐसा रास्ता चुन सकता है जो उसकी रचना की संगतिबद्ध व्यवस्था को नैतिक औचित्य

राग दरबारी : लेखक श्रीलाल शुक्ल, प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६, पृष्ठ संख्या ४२६, मूल्य पन्द्रह रुपए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देता हुआ न लगे। वह रचनाकार की तटस्थता को छोड़ सकता है, यदि उसकी दृष्टि के अनुसार यह तटस्थता मौजूदा ढाँचे को बनाये रखने का षड्यंत्र बन गई है। वर्णन की हर शैली में एक नैतिक दृष्टि निहित होती है। वर्णन की वस्तु का चयन भी इस नैतिकता के स्वरूप को ज़ाहिर करता है। वर्णन की कोई शैली किसी ज़माने में अनैतिक लग सकती है। लेखक ज़िन्दगी से मिली दृष्टि के अनुसार अपनी नैतिक समझ से उचित वर्णन-शैली खोजने की कोशिश करेगा। ज़ाहिरन जितने लेखक, उतनी दृष्टियाँ, उतनी ही वर्णन-शैलियाँ भी कम-से-कम सिद्धान्ततः सम्भव हैं, पर यदि लेखन कहीं नैतिक समझदारी की भी अभिव्यक्ति बन चुका है तो यह अपेक्षित हो जाता है कि हम अपनी कसौटी को उसी स्तर पर ले जाएँ और तथाकथित साहित्यशास्त्रीय मानदण्ड उस कसौटी का आनुषंगिक बन जाए।

राग दरबारी पर बातचीत करने के पहले यह पूर्वपीठिका स्थापित कर लेना ज़रूरी है क्योंकि वह व्यंग्य कृति हो या न हो, वह एक व्यंग्य-दृष्टि या ज़्यादा सही बात, एक क्रीड़ा-('कॉमिक'?) दृष्टि को रूप देने की कोशिश है और उसका सारा ढाँचा इस दृष्टि के नैतिक औचित्य पर ही टिकता या मिटता है।

अपनी कसौटी को हम और भी प्राथमिक ठोस शक्ल दें तो हम कहेंगे कि साहित्य यदि सच को पूर्णतम रूप में उपलब्ध कराने की समरनीति है तो लेखक या तो उस सच का सामना करता है या उस सच की बग़ल से निकल जाता है, टालमटोल करता है या साफ़ झूठ बोलता है। सच को पूरा-पूरा उपलब्ध कराने की समस्याएँ हो सकती हैं, पर सच का सामना किया गया या नहीं, यह ज़्यादा मूल बात है। यदि इस पहले चरण पर कोई कृति खरी उतरती है तो इसके बाद के हर चरण पर हम क्रमानुसार अधिक तरह देते हुए आगे बढ़ सकते हैं। यहाँ यह बात भी साफ़ होनी चाहिए कि यथार्थ का वही पहलू ज़माने का सच हो जाता है जिसके बारे में कुछ करने की, जिसे बदलने की हम ज़रूरत महसूस करते हैं।

राग दरबारी के कठोरतम समीक्षक (नेमिचन्द्र जैन, साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' के 'प्रायदृष्टि' स्तम्भ में, १९ जनवरी १९६९) ने भी यह स्वीकार किया है कि "आज के भारतीय जीवन के इस पक्ष के बहुत-से, विभिन्न स्थितियों के बड़े प्रभावी चित्र 'राग दरबारी' में हैं जो हमारे अतिपरिचित अनुभव को फिर से ताज़ा कर जाते हैं।" इसलिए बाहरी साक्ष्य से सत्यापन की बहुत ज़रूरत नहीं और इतना कहने के लिए यह समीक्षक माँग होने पर सबूत पेश कर सकता है कि गाँव का इतना सच हमारे कथा-लेखन की परिधि में नागार्जुन और रेणु के बाद कभी नहीं आया है। इसकी कोई वजह होगी। अब हम बातचीत को आगे बढ़ा सकते हैं। उत्तर प्रदेश के अवध इलाके के लखनऊ-जैसे किसी शहर से कुछ ही मील दूर सड़क के किनारे स्थित गाँव कस्बा शिवपालगंज किसी नक्शे में ढूँढने पर शायद न मिले, पर 'राग दरबारी' का शिवपालगंज आज़ादी के बाद विकसित हुए हिन्दुस्तान में कहीं भी मिल सकता है। शिवपालगंज आम गाँवों से कुछ ज़्यादा तरक्की पर है। वहाँ इण्टरमीडिएट कालेज है, सहकारी समिति है, वह तहसील और थाने का सदर मुकाम भी है। और तो और वहाँ दुकानें और शराब की भट्ठी भी है फिर भी वहाँ पंचायत ही है, 'टाउन एरिया' नहीं है। आज़ाद हिन्दुस्तान की राजनीति, इस दौर में चले विकास-कार्यों से, सरकार और उसकी नौकरशाही तथा दूसरे औज़ारों की गतिविधियों से इस दरम्यान किस तरह की औलादें पैदा हुई हैं, उनका व्यक्तित्वशास्त्र, नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र क्या है—यही 'राग दरबारी' की वस्तु है। इस वस्तु के बारे में लेखक का एक ख़ास दृष्टिकोण है—शायद उस दृष्टिकोण के कारण ही वे तमाम बातें रचना-दृष्टि के दायरे में आ जाती हैं जो अमूमन 'वस्तुपरकता' की हामी भरने वालों की चेतना के दायरे के परे रह जाती हैं।

'राग दरबारी' का विषय और उसे देखने का दृष्टिकोण उपन्यास में शुरुआत से ही ज़ाहिर है और अन्त तक कायम है। इससे स्खलन के एक-दो उदाहरण शायद ढूँढे जा सकें, पर वह निरर्थक होगा।

शहर का किनारा। उसे छोड़ते ही भारतीय देहात का महासागर शुरू हो जाता था।

वहीं एक ट्रक खड़ा था। उसे देखते ही यकीन हो जाता था, इसका जन्म केवल सड़कों के साथ बलात्कार करने के लिए हुआ है। जैसे कि सत्य के होते हैं, इस ट्रक के भी कई पहलू थे। पुलिस वाले उसे एक ओर से देखकर कह सकते थे कि वह सड़क के बीच में खड़ा है, दूसरी ओर से देखकर ड्राइवर कह सकता था कि वह सड़क के किनारे पर है। चालू फ़ैशन के हिसाब से ड्राइवर ने ट्रक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का दाहिना दरवाजा खोलकर डैने की तरह फैला दिया था। इससे ट्रक की खूबसूरती बढ़ गई थी; साथ ही यह ख़तरा मिट गया था कि उसके वहाँ होते हुए कोई दूसरी सवारी भी सड़क के ऊपर से निकल सकती है।

इन्हीं वाक्यों के साथ उपन्यास शुरू होता है। ट्रक का मालिक तो दूर, इस सम्पत्ति नामक वस्तु को कहीं से स्पर्श करने वाला ड्राइवर भी सम्पत्ति के नशे में मस्त है। या उसका कोई और भी वसीला है—किसी अफ़सर, या उसके चपरासी या पुलिस सिपाही से ख़ास परिचय है जो उसके नशे का अतिरिक्त कारण हो सकता है। उसका सारा अहंकार और काफ़ी वासनाएँ उसी ट्रक में केन्द्रित हो गई हैं। वह 'चालू फ़ैशन के हिसाब से···ट्रक का दाहिना दरवाज़ा खोलकर डैने की तरह फैला देता है, बिना यह ख़याल रखे कि दूसरी सवारियों को भी सड़क पर से निकलना हो सकता है। उसकी स्थिति पर पुलिस वाला आपत्ति भी कर सकता है, लेकिन ड्राइवर उससे बहस कर सकता है। बहस का अन्त ऐसे भी या वैसे भी, ट्रक कहीं भी खड़ा हो, दो रुपए की रिश्वत से होना है। यदि यह रिश्वत प्रथा बन गई है तो ड्राइवर को ट्रक सड़क पर कहीं भी खड़ा करने का अतिरिक्त उत्साह मिल जाता है। ट्रक कहीं भी खड़ा न करके वह अपने अहं की पुष्टि का शायद एकमात्र उपलब्ध रास्ता बन्द क्यों करे? आज़ाद भारत में सम्पत्ति का हर मालिक, सम्पत्ति या किसी भी प्रकार की सत्ता से कहीं भी जुड़ा हुआ हर व्यक्ति पूरे समाज में अपनी विशेष स्थिति, अपने विशेष अधिकार इसी प्रकार दिखाते हुए, सामाजिक या सरकारी अदब-कायदों, कानूनों, नैतिकताओं या शिष्टाचारों से अपने को ऊपर सिद्ध करते हुए निरंकुश लोकतन्त्र का स्वच्छन्द उपभोग करता है। इस लोकतन्त्र में अंकुश प्रायः सम्पत्ति और सत्ता से दूर के लोगों पर लगता है और तभी लगता है जब कि या तो इन लोगों की किन्हीं हरकतों की वजह से विशेषाधिकारों पर आपत्ति हो रही हो या उन पर ख़तरा महसूस हो रहा हो, अर्थात् ये लोग सरकार की विविध चक्कियों में पिसने की पूरी प्रक्रिया झेलने से इनकार करने लगे हों।

उपन्यास का अगला पैराग्राफ़ इस बस-स्टेशन पर दुकानों को स्थापत्य—'छप्परों, लकड़ी और टीन के सड़े टुकड़े और स्थानीय क्षमता के अनुसार निकलने वाले कबाड़ की मदद से खड़ी की हुई दुकानें'—पाकशास्त्र—'प्रायः सभी में जनता का एक मनपसन्द पेय मिलता था जिसे वहाँ गर्द, चीकट, चाय की कई बार इस्तेमाल की हुई पत्ती और खौलते पानी आदि के सहारे बनाया जाता था', अगला पैराग्राफ़ भारतीय रेल का टाइम टेबुल और उसके प्रति तदनुकूल यात्री-रुख़—'स्थानीय पैसेंजर ट्रेन को रोज़ की तरह दो घण्टा लेट समझकर वह घर से चला था, पर वह सिर्फ़ डेढ़ घण्टा लेट होकर चल दी थी'—बतलाता है तथा और भी आगे हमारे गाँव की गन्दगी की भरपूर तस्वीरें मिलती हैं।

जिनकी ट्रेन छूट जाती है वे श्री रंगनाथ हैं। प्राचीन इतिहास में एम० ए० करने के बाद बेकारी के दिन काटने के लिए रिसर्च करने लगते हैं। शहर में स्वास्थ्य कुछ हलका पड़ रहा है इसलिए अपने मामा वैद्यजी के पास देहात में—शिवपालगंज—सेहत बनाने जा रहे हैं। ट्रक का ड्राइवर उनको देखकर—'अहा! क्या हुलिया था! नवकंजलोचन कंज मुखकर कंज पद कंजारुणम्। पैर खद्दर के पैजामे में, सर खद्दर की टोपी में, बदन खद्दर के कुर्ते में। कन्धे से लटकता हुआ भूदानी झोला।'—ट्रक में शिवपालगंज तक बैठने की इजाज़त दे देता है। बाद में पता चलता है कि शोध-छात्र महाशय को यह सुविधा और साथ में सद्व्यवहार सिर्फ़ इसलिए प्राप्त हुआ था कि उन्हें सी० आई० डी० का आदमी समझा गया था, जो गाँव शायद किसी कत्ल के मामले का पता लगाने जा रहा था वरना यह पोशाक 'कोई तुक का आदमी तो पहनता नहीं।' भ्रम टूटते ही ड्राइवर का रुख़ बदल जाता है। रिसर्च-स्कॉलर साहब को आगे यातायात महकमे द्वारा की जाने वाली ट्रकों की जाँच-पद्धति का भी पता चलता है और साहब के चपरासी को रिश्वत के दो रुपये देने पड़ते हैं।

"थोड़ी देर में ही धुँधलके में सड़क की पटरी पर दोनों ओर कुछ गठरियाँ-सी रखी हुई नजर आयीं। ये औरतें थीं, जो कतार बाँधकर बैठी हुई थीं। वे इतमीनान से बातचीत करते हुए वायु-सेवन कर रही थीं और लगे हाथ मल-मूत्र का विसर्जन भी। सड़क के नीचे घूरे पटे पड़े थे और उनकी बदबू के बोझ से शाम की हवा किसी गर्भवती की तरह अलसायी हुई चल रही थी। कुछ दूरी पर कुत्तों के भूंकने की आवाजें हुईं। आँखों के आगे धुएँ के जाले उड़ते हुए नजर आए। इससे इनकार नहीं हो सकता था कि किसी गाँव के पास आ गये थे। यही शिवपालगंज था।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दृश्य के साथ पहले अध्याय का अन्त होता है। अपने देश में यात्रा (या बहुतों के लिए जीवन-यात्रा) जैसे चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में समुद्री मार्ग में भटक गये किसी पोत पर हो रही यात्रा है। ('चिड़िये नज़र आते हैं तो उम्मीद बँधती है कि खुश्की कहीं समीप है'—उसी तरह राग दरबारी में यह दृश्य अनेक बार गाँवों की निकटता की सूचना देता है।) यह अनिवार्य दृश्य भारत-यात्रा पर आये हुए आल्डुअस हक्सले को भी दिखा था—'रेल से यात्रा कर रहे आदमी को सुबह-सुबह उठने पर दोनों ओर निसर्ग में जो सबसे आम दृश्य दिखेगा—पाख़ाना हो रहे लोग।' (याद से उद्धृत) बहुत सारे लोगों के लिए यह दृश्य बार-बार दिखते हुए भी उल्लेखनीय नहीं होता, लेकिन आल्डुअस हक्सले इस एक, बहुत-महत्त्वपूर्ण नहीं, असारगर्भित दृश्य का उल्लेख कर जाता है। वह कार्डिनल रिशेलु के सहायक संन्यासी फ़ादर जोसेफ़ की जीवनी के माध्यम से राजनीति और धर्म के अपने बहुस्तरीय अध्ययन 'द ग्रेट एमिनेंस' में फ्रांस के राजपरिवार व दरबारियों के शौच-निवृत्त होते हुए बातचीत करने का दृश्य भी चित्रित कर जाता है, बिलकुल उसी तरह ये गाँव की औरतें अपनी नित्य-क्रिया में संलग्न हैं। (तत्कालीन फ्रांस में बीमार बादशाह के दस्त की रूप-रंगत का विस्तृत विवरण देने वाली चिकित्सा-बुलेटिनें रोज़ प्रकाशित होती थीं और बादशाह के स्वास्थ्य के बारे में बड़े पैमाने पर अतिशय उत्सुक नागरिक इन बुलेटिनों की बेसब्री से प्रतीक्षा और अध्ययन करते थे। डीन स्विफ़्ट के साहित्य में इस तरह के दृश्यों की विविधता तो अब इतिहास-दार्शनिकों के अध्ययन का भी विषय बन चुकी है। (देखिए नार्मन ब्राउन, 'लाइफ़ अगेंस्ट डेथ' का 'फ़िल्दी लूकर' अध्याय) लेकिन रेबेला, स्विफ़्ट, सरवेन्तीज़, या 'मंकी' अथवा 'गुड सोल्जर श्वाइक' के लेखक का उल्लेख किसी बहुस्तरीय तुलना के लिए नहीं, क्रीड़ा-('कॉमिक') दृष्टि के कुछ लक्षणों की 'राग दरबारी' में उपस्थिति की ओर संकेत करने मात्र के लिए ही किया जा सकता है। यह क्रीड़ा-दृष्टि उपन्यास की पूरी वर्णन-शैली में व्याप्त है।

इस स्थिति का ग्रामीण समाजशास्त्र या जनस्वास्थ्य-शास्त्र सोचने की बात दूर 'आंचलिक' उपन्यास लिखने के लिए गाँव की सैर पर निकले कथाकारों की दृष्टि की परिधि में ये दृश्य आते ही नहीं। (न ही राजनीतिज्ञों, शासन अधिकारियों, समाज-सुधारकों की दृष्टि में ये दृश्य आते हैं। गांधी एक अपवाद हैं और राममनोहर लोहिया दूसरे।) राममनोहर लोहिया जब गाँव की औरत की, अर्थात् भारत की लगभग आधी आबादी की ख़ास समस्याओं में सबसे बड़ी पाख़ाना होने की समस्या मानते थे तो राजनीतिक शिष्ट जनों को ऐसे उल्लेख फूहड़, अश्लील और असभ्य लगा करते थे। उन राजनीतिक शिष्टजनों-जैसा ही दिमाग़ हमारे शिष्ट आलोचकों का भी है।

औपनिवेशिक दिमाग़ में गाँव की तसवीर भी जैसे विलायती गाँव को मानदण्ड बनाकर चलती है। स्वामी-देश में गाँव या तो औद्योगिक बस्ती या शहर में कामकरदा नौकरशाह का भीड़ शोर-भरे शहर लन्दन की हद से बाहर सप्ताहान्त का आरामगाह होता है या शिकारगाह के किनारे की बस्ती। गाँव का आवास, हर शुक्रवार को गाँव के लिए प्रयाण, सप्ताहान्ती सैलानी की उच्चस्थिति के प्रतीक होते हैं। बेशरम औपनिवेशिक दिमाग़ स्वामी-देशों के गाँव को अपने गाँव पर भी आरोपित कर लेने का सरल रास्ता अख़्तियार करता है। रूसो के गाँव पर दूर से सोचे हुए हिन्दुस्तानी गाँव के लक्षण थोपकर हमारा असरदार तबका गाँव-जंगल-आदिवासियों के प्रति रूसो वाले रुख़ को बरकरार रखता है। हमारे कथा-लेखन में भी ये उधारी-रोमानी आग्रह इतने सूक्ष्म स्तरों तक पैठे हुए हैं कि बहुत बेलाग और दीर्घकालीन आत्मविश्लेषण ही इससे कुछ हद तक मुक्ति दिला सकता है। यह आत्मविश्लेषण तभी सम्भव हो पाएगा जब जिस वस्तु को शब्दबद्ध किया जा रहा है उसके बारे में कुछ करने की भी बेताब इच्छा होगी। जो करना है वह प्रत्यक्ष होने पर जो स्थिति है वह भी प्रत्यक्ष होने लगेगी और वह करने में अपने निजी और वर्ग-स्वार्थ या अपने आग्रह कहाँ तक बाधा डालते हैं यह भी मालूम होने लगेगा। कर्म के समीप रहा शब्द ही सही तौर पर सजीव या सार्थक होता है। लेकिन हिन्दुस्तानी औपनिवेशिक दिमाग़ को लेखन के सोद्देश्य होने से स्वामियों द्वारा रटाये गये मानदण्डों पर आँच आने लगती है। 'तटस्थता', 'वस्तुनिष्ठता', 'अनुभव के प्रति ईमानदारी', 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव', 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण'-जैसे तमाम अर्ध-सत्य साहित्यिक जगत् में सर्वमान्य खरे सिक्कों के रूप में चलते हैं।

राग दरबारी में ज़िन्दगी, हिन्दुस्तान के गाँव की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हालत, इस दुनिया की पुलिस, थानों, अफ़सरों, स्कूलों, विद्यार्थियों, प्रिंसिपलों, गाँव के राजनीतिज्ञों और उनके चंगुल में पड़ी सहकारी संस्थाओं, सबके घृणित पहलुओं को सामने लाती है। 'स्थितियाँ अपने-आपमें इतनी वज़नदार हैं कि इन पहलुओं का वस्तुगत प्रस्तुतीकरण ही महान् उपन्यास बन जाता'—यह आलोचक कह सकता है। पर वैसा करने के लिए राग दरबारी के लेखक को यह तय करना पड़ता कि उसे महान् उपन्यास लिखना है, फिर उसे आलोचक से महान् उपन्यास के तत्त्वों की जानकारी हासिल करनी पड़ती, और इससे भी अधिक ज़रूरी उसे आलोचक की संवेदना उधार लेनी पड़ती। राग दरबारी में किसी साहित्यिक मानदंड के समीप होने के बजाय ज़िन्दगी के ज़्यादा समीप होने की कोशिश है। इस बात को राग दरबारी के मुहावरे में भी पहचाना जा सकता है जो लगभग उसी तरंग-लम्बाई पर है जिस तरंग-लम्बाई पर यहाँ वर्णित ज़िन्दगी है। एक उदाहरण यह है—

रुप्पन बाबू ने अपनी डंडामार शैली में जवाब दिया था :

"देखो दादा, यह तो पॉलिटिकल है। इसमें बड़ा-बड़ा कमीनापन चलता। यह तो कुछ भी नहीं हुआ। पिताजी जिस रास्ते में हैं उसमें इससे भी आगे कुछ करना पड़ता है। दुश्मन को, जैसे भी हो, चित करना चाहिए। यह न चित कर पाएँगे तो खुद चित हो जाएँगे और फिर बैठे चूरन की पुड़िया बाँधा करेंगे और कोई टका को भी न पूछेगा।

"पर इस कालेज के बारे में सुधार की जरूरत है। प्रिंसिपल हरामी है। दिन-रात गुटबंदी की खिचखिच लगाए रहता है। खन्ना मास्टर भी उल्लू के पट्ठे हैं। पर वे हरामी नहीं हैं। यह साला उन्हें बहुत दबा चुका है। अब खन्ना मास्टर को उबरना चाहिए। मैंने पिताजी से भी बात की थी, पर वे प्रिंसिपल को उखाड़ना नहीं चाहते।

यदि यह रुप्पन बाबू के संवाद का प्रतिरूप है तो खुद लेखकीय वर्णन की भी भाषा देखिए :

उससे लगभग एक फर्लांग की दूरी पर रुप्पन बाबू एक पेड़ के सहारे काफ़ी देर से बैठे हुए अपने पैंट की अन्दरूनी सफ़ाई कर रहे थे। अपनी इस निजी समस्या को सार्वजनिक ढंग से निबटाकर जब वे उठ खड़े हुए तो रंगनाथ भी अपनी जगह पर खड़ा हो गया। रुप्पन बाबू जब उसकी तरफ़ नहीं आए तो वही उनकी ओर चल दिया। लगा, कोई नेता अभी-अभी किसी संकट के गड्ढे से ऊपर आया है और प्रेस उसका इंटरव्यू लेने जा रहा है।

यहाँ गाँव के परिवेश में 'प्रेस इंटरव्यू' का रूपक लाना सिर्फ़ यह ज़ाहिर करता है कि रोष केवल देहाती ज़िन्दगी के प्रति नहीं सारी हिन्दुस्तानी ज़िन्दगी के प्रति है। ऐसे रूपक उपन्यास-भर में हैं और देहात की ज़िन्दगी को शहर की ज़िन्दगी से जोड़ते चलते हैं। भाषा हलके स्तर पर है, पर दो-टूक है और लोक-भाषा के ज़िन्दगी-लसे आवेग का प्रतिरूप है। इसे व्यंग्यकार की चुस्ती मानना तथाकथित 'गँवारों' की बातचीत से अपरिचय इज़हार होगा।

कार्तिक पूर्णिमा को शिवपालगंज से लगभग पाँच मील की दूरी पर एक मेला लगता है। वहाँ जंगल है, एक टीला है, उस पर देवी का एक मन्दिर है और चारों ओर बिखरी हुई किसी पुरानी इमारत की ईंटें हैं। जंगल में करौंदे, मकोय और बेर के झाड़ हैं और ऊँची-नीची जमीन है। खरगोश से लेकर भेड़िये तक, भुट्टाचोरों से लेकर डकैतों तक इस जंगल में आसानी से छिपे रहते हैं। नजदीक के गाँवों में जो प्रेम-सम्बन्ध आत्मा के स्तर पर कायम होते हैं उनकी व्याख्या इस जंगल में शरीर के स्तर पर होती है।...

प्रकृति-वर्णन का यह ग़ैर रोमांसीकरण प्रेम-वर्णन में भी है। दमित वासनाओं वाले समाज की ग्रन्थियों से ज़्यादातर युवक पात्र पीड़ित हैं। प्रौढ़ पात्रों में या उनमें द्वन्द्व या गति खोजना और न पाना, इसे 'यथार्थवादी सपाटता' कहना और 'नीचे कोई और ज़िन्दगी खोजना', फलस्वरूप इसे एक सीमा के बाद सच्ची तसवीर न मानना, अपनी ज़रूरत की माँग ग़लत जगह पर करना होगा। देहाती पात्रों में द्वन्द्व नहीं है—जैसे एक जाति पर दूसरी जाति और इस तरह असंख्य जातियों का जमघट भारतीय समाज में है; जिस तरह लोक या कबीले की 'छोटी परम्परा', वेद मंत्रों या तंत्रों की 'महान् परम्परा', मुग़लिया विलासिता और शानो-शौकत, इकट्ठा होकर और 'आधुनिकता' के उपकरणों से समचित होकर हिन्दू संस्कार बन जाते हैं, उसी तरह तमाम विरोधी-संवादी बातों का घालमेल कर समन्वय करने वाला हिन्दू व्यक्तित्व हर नयी बात का एक और खोल अपने ऊपर चढ़ा लेता है। 'राग दरबारी' के लगभग सभी पात्रों का व्यक्तित्व ऐसा ही है। उन्हें संशय नहीं सालते। किसी लक्ष्य में सफलता-असफलता होती लगती है तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी नगर-नीति उन्हें ज़रूर सोचनी पड़ती है, लेकिन अस-फलता का लोक-भाषा में दार्शनिक स्पष्टीकरण कह-सोचकर ज़िन्दगी से आसानी से समायोजन कर लिया जाता है। कहीं कुछ दरकता ज़रूर है, शायद उसे भी द्वन्द्व कहा जा सकता है, पर राग दरबारी की भाषा में उसे खोजने के लिए कुछ बारीक नज़र की ज़रूरत पड़ेगी।

प्रिंसिपल साहब अनहोने पात्र नहीं हैं। वैसे वाइस चांस-लरों से भी भेंट की जा सकती है। बाबू रंगनाथ शहराती आदमी हैं। उन्हें भी यह भ्रम हो गया था कि प्रिंसिपल बिलकुल जंगली है। फिर प्रिंसिपल के मुँह से पिकासो का नाम सुनकर उनका भ्रम टूटा। और भी बातें फिर उनको सुनने को मिलीं। वैद्यजी के सामने भी सारी बातें साफ़ हैं, कोई नैतिक मुग़ालता उन्हें नहीं है। संशय नई पीढ़ी के लोगों में, ख़ास तौर पर शहराती बाबू रंगनाथ में उदित होता है और वे प्रिंसिपल खन्ना मास्टर के झगड़े में पक्षधर होने लगते हैं, पर अंततः उनके हत्तारों में भी पलायन-संगीत बजने लगता है। उपन्यास का यह बहुत महत्त्वपूर्ण स्थल है। समीक्षा करने वाले आलोचक इस स्थल पर ज़्यादा ग़ौर करते तो ज़्यादा अच्छा होता। श्री रंगनाथ के पूरे चरित्र में भारतीय शहराती बुद्धिजीवी की अकर्मण्यता और अज्ञान का हूबहू चित्र पेश है। यह बुद्धिजीवी दिमागी लड़ाई शुरू करता है, पर संघर्ष का अवसर आने पर फिर शहर की ओर पलायन कर जाता है।

'राग दरबारी' आज की हिन्दुस्तानी ज़िन्दगी की मुख्य धारा को पकड़ने की कोशिश है। इस धारा में बदलाव है, पर उसका रूप ऐसा है जिसे लेखक नैतिक औचित्य देना नहीं चाहता। वह स्वायत्त कला-रूप में सामंजस्य पा चुकी चरित्र-घटना-सृष्टियों को अपना नैतिक समर्थन देना न प्रकट हो इसके लिए लगातार स्थिति के बयान को अपनी टीका भी बनाता चलता है। इस टीका को 'व्यंग्य' कहना या इसके बारे में साप्ताहिक पत्रों के 'बैठे-ठाले' स्तम्भों का उल्लेख करना दृष्टिदोष की देन है, क्योंकि यहाँ किसी भी पात्र का न तो मज़ाक उड़ाया गया है न उस पर व्यंग्य किया गया है। जिन लोगों के पास सौन्दर्यशास्त्रीय बारीकियों की समझ न हो वे भी इस प्रसंग में किसी मुग़ालते में न रहें इसलिए पूरे समाज को यहाँ क्रीड़ा-दृष्टि से देखा गया है। ब्रेख़्त अपने नाटकों के दर्शकों में मंत्रीय घटनावली में सहभोक्ता का भाव नहीं, उसमें इस घटनावली को बदलने की दृष्टि और क्षमता उभा-रना चाहता था। 'राग दरबारी' भी पाठक को झकझोरता है। वह हिन्दी उपन्यास की माँगों को पूरा करे या न करे, उपन्यास जाए भाड़ में, वह कई अर्थों में हिन्दी पाठक की उपलब्धि है।

•

चीज़ें लगातार मेरे हाथ से फिसल रही हैं

विष्णु खरे

प्रयाग शुक्ल की कविताओं[1] का संसार उनका एकदम निजी संसार है। निजी कविताएँ भी 'विविध' तथा 'विस्तृत' हो सकती हैं यदि उनका रुझान दर्शन या वैचारिकता की ओर हो, लेकिन प्रयाग शुक्ल का विश्व उन वस्तुओं का विश्व है जो कवि से ऐन्द्रिक रूप में कहीं जुड़ी हुई हैं और इसलिए यह समझना कठिन नहीं है कि उनकी कविताओं में 'बड़ी बहन', 'बचपन के संस्मरण', पिता की संपत्ति' 'पिता की याद', 'जहाँ बचपन गुज़रा था वहाँ जाने वाली सड़क', 'माँ का चेहरा और पिता की बातें', 'बचपन में कमरे', 'टूटे पुराने और सुन्दर घर', 'खपरैल से झरती हुई छत', 'माँ का चेहरा', 'पगडंडी पर चला आ रहा मित्र', 'पैतृक घर' और 'माँ के द्वारा बाँधी गई पूरियाँ'-सरीखे चित्र बार-बार उन्हीं अर्थों में आए हैं जिनमें वे स्वयं कवि के जीवन में हैं।

मैं अभी शारीरिक और मानसिक रूप से इतना अधेड़ नहीं हुआ हूँ कि प्रयाग शुक्ल के लिए 'नवोदित'-सरीखा हास्यास्पद विशेषण इस्तेमाल करूँ। 'नयी कविता' में उत्कर्ष-काल में वे लिख रहे थे, महानगरों में रहे, समीक्षाएँ भी लिखीं। हिन्दी कविता के पिछले कुछ वर्षों में जो उथल-पुथल हुई उसे भी उन्होंने निकट से देखा होगा—मुक्तिबोध की मृत्यु तथा उनकी कविता की खोज और प्राप्ति, अकविता का उत्थान तथा पतन, एक नयी क़िस्म की जागरूक कविता का उदय—इस सबके के वे चश्मदीद गवाह रहे हैं। किन्तु उनकी इन कविताओं में इन काव्य-घटनाओं का कोई भी आभास

१. कविता संभव : प्रयाग शुक्ल, अमिताभ प्रकाशन, कलकत्ता-७, मूल्य ५ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है। श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर [illegible] देवताले, लीलाधर जगूड़ी की और सरीखी कविता के इस दौर में (जिसकी रूढियाँ भी उतनी ही तेज़ी से बन रही हैं जितनी अकविता की बनी थीं) यदि एक समवयस्क कवि आज के मुहावरे का प्रयोग नहीं करता तो इसका क्या अर्थ हो सकता है? एक तो यह कि प्रयाग शुक्ल ऐसा करने में असमर्थ हैं—किन्तु उन सरीखा कवि यदि चाहे तो कम-से-कम एक समर्थ नकल अवश्य कर सकता है, और इस दौर में यह तय करना कठिन होता जा रहा है कि आज की कितनी कविता 'वास्तविक' है और कितनी 'छद्म'। स्पष्ट है कि उन्होंने यह सुविधा स्वीकार नहीं की और जान-बूझकर एक जोखिम उठायी—एक विशेष मूड के दौर में न केवल उन्होंने उससे एकदम विपरीत मूल की कविताएँ लिखीं, बल्कि उनके प्रकाशन के लिए १९६८ का वर्ष चुना, जो उस विशेष मूड में लिखी गई लम्बी कविताओं का वर्ष कहा जा सकता है। यह बात और है कि इस जोखिम को उठाने में वे दूसरी तरह की सुविधा के शिकार हुए।

स्पष्ट है कि यदि प्रयाग शुक्ल का काव्य-संसार भ्रष्टाचार, पार्लियामेंट, मूर्खता, लोहिया, हिन्दी, गाय, हड़ताल, तालाबन्दी, आगज़नी, बलात्कार, वक्तव्यबाज़ी आदि का संसार नहीं है तो ऐसा सोच-विचारकर है। उनका संसार न 'आधुनिक' है, न 'समसामयिक', न 'भारतीय', वह 'शहरी' भी नहीं है, नगर का ज़िक्र उसमें कहीं-कहीं है, किन्तु सिर्फ़ एक मंच-निर्देश की तरह उनकी कविताओं में शहर से न ऊब है, न भय और न घृणा। शहर को उन्होंने एक नॉस्टैल्जिया के ज़रिये अनुपस्थित कर लिया है: "दृष्टि को घुमाता हूँ सुदूर छोरों में /, पहुँच के परे, / वहाँ माँ का चेहरा है" (एक पंक्ति टेढ़ी हो जाती है) "तुम याद कर रहे थे कुछ और/नहीं याद आ रहा था कुछ और / यह नहीं"···"याद करते चले जाओगे / चले जाओगे" (एक गैर ज़रूरी कविता) "याद आती हैं डूबी हुई शामें / उनमें लिपटी हुई गंध / उनमें लिपटे हुए दृश्य" (शामें) "बीत गई, बीत रही चीज़ों के बीच में" (मैं हूँ) "इस समय जबकि मैं आसानी से खोल सकता हूँ / अतीत की खिड़कियों को" (इस समय) "यों इसे सुनकर वह लड़की याद आती है"···"और चीज़ों के बीच सिर्फ़ गुज़रना भर याद रहता है" (निशान) "कौन-सी है डाल जो अचानक उग आती है हवा में / और बचपन की [illegible] फिर लटका देती है अधर में" (सिर्फ़ ए[illegible] डाल) "यानी छोड़ आया हूँ बहुत-कुछ बचपन के कमरों में टूटे पुराने और सुन्दर घरों में / कच्चे-पक्के अनेक रास्तों में कि अब उन्हें याद में भी ठीक से जोड़ नहीं सकता" (ए[illegible] उम्र)।

इस तरह की अनेक पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती [illegible] बल्कि ऐसा सरलीकरण देना भी संभव है कि प्रयाग शुक्ल नॉस्टैल्जिया के कवि हैं, क्योंकि उनकी प्रायः समस्त कविताओं में विगत प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न रूप में उपस्थित है। ए[illegible] स्वस्थ मात्रा में नॉस्टैल्जिया साहित्य की सारी विधाओं [illegible] लिए आवश्यक भी हो सकता है, किन्तु उसका निरन्तर आश्र[illegible] कला के लिए तो ख़तरनाक है ही—वह व्यक्ति को भी कीं[illegible] की तरह कुतरता चला जाता है। असंयत नॉस्टैल्जिया ए[illegible] छिछली भावुकता—और उससे भी अधिक घातक व[illegible] आत्मदया—को जन्म देता है: "जहाँ-जहाँ होना चाहता हूँ वहाँ-वहाँ न होने का एक / अस्थिर उलाहना है / एक दु[illegible] दूरी है, जिसे मापते हैं / व्याकुल पैर"···"वे सारी दूरि[illegible] जिन्हें इतने पास / और व्याकुल मन से मैं ही जानता [illegible] (अस्थिर उलाहना) "जितना समेटता हूँ, उतना ही लग[illegible] हूँ असहाय" (गाँठ) "क्या वह मैं ही था और वह मैं [illegible] होऊँगा / असहाय, निरुपाय, मौसम और लोगों की तटस्थ[illegible] से / टूटा हुआ / जीवित सम्पर्कों से छूटा हुआ, फिर कभी तुम्हें सदा जीवित रखने में असमर्थ /···"क्या मैं फिर करु[illegible] विगलित होकर भी, वह न पाने / की असमर्थता में छटप[illegible] ऊँगा, लिए हुए एक प्यास!" (दृश्य परिवर्तन) "डूब[illegible] गई हैं शामें / गलियों में, **अकेले कमरों में** / **उदास** घरों [illegible] ···डूबती गई हैं **विकल** शामें /···डूबती जाएँगी शामें डूबती जाएँगी गंध / डूबते जाएँगे दृश्य / **डूबता जाऊँगा** (शामें) "छोटे-छोटे गढ़ों में छोटे-छोटे दुःखों की तरह / [illegible] गया है पानी···कितना क्या रुँधा हुआ है का हिसाब भरते देख रहा हूँ वह हरियाया उजाड़" (नहीं यह नहीं)।

कविता और जीवन दोनों में आत्मदया के उन्नयन के [illegible] केवल मार्ग हैं अपितु उदाहरण भी हैं और चूँकि हम [illegible] आदमी हैं, कभी-न-कभी आत्मदया का एक दौरा हम[illegible] पड़ना लज्जाजनक नहीं है, किन्तु आत्मदया को आत्मपीड़[illegible] में परिणत होते समय नहीं लगता और वहीं से आत्मदया [illegible] कलात्मक इस्तेमाल का पतन प्रारंभ होता है। आत्मदया [illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न केवल एक मज़ेदार चीज़ हो जाती है [illegible] भी बन जाती है और उसके साहित्येतर उपयोग होने लगते हैं। आत्मदया को सॉब-स्टफ़ से बचा ले जाना एक कठिन कला है और प्रयाग शुक्ल को अभी उस लाघवता की प्राप्ति के लिए बहुत दूर जाना है।

यहाँ आकर इसका स्मरण दिलाने की आवश्यकता महसूस होती है कि यद्यपि यह हो सकता है कि आत्मदया और नॉस्टैल्जिया सम्बद्ध हों, उनका उद्गम एक ही है—आत्मकेन्द्रीयता या आत्ममोह। यदि कवि ने अपने व्यक्तित्व को विरल कर लिया है तो उसके काव्य में नॉस्टैल्जिया उतना ही विरल होगा और आत्मदया का तो प्रश्न ही नहीं उठेगा—यदि उसका उपयोग स्वयं पर—और इस तरह सब पर—व्यंग्य करने के लिए न हो। आधुनिक युग का मिज़ाज या तो क्रोध का है, या व्यंग्य का या मोह-भंग का, और प्रयाग शुक्ल में ये तीनों नहीं हैं। इन तीनों के सिवाय काव्य हो ही नहीं सकता यह मैं नहीं कहता—वृहत् मानवीय संबंधों तथा करुणा में विश्वास यह भी काव्य का विषय हो सकता है, मुक्तिबोध का तुरन्त स्मरण हो आता है। कहा जा सकता है कि प्रयाग शुक्ल की कविताओं में मानवीय सम्बन्धों का अभाव नहीं है—उनके काव्य-संसार का उल्लेख पहले ही हो चुका है—किन्तु वे उन सम्बन्धों को वह कलात्मक विरलता या सार्वजनीनता नहीं दे पाए हैं जो उनकी कविताओं को एक वृहत्तर मानवीय संदर्भ दे सके। उनके सम्बन्ध उनके निजी हैं और उससे अधिक कुछ भी नहीं हैं। किसी स्त्री को अपने बेटे से लाड़ करते देखकर यह निष्कर्ष निकालना कि वह संसार के सभी बच्चों को उतना ही प्यार करेगी न केवल ग़लत है बल्कि हास्यास्पद भी। प्रयाग शुक्ल की कविताओं में जब 'मैं' उपस्थित होता है तो हमें प्रयाग शुक्ल ही याद आते हैं जबकि, उदाहरणार्थ, मुक्तिबोध का 'मैं' उनका अपना होते हुए भी वह विराट्, अमूर्त 'मैं' है जो हम सबमें कहीं विद्यमान है। प्रयाग शुक्ल की कविताओं में सब-कुछ हो सकता है, स्पंदित मानव-उपस्थिति वहाँ नहीं है। उनकी कविताओं को सपाट पढ़ते चले जाना सम्भव है और उनका 'आनन्द लेना' भी, किन्तु जैसे ही उन इशूज़ का ख़याल आता है जो इन कविताओं में नहीं हैं, यह बात दुःखद रूप से स्पष्ट हो जाती है कि प्रयाग शुक्ल तक 'भयानक ख़बर' अभी तक नहीं पहुँची है।

आज की हिन्दी कविता चार आत्यंतिक ध्रुवों पर खड़ी हुई लगती है—रघुवीर सहाय सरीखे कवियों का अत्यन्त समसामयिक संसार, अकविता का एक्ज़ीबिशनिस्ट कैशोर्य, प्रयाग शुक्ल आदि कवियों का अत्यन्त वैयक्तिक, दयार्द्र तथा सुरक्षित कोना तथा इन सभी को नकारता हुआ श्रीकान्त वर्मा का विश्व (शायद एकमात्र उन्हीं का, क्योंकि इस मिज़ाज का कवि हिन्दी में और कोई नहीं दीख पड़ता)। रघुवीर सहाय सरीखे कवियों की समसामयिकता ही उनकी सबसे बड़ी पराजय है, क्योंकि उसमें समय से बाहर होने का वह गुण स्पष्टतः नहीं है जो उसे भावी प्रासंगिकता दे सके। एक जनवरी १९६९ को प्रकाशित किसी समाचारपत्र की प्रति की क़ीमत एकाध हफ़्ते तक हो सकती है, किन्तु एक जनवरी १९७९ को तो उसे सिर्फ़ शोधार्थी ही खोजकर पढ़ेंगे। फिर भी ऐसी कविता की एक तात्कालिकता है और एक सीमित समय के लिए उसे पाठक तथा आलोचक दोनों प्राप्त होंगे। श्रीकान्त का तादृश निहिलिस्ट रुख़ सामाजिक स्तर पर भले ही संदिग्ध हो और उसके नैतिक मूल्य पर प्रश्नचिह्न लगाए जा सकते हों—कलात्मक स्तर पर वह एक स्थायी स्टैण्ड है और इसलिए उनकी कविताएँ भर्त्सनीय हो सकती हैं, भंगुर नहीं। अकविता के दम-ख़म एक नेत्रसुखी नपुंसक द्वारा लोगों को रतिरत देख लिए जाने के बाद उन्हीं हरकतों की नकल है जिसके कोई ठोस (या तरल) परिणाम नहीं निकले। किन्तु प्रयाग शुक्ल का जो सुरक्षित कोना है, वह पराजित अथवा लड़ती हुई सेनाओं का रात्रि-विश्राम नहीं है जिसके पश्चात् कल पुनः युद्ध प्रारम्भ करना है, वह एक ऐसा महल्ला है जिसमें बस्ती के सारे भगोड़े आग लगने के बाद छिप गए हैं और अपने-अपने को बिसूर रहे हैं।

प्रयाग शुक्ल का कविताओं का संसार इस तरह दमघोंटू, रुग्ण उदासी का संसार है। द्रष्टव्य है कि इन कविताओं में यदि स्थितियों से मुकाबला नहीं है तो विशुद्ध सुख और आह्लाद भी नहीं है, केवल इनकी काव्यात्मक चर्चा अवश्य है। युवा कवि प्रेम पर कविता लिखे यह तो समझ में आता है, किन्तु जब भाषा यह रूप धारण कर लेती है तब?

"प्रिय, झलकता है दूरियों में होने का सुख
और खो देने का दुःख—
इन्हें नहीं देखतीं!
रहने दें आज बस यहीं तक प्रिय!"

(पाठ)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अब' में भाषा, कथ्य और तक[illegible] हो चुका होता है :

"अब मैं तुम्हारे साथ-साथ रहूँगा—
तुम जिधर देखोगी मैं उधर देखूँगा !
....
मैं जो कुछ पाऊँगा, उसे अकेले नहीं देखूँगा
हाथ पकड़कर तुम्हें भी दिखाऊँगा।"

'कब' में एक निहायत मामूली विचार को काव्यात्मकता देने का यह प्रयास भी द्रष्टव्य है :

"डर नहीं लगेगा कि यात्रा के खत्म होने से
पहले ही
उसे किसी दूसरे ने पा लिया होगा
प्रयासहीन !"

जिसका 'गद्यार्थ' यह है कि 'डर नहीं लगेगा कि इससे पहले उसका मेरा विवाह हो, कोई और ही दूल्हा बनकर उसे ले उड़े।' प्रयाग शुक्ल भावनाओं के कवि हैं और ऐसे हर कवि के समक्ष यह समस्या होती है कि वह किस तरह उन्हें कविताओं में व्यक्त होने तो दे, किन्तु साथ ही बेनलिटी और बेथॉस से भी बच निकले। किसी कोमल भावना को मुँह चिढ़ाते हुए व्यक्त कर पाना भी संभव है इसे अभी (हम सब) हिन्दी कवियों को सीखना है । भावना अपने-आपमें कोई अस्पृश्य वस्तु नहीं और उसे कविता से देशनिकाला शायद कभी भी नहीं दिया जा सकता, किन्तु उसे भावुकता में परिणत होने से रोकने का प्रयास प्रत्येक कवि को करना चाहिए, वर्ना छायावाद को पीछे छोड़ आने का दावा व्यर्थ होगा। कम-से-कम एक स्थल ऐसा है जहाँ प्रयाग शुक्ल छायावादियों को भी पीछे छोड़ गए हैं—उन बेचारों के यहाँ सिर्फ़ षोडशियाँ लजाती थीं, किन्तु 'वापसी' में "शर्म से लाल—नहीं, कोई भी नहीं देख रहा / कि कहाँ रहे इतने दिन" पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं कि वे हिन्दी के एकमात्र युवा कवि हैं जो लज्जा से आरक्त हो सकते हैं।

क्या कोई कवि अपनी कविताओं की समीक्षा पढ़ने के पश्चात् अपने लिखने का ढंग बदल देता है ? क्या प्रयाग शुक्ल यह सब पढ़ने के बाद मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा या डिलन टॉमस या हर्बर्ट की तरह कविताएँ लिखना प्रारम्भ कर देंगे ? क्या उनके लिए ऐसा करना श्रेयस्कर होगा ? ज़ाहिर है कि ऐसा कुछ नहीं होगा। समीक्षाएँ कवि [illegible] को नहीं बदल सकतीं और न रुचि को ही। कवि का व्यक्तित्व और रुचि दोनों स्वयं ही बदलते और विकसते हैं, किन्तु प्रयाग शुक्ल को शब्दों की पहचान है और वे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उनका प्रयोग भी कर लेते हैं। सम्प्रति जो भावनाएँ उनके पास हैं, उनके लिए उपयुक्त शब्द और लहजा उनके पास है इसमें कोई शक नहीं। अभी उनके काव्य-संसार को एक सीमित सुरक्षा प्राप्त है, किन्तु वे उसके जान-बूझकर बन्दी हो गए हैं। ऐसी स्थिति बनी रहेगी, यह मैं नहीं मानता, यद्यपि मैं जानता हूँ कि प्रयाग शुक्ल की कविताओं में परिवर्तन लाने के लिए उनके रचना-संसार में एक महती 'घटना' भी आवश्यक है। वह क्या होगी और कब होगी, यह प्रश्न अप्रासंगिक है। हमें इसी से संतोष करना होगा कि हमारे देखते-देखते एक कवि स्वयं मुक्त हो।

भाषा की दीवार के आस-पास

प्रयाग शुक्ल

'बड़े बाबू किसी पुरानी फ़ाइल में खोये बैठे थे कि ऐन चार चालीस पर चपरासी ने आ साहब को सलाम दिया।'......

'साँझ की उदास-उदास बाँहें अँधियारे से आ लिपटीं। मोह भरी अलसाई आँखें झुक-झुक आईं और हरियाली के बिखरे आँचल में पत्थरों के पहाड़ उभर आए।'

सहसा विषयांतर और दृश्यांतर हो गया लगता है। पहले और दूसरे उद्धरण के बीच लम्बा फ़ासला है। लेकिन यह फ़ासला 'यारों के यार, तिन-पहाड़' में कुछ कम हो आया है—सोबतीजी की ये दोनों लम्बी कहानियाँ एक जिल्द में बँध गई हैं। 'मित्रो मरजानी' और 'बादलों के घेरे' तक उनकी इस रंग की दूसरी कहानियों के पाठकों के लिए इस बात में चौंकने-जैसा कुछ भी नहीं है। फिर भी दोनों कहानियों को साथ पढ़ने पर चौंकना भले न हो, उनके लेखन से उन्हीं की दो रचनाओं की उभरती तुलना में, परिचय और घना हो जाता है।

यारों के यार, तिन-पहाड़ : कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन दिल्ली-६, पृष्ठ १४२, मूल्य ४.५० रुपए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'यारों के यार' को पढ़ते हुए कई बार लगा फ़र्श बुहारने, दीवार से रंग की परत उतारने, या पृष्ठों के आपस में टकराने से जैसी 'घिस-घिस' की एक असहनीय आवाज़ होती है, कुछ वैसी ही बात मन को बार-बार छू जाती है। और जिनकी बात की जा रही है उनकी ज़िन्दगी को मानो ऐसी ही आवाज़ों ने धीरे-धीरे छील दिया है, उनके लिए किसी दूसरी आवाज़ का कोई मतलब नहीं रहा। यहाँ सोबतीजी की भाषा 'बादलों के घेरे' या 'तिन-पहाड़' में शब्दों को बार-बार चीज़ों से भिगोकर रखने की भाषा नहीं है—इसमें शब्द, रस-गंध-रूप-स्पर्श में भीने-भीने शब्द, नहीं हैं। इस अर्थ में शायद 'यारों के यार', 'मित्रो मरजानी' से भी आगे की रचना है।

'यारों के यार' के 'नई कहानियाँ' में प्रकाशित होने के बाद कई तरह की प्रतिक्रियाएँ सुनने को मिली थीं। किसी को वह अश्लील लगी थी, किसी को सपाट, किसी ने अपना सारा गुस्सा उसमें प्रयुक्त गालियों पर उतारा था और किसी को वह भाषा के कोरे चमत्कार और अतिनाटकीयता की कहानी लगी थी। 'यारों के यार' को दोबारा पढ़ते हुए लगा कि भाषा-प्रयोग के प्रति अतिरिक्त सजगता, जो कई बार रचनात्मकता से अलग जा पड़ती है, इसमें ज़रूर है। यह भी कहा जा सकता है कि इस कहानी के लिए सोबतीजी ने एक भाषा बल्कि एक तरह के मुहावरे की भाषा गढ़ी है। 'कनकव्वी आँख', 'हैडक्लर्की की तीसरी आँख', 'नज़र डिस्पैचर की मेज़ पर गुम हो गई', 'लपलपाती आँखों से लाल झण्डी दिखाई', 'बटेरी आँखों से', 'आँखों पर अक्ल का मोमरोगन मल दिया', 'आँख से कमंद फेंककर कहा'—केवल 'आँख' के इतने प्रयोग शायद इसी ओर संकेत करते हैं। लेकिन भाषा के एक खास मुहावरे या मुहावरेदार भाषा का प्रयोग निष्फल नहीं है—बल्कि इसी गढ़ी, रूखी, निचोड़ी हुई भाषा से आकर मिलने वाले मध्य और निम्नमध्यवर्गीय जीवन के प्रसंग जैसे फिर से अपना अस्तित्व कायम कर लेते हैं, वह अस्तित्व जो रोज़मर्रा के चक्र में पिसकर अर्थहीन हो उठा है।

दिल्ली के किसी एक सरकारी दफ़्तर, उसके क्लर्कों और उनके परिवारों की तथा इनके बहाने अधिकारी-वर्ग व समकालीन मूल्यों या मूल्यहीनता से जुड़ने वाली यह कहानी बहुत-कुछ उसका बखान है जो अनुभव तो होता है, जो जिया भी जाता है लेकिन जिसे कहा नहीं जाता—कहा जा नहीं पाता। एकरसता से घिरी घिसटती हुई ज़िन्दगी को, किसी तरह की नाटकीयता के अभाव में शब्द-रूप दे पाना असम्भव न हो, लेकिन मुश्किल काम है। हिन्दी कहानी में एक भिन्न स्तर पर राजकुमार ने इसे सम्भव बनाया था—'पिकनिक', 'सिमिट्री', 'सेलर' आदि कहानियों को उदाहरण के लिए लिया जा सकता है। ये कहानियाँ भी क्लर्कों के जीवन के बारे में थीं।

सोबतीजी एकरसता से घिरी, निचुड़ी हुई ज़िन्दगी को नाटकीयता भी देती हैं, मुखर शब्द भी। लेकिन इन मुखर शब्दों के माध्यम से वह जैसे इस ज़िन्दगी की विफलता-निष्फलता को और गहरा देना चाहती हैं। सूरी जानता है कि उसकी बातें एक घिसे-पुराने रिकार्ड की तरह हैं जो शोर चाहे जितना पैदा कर लें, संगीत पैदा नहीं कर सकतीं। फिर भी वह इस रिकार्ड को बार-बार बजाकर अपने व सहकर्मियों के अस्तित्व को प्रमाणित करना चाहता है। इसी शोर में भवानी बाबू के बच्चे की दुर्घटना व उसकी मृत्यु, सूरी के अपने बच्चों का अनिश्चित भविष्य और दैनंदिन का दैन्य छिपा है। इस अर्थ में सोबतीजी की यह भाषा और उनका यह लहजा एक दीवार की तरह है जो उन्होंने जान-बूझकर खड़ी की है। दीवार के एक ओर दफ़्तर की, प्रायः अपनी सचमुच की समस्याओं से नज़र बचाकर जीने की भाषा है, दूसरी ओर घरों का दैन्य है, एक बहुत बड़ी विफलता है जो चुप है, लेकिन जिसकी चुप्पी से दीवार रह-रहकर धसक उठती है।

लेकिन सोबतीजी ने कई जगह अपनी बातों को इतना ज़्यादा मुखर कर दिया है कि वे अतिरंजित व अनावश्यक हो उठी हैं। सरदार हज़ारासिंह प्यारासिंह वाले प्रसंग की अधिकांश बातों के बारे में यही कहा जा सकता है।

दरअसल 'यारों के यार' कहानी की दुनिया का मर्म वहाँ है, जहाँ साहब 'हमदर्दी जताने में **हर्ज नहीं**' समझते, जहाँ हैडक्लर्क भवानी बाबू संकट में पड़ने पर 'अपने छोटे-बड़े रिश्तेदारों की फहरिस्त ताज़ा करने लगते हैं' और बच्चे की मृत्यु के दूसरे दिन ही दफ़्तर जाते हैं, कुछ जल्दी ही और इसी के कारण एक अरसे बाद बस-स्टॉप पर कोई जाना-पहचाना चेहरा नहीं दीखता तो जैसे अपनी सुध आती है। 'कोट की जेब में अपना कलम लगाते-लगाते मानो जिरह-बख़्तर पहन' लेते हैं। जहाँ एक सूरी को छोड़ बाकी क्लर्क मानो यथार्थ के आगे अपनी संज्ञा खो बैठे हैं—सूरी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रताड़ना और गालियाँ बमुश्किल जैसे उन्हें थोड़ा-बहुत विचलित कर पाती हैं। यहाँ बच्चे की मृत्यु, किसी फ़ाइल के कारण उत्पन्न संकट, एक-एक कप चाय और एक-एक सिगरेट का इन्तज़ाम, अपमान, लांछन सब एक साथ घटित होते हैं—एक ऐसी निरंतरता है, एक ऐसी रेल-पेल है, जिसमें अपने अलग अस्तित्व का, सम्मानजनक अस्तित्व का सपना भी नहीं आता।

तिन-पहाड़ में भी सोबतीजी ने भाषा की एक दीवार खड़ी की है—बहुत-कुछ यह काँच की दीवार है, जो मानो छूते ही टूट जाएगी—बस इसके आर-पार देखते-सुनते रहिए। वैसे कई बार यह देखना-सुनना भी नहीं हो पाता—बादल, धुंध या आँसू-भीगी आँखें इसे धुँधला कर देती हैं। अगर 'यारों के यार', 'मित्रो मरजानी' की भाषा शिल्प का विस्तार है तो 'तिन-पहाड़' को 'बादलों के घेरे' की ही कड़ी में कह सकते हैं। लेकिन तिन-पहाड़ तक आते-आते सोबतीजी वह भाषा और शिल्प तो पीछे छोड़ आई हैं, उसका मोह-भर शेष रह गया है।

कलकत्ता के एक संभ्रांत परिवार के श्री विदेश जाने से पहले अपनी माँ को और जया को, जो उनकी माँ के संरक्षण में पली है तथा श्री की बाल-सखी रही है, यह वचन दे जाते हैं कि वे लौटकर जया से विवाह करेंगे। स्वदेश लौटने से पहले वह यह सूचना भेजते हैं कि उन्होंने एडना नाम की लड़की से विवाह कर लिया है। यह खबर पाकर जया घर छोड़कर दार्जिलिंग आ जाती है, यहीं उसे तपन मिलते हैं। एक दिन संयोग से वे लोग एडना के माता-पिता के यहाँ पहुँच जाते हैं। एडना के पिता को जया अपनी ही बेटी की याद दिलाती है। बाद में उन्हें पता चलता है कि उनकी बेटी ने ही जया का सुख छीन लिया है।···जया तपन के बावजूद जैसे अपने को अकेला पाकर आत्म-हत्या कर लेती है···

संक्षेप में कहानी बताने की आवश्यकता समीक्षा में न होनी चाहिए। यह कहानी मैंने इसीलिए दी कि इसके लिए सोबतीजी ने एक ऐसा सपनीला संसार रचा है जो अर्थवान हो पाता अगर उसके सिरे कहानी में ही और वह भी कहानी की सतह से न जुड़े होते। प्रसंगों और सम्बन्धों की सूक्ष्मताओं को, बिंबों की तरह प्रतिष्ठित कर देने की रचनात्मकता भी 'तिन-पहाड़' में नहीं है कि कहानी को भुलाकर भी कुछ प्राप्त किया जा सके।

सौन्दर्य, स्निग्धता, प्रकृति—सबका आकर्षण होता है, सार्थक बनती है, लेकिन तभी जबकि वह पूरी बात का एक अंग बनकर आएँ—दोनों के स्वतन्त्र अस्तित्व बनाने या दोनों के बीच एक रूमानी परदा डाल देने से 'बात' के सिरे हाथ से छूट जा सकते हैं—केवल एक स्पर्शातीत प्रभाव बना रह सकता है।

तीन कहानी-संग्रह

रत्नलाल शर्मा

एक प्लेट सैलाब : मन्नू भंडारी की कहानियों में कोई बुनावट या बनावट नहीं होती, एकदम सादगी होती है, सहजता होती है। ऐसा लगता है, वह कहानी के ढाँचे को लेकर परेशान नहीं हैं। अपनी बात को कह देना ही असली बात है। कई बार ऐसा होता है, हम जो चाहते हैं वही मिल जाता है और लगता है जैसे कोई समस्या नहीं रह गई है। असलियत यही है कि समस्या का न होना भी समस्या है और हम उस अ-समस्या से ऊबकर वहाँ पहुँच जाते हैं जहाँ उलझन घेर लेती है। 'एक प्लेट सैलाब' की कहानियों में यह सचाई ज़रूर मिलेगी। हाँ, 'ऊँचाई' और 'एक बार और' में यह बात नहीं है। ये दोनों ही सैक्स-सम्बन्धों की कहानियाँ हैं। दोनों काफ़ी लम्बी हैं, बहुत हल्की हैं। इनमें अनावश्यक स्थल हैं। इनमें ज़िन्दगी नहीं है, सिर्फ़ शब्दों का चमत्कार है। दोनों में भावुकता है, यथार्थ की पकड़ ग़ायब है। दोनों में स्मृति-चित्र हैं, पीछे लौटने की स्थिति है। दोनों के पात्र अपने-आप में डूबते हैं और बीच-बीच में चौंक उठते हैं। दोनों का घटनास्थल पहाड़ है।

१. एक प्लेट सैलाब : लेखक : मन्नू भंडारी; प्रकाशक : अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, २/३६, अंसारी मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या : १५१; मूल्य : चार रुपये।
२. अपने पार : लेखक : राजेन्द्र यादव; प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २/३५, अंसारी मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या : ११६; मूल्य : तीन रुपये।
३. एक समर्पित महिला : लेखक : नरेश मेहता; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, ६, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७; पृष्ठ संख्या : १२१; मूल्य : तीन रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह बात साफ़ है कि उनकी कहानियों में कोई तीखापन नहीं होता, व्यंग्य की भारी चोट नहीं होती। वह जैसे किसी विषय को हलके से यों ही छू देती हैं और हमें लगता है, काफ़ी कुछ हमारे सामने आ गया। अक्सर यह होता है, कहानी के आरम्भ की स्थिति अन्त तक पहुँचते-पहुँचते बदल जाती है। इस बदलाव को दिखाना ही जैसे लेखिका के सामने मुख्यतः रहा है। 'नई नौकरी', 'कमरे, कमरा और कमरे' तथा 'बन्द दराज़ों का साथ' कहानियों में यही स्थिति है। 'नई नौकरी' में पति की महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने में पत्नी अपनी नौकरी (दस साल पुरानी) की बलि चढ़ा देती है और हलचल की ज़िन्दगी से अपने-आपको काटकर घर की चहारदीवारी में बन्द कर देती है। उसका काम घर को नई साज-सज्जा देना है। पहली तारीख़ को उसका पति अपना वेतन लाकर उसे देता है तो वह समझती है कि वह नई नौकरी पा गई है। वह पहले भी ऐसा महसूस करती रही है। इस कहानी का स्वर मुझे नहीं जँचा। इसमें नौकरी की क्या बात है? उसने अपनी नौकरी खुद ही छोड़ी थी, पति ने नहीं छुड़ाई थी। घर में उसे पूरी आज़ादी है; पर उसे सब-कुछ अखरता है, यों वह कभी कहती नहीं। वैसे कथाकार ने उसे हमारे जीवन से उठाया है, पूरे सन्दर्भों में उतारा है।

'बन्द दराज़ों का साथ' की मंजरी अपने पति को सम्पूर्ण रूप में पाना चाहती है, टुकड़े के रूप में नहीं। 'नई नौकरी' में स्वतंत्र व्यक्तित्व को पाने की तड़प है। मंजरी को जब टुकड़ा मिलता है तो वह टूट जाती है और बीच में एक पुत्र के होने के बावजूद वे दोनों अलग-अलग हो जाते हैं। फिर भी मंजरी को अखरता है तो वह दूसरा पति तलाश करती है। यहाँ फिर एक मुसीबत आ जाती है। वह मंजरी के बेटे को अच्छे स्कूल की शिक्षा नहीं दिला सकता। अब वह खुद बन्द दराज़ों के साथ की ज़िन्दगी बिताने के लिए मजबूर हो जाती है, जैसे समस्या का हल पा लिया हो। इस कहानी में हम देखते हैं कि संघर्ष पूरी तरह उभर कर सामने नहीं आता, उससे पहले ही समस्या का हल मिल जाता है। 'कमरे, कमरा और कमरे' में भी वही अतृप्ति है जो सब-कुछ मिल जाने पर भी बनी रहती है। मानव-मनोविज्ञान की इस कमज़ोरी को लेखिका ने पकड़ा है। ऐसा लगता है, कहानी में सब-कुछ सहज ढंग से होता चलता है, जैसे कहीं कोई रुकावट ही नहीं है। 'जो माँगो वही मिलेगा' का मन्त्र जैसे सिद्ध हो गया हो। यहाँ प्रश्न उठता है, क्या जीवन इतना सहज होकर चलता है? हो सकता है, कहानी के ढाँचे की सहजता के कारण यह प्रश्न उठा हो। वैसे यह बात उल्लेखनीय है कि मन्नू भण्डारी के स्त्री पात्र हाथ-पर-हाथ धरकर नहीं बैठते, भावुकता में भरकर नहीं रोते, कुछ-न-कुछ करते रहते हैं; असन्तोष से भरे रहते हैं तो क्या हुआ? असंतोष तो जीवन को गति देता है। ये दोनों अच्छी कहानियाँ हैं जबकि 'बाँहों का घेरा' साधारण कहानी है।

'संख्या के पार' मार्मिक कहानी है जिसमें हमारे समाज की उस कमज़ोर नस पर हाथ रखा है जहाँ पुरुष के लिए सब-कुछ जायज़ है, स्त्री कुछ नहीं कर सकती। पुरुष का हक़ स्त्री को घेरे रखता है। पति के मरने पर ससुराल वाले उसे किसी को बेच सकते हैं और यह अफ़वाह उड़ा सकते हैं कि वह भाग गई। मैके वाले ऐसी अफ़वाह पर आसानी से विश्वास करते हैं। अब वह अपने बच्चे से कभी नहीं मिल सकती। इस कहानी में ऐसी ही औरत की दर्द-भरी कहानी है जिसे उसकी बेटी के माध्यम से कथाकार ने पेश किया है। 'छत बनाने वाले' बड़ी आकर्षक कहानी है। एक युवक मेरठ में अपने ताऊजी के यहाँ आकर उनके परिवार के रंग-ढंग देखता है जिससे दोनों परिवारों का ढर्रा हमारे सामने आता है। यहाँ पूरे परिवार पर बूढ़े ताऊजी का आतंक है। वह सबको आदेश देते हैं, बड़ी कठोरता से उनका पालन करवाते हैं, यहाँ तक कि बेटे-बहुओं के सोने की व्यवस्था भी करते हैं। युग-चक्र को जैसे उन्होंने पकड़ रखा है, उसे घूमने नहीं देंगे। कम-से-कम अपने परिवार को बाहर की हवा नहीं लगने देंगे। अगर बाहर कुछ बदलता है तो उसकी निन्दा ज़रूरी है। कई स्तरों पर जीता हुआ हमारा समाज इसमें मिलेगा। इस सबको कथाकार ने बड़े ढंग से कहा है। कथाकार ने अपनी ओर से कोई टिप्पणी नहीं दी है, शरद की ओर से कोई टिप्पणी नहीं है। कथा का सूत्र ताऊजी के हाथ में है। वह अपनी बात बड़ी शान से कहते हैं, पर पाठक उसकी असलियत को जान जाता है। इसमें उस पुरानी पीढ़ी पर चोट है जो नई पीढ़ी को निकम्मा बना रही है, उसको पुराने रास्ते पर चलाने की हठधर्मी कर रही है।

इस संकलन की सबसे बढ़िया कहानी है 'एक प्लेट सैलाब' जिस पर इस संग्रह का नाम रखा गया है। इसमें कई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

शॉट्स हैं, हमारी आज की ज़िन्दगी के कई टुकड़े हैं। हर व्यक्ति की अपनी नियति है जिसे उसे भोगना है। पहले गेलॉर्ड के बाहर की मई की शाम और फिर भीतर का दृश्य। एक बड़े दृश्य में कई दृश्य, कई छोटी-छोटी बिखरी हुई कहानियाँ। अन्त में रिज़र्व बाल्कोनी में पहुँचते हुए बच्चे, बाहर खड़ी स्टेशन-वैगन से उतरकर, मुख्य द्वार से अन्दर हॉल में और बाल्कोनी में फैले हुए बच्चे-ही-बच्चे, अपनी सारी उछल-कूद के साथ। मानो गेलॉर्ड भी कोई ऐतिहासिक जगह है जिसे भावी नागरिक आज ही देख लेना, जान लेना चाहते हैं या अभिभावक-शिक्षक समझते हैं कि वे उसे भी जानें। बदलती हुई ज़िन्दगी की तस्वीर जो बड़े फलक पर बनी है। घर की ज़िन्दगी, दफ़्तर की ज़िन्दगी तो होती ही है, रेस्तराँ की ज़िन्दगी भी होती है जिसमें अगली-पिछली ज़िन्दगी लिपटी होती है, कहानी-लेखिका ने उसीको बखूबी पेश किया है। 'यही सच है' के बाद का यह कहानी-संग्रह ज़्यादा ज़ोरदार है।

अपने पार : राजेन्द्र यादव का यह कहानी-संग्रह 'टूटना' के बाद सामने आया है। इसमें दस कहानियाँ हैं। मेरा ख़याल है, आप मेरी बात पर एतराज़ करेंगे। तो मैं मान लेता हूँ, इसकी कई रचनाएँ कहानियाँ नहीं हैं।

संग्रह की सबसे पहली रचना 'अपने पार' है जिस पर इसका नाम रखा गया है। यह सबसे छोटी कहानी है। कहानी के नाम पर चमत्कार है। अगर इसमें हँसी-मज़ाक की बात होती तो इसे चुटकुला कहा जा सकता था। अब इसे चुटकुला-सा कहना चाहिए। इसमें किशोर अवस्था का नायक यह महसूस करता है कि उसके पापा के पास हर बार नई माँ होती है और उसकी मम्मी के पास नए अंकिल आते हैं। वह सोचता है, मम्मी मेरे लिए एक पापा क्यों नहीं ले आतीं, पर एकान्त क्षणों में वह अपनी मम्मी पर सोया हुआ पाता है कि वह पापा है।

'आत्म-साक्षात्कार' एक व्यक्ति-चित्र है जो लेख के आसपास है। इसमें फ़ेंटेसी के माध्यम से कथाकार के अंतरंग को देखने की कोशिश-भर है। 'शहर की यह रात और···' एक यात्रा-वर्णन है जिसमें कलकत्ता शहर की ज़िंदगी को रात के समय सड़कों पर देखने की कोशिश है। 'इसमें आँखों देखा हाल' की शैली में हल्की-सी रिपोर्टिंग है, कहानीकार की दृष्टि नहीं मिलती।

'चुनाव' और 'दायरा' हल्की कहानियाँ हैं। 'चुनाव' का मुख्य पात्र लेखक है जिसकी हालत हर तरह से खस्ता है, खूब पढ़ा-लिखा होने पर भी वह कोई नौकरी नहीं पा सका। लेखक के रूप में उसकी कोई हैसियत नहीं, उसकी प्रेमिका उसको छोड़ गई। ये सारी बातें उसके मन में दिल्ली की बस में सफ़र करते समय उभरती हैं। उसी समय एक नेता—अफ़सर टाइप आदमी एक व्यक्ति को नाजायज़ तौर पर दबाता है तो उसका मानसिक सन्तुलन खो जाता है। मतलब यह है कि वह अपने-आपको बदलने की कोशिश करता है, पर बदल नहीं पाता। 'दायरा' में रविवार के दिन मेहमानों से घिरे हुए एक परिवार की स्थिति है जब बाहरी ख़ातिरदारी और भीतरी कुढ़न के बीच उनकी अपनी ज़िन्दगी जैसे ग़ायब हो जाती है। सिर्फ़ रह जाती है पति-पत्नी के तन-मन की टूटन और बीच की दूरी। कहानी एक रविवार की है, पर कहानीकार छलांग लगाकर उसे दूसरे रविवार में भी पहुँचा देता है जब ये लोग दूसरों के मेहमान बनकर पूरा दिन गुज़ारने के लिए निकल पड़ते हैं। यह हिस्सा जोड़ा हुआ-सा लगता है और कहानी के असर को कम कर देता है। इसमें सिर्फ़ टालने की बात है। 'भविष्य के आसपास मँडराता अतीत' में पुरुष पात्र बदल नहीं पाता जिससे पति-पत्नी अलग-अलग हो जाते हैं। आत्महत्या के प्रयत्न के बाद पुरुष अपनी पुत्री से मिलने उसके स्कूल के रास्ते में जाता है जहाँ उसे पहचान ही नहीं पाता। टूटे सम्बन्धों और कुंठाओं की इस कहानी में कल्पना में रमने और अतीत की स्मृतियों में डूबने की स्थिति है। 'फ्रेंच लैदर' में चौंकाने की बात कथाकार के सामने मुख्य रही है, यों इसमें आज के जीवन की विसंगतियाँ उतरी हैं।

'अनुपस्थित सम्बोधन' सैक्स-सम्बन्धों की कहानी है। इसमें वर्तमान तो सिर्फ़ कहानी की पकड़ का बहाना है, अतीत ही मुख्यत: सामने आता है। सीमा का प्रेमी वर्तमान से पीछे नहीं जाना चाहता और सीमा वर्तमान में नहीं आ सकती। इसमें दो उपकथाएँ हैं जो मुख्य कहानी से जुड़ जाती हैं। यह साधारण कहानी है। 'रिमाइंडर' में कहानीकार को कुछ सफलता मिली है। उसने हमारे औपचारिक और बनावटी सामाजिक सम्बन्धों को खोलकर रख दिया है। इसका आख़िरी हिस्सा ज़्यादा ज़ोरदार है जहाँ पुराने मित्र केदार और नाथ एक-दूसरे से मिलकर बोर होते हैं और अपने प्रोफ़ेसर लाल से बचते हैं जिसके अहसान दोनों पर हैं। इसमें इन दो

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पात्रों के मन में याद के टुकड़े तैरते हैं यानी कोई सनसना नहीं। कहानी रोचक और गढ़ी हुई है।

इस संग्रह की एक विशेष उपलब्धि है 'मेहमान'। मेहमान तो वैसे ही बड़ा होता है, जब वह हमारे शहरी मध्यवर्गीय परिवार में आ जाता है तो घर में जैसे खलबली मच जाती है, घर का पूरा काम-काज ठप्प हो जाता है, पूरा घर मेहमान की मौजूदगी में सिमट जाता है। और जब मेहमान पद-सम्मान आदि की दृष्टि से बहुत बड़ा हो तो फिर मेज़बान की क्या हालत होगी—यह सब इस कहानी में उतारा गया है। यह कहानी हमारे घर को ही नहीं, हमारे देश को भी सामने रखती है। आज हमारे देश का शासन चलाने वाले हमारे नेता लोग सिर्फ़ मेहमान बनकर रह रहे हैं और मज़े ले रहे हैं। जनता उनकी मेहमाननवाज़ी में लगी हुई है, उनके बोझ से दबी जा रही है। जनता ने उनसे बहुत-सी अपेक्षाएँ पाल रखी हैं—शायद उनसे उनका कुछ काम बन जाए, उसकी हालत सुधर जाए; लेकिन इस तरफ़ नेता लोगों का ध्यान भी नहीं जाता। वे अपने-आपमें मस्त हैं। इसमें पात्रों को झटके नहीं लगते, पात्रों की भीतरी-बाहरी स्थिति खुलती जाती है जिसमें बनावट नहीं है।

'कहानियाँ : जो शायद मैं न लिखूँ' में कथाकार ने कुछ मुद्दे उठाए हैं—वह कहानी क्यों लिखता है? कहानी क्या होती है?

अब मैं अपने कुछ सवाल पेश कर देता हूँ। क्या यह ज़रूरी है कि कहानियों में अपने-आपको दोहराया जाए? क्या हर कहानी को छपवाना चाहिए? क्या हर प्रकाशित कहानी को संकलन में देना चाहिए? यहाँ आर्थिक पहलू आकर अड़ जाता है। प्रश्न है, क्या धन के लिए प्रतिष्ठा का सौदा किया जाए? मेरा ख़याल है, देशी-विदेशी भाषाओं के पाठक राजेन्द्र यादव के इस कथा-संग्रह को पढ़कर उनकी कहानियाँ पढ़ने की हिम्मत शायद ही करेंगे।

एक समर्पित महिला : नरेश मेहता ने कविता, नाटक, उपन्यास लिखे हैं और काफ़ी नाम पाया है। कहानी लिखने में भी वे लगे रहे हैं; पर यहाँ उन्हें कुछ नहीं मिला। उनका पहला कहानी-संग्रह 'तथापि' था जो अचर्चित ही रह गया। अब यह दूसरा संग्रह है। वह कहानीकार की हैसियत से प्रतिष्ठित नहीं हो सके हैं। इसका गिला-शिकवा उन्होंने इस संग्रह की भूमिका में प्रस्तुत संस्मरणों में किया है। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दी कहानी के क्षेत्र में गुटबाज़ी ज़ोरों पर है। नरेश मेहता इस गुटबन्दी में नहीं पड़े, इसलिए उनकी कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में देखने में नहीं आतीं। यह हमारी पत्रकारिता और कहानी का दुर्भाग्य है।

इस संग्रह की सबसे पहली कहानी 'एक समर्पित महिला' है जिस पर इस संग्रह का नाम रखा गया है। इसमें एक सम्भ्रान्त महिला के अन्दर-बाहर को खोला गया है जो दिल्ली की हलचलों में काफ़ी ऊपर थी; पर जिसके अन्दर काफ़ी हलचल मची हुई थी, जो अपने आदर्शों और अन्तर्द्वन्द्वों के लिए समर्पित हो गई। उसका आदर्श था कि वह लेखकों के लिए महान् चरित्र बने। यह काफ़ी ज़बर्दस्त कहानी है। शुरू में ज़रूर हल्की है जहाँ परिचयात्मक है, वहाँ भाषा भी सहज नहीं है। आगे चलकर भाषा-शैली सहज हो गई है और कहानी हमें बाँधे रखती है। 'श्रीमती मास्टन' भी अच्छी कहानी है। इसमें कथाकार ने श्रीमती मास्टन को यथार्थ भूमि पर पूरे संदर्भों में उतारा है जबकि एक बूढ़ी महिला झूठ और शराब की आदतों से घिरी हुई है। इससे साफ़ हो जाता है कि इन दोनों कहानियों में दो महिलाओं को दो सिरों पर रखा गया है—एक बहुत ऊँची है और दूसरी बहुत गिरी हुई है।

इन दोनों कहानियों के साथ हमें 'अनबीता व्यतीत' को भी रखना होगा जहाँ डॉ० द्रविड़ जैसे जड़ पुरुष को कथाकार ने पेश किया है। यह कहानी बोरियत-भरे दस सालों और ढेर सारे विवरण से गुज़रती हुई रोमांटिक क्षणों में जाकर समा जाती है। यह बड़ी हल्की कहानी है। इसमें जो ढाँचा कथाकार ने अपनाया है वह आज नहीं चलता। भाषा में उलझाव है, कहानी बड़ी बोझिल है। ऐसा लगता है जैसे निबन्ध लिखा जा रहा हो। एक नमूना पेश है—"सम्भवतः अवरोध रूप से विक्टोरियन-युग की हर चीज़ को न सही पर अधिकांश को तो निश्चय ही, न सही प्रगतिशील पर उन्नतिशील तो स्वीकारते ही थे। इसलिए अपने युग के बाद की मान्यताओं के प्रति न सही आद्यन्त पर किंचित् सशंक रहते ही थे।" मैं नहीं समझता, इस तरह की भाषा कहानी की भाषा हो सकती है। संदर्भ में रखकर देखने पर भी इसका कोई अर्थ नहीं निकलता।

इस तरह की कहानी में वह व्यक्ति के भीतर नहीं उतरते, उसकी मानसिक उथल-पुथल को नहीं पकड़ते। वह उसे बाहर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से लेते हैं। इससे पात्रों के लिए उनका रुख परिचयात्मक होता है। यहाँ उनसे शिकायत हो सकती है कि उन्होंने जैसा चाहा है, पहले तय कर लिया है, वैसा ही पात्रों को पेश कर दिया है। इससे कहानी बँधकर चलती है। इसीलिए 'वर्षा भीगी' भी एक साधारण रोमांटिक कहानी बनकर रह गई है। 'एक इतिश्री' में प्रेम-सम्बन्धों की समाप्ति पर आख़िरी शाम की मुलाक़ात है। इसमें कथाकार 'अनबीता व्यतीत' की भाषा और उसके ढाँचे से बाहर आया है। इसमें हमारे आज के बनावटी और अपने-आपमें डूबने वाले जीवन के एक पहलू को उजागर किया गया है।

मौत की स्थिति को लेकर पिछले सालों में बहुत-सी कहानियाँ हिन्दी में आई हैं। उनमें से एक कहानी 'एक शीर्षकहीन स्थिति' भी है जो बहुतों से अच्छी है फिर भी बहुत बढ़िया नहीं है। इसमें ईसाई-परिवार के संदर्भ में लाश उठाने से लेकर कब्र में दफ़नाने तक की स्थिति है जिसमें अलग-अलग लोगों की प्रतिक्रियाएँ पकड़ने की कोशिश है।

इस संग्रह की छह कहानियों में से तीन कहानियाँ चरित्र-प्रधान हैं और बाकी तीन में ख़ास स्थिति का चित्र है। दो के अलावा बाकी लम्बी कहानियाँ हैं। अवश्य ही ये (आख़िरी कहानी को छोड़कर) पठनीय कहानियाँ हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अव्यापारेषु व्यापार

यशदेव शल्य

श्री मेघजी ने 'आलोचना' के पिछले अंक में मेरी आपत्तियों का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। इस प्रसंग में उन्होंने भाषा-सम्बन्धी फिलसफा देने का उपक्रम भी किया है। मैं उन्हें ऐसी चीज़ों से परहेज़ करने का परामर्श दूंगा। जहाँ तक शब्दों का प्रश्न है, 'आधि' कोई उपसर्ग नहीं है, 'अधि' उपसर्ग है। इस उपसर्ग से 'अधिभौतिक' शब्द बनेगा। 'मेटाफ़िज़ीक्स' शब्द 'मेटा + फ़िज़ीक्स' इस प्रकार यौगिक पद है। फ़िज़ीक्स भौतिक विज्ञान को कहते हैं भूत-द्रव्य को नहीं, अतः इससे हिन्दी पर्याय बनेगा 'अतिभौतिकी' अथवा चाहें तो, 'अधिभौतिकी'। किन्तु सामान्यतः यह शब्द इस यौगिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता, 'तत्त्वमीमांसा' इस रूढार्थ में ही प्रयुक्त होता है। मेघजी जो भाषा-क्रीड़ा की बात कर रहे हैं उसके अनुसार और भी आवश्यक है कि शब्दों का प्रयोग रूढार्थ में हो। 'आधिभौतिक' शब्द तो रूढार्थक भी नहीं है, यहाँ यह उतना ही उपयुक्त है जितने 'वस्तु', 'गाय', 'घोड़ा' आदि होते। 'संघटना' शब्द का औचित्य बताने के लिए वे 'मध्ययुगीन' मम्मट का सहारा लेते हैं, किन्तु वे यह नहीं बताते कि यह 'फिनोमिना' के लिए कैसे उपयुक्त हुआ, या उसके नज़दीक कैसे हुआ ? फिर, मैंने तो यह भी पूछा था कि 'यह मेटाफ़िज़ीकल फिनोमिना' क्या बला होती है ? यह प्रश्न शब्दों-विषयक नहीं था, यह उनकी उस भाषा-क्रीड़ा-विषयक ही था जिसकी चर्चा से परहेज़ करने का परामर्श मैं उन्हें ऊपर दे चुका हूँ, क्योंकि ऐसे अपथ्यों के उपयोग से ही बहुत-से मित्रों को अपचन हो रही है। यही 'वैश्वक' शब्द के लिए भी सही है। मैंने कहा, 'वैश्वक' कोई शब्द नहीं है, 'वैश्व' से क्या काम अधूरा रहा जो आपको 'वैश्वक' घड़ने की आवश्यकता हुई ? फिर, 'पर्टिकुलर' के विपरीतार्थक के रूप में 'वैश्व' कैसे उपयुक्त है, यह उन्होंने नहीं बताया। 'डैथ इज़ ए यूनीवर्सल फिनोमिना' इस वाक्य में 'यूनीवर्सल' का पर्याय 'वैश्व' हो सकता है, किन्तु उनके वाक्य 'क्रियाएँ और संज्ञाएँ ही पर्टिकुलर से यूनीवर्सल हो जाती हैं' में 'वैश्व' नहीं चलेगा, क्योंकि 'गाय' से 'गोत्व' अथवा 'चलना' से 'चाल' शब्द 'वैश्व' नहीं 'सामान्य' हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश इस ग़लती के पीछे अज्ञान बहुत गहरा है जो इस वाक्य से पहले और पीछे के दो वाक्य पढ़कर स्पष्ट होता है।

यह हर्ष की बात है कि अपनी अन्य ग़लतियाँ उन्होंने मौनपूर्वक मान ली हैं।

नये शब्द घड़ना, प्रचलित शब्दों का नये अर्थों में प्रयोग करना, यह सब पूर्णतः उपयुक्त है। किन्तु उसका भी एक तर्क होता है। उन्होंने आचार्य द्विवेदीजी द्वारा 'मिथक' शब्द घड़े जाने की बात कही। यह शब्द द्विवेदीजी ने इसलिए घड़ा क्योंकि अंग्रेज़ी शब्द 'माइथोलोजी' के प्रयोग के सन्दर्भ हिन्दी के उपलब्ध पर्याय 'पुराण' के प्रयोग के सन्दर्भ से थोड़े भिन्न हैं। मैंने अपने लेखों में हिन्दी पर्याय की असम्यकता के बावजूद इसी शब्द का अर्थ-विस्तार करना उपयुक्त समझा। अब यदि द्विवेदीजी 'माइथोलोजी' के लिए 'आध्यात्म' शब्द का प्रयोग करते तो कहा जाता कि उन्हें कम-से-कम शब्द का अर्थ मालूम नहीं है और हिन्दी शब्द के हिज्जे मालूम नहीं हैं। और जैसाकि मैंने दिखाया, मेघजी को न अंग्रेज़ी शब्द के अर्थ मालूम हैं, न हिन्दी के, और न हिन्दी शब्द के हिज्जे मालूम हैं। उन्हें अपनी वह टकसाल तो तुरन्त बन्द कर देनी चाहिए जिसमें 'पाणिवृत्तीय' और 'कलादशकोणीय' जैसे शब्द घड़े जा रहे हैं। ये शब्द शब्द-घड़ने के किसी भी तर्क के अनुसार नहीं बनाये जा सकते। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का 'निजन्धर' शब्द भी कम दुर्भाग्यपूर्ण नहीं है। 'लेजेंड' का हिन्दी पर्याय बनाने के तीन विहित ढंग हो सकते हैं—किसी पूर्वप्रचलित निकट हिन्दी-पर्याय का अर्थ-विस्तार करना, किसी संस्कृत धातु से नया पर्याय बनाना जो इस शब्द के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूढार्थ का अर्थवाहक हो सके, अथवा अंग्रेज़ी शब्द का ही प्रयोग करना, 'मिथक' शब्द के समान। 'निजन्धर' शब्द इनमें से किसी शर्त को पूरा नहीं करता। इन शर्तों को जो शब्द पूरा नहीं करता वह रूढ शब्द कहा जाएगा—योग-रूढि नहीं, और रूढ शब्द 'फूल', 'पत्ती' आदि शब्दों के समान संज्ञा-पद ही होते हैं। और नये संज्ञा-पद किसी संज्ञा-पद के ही पर्याय के रूप में घड़े जा सकते हैं, यौगिक पदों के पर्याय के रूप में नहीं। तब भी 'निजन्धर' शब्द अनुपयुक्त तो है, निरर्थक नहीं, क्योंकि प्रयोग-कर्त्ता को 'लेजेंड' शब्द का अर्थ मालूम है और परिणामतः सार्थक वाक्य में सार्थक अंग्रेज़ी शब्द का मूक प्रतिनिधि है।

जहाँ तक द्वंद्व-न्याय का प्रश्न है, इसके सम्बन्ध में भी मेघजी भयानक भ्रम में हैं 'डायलेक्टिक्स' वैज्ञानिक पद्धति है, यह उन्हें किसने बताया? यह शब्द आधुनिक दर्शन में दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—एक में कांट के द्वारा और दूसरे में हेगल के द्वारा। 'द्वन्द्व-न्याय' शब्द का प्रयोग हेगेलीय प्रयोग के अर्थ में हिन्दी में प्रचलित है। बेचारे न्यूटन का तो इससे दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। पुनः, यदि यह मान भी लिया जाय कि डायलेक्टिक्स कोई वैज्ञानिक पद्धति है, तो क्या सांख्य और वेदान्त भी वैज्ञानिक पद्धतियाँ हैं? कोई हेगल या मार्क्स का अनुयायी सांख्य या वेदान्त को थीसिस, एंटी-थीसिस या साइंथीसिस अथवा सापेक्षतः तीनों, कह सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह थोड़े ही है कि सांख्य में द्वन्द्व-न्याय है? आखिर क्या हुआ है मेघजी को? क्या जरूरी है कि अव्यापारेषु व्यापार करें?

इस अव्यापार की प्रवृत्ति हिन्दी-लेखन में बहुत बढ़ होने से ही मुझे यह आवाज़ उठानी पड़ी है। आज स अस्तित्ववाद, समाजशास्त्र और न जाने किस-किसमें अपनी अभिज्ञता प्रदर्शित करने को उतावले हैं, जबकि परिचित उ साहित्यशास्त्र से भी नहीं हैं जिससे परिचित होने की उन अपेक्षा की जाती है (यद्यपि, मेघजी साहित्य शास्त्र-मर्मज्ञ हैं इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है।) यह निराधार उच्छृंखलता हिन्दी में आज के सम्पूर्ण तथाकथित 'आधुनिकता-बोध' को विशेषित कर रही है। मैं अपने इन मित्रों को विश्वास दिलाता हूँ कि यदि वे इन 'आधुनिक शास्त्रों' को कुछ जानते पाते तो उनका इनके प्रति वैसा सम्मोह नहीं रहता जो उन्हें दिखाई पड़ रहा है।

भूल-सुधार

जुलाई-सितम्बर '६८ की 'आलोचना' में प्रकाशित श्री विष्णुचन्द्र शर्मा के निबन्ध 'विरोध की वास्तविकता और विद्रोह की कविता' में कृपया मंगलेश दुग्गल के स्थान पर **मंगलेश डबराल** पढ़िए। ● ● ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध पुरस्कार

समकालीन कविता में सार्थक रचना की पहचान और उसके सम्मान के लिए **कविता-समाज** दिल्ली की ओर से एक वार्षिक पुरस्कार का आयोजन किया गया है। पुरस्कार की प्रतिज्ञाएं ये हैं :

१. पुरस्कार का नाम 'मुक्तिबोध पुरस्कार' होगा।

२. यह पुरस्कार हर साल किसी ऐसे युवा कवि को दिया जायेगा जिसने अभी तक कोई कृति पुस्तक-रूप में प्रकाशित न की हो।

३. पुरस्कार के लिए कवि का चुनाव पिछले एक वर्ष के भीतर प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाली कविताओं के आधार पर किया जायेगा। मगर पहले पुरस्कार के लिए १९६६-१९६८ के भीतर प्रकाशित कविताओं पर विचार किया जायेगा।

४. पुरस्कार का निर्णय प्रस्तावक-मण्डल करेगा। निर्णय बहुमत के आधार पर होगा।

५. पुरस्कार के रूप में पुरस्कृत कवि को कविता-समाज के प्रशस्ति-पत्र के साथ १,००० रु० की धनराशि भेंट की जायेगी।

६. पुरस्कार की रकम प्रतिवर्ष प्रस्तावक-मण्डल के सदस्य अपने पास से दिया करेंगे।

७. पुरस्कार स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध की जन्म-तिथि के आस-पास नई दिल्ली में आयोजित एक समारोह में दिया जाएगा।

८. इस समारोह में पुरस्कृत कवि के सम्बन्ध में एक निबन्ध-पाठ के अतिरिक्त समकालीन कविता के किसी पक्ष-विशेष पर परिसंवाद का भी आयोजन होगा।

९. पुरस्कार की प्रक्रिया के किसी भी चरण में किसी भी प्रकार की गोपनीयता नहीं बरती जायेगी। प्रत्येक प्रस्तावक अपने निजी मत की सार्वजनिक घोषणा करने के लिए स्वतंत्र होगा।

'आलोचना' त्रैमासिक ने इस पुरस्कार से सम्बन्धित समारोह की व्यवस्था का भार अपने ऊपर ले लिया है, और राजकमल प्रकाशन, प्रा० लिमिटेड, दिल्ली ने प्रतिवर्ष पुरस्कृत कवि की पहली कृति प्रकाशित करना स्वीकार किया है।

प्रस्तावक मंडल

नेमिचन्द्र जैन — सुरेश अवस्थी — नामवर सिंह

भारतभूषण अग्रवाल — अशोक बाजपेयी — शमशेर बहादुर सिंह

श्रीकान्त वर्मा — रामकुमार — अजितकुमार — राजीव सक्सेना

कविता-समाज
सी/५६ जंगपुरा ऐक्सटैन्शन, नई दिल्ली-१८

पुस्तकालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'राजकमल' का आलोचना-साहित्य

नाटचशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृथ्वीनाथ द्विवेदी	१०.००
साहित्यिक निबन्ध	डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु	३.५०
मधुर रस—स्वरूप और विकास, भाग-१	रामस्वार्थ चौधरी 'अभिनव'	१८.००
मीरा की प्रेम साधना (संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण)	भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'	१०.००
हिन्दी उपन्यास	डॉ० सुषमा धवन	११.००
हिन्दी काव्य में अन्योक्ति	डॉ० संसारचन्द्र	१४.००
आलोचना के सिद्धान्त	शिवदानसिंह चौहान	३.५०
आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त	शिवदानसिंह चौहान, डॉ० एस० पी० खत्री	१०.००
हिन्दी रीति-साहित्य	डॉ० भागीरथ मिश्र	५.००
प्रेमचन्द : एक विवेचन	डॉ० इन्द्रनाथ मदान	४.५०
आज का हिन्दी उपन्यास	,, ,,	४.५०
हिन्दी गद्य-काव्य (द्वितीय संस्करण)	डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'	११.००
प्रेमचन्द और गोर्की	सं० शचीरानी गुर्टू	६.००
कलम का मज़दूर : प्रेमचन्द	मदनगोपाल	११.००
प्रतिक्रियाएँ	डॉ० देवराज	८.००
प्रगतिवाद	डॉ० शिवकुमार मिश्र	७.००
रहस्यवाद	डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी	७.००
हिन्दी कहानी—अपनी ज़बानी	डॉ० इन्द्रनाथ मदान	७.५०
प्रेमचन्द	डॉ० गंगाप्रसाद विमल	७.००
हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा	डॉ० रामदरश मिश्र	८.००
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	डॉ० रामविलास शर्मा	५.००
प्रेमचन्द और उनका युग (संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण)	,,	७.००
सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व	डॉ० कुमार विमल	१२.५०
बदलते परिप्रेक्ष्य	नेमिचन्द्र जैन	७.००
कविता के नये प्रतिमान	डॉ० नामवरसिंह	१०.००
छायावाद	,,	७.५०
निराला की साहित्य-साधना	डॉ० रामविलास शर्मा	२७.००
समीक्षा के संदर्भ	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	६.००

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्त्वपूर्ण आलोचना ग्रन्थ

केशव का आचार्यत्व

डा० विजयपाल सिंह,
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय

२०.००

हिन्दी साहित्य के मध्य युग में जिन कलाकारों ने कवि-कर्म के साथ-साथ आचार्यत्व की भी पदवी प्राप्त की, उनमें केशव का स्थान सर्वोपरि है। डी० लिट् के लिए स्वीकृत इस शोध-प्रबन्ध से केशव के पूर्ववर्ती, परवर्ती और समकालीन काव्य परम्पराओं की विशद पीठिका पर उनके स्वरचित ग्रन्थों के आधार पर उनके आचार्यत्व का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत हुआ है। सभी पुस्तकालयों तथा साहित्य के अध्येताओं के लिए संग्रहणीय।

बच्चन का परवर्ती काव्य डा० श्यामसुन्दर घोष	६.००
हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति काव्य डा० भास्करन नायर	१५.००
हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन डा० जी० सुन्दर रेड्डी	४.००
हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन डा० एस० एन० गणेशन	१५.००
आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली डा० रांगेय राघव	१०.००
हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास डा० दशरथ ओझा	१२.००
संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद डा० देवेन्द्रकुमार	१३.००
काव्य में उदात्त तत्व डा० नगेन्द्र और नेमिचन्द्र जैन	३.००
समीक्षा शास्त्र डा० दशरथ ओझा	६.००
तुलसी और उनका काव्य रामनरेश त्रिपाठी	१०.००
तुलसीदास : चिन्तन और कला डा० इन्द्रनाथ मदान	६.००
केशव और उनका साहित्य डा० विजयपाल सिंह	१५.००
कवियों में सौम्य संत : सुमित्रानन्दन पन्त डा० हरिवंशराय बच्चन	५.००
आज का भारतीय साहित्य, सं० साहित्य अकादमी	८.००

राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य अकादेमी के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

सात युगोस्लाव कहानियाँ

युगोस्लाविया की वीर जनता ने जिस प्रकार हिटलर की ताक़त से लोहा लिया, वर्णनातीत कष्ट झेले और फिर राष्ट्रों की बिरादरी में सम्मानपूर्ण स्थान पाया, वह हम सबकी सराहना का विषय रहा है। मृत्यु के साथ खेलने को तत्पर और जीवन से अटूट प्यार करने वाले इन जनों के साहित्य में उनकी निष्ठा और लगन का मार्मिक प्रतिबिम्ब मिलता है। इस संग्रह में नोबेल पुरस्कार-विजेता **ईवो आँद्रिच** के अतिरिक्त भारत-प्रेमी **सिदोमीर सिन्दरोबिच, ब्रांको कोपिच व्येकोस्लाव कालेब, इवान कंकर, बोरा स्तांकोविच** एवं **जारा रिब्निकार** की कहानियाँ हैं। अनुवादक हैं हिन्दी के विशिष्ट लेखक **प्रभाकर माचवे**। डिमाई साइज के ६८ पृष्ठ। प्रसिद्ध कलाकार **रामकुमार** द्वारा अंकित प्रच्छद पट से युक्त इस ग्रंथ का मूल्य है २.५० मात्र। द्वितीय संस्करण।

झोंपड़ी वाले और अन्य कहानियाँ

आधुनिक रूमानियायी साहित्य में **मिहाइल सादोवैनू** का वही स्थान है जो हिन्दी में प्रेमचन्द का। उनकी रचनाएँ सच्चे अर्थों में रूमानिया के जन-जीवन की प्रतिनिधि हैं। उनमें रूमानियायी जनों के विश्वासों, रीति-रिवाजों और प्रथाओं के परिचय के साथ-साथ उनके दीर्घ जीवन के विशिष्ट प्राकृतिक परिवेश की भी झाँकी मिलती है। इस पुस्तक में मिहाइल सादोवैनू के लघु उपन्यास **अंधा भिखारी, गरीबों का न्याय** और **पानी महाराज जाहारिया की कथा** सम्मिलित हैं। अनुवादक हैं हिन्दी के विशिष्ट कथाकार **निर्मल वर्मा**। डिमाई साइज के १६४ पृष्ठ। प्रसिद्ध कलाकार **रामकुमार** द्वारा अंकित प्रच्छद पट से युक्त इस संस्करण का मूल्य है : ४.५०। द्वितीय संस्करण।

केशवसुत

आधुनिक मराठी काव्य के अग्रदूत की यह प्रेरणाप्रद जीवनी डॉ० प्रभाकर माचवे ने लिखी है। पुस्तक में कवि की चुनी हुई कविताओं का हिन्दी अनुवाद भी सम्मिलित है। मूल्य : २.५० रुपये। दूसरा संस्करण।

लक्ष्मीनाथ बेज़बरुवा

आधुनिक असमिया साहित्य के जनक और प्रख्यात पुरस्कर्ता के जीवन और कृतित्व का यह आकलन विख्यात असमिया कवि और मनीषी प्रोफ़ेसर हेम बरुआ ने किया है। मूल्य : २.५० रुपये।

प्रेमचन्द

हिन्दी और उर्दू कथा-साहित्य में आधुनिक युग के प्रवर्तक अमर शिल्पी का यह आत्मीय परिचय विख्यात समीक्षक प्रोफ़ेसर प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा है। विद्वान् लेखक ने बड़ी निष्ठा से प्रेमचन्द के सृजनात्मक व्यक्तित्व का विश्लेषण किया है। मूल्य : २.५० रुपये।

अपनी प्रति के लिए आज ही लिखें :

साहित्य अकादेमी

रवीन्द्र भवन ३५, फिरोज़शाह रोड,

नई दिल्ली-१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूर्धन्य आलोचक डॉ० नगेन्द्र

के

महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

रस सिद्धान्त	२५.००
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	२०.००
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	१२.५०
देव और उनकी कविता	७.००
आलोचक की आस्था	७.००
रीतिकाव्य की भूमिका	५.५०
विचार और अनुभूति	४.५०
विचार और विवेचन	४.५०
विचार और विश्लेषण	६.००
अनुसन्धान और आलोचना	४.००
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	४.५०
सियारामशरण गुप्त	७.५०
कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ	३.००
काव्य-बिम्ब	४.००
चेतना के बिम्ब	५.००
तंत्रालोक से यंत्रालोक तक	३.००

डॉ० नगेन्द्र

का

नवीनतम बृहत् ग्रन्थ

आ स्था के च र ण

३० वर्षों की सर्जनात्मक साधना

का नवनीत

•

१०१ समीक्षात्मक निबन्धों का

महत्त्वपूर्ण संग्रह

•

बड़े आकार में साढ़े सात-सौ से भी अधिक

पृष्ठ सुमुद्रित : आकर्षक साज-सज्जा

५०.००

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

२।३५, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० नामवर सिंह की एक महत्त्वपूर्ण कृति

कविता के नये प्रतिमान

सुविज्ञ समालोचक डॉ० नामवर सिंह ने इस पुस्तक में समकालीन हिन्दी आलोचना के अन्तर्गत व्याप्त मूल्यान्ध वातावरण का विश्लेषण करते हुए उन काव्य-मूल्यों को रेखांकित करने का प्रयास किया है जो आज की स्थिति के लिए प्रासंगिक हैं।

प्रथम खण्ड में छायावादोत्तर कविता की उपलब्धि पर हुए दो दशकों के मूल्य-विवाद की पड़ताल है और दूसरे खण्ड में 'कविता के नये प्रतिमान' के नाम पर आलोचनात्मक पदों की सार्थकता का सोदाहरण परीक्षण किया गया है।

मूल्य : १०.००

आत्महत्या के विरुद्ध

रघुवीर सहाय का बहुचर्चित कविता-संग्रह

'Raghuvir Sahai is purely individual in his approach.'

—ENLITE

•

" 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताएँ समसामयिक हैं। वे 'लाखों का दर्द' नये शब्दों में व्यक्त करती हैं।"

—शिवबच्चन सिंह

और •

'रघुवीर सहाय का कवि न केवल अज्ञेय से बहुत दूर निकल आया है, वरन अपने साथी कवियों से भी वह भिन्न है।'

—अश्क

मूल्य : ५.००

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK
यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

आगामी अंक में

- ग़ालिब शताब्दी के उपलक्ष्य में विशेष सामग्री ।
- केदारनाथ सिंह की कविताएँ ।
- समकालीन कविता पर निबंध : 'समकालीन कविता: अंधेरे से साक्षात्कार' (सुरेन्द्र चौधरी), 'कविता की भाषा' (परमानन्द श्रीवास्तव), 'भाषा, कविता और राजनीति' (कमलेश), और 'कविता और राजनीति' (मुरली मनोहर प्रसाद सिंह)
- साठोत्तरी कहानी पर विजयमोहन सिंह का समीक्षात्मक निबंध ।
- आज के उपन्यास पर विजयदेव नारायण साही का निबंध ।
- पुस्तक-समीक्षाएँ तथा कविताएँ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'निराला जैसा साहित्यकार सदियों में कभी एक होता है'

—महादेवी वर्मा

और

'निराला की साहित्य-साधना' जैसी पुस्तक भी हजारों में एक सिद्ध होगी

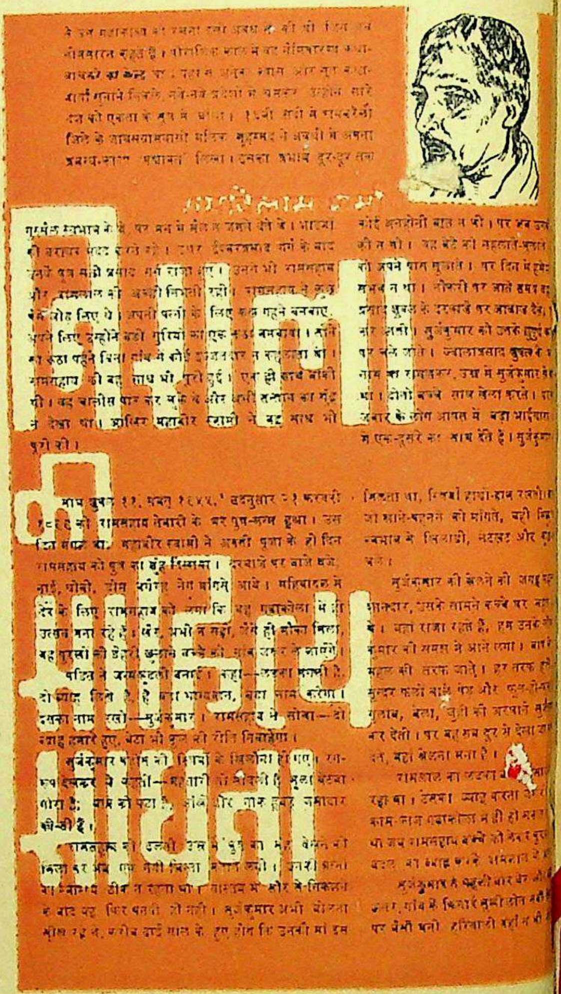

निरालाजी की ७१वीं जयन्ती पर भेंट
डॉ० रामविलास शर्मा की महान्
ऐतिहासिक कृति

★

"'निराला की साहित्य-साधना' एक साहित्यकार का जीवन चरित है। इसलिए इसमें किसी हद तक उनके साहित्य का मूल्यांकन भी शामिल है। यह पुस्तक मुख्यतः उनके साहित्य की आलोचना नहीं।"

—'भूमिका' से

तीन खण्डों में प्रकाशित की जा रही इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में निराला का जीवन चरित है, दूसरे में कला और विचारधारा का विवेचन, तीसरे में जीवन और साहित्य से सम्बन्धित पत्र व अध्ययन सामग्री।

पहला खण्ड प्रकाशित

पृष्ठ : ६३०, मूल्य रु० २७.००

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली • पटना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०

PR
८८
दि३६अ

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैमासिक आलोचना

सम्पादक : नामवर सिंह

PR

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

गुरुकुल कांगड़ा विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
विषय संख्या ८८
पुस्तक संख्या दि 36 आ
अ० दि० ६८
आगत पंजिका संख्या ४६,४५६
पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है । कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें ।

त्रैमासिक
...ध सम्पादिका : शीला सन्धू

...क में

कामायनी : एक असफल कृति — इन्द्रनाथ मदान — १८
शुक्लोत्तर आलोचना : एक विश्लेषण — नित्यानन्द तिवारी — ३७

● पाश्चात्य आलोचना की नई प्रवृत्तियाँ

टी० एस० इलियट और 'नई आलोचना' — रामसेवक सिंह — ४२
शिकागो समीक्षक — डॉ० राजनाथ — ६१
नॉर्थ्रप फ्राई के मूलरूपकीय आलोचना-सिद्धान्त — शिवमूर्ति पाण्डेय — ६९
...लधर (कविता) — प्रमोद सिनहा — ७७

...नी

...हत होते जाने और किए जाने ...जिजीविषा का नामांकन — हृषीकेश — ८३

● हंगेरियन कविता

मिक्लोश रॉद्नोति की दो कविताएँ — अनु० गिरधर राठी — ८...
कब्रगाह की ज़मीन में (कविता) — देवेन्द्रकुमार — ९...

● नाट्य-रंग

अभिनय की शैली — वीरेन्द्र नारायण — ९...

● मूल्यांकन

राग दरबारी : कला-रूपों की नैतिकता का सवाल — कमलेश — ९...
चीज़ें लगातार मेरे हाथ से फिसल रही हैं — विष्णु खरे — १०...
भाषा की दीवार के आस-पास — प्रयाग शुक्ल — १...
तीन कहानी-संग्रह — रत्नलाल शर्मा — १...

● विनिमय

अव्यापारेषु व्यापार — यशदेव शल्य — १...

...० (पूर्णांक ४४) अक्तूबर-दिसम्बर १९६८, मूल्य ३.००
डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १४.८०
विदेशों में—१६.००
...ा डी० ई० बी/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८
...पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar
पुस्तकालय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार।

प्रायः आलो...
स्फूर्तिजन्य ...
और विशिष...
दण्ड उस प...
चाहे सही ...
के मापदण्ड...
पर यह सर्व...
उद्भूत है अ...
आज की स...
दो स्तरों में...
भाषा का ...
वास्तविकत...
संकेत को उ...
भाषागत सं...
है।" साम...
सम्बन्धों को...
भाषा भाषा...
वाले अर्थों ...
इसके विप...
सम्बन्ध को ...
सम्बन्ध को ...
महत्त्व—ए...
शब्द और अ...
सर्जनात्मक ...
स्टैटिस्कल ...
लिंग्विस्टिक...
भारती...
विवेचन के ...
काव्य का प्र...
होता है औ...
बोद्धव्य आ...
अर्थ की खो...

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

NOT TO BE ISSUED

काव्य भाषा और काव्येतर भाषा

विद्यानिवास मिश्र

प्रायः आलोचकों के मन में यह भ्रम है कि काव्यभाषा स्वतः-स्फूर्तिजन्य होने के कारण अपने-आप सामान्य भाषा से पृथक् और विशिष्ट है, इसलिए सामान्य भाषा के अध्ययन के मापदण्ड उस पर नहीं लागू किये जा सकते। इस अंश में यह बात चाहे सही भी हो कि काव्यभाषा के विवेचन में सामान्य भाषा के मापदण्ड को और अधिक विशिष्टात्मक बनाना होता है, पर यह सर्वथा निर्विवाद है कि काव्यभाषा सामान्य भाषा से उद्भूत है और सामान्य भाषा जो कल आने वाली है वह आज की समर्थ काव्यभाषा में मौजूद है। वस्तुतः भाषा के इन दो स्तरों में अन्तर उद्देश्य का है न कि स्वरूप का! सामान्य-भाषा का उद्देश्य डोलोज़ेल के शब्दों में—"भाषा की बाह्य वास्तविकता (अर्थात् बाह्य अर्थ) के ग्रहण की ओर भाषागत संकेत को उन्मुख करना है, जबकि काव्यभाषा का उद्देश्य भाषागत संकेत में ही बाह्य अर्थ का ध्यान केन्द्रित करना है।" सामान्य भाषा संकेत और संकेतित के बीच स्थिर सम्बन्धों को विचलित नहीं करती, दूसरे शब्दों में सामान्य भाषा भाषा के साधनभूत संकेतों और उनसे बोधित होने वाले अर्थों के नियमों का एक स्वयंचालित यन्त्र है। ठीक इसके विपरीत काव्यभाषा को शब्द और बाह्य अर्थ के सम्बन्ध को अंशतः विघटित करके या कम-से-कम उसके स्थिर सम्बन्ध को कुछ मोड़ दे करके भाषागत संकेत को एक नया महत्त्व—एक नयी अर्थ-गर्भता प्रदान करनी होती है। इससे शब्द और अर्थ-सम्बन्धी नियमों को स्वयंचालित रूप में नहीं सर्जनात्मक रूप में प्रवर्तित करना पड़ता है।" (डोलोज़ेल : **स्टेटिस्कल थ्योरी ऑफ़ पोएटिक लैंग्वेज, मैथमेटिकल लिंग्विस्टिक्स, प्राग स्कूल**)।

भारतीय काव्य-शास्त्र में बहुत पहले शब्द-शक्तियों के विवेचन के प्रसंग में यह बात अनेक बार दोहराई गई है कि काव्य का प्राणभूत व्यंग्यार्थ शब्द-व्यापार के ही द्वारा उद्बुद्ध होता है और व्यंजना वस्तुतः भाषागत विविध सन्दर्भों (वक्ता, बोद्धव्य आदि) की सहायता से शब्द में निहित वाच्येतर अर्थ की खोज है या वाच्य अर्थ अनुपपन्न होने की दशा में वाच्य-सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति का मूलभूत प्रयोजन है। काव्यार्थ का रहस्य शब्द से ही उन्मीलित होता है। हाँ, उन्मीलन का साधन शब्दार्थ-नियम-ज्ञान से अतिरिक्त एक पदार्थ होता है, जिसे प्रतिभा कहा गया है। प्रतिभा शब्द और अर्थ के सम्बन्धों को एक से अधिक धरातलों पर उठाकर रखने की रचयित्री शक्ति है। वह शब्द और अर्थ के साहित्य के निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न संस्कार है।

आधुनिक भाषा-विज्ञान ने इसीलिए यह मानना शुरू कर दिया है कि काव्य की भाषा का भी अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टि से किया जा सकता है और इसके ऊपर भी भाषा-विश्लेषण के सिद्धान्त और प्रक्रिया-विधान लागू किये जा सकते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि सामान्य भाषा में अवतरण-गत समग्र संघटना के महत्त्व पर बल नहीं रहता, जबकि काव्यभाषा के अवतरण का अर्थ उस भाषा के समग्र अर्थ की पृष्ठभूमि में ही अवस्थित होता है और उस समग्र अर्थ की सम्पूर्ण सम्भावनाओं का जब तक मन्थन नहीं कर लिया जाता, तब तक सार्थक काव्यार्थ जन्म नहीं लेता और वह यदि सामान्य भाषागत अर्थ से किसी माने में विशिष्टता रखता है तो इसी माने में कि सामान्य अर्थ को उसकी समग्र सम्भावना के समक्ष लाकर खड़ा कर देता है, उसे अकेले विलग नहीं रहने देता। जैसा कि हैलिडे ने सोचा है, "काव्यभाषा को बिना इस रूप में ग्रहण किये कि वह एक व्यक्ति द्वारा उसकी कुछ सम्भावनाओं में से सोद्देश्य चयन है, उसका पूर्ण संप्रेषण सम्भव नहीं है!" (**डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स एण्ड लिटररी स्टडीज़**) इस सोद्देश्य रचनात्मक चयन के ही कारण काव्य में एक निजता या व्यक्तित्व का उदय होता है और इसका बार-बार आवर्तन ठीक उसी रूप में आकलन सुकर हो जाता है और यह हमें इसके लिए प्रेरित करता है कि हम ठीक उसी रूप में इसे दोहरा सकें, पढ़ने या सुनने के बहुत समय बाद भी दोहरा सकें। वस्तुतः इसी प्रेरणा के कारण जहाँ रचनात्मक प्रतिभावाले व्यक्ति दोहराकर भी नये अर्थ से उसे जोड़ सकते हैं, असमर्थ व्यक्ति पुरानी काव्य-पंक्तियों से बँधे रह जाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। वे काव्यार्थ केन्द्र से विस्थापित करके उसकी परिधि की सीमा मानने लगते हैं। "काव्यभाषा में सामान्य अर्थ और सामान्य में निहित विशिष्ट अर्थ के समीकरणों के जोड़े इस प्रकार रच जाते हैं कि इनके सहारे कोई भी व्यक्ति उस काव्य-विशेष के निजी सन्देश को व्यवस्थित रूप में ग्रहण कर सकता है" (**लेविन : लिंग्विस्टिक स्ट्रक्चर इन पोएट्री**)।

काव्यभाषा की यह निजी विशिष्टता बहुत-कुछ तो इस कारण है कि काव्यभाषा के ऊपर सामान्य भाषा की अपेक्षा भाषागत सन्दर्भों का दबाव बहुत ज़्यादा है। सामान्य भाषा में केवल वाक्य-रचना के सीमान्तों का दबाव रहता है, शब्द के साहचर्य से झंकृत होने वाले बहुत सारे शब्दार्थ-सम्बन्धों का सन्दर्भ सामने नहीं रहता। सामान्य भाषा में दूब मात्र दूब है। वह दूब शब्द के प्रयोग के साहचर्य से उद्बुद्ध होने वाली विनम्रता, तितिक्षा और अदम्य सप्राणता का अनुभावन नहीं करा सकती। सामान्य भाषा के अवतरण में पूरे अवतरण की संरचना का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता, जबकि किसी कविता में उसकी पूरी संरचना के सन्दर्भ में ही कोई पंक्ति अर्थ रखती है। यदि कविता प्रबन्धात्मक हुई तो पूरे प्रबन्ध के सन्दर्भ में उसके अर्थ की खोज की जाती है। अर्थ-सन्दर्भ का ही व्यापार है यह सिद्धान्त, काव्यभाषा के ऊपर सामान्य भाषा की अपेक्षा और अधिक लागू है, क्योंकि सामान्य भाषा का सन्दर्भ बहुत सीमित है। (**कार्बर : प्रिसाइज़ ऐम्बीगिवटी**) काव्यभाषा में बाहरी सूचना से अधिक ध्यान अपने सन्देश के गठन पर ही ज़्यादा होता है, इस हद तक सन्देश अपने बाह्यार्थ के साथ अपने सम्बन्ध की डोर ढीली कर देता है। काव्यभाषा अनायास, अप्रयोजन प्रयोजनशीलता की साधना है और इस प्रयोजनशीलता के निरन्तर खिंचाव के कारण काव्यभाषा के सभी स्तरों पर एक साथ एक नया तनाव जन्म लेता रहता है। शब्द की ध्वनि और अर्थ के बीच, व्याकरण और शब्द-रचना के बीच, वाक्य-खण्ड और वाक्य के बीच! इस तनाव के कारण काव्य में प्रयुक्त प्रत्येक वाक्य और वाक्य-खण्ड, शब्द और उसके अवयव तथा वर्ण ये सभी अपरिहार्य रूप से एक-दूसरे के उपकारक होकर अनुस्यूत हो जाते हैं। काव्य के केन्द्रगत अर्थ को हम रस, ध्वनि अमूर्त सौन्दर्य जिस किसी भी नाम से पुकारें, वही इस प्रयोजनशीलता का प्रेरक है और वह काव्य का प्रयोजन न होते हुए भी काव्य के प्रयोजन से कुछ और ऊपर है, काव्य का आन्तरिक मर्म है। ऐसा नहीं है कि सामान्य भाषा में उसके किसी सन्देश-खण्ड के अवयव भीतर-भीतर परस्पर संगठित न हों, पर उस संगठन का उद्देश्य उस सन्देश-खण्ड को बाहर के जगत् के साथ उसे जोड़ना है, इस संगठन को बाह्य जगत् के बारे में सूचना देने के कार्य में उपयोजित करना है, इसमें सन्देश स्वयं में कुछ महत्त्व नहीं रखता। इसीलिए काव्येतर भाषा में, "सूचना का सम्प्रेषण या सूचना का क्रम और चयन आदि बाह्य आधार पर निर्धारित होते हैं जबकि काव्यभाषा में सूचना में निहित शब्द और अर्थ दोनों अपने-आपमें अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, वे बाह्य जगत् से बहुत-कुछ स्वतन्त्र होकर स्वयं अनुभव के विषय बन जाते हैं।" (**एडवर्ड-स्ट्रांकिविज़ : पोएटिक एण्ड नॉनपोएटिक लैंग्वेज, पोयटिक्स**)।

भारतीय चिन्तन में इसीलिए रूप से अधिक नाम की महिमा है। नाम में जब चैतन्य टिक जाता है तो रूपात्मक प्रत्यक्ष का अनुभव बेकार हो जाता है और तब अनुभवित अरूप जगत् में पहुँच जाता है, क्रमशः निरन्तर साधना करने से वह समस्त उपाधियों से मुक्त हो जाता है और तभी वह सच्चे माने में शुद्ध और अनुपहित चैतन्य का आकार ग्रहण करता है। **आनन्द कुमारस्वामी** ने अपने 'ऑर्जिन एण्ड यूज़ ऑफ इमेजेज़ इन इण्डिया' शीर्षक लेख में इसी सिद्धान्त को विस्तार में विवेचित करते हुए कहा है, "यथार्थ और आदर्श दो चीज़ें नहीं, एक ही वस्त्र के दो स्तर हैं, क्योंकि दोनों एक दूसरे के विरोध में यहाँ खड़े ही नहीं हैं। यथार्थ आदर्श का द्वार मात्र है, वह स्वयं में साध्य नहीं है, वह परानन्द का प्रतिबन्धक नहीं, अनुबन्धक है। इसीलिए उसका उपयोग भारतीय कला में समर्पित रूप में ही है। वह नाम की अभि- व्यक्ति को पहचानने के लिए दृश्य-रूप मात्र है। भारतीय उपासना का उद्देश्य किसी दृश्य स्थूल वस्तु की पूजा नहीं बल्कि उस स्थूल वस्तु के सहारे जिस अमूर्त भावना का चिन्तन निरन्तर किया जाता रहा है, उस भावना के साथ तादात्म्य-स्थापन का प्रयत्न है।"

भारतीय काव्य-दृष्टि काव्य को सिद्धवस्तु नहीं मानती है, व्यापार या प्रक्रिया मानती है। इसलिए काव्यभाषा में बराबर कुछ ऐसा रहता है जो प्रत्यक्ष दिखाई देकर भी में सामान्य भाषा के वर्गीकरणों में गहा नहीं जा पाता। काव्यगत सत्य के स्वरूप पर अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती' में रस के प्रसंग में बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आम्नायसिद्धे किमपूर्वमेतत्, संविद्विकासेऽधिगतागमित्वम्।
इत्थं स्वयंग्राह्यमहार्हहेतुद्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोकः ।।
ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती।
अलं तदाद्यैः परिकल्पितानां विवेकसोपानपरम्पराणाम् ।।
चित्रं निरालम्बनमेव मन्ये प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम् ।
तन्मार्गलाभे सति सेतुबन्धपुरप्रतिष्ठापि न विस्मयाय ।।

"जो बात परम्परा में सिद्धरूप में प्रमाणित है उसे दोहराने में कौन नयी बात है ? उल्टे इस प्रकार की पुनरावृत्ति से दोहरी ग़लती प्रकट होती है, जान-बूझकर उपहासास्पद बने और सिद्धवस्तु को अपने साध्य के रूप में प्रस्तुत करने की हेठी दिखलाये। इसलिए मानवीय बुद्धि बिना थके ऊपर-ही-ऊपर चढ़ती चली जाती है। वह पूर्वकल्पित विवेक की सीढ़ियों पर ठहरी नहीं रहती। जैसे रास्ता और पुल बनाने का प्रारम्भिक काम अजीब, अटपटा और शून्य में लटका-सा लगता है, पर बाद में मार्ग बन जाने पर पुल का नक्शा साफ़ हो जाता है और तब उस पुल में कोई अपूर्वता नहीं रहती। उसी तरह नये सत्य के शोध की प्रक्रिया शुरू-शुरू में भले ही निरवलम्ब और विच्छिन्न-सी लगने के कारण दिखलायी पड़े, अन्त में उसकी समग्रता के आलोक में हर चीज़ जुड़ी और सप्रयोजन लगने लगती है।"

अभिनवगुप्त के ये श्लोक काव्यभाषा की आपातिक या सतही अस्पष्टता और विशृंखलता को प्रक्रिया के अवयव के रूप में देखने पर बल देते हैं। काव्य में व्यंग्यार्थ काव्यप्रक्रिया से अलग कर देने से असंगत, असम्भव, अटपटा और मनमाना लगता है, पर काव्य की समूची संघटना की दृष्टि से वही सबसे अधिक आधारभूत स्तम्भ हो जाता है। यहाँ ध्वनि-काव्य का मूर्धन्य उदाहरण लिया जा सकता है—

निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोधरो ।
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे ।
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।।

"तुम्हारे कुचतट से सब चन्दन घुलकर गिर गया है। तुम्हारे निचले होंठ की रंगाई एकदम पुँछ गई है, आँखों की कोर अब आँजी नहीं लगती, तुम्हारा शरीर रोमांचित है, लगता है तू झूठ बोल रही है। अपनी सहेली के दर्द का तुझे क्या पता ! तुम मेरे उस अधम प्रियतम के पास नहीं गयी थी, तू तो बावली में नहाने गयी थी।"

सतही अर्थ की उपपत्ति की दृष्टि से इस श्लोक में मात्र स्तनतट का चन्दन च्युत होना, निचले होंठ की ललाई का पुँछना, केवल कोरों का आँजन धुलना, ये लक्षण बावड़ी में नहाने वाले वाच्यार्थ में कुछ गड़बड़-से लगते हैं, साथ ही प्रियतम के लिए अधम शब्द का प्रयोग भी उचित नहीं प्रतीत होता। इस अधम शब्द से इशारा लेकर जब हम 'रति रूप' व्यंग्यार्थ का नक्शा उभारने लगते हैं तो समस्त अनुपपत्तियाँ वाच्यार्थ के साथ ही बाहर निकल जाती हैं। कहा जा सकता था कि 'रति रूप' व्यंग्यार्थ ही क्यों चुना गया, संभावना तो और पचीसों चीज़ों की हो सकती थी। इसका समाधान यह है कि काव्यार्थ के संदर्भ की समग्रता में (जिसमें कौन कह रहा है, किससे कह रहा है, किस घटना के प्रकरण में कह रहा है, कहाँ कह रहा है, कब कह रहा है आदि-आदि) दूसरा व्यंग्यार्थ उतना सहृदयस्वीकार्य नहीं हो सकता।

वस्तुतः अनेक सम्भावनाओं में से एक सम्भावना का चुनाव यादृच्छिक नहीं है। यह चुनाव भाषा के विभिन्न घटकों के संश्लेष-विशेष से नियन्त्रित है। जैसा कि **रोमन याकोब्सन** ने प्रतिपादन किया है, "काव्य-व्यापार चयन की धुरी-रेखा से भाषा के दो तत्त्वों के जोड़ बिठलाने के सिद्धांत को संश्लेष की धुरी पर प्रतिक्षिप्त करना है।" ऐसे जोड़ बिठलाने का उपयोग चाहे भाषा के नादात्मक या अर्थात्मक स्वरूप से निकला हो कोई आकस्मिक घटना के रूप में नहीं होता। यह अत्यन्त व्यवस्थित रूप में सामने लाया जाता है। मूलतः भाषा का सम्प्रेषण ही अनेक सम्भावनाओं में से एक के चयन की सामान्य धारणा का ही परिच्छिन्न रूपान्तर है। जब तक कि उस एक का चुनाव नहीं किया जाता, तब तक हम कह सकते हैं कि कौन-सा विकल्प चुना जायेगा, पर चुनाव हो जाने पर हमें एक निश्चित सूचना मिलती है कि अमुक विकल्प ही चुना जाने को था। इस सूचना का संप्रेषण ही तो भाषा का व्यापार है। काव्य-भाषा में यह चुनाव और अधिक अन्तर्मुख होने के कारण परिछिन्न और गणितात्मक रूप में स्पष्ट हो जाता है। इसका कारण यह है कि काव्य स्वयं भाषा से ही उत्पन्न रूप है। यह न तो लेखक है और न उसका अनुभव। जिस प्रकार गणित की उपपत्तियाँ गणितज्ञ के वस्तु-जगत् से भिन्न जगत् की होती हैं और वह जगत् अपने ही नियमों से अनुशासित होता है, उसी प्रकार काव्य-जगत् भी वस्तु-जगत् और आनुभविक जगत् का समानान्तर और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवादी अलग स्वतन्त्र जगत् है। यह [illegible] है कि इसकी शक्ति इसके रचयिता की अनुभव-समृद्धि और काव्य-जगत् की ही जागरूकता की मात्रा के अनुपात में घटती-बढ़ती रहती है। काव्य में रचयिता उसी प्रकार एक अनुभव-विशेष की अभिव्यक्ति-विशेष में आबद्ध दिखाई पड़ता है, जैसे किसी व्यक्ति का स्थान-विशेष और मुद्रा-विशेष में लिया गया छाया-चित्र। **गुण्ठरमूलर** ने अपने निबन्ध 'मार्फोलॉजिकल पोएटिक्स' में इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए लिखा है कि "साहित्य मुख्य रूप से न तो वैचारिक दृष्टियों का लेखा है, न भावना-प्रक्रिया का विवरण है, न वस्तु-जगत् के सम्बन्धों एवं घटनाओं का वर्णन ही। यह शुद्ध रूप है, ऐसा रूप जो अपनी ही छवि से आलोकित हो। परन्तु इस प्रकार के काव्य-मय अस्तित्व के रूप में यह कवि का एक समानान्तर अभि-व्यंजन ठीक उसी प्रकार प्रस्तुत करता है जैसे कि किसी व्यक्ति का अभिव्यंजन उसके कपाल की बनावट, चेहरे की मुद्राओं या उसके स्वर से होता है।"

वस्तुतः इसीलिए काव्यभाषा का विश्लेषण काव्यगत सन्दर्भों के ऊपर आश्रित होने के कारण सामान्य भाषा के विश्लेषण की अपेक्षा अधिक गणितीय और विच्छिन्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। काव्यभाषा में वाक्य-गठन केवल घटक वाक्य-खण्डों से ही नहीं पूरा होता और न वाक्यार्थ की संगति से ही मर्यादित रहता है। काव्य-भाषा का गठन विभिन्न पदांशों (प्रत्ययों-विभक्तियों) की आवृत्ति द्वारा अर्थ की प्राचीर तैयार करता है, वाक्य-खण्डों के क्रम के हेर-फेर द्वारा यह अभीष्ट अर्थ के ऊपर अधिक बल डालने का काम करता है तथा "समान रचना-खण्डों के सम्मुखीकरण के द्वारा अर्थों के टकराव और उस टकराव से उत्पन्न होने वाले नये अर्थ को उद्बोधित करता है" (**मैकहैमण्ड, पोएटिक्स सिन्टैक्स**)। इसी अंश तक काव्यभाषा भाषाबाह्य सन्दर्भ की दृष्टि से अप्रयोजन या निरुद्देश्य लगती है, केवल भाषागत सन्दर्भ की भीतरी गठन की दृष्टि से सप्रयोजन और सोद्देश्य लगती है। भाषागत संकेत पर ध्यान केन्द्रित होने से भाषागत सन्देश एक रेखा में स्थित सामान्य भाषा का बहु-आयामीय रूपान्तर बन जाता है, जिसमें एक साथ ध्वनि से लेकर अर्थ के प्रत्येक धरातल को एक बिन्दु पर देखा जा सकता है।

भारतीय काव्य-दृष्टि अन्तर्गठन पर बल देती है, इसी-लिए वह सतही यथार्थ को महत्त्व न देकर शुद्ध और बाह्य प्रभावों से परिशोधित गणितीय यथार्थ पर बल देती है और इसीलिए उसमें निहित शब्दार्थ-व्यापार सबसे अधिक वस्तुपर यथार्थ रहता है। आज का संघटनात्मक काव्यशास्त्र भी बाह्य परिवेश की अपेक्षा काव्य के भीतरी परिवेश को अधिक यथार्थ मानता है, इसीलिए अब यह सम्भव माना जाने लगा है कि काव्यभाषा का विश्लेषण भाषा-बाह्य परिस्थितियों से निर-पेक्ष होकर अधिक सघनता और गहराई के साथ किया जा सकता है और इस विश्लेषण के लिए ऐसे सिद्धान्त प्रतिपादित किये जा सकते हैं, जो हर भाषा और हर समय के काव्य-रूप की समीक्षा पर लागू किये जा सकते हैं। शैली के सम्बन्ध में प्राचीन पश्चिमी मान्यताएँ खण्डित हो चुकी हैं कि शैली रचनाकार का व्यक्तित्व है। अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि शैली रचनाकार द्वारा चुनी गई सम्भावनाओं और साँचों का गुणनफल है, पर ये सम्भावनाएँ और साँचे रचनाकार के नहीं उसकी भाषा के हैं। इसीलिए शैली का भी वैज्ञानिक अध्ययन अब सम्भव हो गया है। यदि शैलियों में वैविध्य दिखता है और उस आधार पर शैलीकार को पहचाना जा सकता है तो यह स्वयं प्रत्येक प्रकार की शैली में एक तरह के संवादी साँचों के अभ्यास से उत्पन्न उस शैली की अविच्छिन्नता के कारण, न कि शैलीकार की निजता के कारण।

संक्षेप में ऊपर जो बात काव्यभाषा के सम्बन्ध में कही गई है, वह कुछ उपादानों (छन्द, रागबोध तथा संक्षिप्तता शब्द-योजना) को छोड़कर साहित्य मात्र की भाषा पर घटा जा सकती है और आधुनिक भाषाविज्ञान तथा प्राचीन भार-तीय शब्दार्थ-चिन्तन को आमने-सामने रखकर साहित्य-भाषा मीमांसा का वैज्ञानिक और सार्वभौम सिद्धान्त-शास्त्र प्रस्तुत किया जा सकता है। विगत दशक में इस दिशा में पश्चिम में प्रयत्न बड़ी तेज़ी से शुरू हुए हैं, परन्तु हम तो अपने सम-नान्तर प्राचीन चिन्तन को अलंकार-शास्त्र कहकर हेय सम रहे हैं। अतः हमारा आज का काव्यशास्त्रीय चिन्तन बहुत उलझा और आत्मनिष्ठ है। प्राचीन अलंकार-शास्त्र और नवीन भाषाशास्त्र दोनों अभी सार्वभौम काव्य रूप मीमांसा सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में पूर्णता नहीं प्राप्त कर पाये पर दोनों के अंशदान एक-दूसरे के पूरक रूप में यदि स्थापित किये जाएँ तो काव्यभाषा की विशिष्टता सामान्य भाषा ही विश्लेषण-पद्धति से व्याकृत की जा सकेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीर-फाड़

भारतभूषण अग्रवाल

: १ :

जब-जब मैं अपने से बाहर निकलता हूँ
लगता है :
मानो कोई शून्य-यात्री
अधर में तैरता—
कहीं कोई टेक नहीं।
नीचे
दूर,
बहुत दूर
एक हरा पिण्ड—
शायद।
और मेरे चारों ओर
एक अपार विस्तार
न-कुछ का—
निश्चित।

अपने में बन्द रहो तो
लगता है :
एक सुरंग है
जिसमें मैं टोहता फिरता हूँ
और जिसके सिरों पर
एक-एक कुआँ है।
अपनी खाल को
मैं किवाड़ की तरह खोलकर
एक कुएँ में उतर जाता हूँ।
सीढ़ियाँ
हारमोनियम के परदों की तरह
चिंचियाने लगती हैं
और नीचे
मेरी एक लम्बोतरी परछाईं
जल में !
—या तेल के कढ़ाव में ?

अचानक
कुएँ में कहीं से निकलकर
काले-काले यमदूत
अट्टहास करते हुए
मुझे अपने पंजों में जकड़ते हैं
और मुझे वापस ले जाते हैं।
मैं आँखें बन्द करके चीख उठता हूँ :
'नहीं, नहीं, वापस नहीं जाऊँगा'
तभी मेरे सिर पर एक शहतीर टूटती है
और मेरे कानों में रौरव भर जाता है।

: २ :

मैं मान क्यों नहीं लेता कि मैं हार गया हूँ
और यह ज़िन्दगी
जिसे मैं बार-बार
अपनी मुट्ठियों में भरने की कोशिश करता हूँ
मुझसे बहुत बड़ी है !
क्यों मैं रह-रहकर ऐसे कगार पर आ खड़ा होता हूँ
जहाँ नीचे एक गरजता समुद्र है
और भीतर एक कशमकश
जबकि मैं जानता हूँ मेरे पास कोई विकल्प नहीं है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—न नीचे कूद सकता हूँ
—न ऊपर थिर रह सकता हूँ !

कहीं ऐसा तो नहीं है
कि मेरे बिना जाने ही
तुम मुझे ठेलते-ठेलते यहाँ तक ले आते हो ?
तो फिर यहाँ लाकर
तुम मुझे छोड़ क्यों देते हो ?
—एक ही धक्के की तो कसर है ?

: ३ :

क्या फ़ायदा हुआ दर्जा छः में यह पढ़ने से
कि कस्तूरी मृग के कुण्डल में बसती है ?
मैंने पूरी ज़िन्दगी भटकने में बिताई है।
और अब सब ओर से विफल होकर
जब मैं अपना कुण्डल चीर-फाड़ रहा हूँ
तो वह इस खोखल में मिलती क्यों नहीं ?
क्या वह उड़ गई या रिस गई
या कि मुझे बेहोश करके
कोई बहेलिया उसे पहले ही ले जा चुका है !
या
—और इस सम्भावना से ही मैं चरमराने लगता हूँ—
कहीं ऐसा तो नहीं है
कि मैं कस्तूरी मृग ही नहीं हूँ ?
और मेरी यह भटकन और चीर-फाड़
मात्र मेरा दम्भ है ! !

: ४ :

मुक्ति ?
मैंने उसे दिव्यता का पर्याय जाना था।
हर जीर्ण बन्धन मैंने तोड़ दिया
हर नये फन्दे से बच-बचकर चला हूँ
धरती से चार अंगुल ऊपर चला है सदा मेरा यान
एकरथ
किन्तु कहाँ दिव्यता मिली मुझे ?

क्या यह मेरा खोखला हाहाकार मुक्ति है ?
रेत का यह अन्तहीन विस्तार रस है ?

लगता है :
मेरे भीतर कोई दक्षिणी पण्डित है
तिलक-त्रिपुण्डी, रामनामी धारे, सुमिरनी लिये
शुचिता के मण्डल में आबद्ध
असवर्णों की छाया तक से बचता हुआ
जो यह जान ही न सका हो—
कौन-से अनजाने निर्णायक क्षण में
उसके व्यवहार में से
धर्म का सार बीत गया है।
बचना नहीं जूझना ही
मुक्ति है
शुचिता है
धर्म है !

: ५ :

तुम ?
अपने इस एकान्त निजी जाँच-पर्व पर
कछुए की तरह अपने हाथ-पैर समेटकर
जब मैं अपने में स्थित होना चाहता हूँ—
तुम क्यों दिख जाते हो ?
जाने कब मैंने तुम्हें पराया समझकर
अपने से दूर कर दिया था—
केंचुल-सा देह से उचालकर
खोखल-सा चोंच से विदारकर
चेहरे-सा नखों से खरोंचकर,
पर आज लगता है
तुमसे छुटकारे के सब प्रयत्न व्यर्थ हैं
और तुम अब भी जहाँ के तहाँ मेरे साथ चिपके हो
छठवीं अँगुली की तरह जन्म-दत्त किन्तु व्यर्थ
मुझको कुरूप करना ही जानते हो तुम।
टेढ़ी नाक टेढ़ी सही फिर भी वह नाक है
साँस लेती, गन्ध पाती, माथे को ऊँचा भी उठाती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

—किन्तु छठी अँगुली तो निष्प्रयोग बोझ है !
क्या करूँ तुम्हारा मैं ?
एक बार होकर तुम अनहुए होना नहीं चाहते
मेरे कर्म, मेरे लाभ, मेरे दान में तुम्हारा कहीं कोई
योग नहीं
तो भी तुम्हें ढोता हूँ !

मैंने कब जाना था
कि यह निरी काल्पनिक रेखा जो
खेल-खेल में ही मैंने खड़िया से काढ़ी थी
खाई बन जाएगी ?
रेशम-सी पतली यह दूरी फलाँगने के यत्न में
जीवन चुक जाएगा ?

: ६ :

मैंने तय किया था कि मैं नहीं होऊँगा
जब तक यह जान न लूँ मुझको क्या होना है
और मैं अपने होने को स्थगित कर
होने के विविध स्वरूप जाँचता रहा ।
क्या-क्या नहीं छान डाला
क्या-क्या नहीं खूँदा है
कहाँ-कहाँ नहीं घूमा
किस-किससे नहीं जूझा
कौन-सा है बियाबान जो नहीं रूँधा है !
भागा हूँ, रपटा हूँ, दौड़ा हूँ, घिसटा हूँ,
पिटा हूँ, रोया हूँ, झींका हूँ, चीखा हूँ
क्या-क्या नहीं तोड़ा मैंने क्या-क्या नहीं फोड़ा है
कोई भी विकल्प कब जाँचे बिना छोड़ा है ?
पर क्या एक पल को भी मुझे यह ज्ञान मिला
मुझको क्या होना है ?
कोई प्रकाश नहीं बरसा आसमान से
भक्त चाहे जो कहें
कोई कुल्हाड़ी नहीं निकली किसी कुएँ से
नानी की कहानी कुछ भी रहे
कोई संकेत नहीं मिला पण्डितों से

पोथे-पर-पोथे के
और मैं चौकन्ना
विस्फारित आँखों में भरे हुए ज्वलंत प्रश्न
पुरातत्त्व, इतिहास, राजनीति, दर्शन की चरखी में
चक्कर लगाता ही रहा हूँ
कि आज मुझे अचानक ज्ञात हुआ
होने की बात क्या
मैं तो हो चुका हूँ !

: ७ :

दिन-भर किसी उखड़े सैलानी की तरह
निर्जीव खण्डहरों को भौंचक निहार कर
जब मैं शाम को 'डी लक्स' बस से घर आता हूँ
तो दर्पण के सामने खड़े होते ही
मैं अचम्भे में पड़ जाता हूँ ।
अचानक देखता हूँ
मैं चतुर्भुज हो गया हूँ
मेरे एक हाथ में बच्ची की गुड़िया है
एक में बाढ़-पीड़ितों के लिए दान-पात्र
एक में कलम जिसकी स्याही सूख चुकी है
और चौथे में एक डमरू अपने भाई की खाल का !
मैं हड़बड़ाकर पटापट डमरू बजाता हूँ
हर डुगडुगाहट पर कमरे की दीवारें
सिमटी चली आती हैं ।
मेरा दम घुटने को होता है
तभी दर्पण से निकल कर दो छोटे हाथ
चूड़ियाँ बजाते हुए मुझे घेर लेते हैं
और मैं उनकी गिरफ़्त में बचाव जान
घिसटा चला जाता हूँ ।
दर्पण के भीतर पेचों से कसे हुए
मिनी-आसमान पर
जब नज़र जाती है
तो ठगा रह जाता हूँ :
एक धड़हीन चेहरा मुँह फाड़े खड़ा है
उसके साँस लेते ही मेरे पाँव उखड़ जाते हैं

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और तूफ़ान पर सवार मैं [illegible] हूँ ।

: ८ :

फिर रूपक !
मुझको यह हो क्या गया है ?
रूपक के बिना क्या मैं सोच भी न पाऊँगा ?
लगता है रूपकों की नगरी में क़ैद मैं
खुद भी एक रूपक बन गया हूँ ।
क्या मुझे इससे कभी निजात नहीं मिलेगी ?
क्या मैं इन अनगिनत पत्तों को छीलकर
कभी अपना सच्चा मन देख नहीं पाऊँगा ?
[illegible] रहना ही क्या मेरी नियति है ?
कब तक मैं प्यार को फूल, और रोटी को खुशाम[illegible]
और क्रान्ति को रेस्तराँ बनाता रहूँगा ?
कब तक मैं सुविधा की छत पर चढ़ा
कविता के बाँस से
ज़िन्दगी की कटी पतंग फाँसने का यत्न करता रहूँ[illegible]
और फिर घबराकर देखूँगा
कि वह सामने
मिट्टी में खेलते लड़कों के झुण्ड में जा पड़ी है
और वे गुत्थमगुत्था होकर उसकी चिन्दि[illegible]
उड़ाते हैं । ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'संत्रास' का आतंक

भीष्म साहनी

बरसों पहले दस्तायेव्स्की और जेम्स जायस आदि को पढ़ने का मौका मिला था। उन दिनों दस्तायेव्स्की के नाम के साथ बहुत-से ऐसे दर्शनात्मक विशेषण नहीं जोड़े जाते थे, न ही यह कहा जाता था कि वह संकटकालीन युग की मूलभावना को वाणी देता है, न उसके साहित्य को कसौटी मानकर यह दावा किया जाता था कि जो लेखन दस्तायेव्स्की की संत्रास-भावना के अनुकूल नहीं वह आज के युग में असंगत है और वह आज के जीवन की तह में पैठकर लिखा गया साहित्य नहीं है। तब दस्तायेव्स्की को एक अत्यन्त संवेदनशील लेखक और महान् उपन्यासकार के रूप में पढ़ा था। दस्तायेव्स्की तथा उनसे मिलते-जुलते अनेक लेखकों के दृष्टिकोण को विश्व की वर्तमान स्थिति के साथ जोड़ना और उसे एकमात्र संगत और सार्थक साहित्य का नाम देना एक नई बात है।

कहा जाता है कि लेखक समाज में पाये जाने वाले अन्तर्विरोधों को महसूस कर, उन्हीं के आधार पर अपनी रचनाएँ रचता है। एक ओर मनुष्य की इच्छाएँ, दूसरी ओर इन इच्छाओं को धूल में मिलाने वाली शक्तियाँ—कभी दैवी, कभी मानवी, कभी सामाजिक—विभिन्न स्तरों पर पाये जाने वाले अन्तर्विरोध, साहित्यिक रचनाओं के विषय बनते हैं। जब हम किसी विश्वव्यापी संकट की बात करते हैं तो सामाजिक जीवन में पाये जाने वाले अन्तर्विरोध और परस्पर-विरोधी शक्तियों का संघर्ष कुछ-कुछ गौण हो जाते हैं। तब हम अन्तर्विरोधों की बात कम करते हैं, किसी भयावह स्थिति की बात अधिक करते हैं। केवल उस संकट की बात करते हैं जो समान रूप से सारे संसार पर छाया हुआ है। इस स्थिति में उन अन्तर्विरोधों की संगति कम हो जाती है, बल्कि इस संकट में अच्छे और बुरे का कोई भेद नहीं रह जाता। यह एक प्रकार का सरलीकरण है जो वास्तविक स्थिति को धुंधला देता है।

इस प्रकार के चिन्तन की सबसे बड़ी प्रवृत्ति यही है कि यह उन अन्तर्विरोधों को हमारे सामने धूमिल बना देता है, और इस तरह संघर्षरत शक्तियों को एक ही धरातल पर खड़ा कर उनके सामाजिक महत्त्व को गौण बना देता है। इस सामान्यीकरण के ही फलस्वरूप इस प्रकार के निष्कर्ष भी निकाले जाते हैं कि आज के जीवन की तह में पैठने वाला व्यक्ति केवल संत्रास को ही देख सकता है। इसी तरह प्रत्येक प्रकार की राज्यसत्ता को समान रूप से इन्सान का दुश्मन माना जाता है। एस्टेब्लिशमेन्ट शब्द ऐसा ही एक व्यापक शब्द है जिसका प्रयोग किया जाता है। राज्यसत्ता समाजवादी हो अथवा पूँजीवादी, अथवा फ़ासिस्ट, समान रूप से निन्दनीय है। इस दृष्टि से अमेरिका वियतनाम में जो कुछ कर रहा है वह भी वैसा ही है जो सोवियत संघ चेकोस्लोवाकिया में कर रहा है। राज्यसत्ता दमन का माध्यम है, इसलिए जहाँ भी है उसका विरोध करना चाहिए। फ़ासिज्म भी उतना ही बुरा है जितना कम्युनिज़्म आदि। इस तरह हम सभी चीज़ों पर एक ही रंग पोतने लगते हैं। संसार को हम एक ही व्यापक संकट से घिरा देखें तो संसार का रूप बदल जाता है, संघर्ष-रत संसार को देखें तो हम बिल्कुल दूसरा रूप देखने लगते हैं, तब संत्रास, मूल्यहीनता, एकाकीपन, असुरक्षा, मृत्युबोध आदि निर्णीत निष्कर्ष बनकर सामने नहीं आते, तब उनका महत्त्व सापेक्ष हो जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि कुछेक प्रश्न विश्वव्यापी महत्त्व रखते हैं, जैसे जंग और अमन का सवाल, आणविक हथियारों का सवाल, दुनिया के कुछ हिस्सों में भूख का सवाल, बढ़ती आबादी का सवाल आदि। पर क्या सचमुच इनकी तह में पैठने वाला व्यक्ति केवल संत्रास का ही अनुभव करता है? क्या वियतनाम के मोर्चे पर लड़ने वाले दोनों पक्षों के सैनिक समान रूप से संत्रस्त हैं? या दोनों समान रूप से उद्भ्रान्त हैं? क्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संत्रास पर ही आज के चिन्तन की इति हो जाती है ?

मैं सोचता हूँ निश्चित सीमाओं में कोई बात नहीं कही जा सकती। यदि इस प्रकार के दर्शन का नाता हम संसार की वास्तविक स्थिति से जोड़ना चाहते हैं तो हमें वास्तविक स्थिति को समझना होगा, और उसे समझने के लिए आज के ज्ञान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह कहना कि विज्ञान और राजनीति ने मनुष्य को अपने चंगुल में दबोच लिया है और उसे निःसहाय बना दिया है, यह भी एक तरह से निश्चित सीमाओं में ही कही गई बात है, एक तरह का सरलीकरण है। कल तक विज्ञान हमें ठीक तरह से सोचने का ढंग सिखा रहा था, हमारे अन्धविश्वास और पूर्वाग्रह तोड़ रहा था, हमारे दिमाग़ी जाले साफ़ कर रहा था, प्रबुद्ध चिन्तन की प्रेरणा दे रहा था, और कहा जाता था कि विज्ञान की सहायता से हम जीवन को ज़्यादा सही ढंग से समझ पायेंगे, समाज की तह में काम करने वाले कारणों को समझ पायेंगे, आदि-आदि। विज्ञान या तो नियमों की खोज है, या फिर खोजों के आधार पर, व्यावहारिक जीवन में इस्तेमाल किये जाने वाले साधनों का आविष्कार। विज्ञान का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, विज्ञान को अच्छा या बुरा की संज्ञा देना एक तरह से पुराने ढंग से ही सोचना है। विज्ञान द्वारा लायी गई जिन पेचीदगियों की हम बात करते हैं वे क्या सचमुच विज्ञान की देन हैं या हमारी सामाजिक अथवा आर्थिक विषमताओं द्वारा पैदा की गई हैं ?

राजनीति की भी लगभग वैसी ही स्थिति है। बदलती सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप राजनीति तथा राजनीतिक संस्थाएँ बदलती रहती हैं और समाज के विभिन्न जन-समूहों के आर्थिक और सामाजिक हितों को व्यक्त करती हैं। राजनीति की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, और न ही समस्त संसार की राजनीति को एक ही नाम दिया जा सकता है। क्या हम रोडेशिया की राजनीति, सोवियत संघ की राजनीति और भारत की राजनीति को एक ही स्तर पर रखकर उनमें से एक ही व्यापक निष्कर्ष निकाल सकते हैं ? और यदि आज राजनीति का प्रभाव व्यक्ति पर प्रबल हो उठा है तो क्या यह प्रभाव सर्वथा नकारात्मक ही है ?

संत्रास का दर्शन आज के जीवन के प्रति जागरूक है, इस मानी में राजनीति से गहरा सम्बन्ध लिये हुए है। जब उसके प्रवक्ता राजनीति के प्रति विरोध की बात कहते हैं तो उसमें स्पष्ट राजनीतिक ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। जब वे कहते हैं कि समाजवादी क्रान्ति भी फ़ेल कर गई है और पूंजीवाद भी 'फ़ेल' कर गया है तो वे व्यावहारिक दृष्टि से एक राजनीतिक पक्ष के पक्षधर के रूप में बोल रहे होते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में संघर्षरत शक्तियों को समतल करना, साम्राज्यवाद और समाजवाद दोनों को एक धरातल पर लाकर खड़ा करना राजनीति नहीं तो क्या है ? यदि हम संघर्षरत शक्तियों को एक ही रंग में देखें तो ज़ाहिर है हमारी सामाजिक और राजनीतिक भूमिका यथास्थिति को कायम रखने वाली भूमिका ही होगी। यदि आज़ादी के पहले कोई कहता कि अंग्रेज़ भी बुरे हैं और कांग्रेसी भी बुरे हैं तो यह प्रकटतः भले ही राजनीति के प्रति उपेक्षा व्यक्त करती, लेकिन वास्तव में वह अंग्रेज़ों का ही पक्ष मज़बूत करने वाली राजनीति होती।

मनुष्य अपने काल के अर्जित ज्ञान की परिधि के बाहर नहीं देख सकता। हम उसी ज्ञान के आधार पर सोच सकते हैं जो हमें उपलब्ध है, आने वाली पीढ़ियाँ अपने काल के उपलब्ध ज्ञान के अनुसार सोचेंगी और अपने रास्ते ढूँढेंगी। हम भविष्य में बहुत दूर नहीं देख सकते। पर साथ ही हम आज के अपने ज्ञान को नकार भी नहीं सकते, क्योंकि उसी के माध्यम से हम आज के अपने संसार को समझ सकते हैं।

मनुष्य के एकाकीपन और अजनबीपन की बात भी, मैं सोचता हूँ, बहुत-कुछ एकांगी ढंग से देखी और पेश की जाती है। उसके सामाजिक संदर्भ से उसे काटकर देखा जाता है। यह सच है कि आज के मशीनी युग में मनुष्य बहुत-कुछ अकेला होता जा रहा है, बड़े-बड़े कारखानों, बड़े-बड़े संस्थानों में काम करने वाले लोगों के आपसी सम्बन्ध अवैयक्तिक होते जा रहे हैं। पर यह अकेलापन एक सामाजिक तथ्य है, आज के युग की एक समस्या है। सामाजिक व्यवस्था कभी भी एक-जैसी नहीं रही, सदा बदलती रही है, और मानव-संगठन के रूप सदा बदलते रहे हैं, कबीला, संयुक्त परिवार, आदि। आगे क्या रूप होगा, कहना कठिन है, लेकिन समाज में नई इकाइयाँ बनती जाएँगी, सामाजिक व्यवस्था के नये रूप बनते जाएँगे। यों मूलतः इन्सान न कभी अकेला था, न अकेला रह सकता है। मैं रोटी खाता हूँ, पर मैं जो अनाज खाता हूँ उसे स्वयं नहीं बोता, स्वयं नहीं काटता। मेरे लिए यह अनाज किसी दूसरे इन्सान ने बोया है, किसी दूसरे ने काटा है। मैं अपने अनाज के लिए दूसरे इन्सानों पर निर्भर हूँ। इसी तरह कपड़े के लिए, इसी तरह बीमारी में इलाज के लिए यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्भरता आज के युग में और अधिक बढ़ गई है। फिर जानवर का बच्चा तो पैदा होने के बाद कुछेक दिन में अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है, और स्वतन्त्र रूप से जी सकता है। पर इन्सान का बच्चा तो कम-से-कम सात साल तक परवरिश माँगता है, उसे माँ जनकर फेंक नहीं सकती। इन्सान अकेला नहीं है, एक रिश्ता हो या दूसरा, वह अन्य इन्सानों से मूलतः जुड़ा है। **साहित्य में अकेलापन एक भावनात्मक धारणा है, जो इस संक्रामणकालीन स्थिति पर प्रकाश डालती है। जिसमें से हम गुज़र रहे हैं इसे इस रूप में पेश करना और बात है और एक शाश्वत सत्य के रूप में मनुष्य की नियति के रूप में दिखाना बिलकुल दूसरी बात।**

जहाँ समाज की व्यवस्था बदलती रहती है, वहाँ इन्सान की स्वभावगत प्रतिक्रियाएँ भी बदलती जाती हैं। आज का इन्सान आदि-मानव के स्तर का इन्सान नहीं रह गया है। इसके पीछे सहस्रों शताब्दियों के सहजीवन के प्रभाव हैं, सहस्रों शताब्दियों का संस्कार है। हमारा स्वभाव तक बदल गया है। ज़माना रहा होगा जब पुरुष स्त्रियों में भेद नहीं करता था, विशेषकर जब कुटुम्ब-कबीले नहीं बने थे। लेकिन कुटुम्ब-कबीले बन जाने पर स्त्रियों के बीच रेखाएँ खिंच गईं, यह माँ है, यह बहन है, यह बेटी है, यह कबीले की औरत है आदि। तदनुसार हमारी प्रतिक्रियाओं का भी संस्कार हुआ। हम जिस नज़र से पत्नी को देखते हैं उस नजर से माँ को नहीं देखते, चेष्टा करने पर भी नहीं देख पाते, क्योंकि अन्दर से सहस्रों वर्ष पुराना संस्कार इजाज़त नहीं देता, हालाँकि दोनों औरतें हैं। इस समय यही प्रतिक्रियाएँ स्वाभाविक लगती हैं। हमारा आज का स्वभाव, आज के इन्सान की प्रकृति सहस्रों वर्षों के सामाजिक जीवन की उपज है। इस कारण भी मनुष्य को उसे उसके लम्बे अतीत से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

आज यदि मनुष्य का अकेलापन दुःखान्त आयाम ग्रहण कर गया है तो वह भी मनुष्यों के आपसी रिश्तों के ही संदर्भ में। मनुष्य अकेला है इसलिए उसके जीवन में ट्रेजिडी है, ऐसा कभी नहीं होता, मनुष्य अकेला है। मानवीय संबंधों के संदर्भ में हैं, और ये संदर्भ बदलते रहते हैं। इन्सान जहाँ अकेला है वहाँ वह अपने अकेलेपन को तोड़ने के अनेक रास्ते भी खोजता रहता है, उसके विरुद्ध संघर्ष भी करता रहता है...

इसी तरह मौत को भी निश्चित सीमाओं में नहीं देखा जा सकता। मौत कभी भयानक तो कभी कम भयानक तो कभी प्रेरणादायक भी हो उठती है। हिटलर के यातनाशिविर में एक यहूदी की मौत भयानक है, साधारण बूढ़े आदमी की मौत भयानक नहीं है, रोडेशिया में मानवीय अधिकारों के लिए लड़ने वाले किसी अफ्रीकी की मौत प्रेरणाप्रद है। ध्येय और संदर्भ से कटकर मौत को नहीं देखा जा सकता। अणुबम का शिकार होकर मरना भयावह है, अणुबम के ख़िलाफ़ संघर्ष करते हुए मरना भयावह नहीं रह जाता। यदि आप समझें कि अणुबम की विभीषिका का संदर्भ ही एकमात्र संदर्भ है तो यह स्थिति को अत्यधिक सरल बनाकर देखना है।

सामाजिक संदर्भ से काटकर आप किसी चीज़ को नहीं देख सकते, मौत को भी नहीं। हमारे सभी मूल्य समाज-जनित हैं। ज्यों-ज्यों समाज बदलता है, हमारे मूल्य बदलते जाते हैं। न इन्सान समाज से अलग हो पाता है और न ही कभी मूल्यहीनता की स्थिति आ पाती है। आप यह कह सकते हैं कि समाज के बदलते परिवेश में पिछले मूल्य अपनी सार्थकता खो बैठे हैं, पर आप यह नहीं कह सकते कि मूल्यों जैसी कोई चीज़ दुनिया में नहीं रह गयी है। यदि मनुष्य में संकल्प-शक्ति नाम की कोई चीज़ है, यदि वह अपनी संकल्प-शक्ति के आधार पर कोई निर्णय कर सकता है, कोई कदम उठा सकता है तो मूल्यों का जन्म उसी समय होने लगता है। यदि स्वभावगत प्रवृत्ति के अतिरिक्त मनुष्य अपने आचरण में किसी संकल्प-शक्ति का भी प्रयोग करता है, और साथ ही मनुष्यों के बीच रहता है, तो वह अपने मूल्य गढ़ने लगेगा। और सच तो यह है कि मूल्यहीनता की बात हम करते तो हैं पर वास्तव में हमारे बहुत-से मूल्य अभी भी परम्परागत ही हैं। भ्रष्टाचार की हम दुहाई तो बहुत देते हैं, पर भ्रष्टाचार आखिर एक प्रकार का आचार ही तो है, जिसे आप भ्रष्ट इसलिए कहते हैं कि आपके दिमाग़ में इसके विपरीत किसी दूसरे प्रकार के आचार की धारणा रहती है, जिसे आप सही समझते हैं। तो फिर मूल्यहीनता कहाँ हुई? हमारे नैतिक मानदण्ड टूटे नहीं हैं, वरना हम ईमानदारी और भ्रष्टाचार में लीक नहीं खींचते, हमें दोनों एक जैसे नज़र आते। मूल्य-हीनता केवल इस बात में हुई कि इन्हीं मूल्यों पर आचारण नहीं हो पा रहा है। यह नाम हम तभी देते हैं जब हमारे ज़ेहन में सामाजिक व्यवहार का कोई प्रतिमान मौजूद होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज हमारे साहित्य में व्यंग्य का बोलबाला है। व्यंग्यकार तभी किसी सामाजिक बुराई पर व्यंग्य कर सकता है जब उसके ज़ेहन में सामाजिक व्यवहार का कोई प्रतिमान मौजूद हो, वरना किस कसौटी पर वह सामाजिक बुराई को बुराई कहकर उसका मज़ाक उड़ाएगा ? अच्छे और बुरे की कल्पना न तो यहाँ मर गई है, न असंगत हुई है।

किसी साहित्यिक धारा को दर्शन का रूप देना या उसका एक वाद बना लेना, उतना ही ग़लत है जितना किसी दर्शन के आधार पर उसे रद्द करना या उसे स्वीकृति देना। किसी लेखक की रचनाओं को हाथ में लेते समय हम यह नहीं कहते कि इस लेखक की दार्शनिक मान्यताएँ सही हैं, इसलिए मैं इसकी रचनाएँ पढ़ता हूँ, न ही कोई यह कहता है कि अमुक लेखक की दार्शनिक मान्यताएँ मेरी मान्यताओं से भिन्न हैं। इसलिए मैं तो इसे नहीं पढ़ूँगा, तुम पढ़ना चाहो तो भले ही पढ़ो। मान्यताओं की नपी-तुली कसौटी साहित्य पर लागू नहीं होती। और ज्यों ही हम इसे ज़ेहन से हटा दें तो बहुत-से दरवाज़े खुले नज़र आते हैं। तब एक हिन्दू भी अच्छी कहानी लिख सकता है और एक मुसलमान भी, पूंजीवादी देश का रहने वाला लेखक भी और समाजवादी देश का रहने वाला लेखक भी, मैं भी और मेरा जानी दुश्मन भी, बूढ़ा भी और जवान भी। हम लेखक से मान्यताओं की अपेक्षा नहीं करते, साहित्य मान्यताएँ प्रमाणित करने का अखाड़ा नहीं है। हम लेखक से भावना के स्तर पर ज़िन्दगी की सही तस्वीर माँगते हैं। तब मैं यह भी मानकर चलूँगा कि एक समय में एक ही प्रकार का साहित्य नहीं रचा जाता। संत्रास का साहित्य भी और जीवन के प्रति गहन आस्था रखने वाला साहित्य भी, मनुष्य की गरिमा दिखाने वाला भी और मनुष्य की क्षुद्रता दिखाने वाला भी। साहित्यिक रचनाओं के आन्तरिक गुणों और प्रभाव के अनुरूप ही हम उन्हें ऊँचे अथवा सामान्य साहित्य की संज्ञा देंगे। सूत्रों में सोचने और सूत्रों को ही बात-बात पर लागू करने की प्रवृत्ति सर्वथा हानिकारक है, उतनी ही जितनी मान्यताओं के अनुरूप कहानी गढ़ने की कोशिश। मैं समझता हूँ कि काल-विशेष अथवा युग-विशेष की मूल प्रेरणा तो होती है लेकिन वह प्रत्येक लेखक को एक ही ढंग से प्रभावित नहीं करती। रेनेसाँ की प्रेरणा उस समय के सभी लेखकों में एक ही रूप में व्यक्त नहीं हुई थी। प्रत्येक लेखक का अपना विशिष्ट संवेदन होता है। उसी के अनुरूप ही उसकी प्रतिक्रियाएँ होती हैं, उसी के अनुरूप ही उन्हें अभिव्यक्ति भी मिलती है। 'आज का संवेदन' नाम की कोई चीज नहीं होती। और संवेदन की अभिव्यक्ति का स्वरूप प्रत्येक लेखक का संवेदन स्वयं निर्धारित करता है, स्वयं खोजता है, आप या मैं निर्धारित नहीं करते। और प्रेरणा से कहीं अधिक महत्त्व संवेदन का है, लेखक के अपने विशिष्ट संवेदन का।

यदि यह ठीक है कि एक लेखक अपने निजी संवेदन के बल पर, अपने संस्कारों, अनुभवों आदि के बल पर रचना-कार्य करता है तो एक भारतीय लेखक की स्थिति यूरोप के लेखक की स्थिति से बहुत भिन्न है। मैं जानता हूँ कि जो भावनात्मक संस्कार मेरे हैं वे आज के एक साधारण यूरोप-निवासी के नहीं हैं। मैं वैराग्य के गीत, भक्त कवियों की वाणियाँ, देश-प्रेम के गीत, हुस्न-ओ-इश्क की ग़ज़लें सुनकर बड़ा हुआ हूँ। मैं नहीं समझता कि आज से चालीस बरस पहले का हमारे देश का वातावरण पश्चिमी यूरोप के किसी भी देश के वातावरण से मिलता था, यहाँ जब राष्ट्रवाद जन्म ले रहा था वहाँ राष्ट्रवादी मान्यता पहले विश्वयुद्ध की भट्ठी में झुलस रही थी। मेरे संस्कार बहुत अलग हैं। मेरे आस-पास के लोग श्राद्ध भी करते हैं, पितरों को भोजन भी भेजते हैं, दत्तचित्त होकर गरुड़ पुराण की कथा भी सुनते हैं, तीज-त्यौहार भी करते हैं, जमुनाजी भी नहाते हैं और शाम को बत्ती जलाने पर उसके सामने हाथ भी जोड़ते हैं। मैं अच्छे और बुरे की परिभाषाएँ सुनते हुए बड़ा हुआ हूँ। पाप और पुण्य की भी और नैतिक धरातल पर अच्छे और बुरे की भी। अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रभावाधीन इन संस्कारों की जकड़ कुछ कम हुई है ज़रूर, पर मैं या मेरे आस-पास के लोग उनसे पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाए। बौद्धिक स्तर पर भले ही कुछ न मानता, फिर व्यवहार में बहुत-कुछ संस्कारों के बल पर ही व्यवहार करता हूँ। हम प्रेम की कविताएँ पढ़ते हैं, पर कल किसी की बेटी प्रेम करने लगे तो उसकी हिम्मत जवाब दे जाती है, अगर कल किसी हिन्दू बुद्धिजीवी की बेटी किसी मुसलमान लड़के के साथ ब्याह करना चाहे तो साम्प्रदायिकता को घृणित मानते हुए भी उसमें इतनी हिम्मत नहीं होगी कि खुले दिल से मुसलमान लड़के के साथ उसे ब्याह दे। बौद्धिक स्तर पर हमारी मान्यताएँ कुछ भी हों, भीतर-ही-भीतर पुरानी मान्यताओं के संस्कार हमें बहुत-कुछ जकड़े हुए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब मैं अपनी कहानियों के लिए ऐसे पात्र कहाँ से लाऊँ जो व्यावहारिक स्तर पर, किसी यूरोपीय निवासी की भांति इन पूर्वाग्रहों से मुक्त हों ? बौद्धिक मान्यताओं के स्तर पर तो मेरा काम चल जाता है, लेकिन रचनात्मक स्तर पर इसे कैसे निभा पाऊँ ? पाश्चात्य जीवन के किरदारों को मैं अपनी कहानियों में कैसे बिठा दूं ? रचना का वह स्तर सचमुच ही बड़ा छिछला होगा जहाँ पात्र लेखक की बौद्धिक मान्यताएँ ही दोहराते रहें ।

कुछ-कुछ यही स्थिति मेरे भावनात्मक जीवन की भी है । जिस समाज में मैं रहता हूँ उसके साथ भावनात्मक स्तर पर मेरा एक रिश्ता है और चाहते हुए भी मैं उसे अमूर्त अवैयक्तिक रिश्ते में नहीं बदल सकता । कुछ मुद्दत पहले तक जब 'इण्डियन आयल' का बोर्ड देखा था तो दिल में हिलोर-सी उठती थी कि देश में उद्योग-धन्धे पनपने लगे हैं, वायु-मंडल में भी वह दासता की भावना नहीं रही जो आजादी के पहले हुआ करती थी । कुछेक बातें देखकर जहाँ दिल नाच उठता था, वहाँ कुछेक अन्य बातें देखकर दिल दहल भी उठता था । जहाँ एक ओर विकास की झलक मिलती थी, तो दूसरी ओर 'पड़ोसी के पेट में घूँसा मारो और आगे बढ़ो' वाला वातावरण भी देखने को मिलता था । मैं बार-बार मन को समझाऊँ कि साहित्यिक के नाते यह दुनिया मेरी नहीं है, तो भी यह दुनिया मेरी ही थी । भावनात्मक स्तर पर मैं इससे जुड़ा हूँ । इसे मैं अवैयक्तिक स्तर पर ला पाने में असमर्थ हूँ । आये-दिन दंगे होते हैं तो भावनात्मक स्तर पर मैं उदासीन नहीं रह पाता, विशेषकर जब मैं जानता हूँ कि इससे बेहतर जीवन जिया जा सकता है । भावनात्मक स्तर पर मैं अनेक प्रयासों के साथ अपने को जुड़ा हुआ भी पाता हूँ । मेरे समाज की अनेक पेचीदगियाँ निराली हैं । यूरोप की ज़िंदगी मेरे देश की ज़िंदगी से बहुत-कुछ भिन्न है । मेरे रिश्ते की एक स्त्री विधवा हो गयी थी, उसने अपना सारा जीवन वैधव्य में काट दिया है । मेरे रिश्ते की एक अन्य स्त्री को घरवाले ने बसाया नहीं, धक्का मारकर बाहर निकाल दिया । वह आज भी अलग-थलग बैठी एक के नाम की माला जपती रहती है ।

जिस समाज में मैं रहता हूँ वह ज़रूर बदल रहा है, बहुत-कुछ पश्चिमी यूरोप की ही लीकों पर बदल रहा है । लेकिन हू-ब-हू विलायत नहीं बन गया है । पश्चिमी यूरोप के नागरिक की दुनिया बहुत-कुछ दूसरी है, पूर्वाग्रहों के स्तर पर भी, नैतिक मूल्यों के स्तर पर भी, सामाजिक सम्बन्धों के स्तर पर भी और भावनात्मक प्रतिक्रियाओं के स्तर पर भी । हमारे यहाँ वह तनाव नहीं पाया जाता जो दो सौ बरस की मशीनी सभ्यता और भयानक विश्वयुद्धों के कारण पश्चिमी यूरोप में पाया जाता है । यान्त्रिक युग से पैदा होने वाला एकाकीपन वहाँ शायद चरम सीमा तक जा पहुँचा है, जबकि हमारे यहाँ अभी केवल उसकी शुरुआत है । हमारे यहाँ बिरादरियों, संयुक्त परिवारों आदि में अभी केवल दरारें पड़ी हैं, जबकि वहाँ ढूंढने पर भी उनका ईंट-पत्थर नहीं मिलता । और फिर, यह समझना भूल होगी कि यूरोप के सभी देशों में एक जैसी स्थिति पायी जाती है । समाजवादी रूस में, मिसाल के तौर पर, सामाजिक व्यवस्था भिन्न होने के कारण सामान्य जीवन की गतिविधि और वातावरण बहुत-कुछ भिन्न है । वहाँ पर वह तनाव नहीं है, जो पश्चिमी यूरोप में है, इसका यह मतलब नहीं कि वहाँ पर समस्याएँ नहीं हैं, समस्याएँ हैं, लेकिन बिलकुल वैसी समस्याएँ नहीं हैं जैसी पश्चिमी यूरोप में हैं । जहाँ पश्चिमी यूरोप में पूँजीवादी व्यवस्था के कारण व्यक्तिवाद का बोलबोला है और व्यक्ति नगण्य होता जा रहा है, वहाँ सोवियत संघ में समष्टिवाद पर अधिक बल दिया जाता है जिससे व्यक्ति का उत्साह मर नहीं गया है, बल्कि सामूहिक उपलब्धियों के स्तर पर बहुत-कुछ कायम है । इस अर्थ में जिस भाँति समाज एक समन्वित इकाई नहीं है, वैसे ही यूरोप भी एक समन्वित इकाई नहीं है । इतिहास के जिस मोड़ पर पश्चिमी यूरोप के लोग पहुँचे हैं हम भौतिक दृष्टि से भी और मानसिक दृष्टि से भी अभी उससे बहुत दूर हैं । हम केवल बौद्धिक स्तर पर ही उनकी स्थिति की कल्पना कर सकते हैं, अपनी अनुभूति के बल पर नहीं । दो महायुद्धों का हमारा अनुभव उनसे भिन्न रहा है । हमने वे रातें नहीं देखीं जब हज़ारों टन बम हर मिनट शहरों पर गिराये जा रहे थे । इस कारण उन स्थितियों के अनुभव से पैदा होने वाली मानसिक प्रतिक्रिया हमारी नहीं हो सकती, हम अपनी कल्पना द्वारा ही उनकी स्थिति में अपने को रख सकते हैं, और कहीं-कहीं तो अपनी कल्पना द्वारा भी शायद नहीं रख पाये । फ़ैक्टरियों में काम करने वाला कामगार पश्चिमी यूरोप में अलग-थलग है, जबकि हमारा कामगार अभी भी बहुत-कुछ अपने गाँव से जुड़ा है । हम उनकी मानसिक स्थिति को उनके परिवेश से अलग करके नहीं देख सकते,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न ही उनकी मानसिक स्थिति को अपने परिवेश की अवहेलना करते हुए स्वयं अपना सकते हैं।

अगर यह बात ठीक है कि हमारा चिन्तन हमारे परिवेश से जुड़ा रहता है तो हम अपने चिन्तन में उस स्थिति को नहीं ला सकेंगे या केवल अमूर्त, काल्पनिक, बौद्धिक स्तर पर ही ला सकेंगे जो हमारे परिवेश में नहीं मिलती।

साहित्य-रचना के क्षेत्र में हर कौम की अपनी विशिष्टताएँ, अपने संस्कार, अपने गुण होते हैं। हर कौम का अपना एक राष्ट्रीय अवचेतन होता है जो साहित्य-सृजन को प्रभावित करता है। अंग्रेज़ी साहित्य पर अंग्रेज़ों की छाप रहती है, फ्रांसीसी साहित्य पर फ्रांसीसियों की। अंग्रेज़ों के हास्य-व्यंग्य में और फ्रांसीसियों के हास्य-व्यंग्य में अन्तर है। रूसियों के चिन्तन में एक प्रकार की आध्यात्मिक प्रवृत्ति पाई जाती है जो उनके साहित्य में झलकती है। अंग्रेज़ों का उपन्यास-साहित्य, अमरीकियों के उपन्यास-साहित्य से बहुत भिन्न है। अंग्रेज़ी उपन्यास में शताब्दियों से मनुष्य को समाज से जुड़ा, समाज के परिप्रेक्ष्य में दिखाया गया है। अमरीकी उपन्यास में मनुष्य को अकेला, निपट अकेला दिखाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। अंग्रेज़ी उपन्यास में वर्ग-चेतना अधिक है, अमरीकी उपन्यास-साहित्य में न के बराबर। इसी तरह हमारे साहित्य पर हमारे ही राष्ट्रीय अवचेतन की छाप होगी, वही साहित्य स्वाभाविक भी होगा और मौलिक भी। इसलिए न तो मैं अपने देश और काल की सीमाएँ एक छलाँग में लाँघकर उन-जैसा साहित्य पैदा कर सकता हूँ न ऐसा कर पाने की मुझे कोई ज़रूरत महसूस होती है। जिस ज़िन्दगी से मैं जुड़ा हूँ उसी ज़िन्दगी से मैं प्रेरणा भी हासिल करना चाहूँगा। उसी में डूबकर ही मैं अच्छा साहित्य भी पैदा कर सकता हूँ। इसका यह मतलब हरगिज़ नहीं कि मैं पाश्चात्य साहित्य का बहिष्कार करूँ। कौन नहीं जानता कि अंग्रेज़ी साहित्य तथा बाहर के अन्य साहित्य ने हमारी रुचि को परिष्कृत किया है, वह साहित्य हमें आधुनिक युग में खींच लाने में सहायक हुआ है, यथार्थवाद की ओर हम उसी साहित्य के प्रभावाधीन उन्मुख हुए हैं। हमने उससे कितना कुछ सीखा है और सीख रहे हैं। वह साहित्य हमारे संवेदन को परिष्कृत करने में सहायक है। पर यह सब रहते हुए भी मैं लिखूँगा तो उसी बल-बूते के आधार पर ही जो भाषा, शिल्प, अनुभव, परम्परा, संस्कार आदि के नाते मेरे पास है।

यह तो आप मानेंगे कि जहाँ भी हमने अपने देश, काल और परिवेश से कटकर बाहर के लोगों का दृष्टिकोण अपनाकर साहित्य रचा है, हमने भोंडा साहित्य ही रचा है। ज़माना था जब उपन्यास में टामस हार्डी का बोलबाला था, हमने हार्डी की लीकों पर चलते हुए दो कौड़ी के उपन्यास रचे। बाद में नाटकों के क्षेत्र में बर्नार्ड शॉ की धूम रही, और हमने उनकी लीकों पर चलते हुए दो कौड़ी के नाटक रचे। इसी तरह फ्रायड की खोजों के प्रभावाधीन भी। आज कामू और काफ़्का हमारे मानसिक क्षितिज पर चमक रहे हैं और कोई कारण नहीं कि उनकी लीकों पर चलते हुए हम दो कौड़ी का साहित्य न रचें।

किसी काल में भी समस्त लेखन एक ही प्रकार का नहीं हुआ, न हो सकता है, न होना चाहिए। रेनेसाँ की लहर भी जब उठी तो न केवल यह कि इटली, फ्रांस और इंगलैंड का साहित्य, एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए भी अलग-अलग दिशाओं में पनपे थे, बल्कि प्रत्येक देश में लिखने वालों ने तरह-तरह का साहित्य रचा था। जेम्स जायस का विख्यात उपन्यास पहले विश्वयुद्ध से कुछेक साल पहले छपा था, आज इस बात को लगभग ६० वर्ष बीत चुके हैं। जेम्स जायस के बाद इंगलैंड में अनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार हुए हैं, सभी ने जेम्स जायस की तरह नहीं लिखा, और सभी ने कचरा भी नहीं लिखा। मतलब कि एक ही काल की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति भी विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है।

अब यह कहाँ का न्याय है कि मुझे कोई उर्दू का शेर पसन्द आ जाए तो मुझे पिछड़ा हुआ कहा जाए, अगर बच्चन का कोई गीत पसन्द आ जाए तो दोस्त नाक-भौं सिकोड़ें, अगर गठी हुई कहानी में मुझे रस मिले तो कहें कि मुझमें संवेदन की कमी है। यह तो रही पढ़ने की बात, अगर लिखने में भी ऐसी ही कोई भूल कर बैठूं तो मेरा नाम लिखने वालों की फ़ेहरिस्त में से काट दें। आज के युग का संत्रास महसूस कर पाऊँगा तो कर पाऊँगा, आपका आतंक तो आयेदिन महसूस करने लगा हूँ। यह छिछली रूपवादिता नहीं तो और क्या है? अपने साहित्य को दूसरों के साहित्य की नज़र से देखने और आँकने की कोशिश नहीं तो क्या है? मैं तो आखिर फिर भी कुछ पढ़ा-लिखा हूँ, राजधानी में रहता हूँ, अंग्रेज़ी जानता हूँ, बुद्धिजीवियों के साथ उठने-बैठने का दम भरता हूँ। उस बेचारे को क्या कहूँ जो विदेशी साहित्य से अनभिज्ञ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, फिर भी कुछ लिख पाने की तड़प लिये हुए है। और उस संवेदन तक नहीं पहुँच पा रहा जो केवल किताबों के ज़रिये हम तक पहुँच रहा है। मैं उसे कैसे कह दूँ कि कामू और काफ़्का नहीं पढ़ोगे तो तुम सच्चे ब्राह्मण नहीं बन सकते। एक संकीर्णता की बेड़ियाँ तोड़ते हुए हम दूसरे प्रकार की संकीर्णता की बेड़ियाँ कसे जा रहे हैं।

लेकिन संत्रास का दर्शन एक बात है, संवेदनशील, महान् लेखकों द्वारा रचा गया साहित्य बिलकुल दूसरी बात। दस्तायेव्स्की हो या काफ़्का और कामू, उनकी साहित्यिक देन से इन्कार नहीं है। उनमें जीवन की गहन अनुभूति है, उनका साहित्य यथार्थ के ऊपरी ढाँचे को फोड़, अवचेतन की गहराइयों में उतरा है, और इस तरह यथार्थ चित्रण में उसने नये आयाम जोड़े हैं। केवल ज़िंदा रह पाने की अनिवार्यता के नाते, कहीं-कहीं यह इन्सान को अपने परिवेश में दाँत गाड़ने को विवश करता है। कला की दृष्टि से इसकी उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण हैं, इससे कौन इनकार करेगा?

पर जहाँ हम इन उत्कृष्ट रचनाकारों का मान करते हैं, वहाँ उनके साहित्य को किसी विशेष दर्शन के साथ जोड़ने की चेष्टा अथवा आज की ज़िन्दगी को देखने का एकमात्र दृष्टिकोण मानना ग़लत होगा। आधुनिक जीवन की अराजकता और व्यर्थता का चित्रण करना एक बात है, उसे एक बौद्धिक सिद्धान्त का रूप देकर उसे वाद बनाकर उसका प्रचार करना बिलकुल दूसरी बात। जितना अधिक हम उन बौद्धिक निष्कर्षों की लीकों पर चलेंगे, उतने ही अधिक हम अपने साहित्य को यान्त्रिक और अपनी रचना-दृष्टि को संकीर्ण बनाते जाएँगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीवार | परमानन्द श्रीवास्तव

कुछ याद नहीं खेल कब शुरू हुआ था
अँधेरा जो सीढ़ियों से
गिरता-गिरता इतनी दूर तक
चला आया है···इससे ज़्यादा मैं उसके बारे में
कुछ भी नहीं जानता
और इतिहास में बीस साल का मतलब
ऐसी दीवार हो गया है
जिसके सामने विकल्प की जगह भी
सिर्फ़ दीवार है।
(यानी विकल्प का व्यंग्य)

जिसके इशारे से उधर
रेडक्रास का दफ़्तर है
इधर घर है
और मैं जान गया हूँ कि इनमें
क्या फ़र्क होता है
इसके बावजूद क्या आसान है
तय कर सकना कहाँ जाना है
और क्या करना है

यों इससे भी पहले मैं उनसे पूछना चाहता हूँ
जिनके हाथों में हर किसी की आत्मा पर
चिपका देने के लिए
कुछ इश्तहार हैं
कि उनके नियमानुसार जीने से पहले
आदमी को
कितनी बार मरना है
संविधान का वह एक शब्द 'न्याय'
जिसका दबाव मैंने कभी इस और
कभी उस कन्धे पर अक्सर महसूस किया है
मैं नहीं चाहता कि उसका कुछ मतलब हो
न मेरा तैंतीस साल पुराना घर चाहता है

पर पत्तियाँ चाहती हैं
एक बार गिरने
और इच्छाएँ
उतरने से पहले

या तो मैं जानता हूँ
या मेरे पैर का अँगूठा
कि उनके कटघरे से
न्याय की क्या दूरी है
और दिमाग़ जो समय के लिए सोचता है
की याद्दाश्त अपने ही बारे में
कितनी अधूरी है

अब इसका भी फ़ैसला कौन करेगा
कि भूख पहले अंतड़ियों में लगती है
या दिमाग़ में

पर भूख से भी क्या होता है
मैंने देखा है जुलूस में खोकर
अपनी पहचान वह किस शान से
निकलता है
और मुझे पता है आदमी का सिर
छोटा और चेहरा
सार्वजनिक होने से पहले
सिर्फ़ आदमी को छलता है
(नदियों को नहीं—जिनके चेहरे में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दाँत ही दाँत
रह गए हैं)

जिनके लिए दुनिया
इस या उस
रंग में बँटी हुई एक चीज़ है—वे पछता रहे हैं
हालाँकि अभी भी
दूसरों के लिए
गा रहे हैं
और मैं जो अगले ओलिम्पिक खेलों के लिए
इन्तज़ार कर रहा हूँ जानता हूँ

वह सिर्फ़ दीवार है
और दीवार का कोई रंग नहीं होता

मैं जो इसके बाद भी ऊबा नहीं हूँ देख रहा हूँ
यह संकेत है मेरे लिए और मेरे शब्दों के लिए
कि एक बार मरना है
शहादत के लिए नहीं
न उसके लिए
जो दीवार है
या जिसके लिए मैं दीवार हूँ
या मेरे शब्द
दीवार हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कामायनी : एक असफल कृति

इन्द्रनाथ मदान

(कामायनी से कामायनी की पहचान)

: १ :

कामायनी को जानने और पहचानने की एक लम्बी परम्परा है। प्रसाद और आचार्य शुक्ल से लेकर हर आलोचक ने इसके बारे में लिखा है और इसके स्वरूप को साफ़ करने की कोशिश की है। इसे कभी रूपकों के माध्यम से पहचानने की कोशिश रही है तो कभी चरित्रों के माध्यम से, कभी आध्यात्मिक आधार पर तो कभी मनोवैज्ञानिक आधार पर, कभी समाज-शास्त्र को लेकर तो कभी मिथकों को लेकर, कभी महाकाव्य के रूप में तो कभी महान् काव्य के रूप में, कभी भाषा के धरातल पर तो कभी बिम्ब-विधान के धरातल पर, कभी इतिहास की दृष्टि से तो कभी छायावादी दृष्टि से। एक ही कृति अपनी पहचान करवाने के लिए जब इतनी पद्धतियों को अपनाने के लिए बाधित करती है तो इसका एक आशय यह है कि **कामायनी** कुछ है या इसमें कुछ है जो अनजाना रह जाता है। इसका दूसरा आशय यह भी हो सकता है कि हर आलोचक ने अपनी आँखों में इसे देखा है जिससे **कामायनी** की आँखें मुँद जाती रही हैं या हर आलोचक ने अपनी आवाज़ को इतना बुलन्द करने की कोशिश की है कि **कामायनी** की आवाज़ इसके नीचे दबकर रह जाती है। इसकी पहचान इसकी राह से गुज़रकर हो सकती है और इसकी राह से गुज़रने का मतलब यह है कि यह 'क्या, कैसे और किस तरह' है। आम तौर पर हुआ यह है कि यह क्यों इस तरह है और क्यों इस तरह नहीं है। आलोचकों के परस्पर-विरोधी मत इस बात को साबित करते हैं कि वे किस तरह अपनी-अपनी राह को इस पर लादने की कोशिश में अपने निकट और **कामायनी** से दूर होते गये हैं। यदि एकेडेमिक भाषा में कहा जाए तो इनका मूल्यांकन वस्तुनिष्ठ होने के बजाय आत्मनिष्ठ होने की गवाही देता रहा है। सबसे पहले प्रसाद ने यह काम किया है और कवि की बात को मानकर आलोचकों ने शायद यह भुला दिया है कि कवि सृजन के बाद अपनी कृति से अलग हो जाता है, पाठक या आलोचक का सम्बन्ध कृति से होता है, कृति के भीतर से निकली बात से होता है, न कि कृतिकार के मन की बात से जो उसके मन में रह जाती है या होती है। इतर बातें कृति पर अतिरिक्त आलोक डालने के काम तो आ सकती हैं, लेकिन उसकी पहचान या मूल्यांकन का आधार नहीं बन सकतीं। इसलिए मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, काव्य-शास्त्र, मिथक-शास्त्र, ज्ञान-विज्ञान, रसवाद, आनन्दवाद आदि की एक सीमा है और वह यह कि इनकी सहायता से कृति की परतों को उघाड़ा तो जा सकता है—यह क्यों इस तरह की हैं; लेकिन क्या—कैसे—किस तरह का जवाब कृति ही दे सकती है। यह सही है कि कृति हिसाब का सवाल नहीं होती जिसका एक जवाब हो, मूल्यांकन की वस्तुनिष्ठता भी विज्ञान की वस्तुनिष्ठता नहीं होती। इसकी वस्तुपरकता-आत्म-परकता में मात्रा का अन्तर अवश्य रहता है और अन्तर की यह मात्रा कृति के समीप या दूर होने की गवाही देने लगती है। इस बात को तूल इसलिए देना पड़ा है कि उधर जयशंकर प्रसाद, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य नगेन्द्र, डॉ० द्वारिका प्रसाद सक्सेना, डॉ० प्रेमशंकर, डॉ० रामलालसिंह और इधर गजानन माधव मुक्तिबोध, डॉ० नामवरसिंह, डॉ० रमेशकुन्तल मेघ, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि ने **कामायनी** के बारे में जो और जितना लिखा है उसमें बल अपनी-अपनी आवाज़ पर इतना अधिक दिया गया है कि इसे बोलने का अवसर कम मिला है। इसे फिर से आँकने की आवश्यकता भी इसलिए पड़ी है। मुक्तिबोध और रमेश कुन्तल मेघ यदि इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि **कामायनी** असफल तो है, पर वे समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, मिथक-शास्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का सहारा लेकर। मुक्तिबोध ने [illegible] किया है और कुन्तल मेघ ने इसे छूने की कोशिश की है। आखिर सौन्दर्यशास्त्र भी तो एक शास्त्र है जो कृति पर लादा जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसमें दो-तीन असंगतियों को यदि आँकते हैं या इनका संकेत देते हैं तो वह अपनी समाज-मंगल की दृष्टि से जिसमें यह फ़िट नहीं बैठती। इसी तरह आचार्य वाजपेयी, आचार्य नगेन्द्र, डॉ० प्रेमशंकर, डॉ० सक्सेना आदि यदि **कामायनी** की कलात्मक सफलता की बात करते हैं तो यह इनकी छायावादी, रसवादी, आनन्दवादी दृष्टि का परिणाम है। असल में आलोचक दो दलों में विभाजित लगते हैं। मुक्तिबोध, रमेशकुन्तल मेघ, नामवरसिंह ने आचार्य शुक्ल की दृष्टि में समाजशास्त्र, मिथक-शास्त्र का पुट देकर इसे गहराया है या इसे वैज्ञानिक बनाने की कोशिश की है। इस तरह **कामायनी** का मूल्यांकन न केवल बदलते बोधों के साँचों में ढला हुआ है, दो दलों में विभाजित भी लगता है। इस प्रयास में इसकी इतनी चीड़-फाड़ हो चुकी है, इस पर इतने टाँके लग चुके हैं कि इसे पहचानना कठिन हो गया है। यह कहना मुश्किल हो गया है कि इसका चेहरा कहाँ-कैसे कटा हुआ है और कहाँ कैसे जुड़ा हुआ है। अन्य अंगों की भी यह स्थिति है।

: २ :

सबसे पहला अपराध प्रसाद ने यह कहकर किया है—"यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी लग सकता है।···इन्हीं सबके आधार पर **कामायनी** की कथा-सृष्टि हुई है।"[1] इतना कहने के बाद प्रसाद यह भी जोड़ देते हैं कि कामायनी की **कथा-शृंखला** मिलाने के लिए कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार वह नहीं छोड़ सके हैं। नहीं छोड़ सके हैं तो न सही। कवि का यह अधिकार है कि वह कल्पना से काम ले, लेकिन वह कैसे—किस तरह लेता है—[illegible] सोचना पड़ता है। इस वक्तव्य को देते हुए कवि अपने मन की बात कर रहे हैं और कहाँ तक और किस तरह **कामायनी** के भीतर से यह निकलती है इसे देखना होता है। आलोचकों ने प्रायः कवि की बात को तो गाँठ में बाँधकर, इसे आप्त वचन के रूप में स्वीकार कर लिया और इसे **कामायनी** पर आरोपित करना शुरू कर दिया; लेकिन यह भुला दिया गया कि यह कृति का अभिन्न अंग है या विकलांग। इसके बाद हर आलोचक ने **अपनी-अपनी दृष्टि** से प्रसाद के **कामायनी**-सम्बन्धी वक्तव्य पर अधिक और कृति पर कम बल देकर इसे परखना शुरू कर दिया। इन आलोचकों के मतों की राह से गुज़रकर ही इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि **कामायनी** स्वयं क्या है और उसे क्या बना दिया गया है। यह सही है कि हर कृति, यदि वह अनुकृति नहीं है, अनेक संकेत दे सकती है और देती रही है; लेकिन प्रसाद के कथन ने आलोचकों को गुमराह करने में अनायास सहयोग दिया है। आचार्य शुक्ल ने प्रायः अन्य आलोचकों की तरह इसमें असंगति को अपने स्तर पर खोजा और पाया है। वह **कामायनी** में दो बड़ी असंगतियों का संकेत करते हैं। एक, चरित्रों के बारे में और दूसरी इसकी आन्तरिक योजना के बारे में। इनकी चरित्र बनाम रूप के बारे में शिकायत यह है कि श्रद्धा की स्थिति शुद्ध भाव की स्थिति है। रति और काम की दुहिता होने के कारण श्रद्धा का अस्तित्व एकांत भावात्मक है। ऐसी परिस्थिति में उसकी स्थिति भाव, कर्म, ज्ञान तीनों के परे कैसे हो सकती है? वह यह कहते हैं कि श्रद्धा जब कुमार को लेकर सारस्वत नगर में पहुँचती है तब इड़ा से कहती है—"सिर चढ़ी रही पाया न हृदय।" इससे चिढ़कर आचार्य शुक्ल इड़ा की ओर से इसका जवाब देना चाहते हैं—क्या श्रद्धा के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता था कि "रस पगी रही पाई न बुद्धि।"[1] वह प्रसाद को दोष देते हैं और यह कहकर शांत हो जाते हैं कि इनके स्तर पर श्रद्धा-इड़ा में सामंजस्य का स्वर **कामायनी** में सुनने को इसलिए नहीं मिलता कि श्रद्धा कवि की एकांतिक मधुर-भावना के अनुकूल है। इसका आशय यह है कि प्रसाद ने श्रद्धा को आचार्य शुक्ल के लोक-मंगल के साँचे में क्यों नहीं ढाला है और सामंजस्य को इनकी दृष्टि के अनुरूप क्यों नहीं निरूपित

१. आमुख, पृष्ठ ७-८।

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६३८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है। इड़ा को श्रद्धा से शून्य कहना और श्रद्धा को इड़ा से शून्य कहना आलोचक को गड़बड़ में डाल देता है। वह दूसरी असंगति की दुखती रग पर अँगुली अवश्य रखते हैं जब वह यह कहते हैं—**"जिस समन्वय का पक्ष कवि ने अन्त में रखा है उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रकृति के कारण काव्य के भीतर नहीं होने पाया है।"**[१] इसका कारण भी श्रद्धा है जिसे तीनों बिन्दुओं से अलग दिखाया गया है। इस तरह आचार्य शुक्ल **कामायनी** की आन्तरिक योजना में असंगति को महसूस करते हुए भी बल इस बात पर देते हैं कि श्रद्धा इस तरह क्यों है और इस तरह क्यों नहीं है। उसे लोक-मंगल के विधान का अंग क्यों नहीं बनाया है? अन्त में तान इस बात पर टूटती है कि इस विशद काव्य की आन्तरिक योजना पर यदि ध्यान न दिया जाए और समष्टि रूप में कोई समन्वित प्रभाव न खोजा जाए, श्रद्धा-काम-लज्जा, इड़ा को अलग-अलग कर लिया जाए तो रमणीय चित्रमयी कल्पना, अभिव्यंजना की मनोरम पद्धति आती है, प्रबन्ध-क्षेत्र में छायावाद की चित्रण-प्रधान और लाक्षणिक शैली की सफलता की **आशा** बँधती है। इस तरह **यदि** की बात से **कामायनी** का मूल्यांकन उलझ जाता है। यदि यह न होता तो यह होता से कृति से दूर हो जाना है। आचार्य शुक्ल **कामायनी** की भीतरी असफलता को भाँप तो लेते हैं; लेकिन अपनी मंगल-विधान की दृष्टि के कारण अपनी अँगुली दुखती रग पर रखकर भी इसे समूचे रूप में आँकने से रह जाते हैं। सफल रोमांटिक कृतियों का नितान्त अभाव भी नहीं है—जैसे गेटे का **फाउस्ट**। इस तरह बड़े-से-बड़ा आलोचक भी जब अपनी दृष्टि को कृति पर आरोपित कर इसे आँकने लगता है तो वह इसकी पहचान से दूर हो जाता है।

आचार्य वाजपेयी ने भी यही किया है; लेकिन इनकी दिशा आचार्य शुक्ल की दिशा से उलटी है। इसका कारण इनका अपना बोध है जिसे **कामायनी** पर आरोपित किया गया है। वह इसका विवेचन इसे अलग-अलग खानों में बाँट-कर करते हैं। इनकी पहली तान इस परिणाम पर टूटती है कि यह एक महाकाव्य है, लेकिन **रामायण** की तरह नहीं है। यह छायावादी युग का काव्य है। इसलिए इसके रचना-विधान का भिन्न होना स्वाभाविक है। इसे मानने में किसी तरह की बाधा नहीं है। इनकी दूसरी तान इस परिणाम पर टूटती है कि यह एक महान् काव्य है। इस तरह महाकाव्य से महान् काव्य तक पहुँचने की प्रकिया में वह अपने आनन्दवादी दृष्टिकोण को **कामायनी** पर आरोपित कर, इसके उपसंहार को दार्शनिक और आलंकारिक पूर्ति मानकर, इसे संगत सिद्ध कर संतोष की साँस लेने लगते हैं। इनका यह आयास सायास भी है और अनायास भी। **कामायनी** का उपसंहार महाकाव्य की संधियों से परे है, इसलिए यह महान् काव्य है।[१] यह विवेचन आनन्दवाद के आरोपित होने का परिणाम है। आचार्य वाजपेयी के मूल्यांकन में आन्तरिक असंगति यह है कि एक तरफ़ तो **कामायनी** का उपसंहार इन्हें खटकता है और दूसरी तरफ़ आनन्दवाद का निरूपण इन्हें आनन्द रस में गोते लगाने के लिए बाधित करता है। इस तरह वह **कामायनी** को खण्डों में विभाजित करने से, इसके विविध पहलुओं को अलग-अलग आँकने से इसके सृजनात्मक खण्डों की पहचान में तो सफल हो जाते हैं; लेकिन इसके सृजन की अखण्डता की असफलता को पहचानने से रह जाते हैं। इसका मूल कारण आनन्द की अखण्डता है जो कृति पर हावी है, आरोपित किया गया है। "इस प्रकार हम देखते हैं कि **कामायनी** की मूल कल्पना उदात्त है और उक्त उदात्त कल्पना का व्यक्तीकरण भी सफलतापूर्वक किया गया है।"[२] प्रश्न मात्र उदात्त का नहीं है, प्रश्न इसे निभाने का है। आचार्य वाजपेयी के अनुसार इसका व्यक्तीकरण सफल है। वह कैसे और किस तरह है इसका संकेत भी दिया गया है—"कामायनी का कथानक दुःखान्त कृति के उपादानों से बना है। समस्त सन्धियों का विनियोग दुःखान्त रचना के ही अनुकूल हुआ है। ऐसी अवस्था में घटना-चक्र को **सहसा** दूसरी दिशा में मोड़कर बिल्कुल भिन्न परिणाम पर पहुँचने के **औचित्य** पर शंका और विरोध के लिए पूरा स्थान है।"[३] सवाल न तो सहसा दूसरी तरफ़ मोड़ने का है और न ही **औचित्य** का है। कवि क्यों इसे **सहसा** मोड़ते हैं और क्यों आनन्दवाद के परिणाम पर पहुँचने का इतना नहीं है जितना क्या—कैसे—किस तरह मोड़ने का है या मुड़ने का है। यदि **कामायनी** इस दिशा में मुड़ जाने से इन्कार

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास: पृष्ठ ६३६।

१. आधुनिक साहित्य, कामायनी।
२. वही, पृष्ठ ७६।
३. वही, पृष्ठ ६७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पि-३६आ आ.पि ६८

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करती है और कवि इसे मोड़ना चाहते हैं तो कृति उस पर हावी होकर इसे असफल बना सकता है। आनन्द की अखण्डता को निरूपित करने का अधिकार कवि को है और आलोचक इसे अपने दृष्टिकोण को साकार होते देखने के लिए इसे छीन नहीं सकता; **लेकिन यदि आनन्द की अखण्डता सृजन की अखण्डता को भंग करती है और कामायनी का अभिन्न अंग नहीं बन पाती तो इसे आरोपित ही कहा जाएगा।**

आचार्य नगेन्द्र भी एक तरफ़ तो **कामायनी** के उपसंहार का मूल-कथा से सम्बन्ध सहज नहीं मानते और दूसरी तरफ़ इसके संकेत-अर्थ की स्पष्टता से बाधित होकर इसे आगे ले जाने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस तरह वह कवि का साथ देने में कृति का साथ नहीं देते, अपने और कवि के निकट होकर कृति के मूल्यांकन से दूर होने की साक्षी देने लगते हैं। इनकी युक्ति यह है कि समष्टि-रूप में मानव-जीवन की परिणति आनन्द में परिणत कराने के लिए उपसंहार आवश्यक है। यह आनन्द शैव योगी का आत्मानन्द है जो भीतर के साक्षात्कार से उपलब्ध होता है।[1] आनन्द के स्वरूप या कवि के उद्देश्य के बारे में 'क्यों या क्यों नहीं' का सवाल पूछना बेकार होता है। यह उसके हक को छीनना है; लेकिन पाठक जब कृति की राह से गुज़रता है तब वह यह सवाल कर सकता है कि स्वरूप-उद्देश्य क्या, किस तरह और कैसे है। आनन्दवाद कवि के मानस का अभिन्न अंग है और यह आलोचक के रसवादी-आनन्दवादी दृष्टिकोण के निकट भी हो सकता है; लेकिन जब तक **कामायनी** के भीतर से यह नहीं निकलता तो इसे सृजन और मूल्यांकन दोनों स्तरों पर आरोपित ही कहना पड़ेगा। आचार्य नगेन्द्र उपसंहार को मूल-कथा का असहज सम्बन्ध मानकर इसे सहज बनाने के लिए **कामायनी** पर अपनी आवाज़ को आरोपित कर उसकी आवाज़ को दबा देते हैं। कृतिकार सृजन के बाद कृति से अलग हो जाता है और कृति एक स्वतन्त्र अस्तित्व धारण कर लेती है। यह आवश्यक नहीं है कि आनन्दवाद कवि के मानस का अभिन्न होकर कृति के मानस का भी अभिन्न अंग बन जाए। आनन्दवाद के पक्ष या विपक्ष में प्रश्न उठाना असंगत है; लेकिन यह क्या, कैसे और किस तरह **कामायनी** में है का प्रश्न संगत हो जाता है। सुधी आलोचक यह तो मान लेते हैं कि **कामायनी** इस उपसंहार की अनुमति नहीं देती; लेकिन प्रसाद के कथन और उद्देश्य से बाधित होकर इसकी वकालत इस तरह करने लगते हैं—यह ठीक है कि यह असंगत है, रचना में यह स्वर विषम है, लेकिन आनन्दवाद के निरूपण के लिए इसे संगत और सम के रूप में आँकना बेहतर है। इसी तरह आचार्य नगेन्द्र महाकाव्य की शास्त्रीय दृष्टि से अनुशासित होकर **कामायनी** में असंगतियों की भरमार आँकते हैं, कथा-विकास के स्तर पर इसमें अनेक जोड़ों का संकेत भी देते हैं और फिर इसे महाकाव्य कहने से परहेज़ भी नहीं करते। वह **कामायनी** को ऐहिक जीवन का महाकाव्य नहीं मानते, मानव-चेतना का महाकाव्य कहते हैं। इसलिए इनके अनुसार रूपक-तत्त्व, जो महाकाव्य के रचना-विधान में बाधक होता है यहाँ साधक है। इसी तरह प्रगीत-तत्त्व जो महाकाव्य के रूप-गठन में बाधक होता है यहाँ साधक बनकर आया है। यह शायद इसलिए करना पड़ा है कि आनन्दवाद की संगति **कामायनी** में बैठ सके। संगति का बैठना एक बात होती है और इसे बिठलाना दूसरी। आलोचक इसे बिठलाते हैं। प्रसाद ने **कामायनी** के आमुख में इसे बिठलाने की कोशिश की है। इस तरह आलोचक कृतिकार की धारणा के आधार पर कृति को उपलब्धि के रूप में आँकने के लिए **कामायनी** में महाकाव्य और रूपक के समन्वय को आँकना आवश्यक समझते हैं। हर कृति का रचना-विधान निजी होता है, इसके कला-नियम अपने होते हैं। **कामायनी** के भी अपने हैं। क्या बाधक को साधक इसलिए नहीं बनाया गया है ताकि आनन्दवाद की संगति **कामायनी** के सृजनात्मक स्तर पर बैठ सके, इसकी खण्डित सृजनात्मक प्रक्रिया में जोड़ लग सके? यदि यह सही है तो आलोचक की दृष्टि **कामायनी** पर हावी होकर इसकी पहचान और परख से दूर होने की ही गवाही दे सकती है। इस तरह आरोपण की परम्परा कवि से शुरू होकर लंबी और गहरी होती रही है। इस परम्परा को गहराने में अनेकों ने अपना-अपना योग दिया है। डॉ० प्रेमशंकर ने **कामायनी** में अन्य रसों को अंगी-रस के सहयोग के रूप में आँका है और निर्वेद भाव से शान्त रस की उत्पत्ति मानी है जो शास्त्रानुसार श्रव्य-काव्य के अनुसार है। इसका परिपाक आनन्द की स्थिति में रस-रूप में होता है।[1] **कामायनी** की

१. कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृ० ५०।

१. प्रसाद का काव्य, पृ० ४१८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पुस्तकालय

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तु-योजना और उसके चिन्तन तथा काव्य की रचना-विधान के इस साँचे में ढालकर मूल्यांकन की रसवादी परम्परा को ही विस्तार दिया गया है। डॉ० द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने भी मूल्यांकन की इसी परम्परा का पालन-पोषण किया है। वह भी इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि **कामायनी** में हर तरह और हर तरफ़ समन्वय-ही-समन्वय है, सामंजस्य-ही-सामंजस्य है। यह चाहे भाव-विभाव का हो या वस्तु-रस का, भाव-रूप का हो या चिन्तन-मनन का, बुद्धि-हृदय का हो या व्यक्ति-समाज का, अभेद-आभास का हो या शिव-शक्ति का। इस तरह समरसता का निरूपण **कामायनी** की रचना-प्रक्रिया में उपलब्ध है। इसके माध्यम से ही इसका मूल्यांकन बड़े विस्तार से किया गया है।[1] इस तरह के मूल्यांकन में प्रायः आनन्दवाद को आधार बनाया गया है जिसका निरूपण कवि ने कृति में किया है। कवि के मानस का आनन्दवाद **कामायनी** के मानस में किस तरह और कैसे उतरा है और इस प्रक्रिया में वह कृति का अभिन्न अंग बन सका है या सृजनात्मक स्तर पर वह अखण्ड या खण्डित है—इसे इतना आवश्यक नहीं समझा गया है। इसका नतीजा यह निकला है कि हर आलोचक ने **कामायनी** को बोलने का कम अवसर दिया है और कृति की पहचान को धुँधला दिया है।

: ३ :

यह एक तरह का समवेत गायन है जो काव्यशास्त्रीय है, एक दूसरी तरह का भी है जो समाजशास्त्रीय है। इनके आरोपित होने के कारण **कामायनी** का संगीत सुनने को कम मिलता रहा है। इसका समाजशास्त्रीय विश्लेषण करने की पहल गजानन माधव मुक्तिबोध ने की है।[2] एक निबन्ध के रूप में **कामायनी : कुछ नये विचार** नवम्बर १९४५ और फरवरी १९४६ क्रमशः **हंस** में यह छपा था। इस निबन्ध में पात्रों की समाजशास्त्रीय व्याख्या है जो इन पर रोशनी डालती है और यह साबित करती है कि रूपक आधुनिक यानी प्रसादकालीन है और इनके माध्यम से युग की समस्याओं पर विचार किया गया है। अपनी पुस्तक में **'कामायनी'** पर विस्तार से समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार किया गया है।

१. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन।
२. कामायनी : एक पुनर्विचार (१९६१)।

इसमें इसके रचना-विधान या काव्य-रूप को फेंटेसी कहा गया है जो एक झीना परदा होता है जिसमें जीवन-वास्तव झाँक-झाँक उठता है। मुक्तिबोध ने अपनी पैनी दृष्टि से मनु, इड़ा, श्रद्धा आदि रूपकों को समाजशास्त्रीय आँख से देखने की कोशिश की है और इनके पीछे छिपी वास्तविकता को पकड़ने की। यह पुरानी लीक से हटकर हुआ है। आलोचक का अनुरोध है कि काव्य तीन तरह से परखा जाना चाहिए—एक तो इसका जन्म कहाँ से है या किन वास्तविकताओं से पैदा होता है, दूसरे इसका कलात्मक प्रभाव क्या है और तीसरे इसकी रूप-रचना क्या है। मुक्तिबोध के अनुसार **कामायनी** की रूप-रचना फेंटेसी है और इसमें छायावाद-युग की समस्याओं को उठाया गया है। इसका मनु वेदकालीन नहीं है, वह अपनी ऐतिहासिक भूमि से पैदा हुआ है।[1] वह मनु की समस्या को **कामायनी** की मूल समस्या मानते हैं। उसके चरित्र का विश्लेषण समाजशास्त्रीय आधार पर किया गया है, उसे ठोस भूमि पर खड़ा किया गया है। यह विश्लेषण मनु के आत्म-विश्लेषण को लेकर किया गया है—वह हिम-खण्ड है जो पिघलता नहीं है, पाखण्ड है, अहंकारी और विलासी है, निराश और चिन्तित है, उसका शासन और विलास छिन गया है। वह पराजय का पुत्र है जो अपनी पराजय को पलायन से ढाँकता है। मनु का स्वभाव पूँजीवादी व्यक्ति का है।[2] इस बिन्दु पर पहुँचकर मुक्तिबोध का समाजशास्त्र **कामायनी** पर हावी होने की गवाही देने लगता है। आलोचक का यह शिकायत करना कि मनु अपनी पराजय को क्यों पलायन से ढाँपता है, क्यों सामरस्य से छिपाता है, क्यों पराजय से पराजय की ओर ले जाता है, आरोपित दृष्टि का परिणाम है। सवाल यह नहीं है कि मनु इस तरह क्यों है और इस तरह क्यों नहीं है। सवाल यह है कि **कामायनी** में, न कि उसके कवि में, वह क्या—कैसे—किस तरह है। क्या पलायन कृति के सृजन का अभिन्न अंग बन सका है? क्या सामरस्य से पराजय को छिपाने का चित्रण **कामायनी** से निकलता है? मुक्तिबोध ने जो समरसता को **ज़बरदस्ती** लाए जाने की बात की है वह संगत है और यह **कामायनी** को एक असफल कृति बनाती है।[3]

१. **कामायनी : एक पुनर्विचार**, पृ० २०।
२. वही, पृ० २१।
३. वही, पृ० २१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महादेवी के कुछ गीतों में पलायन और पलायन पर आवरण सृजनात्मक स्तर पर हैं, इसलिए वे कृतियाँ हैं जिनके स्वर से सहमत-असहमत होने का सवाल गौण है। मनु की 'विजय-पराजय' को मूल्यांकन का आधार बनाना **कामायनी** की आवाज पर अपनी आवाज़ को लादना है। इसी तरह मुक्तिबोध का **कामायनी** पर यह आरोप लगाना कि इसमें शिव-अशिव, मंगल-अमंगल में युद्ध क्यों नहीं छिड़ता, अशिव पर शिव की विजय क्यों नहीं होती—**कामायनी** की राह से गुज़रना नहीं कहा जा सकता, अपनी राह को उस पर लादना ही कहा जा सकता है।[1] मुक्तिबोध का यह गिला करना भी आरोपित दृष्टि का परिणाम है कि शिव और अशिव में समझौता क्यों करवाया गया है? यह तो छायावादी बोध की एक विशेषता है कि इसमें मध्यकालीनता और आधुनिकता में कभी समझौता है, कभी समन्वय या सामंजस्य है। इसे ही अशिव और शिव की शक्तियों में समझौता या समन्वय कहा जा सकता है। अनेक कृतियाँ हैं जिनमें शिव-अशिव में घमासान युद्ध नहीं छिड़ता, फिर भी वे कृतियाँ हैं। क्या काफ़्का, कामू, ब्रेख़्त की कृतियों को इस अधिकार से वंचित करना संगत है? क्या केशव की **रामचन्द्रिका**, जिसमें राम-रावण युद्ध का चित्रण है, कृति है या अनुकृति या विकृति? मुक्तिबोध ने अपने समाजशास्त्र के आधार पर प्रसाद के दृष्टिकोण की यह कहकर कड़ी आलोचना की है कि यह ग़लत है, मूलतः असामाजिक है। इसी तरह मनु एक कमज़ोर चरित्र क्यों है, वह क्यों भाग खड़ा होता है, डटकर मुकाबला क्यों नहीं करता, वह निराश क्यों है, वह विगत विलास की सुख-स्मृतियों पर क्यों रोता है, वह स्वयं को पाखण्ड क्यों कहता है और क्यों है, वह हिमखण्ड क्यों है, उसमें गहरी मनुष्यता का क्यों अभाव है, यदि उसमें यह अभाव है तो कवि उससे सहानुभूति क्यों करता है, वह रूप-रंग-गंध पर क्यों मुग्ध है? इस तरह आलोचक मनु के बारे में प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं जिसका मतलब यह है कि मनु ऐसा क्यों है और ऐसा क्यों नहीं है। वह जब मनु से घृणा करते हैं तब कवि उससे स्नेह क्यों करता है। कवि का इस पात्र पर मुग्ध होना आलोचक को खलता है। इस तरह वह अपनी आवाज़ को मनु पर हावी करते हैं और मनु की पहचान पाकर इसे खो देते हैं।

१. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ० २२।

मुक्तिबोध की दृष्टि पैनी और गहरी है। इसका परिचय **कामायनी** के विश्लेषण में मिल जाता है। असल में मनु-समस्या प्रसाद-समस्या है। यह सही हो सकता है। यह भी सही हो सकता है कि यह **कामायनी** की मूल समस्या है। मुक्तिबोध का यह कहना है कि यह **कथा-काव्य** होते हुए भी **चरित-काव्य** नहीं हो सकी।[1] इसलिए यह मनोवैज्ञानिक छायावादी **महाकाव्य** है; यह आत्मपरक **काव्य** है। इस विश्लेषण में बल इस बात पर दिया है कि **कामायनी** इस तरह का काव्य क्यों है और इस तरह का क्यों नहीं है। काव्य किसी तरह का हो सकता है, इसे उसके कला-नियमों के आधार पर आँकना संगत है, न कि आरोपित कला-नियमों के आधार पर। यदि **कामायनी** के रचना-विधान से गुज़रा जाए तो यह कृति नहीं बन सकी है, **यह कृति न होकर खण्ड-कृतियों का समूह ही बन सकी है।** प्रसाद की दृष्टि वैज्ञानिक है या अवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय है या रसवादी, आनन्दवादी—इस पर बल देना परखने की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता। मुक्तिबोध का यह मत है कि कथा के बाधित होने का मूल कारण उसके विकास की गति में बाधा की असली वजह **मनु-समस्या** का समाधान है जो **ग़लत** है, प्रसाद की अवैज्ञानिक जीवन-दृष्टि का परिणाम है। कवि मनु को कैलास पर क्यों ले गए हैं? यहाँ भी सवाल क्यों का इतना नहीं है जितना कैसे और किस तरह **कामायनी** में हुआ है। यह समाधान कवि का है, कृति का नहीं बन पाया है, कृति से निःसृत नहीं है, **कामायनी** में इसकी संगति नहीं बैठती। यह उसी तरह आरोपित है जिस तरह मुक्तिबोध का मूल्यांकन, जो इस आधार को लेकर चलता है कि मनु इस तरह क्यों है और इस तरह क्यों नहीं है, मनु प्रसाद की तरह क्यों है, मुक्तिबोध की तरह क्यों नहीं है। मनु की चीड़-फाड़ जितने पैने औज़ारों से मुक्तिबोध ने की है उतने तेज़ हथियारों से किसी ने अब तक नहीं की है, उसके गहरे में जितना मुक्तिबोध उतरे हैं उतना अन्य आलोचक नहीं उतर सका है। इसलिए मनु पर इनकी पकड़ तो गहरी है; लेकिन वह जब हाथ धोकर इसके पीछे पड़ जाते हैं तो वह मनु को अपने साँचे में ढालने की भूल कर बैठते हैं जो सम्भव नहीं है। वह यह भी शिकायत करते हैं कि मनु में अनुताप क्यों नहीं है। उसने इड़ा पर

१. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृष्ठ ३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमला किया, लोगों को मारा और एक बार भी उसे इसका पछतावा नहीं होता। श्रद्धा को छोड़ने का दुःख उसे अवश्य होता है। आचार्य शुक्ल की तरह मुक्तिबोध भी श्रद्धा के पीछे पड़ जाते हैं और इड़ा की वकालत करते हैं, आचार्य शुक्ल पूरी तरह और मुक्तिबोध आधे मन से। यह शायद इसलिए कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि **समाज-मंगलीय** है और मुक्तिबोध की **समाजवादी और समाजशास्त्रीय**। आचार्य शुक्ल इड़ा की तरफ़दारी करते हुए यह सवाल श्रद्धा से पूछते हैं—'तू रसपगी रही, पायी न बुद्धि'। यह इसलिए कि श्रद्धा से वह चिढ़ते हैं और उसे इड़ा को यह कहने का अधिकार नहीं देते—'तू सिर चढ़ी रही, पाया न हृदय'। मुक्तिबोध इड़ा को श्रद्धा से बेहतर तो समझते हैं; लेकिन यह गिला भी करते हैं कि उसमें रहस्यवाद का पुट क्यों है। इस तरह दो तरह के आलोचकों में श्रद्धा और इड़ा के बीच होड़ लगी रहती है, आनन्दवादी आलोचक श्रद्धा का साथ देते हैं और सामाजिक चिन्तन को लेकर चलने वाले इड़ा के पक्ष में हैं। इस होड़ में इनके अपने-अपने दृष्टिकोण हैं जो पात्रों पर आरोपित होने का आभास देने लगते हैं। मुक्तिबोध ने श्रद्धा पर यह गम्भीर आरोप लगाया है कि वह नारी के सहज विवेक से हीन है, वह मूढ़ है, वह भारतीय नारी नहीं है। कवि को **कामायनी** की रचना करते समय यह वहम हो गया कि पात्र सांकेतिक अभिव्यक्ति के लिए हैं। यह मनोवैज्ञानिक काव्य नहीं है। क्या मनोविज्ञान आकाश से चूता है या वास्तविकताओं से उपजता है?[१] कवि का चिन्तन निखर नहीं पाया है। यह सही है कि चित्रों में जीवन की धड़कन है। मुक्तिबोध श्रद्धा से खुश भी हो जाते हैं जब वह व्यक्तिवाद का खण्डन करती है—कलियाँ तभी खिल सकती हैं जब वे सौरभ फैलाती हैं।[२] मुक्तिबोध के अनुसार श्रद्धा के मानी हैं कवि का भाववादी अद्वैतवाद, समरसता में श्रद्धा, समरसता से आशय है नैतिक-अनैतिक से छुटकारा। इसका प्रश्न ही नहीं उठता। आलोचक की समझ से यह बाहर है कि श्रद्धा गांधार देश की घुमक्कड़ नारी होकर खूँटावादी कैसे बन जाती है।[३] एक तरफ़ तो मुक्तिबोध का यह कहना कि मनु वेदकालीन न होकर छायावादी साँचे में ढला हुआ है और दूसरी तरफ़ यह कहना कि श्रद्धा गांधारी साँचे में क्यों नहीं ढली रहती—एक असंगति को ही सूचित करता है। मुक्तिबोध को इड़ा से भी शिकायत है। वह नियतिवादी है, उसका बोध सीमित है, वह शोषित की आँख से स्थिति को नहीं देख पाती, शोषक की आँख से देखती है। अराजकता को मनोवैज्ञानिक क्यों दिखाया गया है, सामाजिक क्यों नहीं दिखाया गया? (सब मत्त लालसा घूँट पिये है।) जहाँ तक इन पात्रों की पहचान का सवाल है मुक्तिबोध गहरी दृष्टि का परिचय देते हैं। इड़ा के बारे में उनका कहना है कि वह बुद्धिवाद की प्रतीक नहीं है, उसमें रहस्यवाद का भी पुट है; उसकी अन्तिम तान रहस्यवाद पर टूटती है। इड़ा मुक्तिबोध को पूँजीवादी संस्कृति की प्रतीक लगती है, वास्तविक जीवन और पूँजीवादी व्यवस्था का संकेत देती है। इसी तरह वह श्रद्धा को सामन्ती संस्कृति और मध्ययुगीन चिन्तन का प्रतीक मानते हैं। मनु, इड़ा, श्रद्धा का कवि के मानस से क्या सम्बन्ध है—उसका विश्लेषण मनोवैज्ञानिक शब्दावली में किया गया है। श्रद्धा कवि का सुपर ईगो है, आदर्श-चेतना है। इड़ा और मनु कवि के मनोमय जीवन का अंग बन गए हैं। मनु कवि के आन्तरिक मानस और संस्कारों का प्रतीक है। इस तरह कवि अपने बाहर और भीतर के जीवन को समूची जीवन-स्थिति को रूपक में बाँधना चाहते हैं। इसके साथ ही वह मन की महीन तरंगों का विश्लेषण और चित्रण भी करना चाहते हैं। यह सब-कुछ वह चाहते हैं; लेकिन **कामायनी** में क्या कुछ हो पाया है उसे आँकना है।

मुक्तिबोध अपने समाजशास्त्रीय और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण को **कामायनी** और उसके कवि पर इस तरह आरोपित करते हैं—कवि ने **कामायनी** में बड़ी लम्बी यात्रा की है। वह आत्मचेत और विश्वचेत भी है। वह हीगल आदि के चिन्तन से परिचित है, भारतीय द्वन्द्व की भाषा भी खूब जानते हैं। यदि वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी से अवगत होते तो सत्य को शायद पा लेते।[१] (वह सत्य को **शायद** पा लेते लेकिन **कामायनी** न लिख पाते)। मुक्तिबोध की कवि से शिकायत है कि उनकी दृष्टि गतिशील या गत्यात्मक नहीं है, स्थितिशील और शाश्वत है। उनके पास मानव-समाज के भावी विधान का व्यापक चित्र नहीं था। **कामायनी** में

१. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृष्ठ १०२।
२. वही, पृष्ठ १०३।
३. वही, पृष्ठ १५१।

१. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृष्ठ १७५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवतावाद रहस्यवादी है, आदिम स्थिति का निरूपण है जिसमें सामाजिक जीवन सरलतर और कठिनतर था, सरलतर सम्बन्ध और कठोरतर स्थिति, शाश्वत विषमता, शाश्वत द्वन्द्व—

द्वन्द्वों का उद्‌गम तो सदैव
शाश्वत रहता यह मूल मन्त्र।
विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान
नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान

इसमें कवि की दृष्टि को आँका गया है जो मुक्तिबोध के अनुसार अधूरी, एकांगी और ग़लत इसलिए है कि कवि में गति नहीं, अगति है।[1] कवि के चिन्तन का सम्बन्ध चूँकि ऐतिहासिक, सामाजिक क्षेत्र से न होकर मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक क्षेत्र से है, इसलिए अन्तिम निदान रहस्यवादी है।[2] **कामायनी** की कमज़ोरी क्या है? मुक्तिबोध के अनुसार **आँसू** में जिस तरह रहस्यवाद बनावटी है, **कामायनी** में उसी तरह मूल-कथा का घुमाव है, समस्याओं से पलायन है, हल खोजने से बचाव है। यह पलायन रहस्यवाद ने करवाया है। इस तरह व्यक्ति का छुटकारा तो समस्याओं से हो जाता है, लेकिन समष्टि की समस्याओं से छुटकारा नहीं होता। क्या होगा या क्या करना चाहिए था? **कामायनी** में अनुताप होना चाहिए था, हो गया है आनन्द। मनु को चाहिए था कि वह शासन-सूत्र को फिर से अपने हाथ में लेकर इड़ा और श्रद्धा की सहायता से अपनी भूल सुधारते, काम करते, ऐसे समाज को बनाते जहाँ समता होती (समरसता नहीं)। वह राजा से बदलकर लोक-नायक बनते, मानव की शक्तियों को आगे बढ़ाते। यह सब-कुछ **कामायनी** में नहीं किया गया है। कवि के चिन्तन ने न केवल **कामायनी** के कथा-विकास को बिगाड़ा है, चरित्र-विकास में दोष पैदा कर दिये हैं। इतना ही **कामायनी** की भीतरी रचना को भी बिगाड़ा है (यहाँ मुक्तिबोध **कामायनी** की दुखती रग को पहचानते हैं)। **आशा** से लेकर **लज्जा** तक नारी-पुरुष की रमणीय वास्तविकता को लेकर चित्रण है। मनु-समस्या इनमें अंकित है। इड़ा के बाद घटनाएँ तो घटती हैं लेकिन समस्याओं को सही तौर पर स्थापित नहीं किया गया है। अधिक कहने की आवश्यकता महसूस होने लगती है। क्या इस विश्लेषण-विवेचन में, जो क्यों यह है और क्यों यह नहीं है, **कामायनी** बोल रही है या मुक्तिबोध अपनी आवाज़ को इस पर लाद रहे हैं? क्या वह अपनी **कामायनी** की बात कर रहे हैं या प्रसाद की **कामायनी** की? क्या वह **कामायनी** की कमज़ोरी या इसकी असफलता का कारण खोजते-खोजते इससे दूर और अपने निकट होने की गवाही नहीं देने लगते? क्या इस तरह का मूल्यांकन वस्तुनिष्ठ होने के बजाय आत्मनिष्ठ नहीं हो जाता? मूल्यांकन चाहे रसवादियों का हो या आनन्दवादियों का, भौतिकवादियों का हो या मनोविज्ञानवादियों का, मिथकवादियों का हो या रहस्यवादियों का। असल में पाठक या आलोचक अपनी प्रक्रिया को जब कृति में ग़ायब पाता है तो वह उसे खलने लगती है। कृति की रचना-प्रक्रिया से गुज़रना और उसके आधार पर इसे आँकना एक बात है और अपने रचना-विधान को उस पर आरोपित कर इसे परखना दूसरी बात है, जो गहरी होकर भी कृति से दूर कर देती है। अन्त में मुक्तिबोध तान इस बात पर तोड़ते हैं कि **कामायनी** में शोषित की वकालत क्यों नहीं है, इसमें इच्छा-ज्ञान-क्रिया का वास्तविक सामंजस्य क्यों नहीं बताया गया, श्रद्धा में भी इसका क्यों अभाव है। आचार्य शुक्ल की समाज-मंगल की दृष्टि के अनुसार रहस्यवादी प्रकृति के कारण यह असंभव है, मुक्तिबोध की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि के अनुसार भी यह असम्भव बना है। इस तरह दोनों ने कारण अलग-अलग बताए हैं; लेकिन इसकी असम्भवता में सन्देह किसी को नहीं है। मुक्तिबोध अपनी बात को आगे बढ़ाने के लिए यह कहते हैं कि सामंजस्य वास्तविक जीवन में होता है, न कि संसार से पलायन करने में, हिमालय की शिखरों पर पहुँचने में। वह **कामायनी** के काव्य-रूप को फैंटेसी तो मानते हैं; लेकिन फैंटेसी में ठोस, वास्तविक जीवन के चित्रण की माँग भी करते हैं। क्या यह अपने-आपमें कहीं असंगत तो नहीं है? मुक्तिबोध **कामायनी** को इस आधार पर परखते हैं कि इसमें आनन्दवाद या समरसता का क्यों निरूपण किया गया है? यह इस तरह क्यों है? हर कवि अपने जीवन-बोध को लेकर रचना करता है। इस जीवन-बोध से सहमत या असहमत होने का हर आलोचक को अधिकार होता है; लेकिन जब वह अपने जीवन-बोध के

१. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ० १८०।
२. वही, पृ० १८१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार पर इसे परखने लगता है तो [illegible] जितनी उसके निकट होने लगती है उतनी कृति से दूर। मुक्तिबोध इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि **कामायनी** में गड़-बड़ है। यह ठीक है कि **कामायनी** एक असफल कृति है, इसकी असफलता का कारण आनन्दवाद नहीं है। इसकी असफलता का कारण आनन्दवाद का **कामायनी** पर आरोपित होने में है। यदि समरसता का निरूपण कामायनी **पर** न होकर कामायनी **में** होता, इसकी रचना-प्रक्रिया या सृजन-प्रक्रिया में होता तो यह इसके सृजनात्मक स्तर का अभिन्न अंग होता। यदि की बात करना भी बेकार है। यह उसी तरह है जिस तरह अगर मैं न होता तो खुदा होता। मुक्तिबोध केवल एक बार **कामायनी** की दुखती रग पर अंगुली रखकर इसे उठा लेते हैं और फिर वह अपनी **कामायनी** की बात में उलझ जाते हैं। मुक्तिबोध जब यह कहते हैं कि आनन्दवाद **कामायनी** के भीतर को बिगाड़ता है तो वह इसके निकट हैं।[1] कवि का आनन्दवादी संसार हो सकता है; लेकिन **कामायनी** में वह क्या-कैसे-किस तरह है, इसके आधार पर इसे पहचानना संगत है। कवि का आनन्दवादी संसार **कामायनी** के सृजनात्मक या रचनात्मक स्तर पर इसका अंग बनने में असफल रहा है। इसलिए **कामायनी** में सृजन के खण्ड तो अवश्य मिल जाते हैं; लेकिन सृजन की अखण्डता खण्डित है। मुक्तिबोध **अखण्ड आनन्द** को जब **कामायनी** की गड़बड़ का अपराधी ठहराते हैं तो वह **अपनी कामायनी** को मूल्यांकन का आधार बनाते हैं, **प्रसाद की कामायनी** को नहीं। इस तरह आलोचकों ने इसका मूल्यांकन आरोपित मूल्यों के आधार पर किया है।

डॉ० नामवरसिंह मुक्तिबोध के मूल्यांकन को आधार बनाकर प्रतीकों का गतिशील, व्यापक और सामाजिक अर्थ खोजने की कोशिश में इन्हें समकालीन सन्दर्भ में फ़िट करते हैं और इस प्रक्रिया में वह मुक्तिबोध की समाजशास्त्रीय दृष्टि को सरल बना डालते हैं। इस प्रयास के कुछ उदाहरण पेश हैं—कामायनी का सारस्वत नगर भारत के विकासोन्मुख जागरण का प्रतीक है। इच्छा-ज्ञान-क्रिया के निरूपण में इसके वैज्ञानिक विकास, औद्योगिक उन्नति और लोक-संगठन को इंगित किया गया है। पुरानी पीढ़ी के आलोचक इड़ा के महत्त्व को नहीं समझ सकते, नयी पीढ़ी के इसे समझेंगे। (आचार्य शुक्ल इस तरह नयी पीढ़ी के हो जाते हैं)। 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' का नारा लगाने वाले, जो इसे **कामायनी** का सन्देश भी बताते हैं, नारी की दासता चाहने वाले हैं।[1] मनु और श्रद्धा के बीच संघर्ष आधुनिक युवक के मन में अहिंसा, वन्य सरलता, सन्तोष और स्थिरता के खिलाफ संघर्ष है। यह उस समय की स्थिति है जब सन् तीस के आस-पास भारतीय समाज को अहिंसावाद पीछे खींच रहा था और प्रगतिवाद आगे कदम उठाना चाहता था।[2] इसी तरह डॉ० नामवरसिंह बाढ़ के चित्रण को शासकों की तहस-नहस से जोड़ देते हैं।[3] इड़ा पर मनु के हमले में लोकतन्त्र से पैदा होते फासिज्म को आँका गया है।[4] काम के जीवन की मूल शक्ति और आदि-वासना के रूप में निरूपण से आलोचक को फ्रायड के सेक्स की गन्ध आती है। मनु में भारतीय युवक की स्वस्थ-अस्वस्थ भावनाओं को आँका गया है: प्रेम-भावना स्वस्थ और अहं-भावना अस्वस्थ; चिन्ता-असंतोष स्वस्थ और एकाकीपन अस्वस्थ; कर्म की प्रवृत्ति स्वस्थ और स्वप्नलोक में पलायन अस्वस्थ।[5] आलोचक की कवि से यह शिकायत है कि उन्होंने आधुनिक समस्याओं को शाश्वत रूप देकर उनकी आधुनिकता पर परदा क्यों डाल दिया है? आलोचक को यह परदा **कामायनी** में जगह-जगह मसका हुआ भी लगता है। रूपक का विधान **कामायनी** में ही नहीं जायसी के **पद्मावत** में भी जगह-जगह ढीला हो गया है और तुलसी के लाख सँभालने पर भी राम की मानवीय कमजोरी छिपी नहीं रहती। यह वास्तविकता की विजय और अवास्तविकता की पराजय को सूचित करता है। इसलिए डॉ० नामवर सिंह ने इस परदे के पीछे से झाँककर **कामायनी** में आधुनिक जीवन को पहचानने की कोशिश की है। यह उसी तरह जिस तरह मुक्तिबोध ने प्रतीकों के शाश्वतवादी परदे को उठाकर **कामायनी** में धड़कते जीवन को परखने की कोशिश की है। डॉ० नामवर सिंह के प्रयास में कभी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का सरलीकरण हुआ है तो कभी छायावादी बोध का दखल। इनके कथनों से अनुमान

१. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ० १८३।

१. इतिहास और आलोचना, पृ० १५५।
२. वही, पृ० १४९।
३. वही, पृ० १४५।
४. वही, पृ० १५१।
५. वही, पृ० १५५, १५६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगाया जा सकता है कि वह **कामायनी** के कितने पास आ सके हैं। छायावादी काव्य में मध्यकालीनता और आधुनिकता में कभी विरोध की स्थिति है तो कभी तनाव की, कभी सामंजस्य की स्थिति है तो कभी समझौते की। यह क्यों है का जवाब समाजशास्त्र और मनोविज्ञान का पण्डित दे सकता है, यह क्या, कैसे और किस तरह का जवाब रचनाओं में ही मिल सकता है। **कामायनी** के समस्या-समाधान में जिस समरसता का निरूपण हुआ है वह इसका अभिन्न अंग न होकर कवि के चिन्तन का अभिन्न अंग लगता है। डॉ० रमेश कुन्तल मेघ **कामायनी** के बारे में जब यह कहते हैं कि इसमें काव्य-खण्ड हैं तो वह इसकी पहचान के अधिक निकट हैं, लेकिन जब वह आचार्य वाजपेयी की भाषा में महाकाव्य और महान् काव्य की तुलना करते समय इसे महान् काव्य के रूप में आँकते हैं तो वह इससे दूर हो जाते हैं। इसे एक असफल कृति में आँकना अधिक संगत है। इसकी असफलता भी साधारण कोटि की न होकर असाधारण कोटि की इसलिए है कि इसके मिथकीय पात्र युग-बोध के बदलने पर नये संकेत दे सकते हैं, छायावादी बोध की स्थिति में मध्यकालीनता या चिरन्तनता के और समकालीन बोध की स्थिति में आधुनिकता या ऐतिहासिकता के। डॉ० मेघ ने विस्तार से पहली बार मिथकीय धरातल पर **कामायनी** की पहचान को गहराया अवश्य है, लेकिन इसे कृति के मूल्यांकन का आधार बनाना असंगत होगा। वह मिथक और इतिहास में अन्तर को साफ़ करने के बाद कवि से यह गिला करते हैं कि **कामायनी** में इन दोनों को मिलाया क्यों गया है। इससे इतिहास को बिगाड़ा गया है।[1] इसमें इतिहास शाश्वत सत्य के रूप में चिरन्तन क्यों है? इसमें इतिहास द्वन्द्वरहित और संघर्षरहित क्यों है?[2] इस तरह कवि इतिहास के माध्यम से अपने युग की दुविधा को व्यापक (शाश्वत) अभिव्यक्ति देना चाहते हैं। इतिहास-चक्र में क्यों घूमता है, इसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि से निरूपित क्यों नहीं किया गया?[3] डॉ० मेघ की शिकायत यह है कि "एक कवि ने इतिहास का सहारा लेकर क्यों उड़ाया है इतिहास का मज़ाक?" इस तरह इतिहास कवि के हाथ से छूट गया है और युतोपिया हाथ लग गया है। इतिहास के [illegible]ने की चिन्ता आलोचक को है; लेकिन **कामायनी** की सृजनात्मक असफलता का खेद इस चिन्ता से बड़ा है। डॉ० मेघ **कामायनी** के रूप-स्वरूप पर रोशनी डालते हुए कहते हैं कि इसमें तीन यात्राएँ हैं या आयामों के तीन स्तर हैं—ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक। ऐतिहासिक यात्रा महावट से शुरू होकर सारस्वत देश के बीच से होकर कैलास के शिखर तक चलती है; मनोवैज्ञानिक यात्रा **काम, वासना** और **लज्जा** में पूरी हो जाती है और आध्यात्मिक यात्रा में मनु और श्रद्धा का रूपांतरण है—मनु का शिव के रूप में और श्रद्धा का शक्ति के रूप में। **कामायनी** की सफलता और असफलता को परखने की कसौटी यह है कि इन तीन आयामों को एक-दूसरे में किस तरह गूँथा गया है। डॉ० मेघ की राय में ऐतिहासिक आयाम में बिखराव आ गया है। इसका कारण पहले दिया जा चुका है। **कामायनी** में 'सामाजिकता' और नैतिकता का अभाव भी महाकाव्य की दृष्टि से एक दरार है। वेदना और आनन्द में समन्वय स्थापित नहीं हो पाया है। मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक आयामों में सामंजस्य का अभाव भी एक और दरार है। इस तरह वेदनामूलक भाषा (आकुल, विकल, कौंध) और आनन्दमूलक भाषा (लास, रास, ताण्डव) में संगति नहीं बैठती; **तड़प** और **पुलक** की भाषा में मेल नहीं बैठता। यह महाकाव्य में एक और दरार है। **लज्जा** का देना अनावश्यक लगता है। इसे शायद खरौंच कहा जा सकता है। इसलिए डॉ० मेघ महाकाव्य की दृष्टि से **कामायनी** को असफल कहते हैं; लेकिन काव्य की दृष्टि से इसे महान् कहते हैं।[1] इसका मतलब यह हुआ कि आचार्य शुक्ल का मत भी ठीक है और आचार्य वाजपेयी का भी, समाज-मंगल की कसौटी भी है और छायावाद की भी। आचार्य शुक्ल महाकाव्य-सम्बन्धी आचार्य विश्वनाथ के साँचे को बदलने से झिझकते थे, लेकिन आचार्य वाजपेयी ने पुराने की जगह नया साँचा **कामायनी** का आँकने के लिए ढाल दिया। डॉ० मेघ की कवि से यह शिकायत है कि उन्होंने **वेदना** को तो मान लिया है, लेकिन वह त्रासदी की महानता को नहीं समझ सके हैं जिसकी भारी कीमत उन्हें चुकानी पड़ी है। कालिदास भी **शाकुन्तल** में इसके शिकार कहे जा सकते हैं। क्या यह असफल कृति है? इस

१. मिथक और स्वप्न, पृष्ठ १३६।
२. वही, पृष्ठ १४१।
३. वही, पृ० १४३।

१. मिथक और स्वप्न, पृ० १६२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

तरह हर आलोचक अपनी **कामायनी** को कवि की **कामायनी** पर आरोपित करता आया है। अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए डॉ० मेघ का कहना है कि कवि ने **कामायनी** में मिथकीय चेतना को सामाजिक चेतना में बदलना चाहा है, वह इसे रोमांटिक साँचे में ढालकर सामाजिक रूप देने की कोशिश करते हैं, योग और भोग के माध्यम से वह सामाजिक सवालों को हल करना चाहते हैं। इस तरह की परख में आलोचक का समाजशास्त्र तो बोलने लगता है; लेकिन **कामायनी** मौन हो जाती है। सामाजिक विधान को बदलने के बजाय तान्त्रिक विधान **क्यों** रचा गया है? सारस्वत नगर से कैलास धाम पर **क्यों** ले जाया गया है? यही शिकायत मुक्तिबोध को है जिसका पहले विवेचन हो चुका है। डॉ० मेघ आखिरी तान इस परिणाम पर तोड़ते हैं कि कवि ने मिथक से स्वप्न में लम्बी छलांग **क्यों** लगाई है? **कामायनी** ऐतिहासिक स्थिति को लाँघकर ऐतिहासिक स्थिति का भुलावा देती है। मिथकीय-काल चिरन्तन या महाकाल हो गया है। वैदिक मनु, श्रद्धा और इड़ा को महाकाल की प्रक्रिया में आँकने से मिथक का जाल झुलस जाता है। यदि इसे सीधी भाषा में कहा जाए तो कवि ने सामाजिक वास्तव को क्यों **लांघा** है और सपनों की रचना क्यों की है?[1] कवि जीवन से भागने का सन्देश **क्यों** देते हैं? (आँख बन्द कर लिया क्षोभ से, दूर-दूर ले चल मुझको, ले चल इस छाया के बाहर, मुझको दे न यहाँ रहने)। इस तरह **कामायनी** में समाज के हाशिए गुम हो जाते हैं और प्रकृति के अंचल में "मुक्त नील नभ के नीचे या कहीं गुफा में रह लेंगे" की असंगत बात होने लगती है जो आलोचक को खलती है। क्या "ले चल कहीं भुलावा देकर" छायावादी कविता का एक स्वर नहीं है? क्या इस स्वर के आधार पर इसे असफल कविता कहना आरोपित दृष्टि का परिणाम नहीं है? **कामायनी** एक असफल कृति है; लेकिन इस आधार पर इसे असफल कहना कृति की पहचान से दूर और अपने निकट होने की गवाही देना है, अपनी राह को इसकी राह पर लादना है। यह राह चाहे समाज-मंगल की हो या रस-शास्त्र की, महाकाव्य की हो या रूपक-काव्य की, मनोविज्ञान की हो या समाजशास्त्र की, मिथकशास्त्र की हो या छलांग-शास्त्र की। इन शास्त्रों की महानता से कृति की पहचान को गहराया तो जा सकता है; लेकिन इनके आधार पर एक कृति के रूप में इसे आँकना अधूरा साबित होता रहा है। डॉ० मेघ ने मिथक-शास्त्र और समाज-शास्त्र की दृष्टि से मुक्तिबोध की तरह **कामायनी** में असंगतियों को खोजते-खोजते उस पर अपनी भाषा में यह आरोप लगाया है कि इसमें मिथक से स्वप्न में छलांग है और यह छलांग इसमें असंगति का मूल कारण है। इस दृष्टि से यह महाकाव्य नहीं बन सकी, महान् काव्य बनकर रह जाती है। महान् काव्य और महाकाव्य में अंतर का संकेत आचार्य वाजपेयी दे चुके हैं।

: ४ :

इस तरह **कामायनी** में असंगति को प्रायः हर आलोचक ने खोजा और पाया है, प्रायः इसलिए कि आचार्य वाजपेयी और डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी इसमें असंगति का अनुभव इसके छायावादी रचना-विधान के धरातल पर न खोजना ही ठीक समझते हैं और पाना असंगत मानते हैं। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी यह कहना चाहते हैं कि पुराने आलोचक रचना के अनुभव और अर्थ को शास्त्र में बाँधने की कोशिश करते रहे हैं और नये आलोचक इसे खुला छोड़ देने के हक़ में हैं। इसकी वजह यह है कि **जीवन्त, सुकुमार और संवेदनशील प्रक्रिया अक्षत बनाये रखने का यही एक तरीका है।**[1] इसलिए वह **कामायनी** के मूल्यांकन को खण्ड-दृष्टि का परिणाम समझते हैं—जैसे महाकाव्य, रूपक काव्य, ऐतिहासिक इतिवृत्ति, दार्शनिक रचना के रूप में। आचार्य वाजपेयी के सिवाय अन्य आलोचक इसकी आस्वादन-प्रक्रिया को न तो साफ़ कर सके हैं और न ही इसे आगे बढ़ा सके हैं। इनके अनुसार आलोचक की खण्ड-दृष्टि आरोपित दृष्टि साबित हुई है और यह **कामायनी** के रचना-विधान को समेटने में असफल रही है। यदि इसके रचना-विधान से गुज़रा जाता, रचना के दो अर्थ-स्तरों को संश्लिष्ट रूप में आँका गया होता तो एक स्तर के चरित्र को दूसरे स्तर में ले जाकर संगति बिठाने की आवश्यकता ही न पड़ती। इन आलोचकों ने जिन असंगतियों को खोजा और पाया है उसका कारण खंड-दृष्टि या आरोपित दृष्टि से मूल्यांकन का परिणाम है। वह स्वयं

१. मिथक और स्वप्न, पृ० २१३।

१. कामायनी का पुनर्मूल्यांकन—माध्यम, अक्तूबर १९६७।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचकों की आलोचना-प्रक्रिया से तो गुज़र गए हैं; लेकिन **कामायनी** की आस्वादन-प्रक्रिया से परहेज़ करते गए हैं। वह इतना कहकर सन्तोष पा लेते हैं कि **कामायनी** के विधान में एक बड़ी समग्र और जटिल परिकल्पना का रूप उभरता है, मानवीय संस्कृति का विकास किस तरह भिन्न रूप में होता है, मनुष्य को वरण की स्वतन्त्रता काम के अभिशाप के रूप में मिली है और सारी प्रक्रिया **रचना में जीवन्त व्यक्ति जैसी यह स्वाधीनता और स्वायत्तता की स्थिति संभव हो जाना ही उसकी सफलता और सार्थकता का चरम स्तर** है।[1] इस प्रक्रिया को समझने के लिए यह ज़रूरी है कि दृष्टि को प्रतिमानों में न बाँधा जाए, इन्हें कृति पर आरोपित करने से परहेज़ किया जाए। इतना तो ठीक है; लेकिन केवल यह कर सन्तोष पा लेना कि **कामायनी** का बिम्ब-विधान कुशल है, इसका बिम्ब-गठन सृजनात्मक स्तर पर है, इसलिए इसमें किसी असंगति को खोजना या पाना बेकार है। यह केवल फ़तवा देना है। यदि वह खुद **कामायनी** की आस्वादन-प्रक्रिया से गुज़रते और इसकी आलोचना-प्रक्रिया तक खुद को सीमित न करते तो इन्हें अपनी अखण्ड-दृष्टि के अनुसार **कामायनी** एक असफल कृति लगती। डॉ० नामवरसिंह का यह कहना सही जान पड़ता है कि सपाट भाषा और बिम्ब भाषा की असंगति संरचना की बनावट का तनाव है। इसलिए ज़रूरत उस असंगति को तनाव के रूप में देखने की है।[2] यह तनाव आलोचक की आँखों से ओझल हो गया है। इसका **कामायनी** में बार-बार शिथिल पड़ जाना, बिखर जाना, और टूट जाना इसे असफल कृति बनाता है। एक तरफ़ **कामायनी** की रूपवादी आलोचना है और दूसरी तरफ़ इसकी समाजशास्त्रीय आलोचना। और दोनों आरोपित होने के कारण इसकी पहचान पर रोशनी तो डालती हैं; लेकिन इसे परखने में अतिवाद का सहारा लेती हैं। एक तरफ़ यह कहना कि इसमें जीवन की वास्तविकता की गहरी पहचान तो है; **लेकिन मानव समाज के भविष्य का व्यापक और स्पष्ट चित्र न होने** के कारण इसकी कलात्मकता बाधित है।[3] इसलिए यह असफल है। यदि किसी रचना में मानव-समाज के भावी का व्यापक और स्पष्ट चित्र मुक्तिबोध के अनुसार मिल जाए तो क्या इससे उसकी कलात्मकता बाधित नहीं हो सकती? मुक्तिबोध की अधिकांश रचनाओं में इसके पूरे चित्र तो नहीं मिलते, लेकिन स्पष्ट संकेत अवश्य मिल जाते हैं। इनकी कुछ रचनाओं का काव्य-रूप भी **कामायनी** की तरह फ़ेंटेसी है। क्या इनकी सभी रचनाएँ 'अँधेरे में' की तरह सफल कृतियाँ या केवल कृतियाँ बन सकी हैं? इस तरह **कामायनी** की असफलता और सफलता को आरोपित आधारों पर आँका गया है। डॉ० चतुर्वेदी आस्वादन-प्रक्रिया की सही बात करने के बाद, अपने बिम्ब-विधान या बिम्ब-गठन को कुशल और सृजनात्मक स्तर पर घोषित करने के बाद, इसके बिखरने, टूटने की बात भुलाकर इसे सफल कृति के रूप में आँकने की गवाही देने लगते हैं। एक तरफ़ मुक्तिबोध रूपवादी मूल्यांकन की सीमाओं का सही संकेत देते हैं और दूसरी तरफ़ डॉ० चतुर्वेदी समाजशास्त्रीय सीमाओं का सही संकेत देते हैं। **कामायनी** बेचारी कहाँ, कैसे और किस तरह है इसकी इतनी परवाह करना आरोपित **'मूल्यों'** के कारण आँखों से ओझल हो जाता है। यह चाहे इसका मूल्यांकन हो, फिर से मूल्यांकन या 'और' मूल्यांकन हो। मूल्य शब्द चूँकि इससे जुड़ा हुआ है, इसलिए हर आलोचक अपने-अपने मूल्य के आधार पर इसे पहचानने और परखने की कोशिश में रहा है। इसकी असफलता-सफलता, असंगतियों-संगतियों को भी इसी तरह खोजा और पाया गया है।

: ५ :

सबसे पहले प्रसाद ने **कामायनी** के बारे में आमुख में अपनी बात को समझाने की कोशिश की है। इससे रचनाकार के मानस का परिचय मिल जाता है जो उसकी रचना के मानस में उतरने की प्रक्रिया को एक सीमा तक स्पष्ट तो कर सकता है; लेकिन इसके मूल्यांकन का आधार नहीं बन पाता। **कामायनी** के आमुख में कवि ने इन बातों का उल्लेख किया है—(१) आदि पुरुष मनु का **इतिहास** वेदों से लेकर पुराणों और **इतिहासों** में बिखरा हुआ मिलता है। (२) श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को पहले भी कहा गया है। इसलिए **वैवस्वत मनु** को **ऐतिहासिक पुरुष** ही मानना उचित है। (३) कहीं-कहीं घटनाएँ अतिरंजित-सी भी जान पड़ती हैं। ऐसी घटनाओं में **रूपक का आरोप**

१. कामायनी का पुनर्मूल्यांकन—माध्यम, अक्तूबर १९६७।
२. कविता के नये प्रतिमान, पृ० ८०।
३. वही, पृ० ८२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लेने की सुविधा हो जाती है। (४) **आज के मनुष्य** के समीप तो उसकी **वर्तमान संस्कृति** का क्रमपूर्ण इतिहास भी होता है। संभवतः इसीलिए हमको अपनी प्राचीन श्रुतियों के **निरुक्त** के द्वारा अर्थ करना पड़ा, जिसके उन अर्थों का अपनी वर्तमान रुचि से सामंजस्य किया जाए। (कवि से लेकर आज तक यह होता आया है) (५) यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से **मानवता का विकास रूपक है,** तो **भी** बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है (**भी** से कवि के संशय का भान होता है और **मानवता के विकास रूपक को** आलोचकों ने गाँठ लिया है) (६) **इतिहास की घटना** के भीतर कुछ देखने की चाह, उसके मूल में रहस्य की खोज, आत्मा की अनुभूति या भाव के **चिरन्तन सत्य** को उस घटना में पाने और कहने की कोशिश **कामायनी** में है। यह घटना जल-प्लावन से सम्बद्ध है। (७) मनु, श्रद्धा, इड़ा के स्वरूप को पुराने ग्रन्थों के आधार पर मन में उतारने का प्रयास। (८) इड़ा देवताओं की स्वसा थी, मनुष्यों को चेतना प्रदान करने वाली थी, इसलिए यज्ञों में इड़ा **कर्म** होता है। यह इड़ा का **बुद्धिवाद** श्रद्धा और मनु के बीच **व्यवधान** बनाने में सहायक होता है। फिर **बुद्धिवाद के विकास में, अधिक सुख की खोज में, दुःख मिलना स्वाभाविक है** (इस परिणाम में कवि का युग बोलने लगता है) (९) यह आख्यान इतना पुराना है कि **इतिहास** में **रूपक** का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा **इत्यादि** अपना **ऐतिहासिक** अस्तित्व रखते हुए, **सांकेतिक अर्थ की भी** अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। (१०) हाँ, **कामायनी** की कथा-शृंखला के लिए कहीं-कहीं **थोड़ी-बहुत** कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार मैं नहीं छोड़ सका हूँ। (कवि के इस अधिकार को कौन छीन सकता है? इस 'थोड़ी-बहुत', कभी थोड़ी तो कभी बहुत कल्पना ने इतिहास को छायावादी साँचे में ढाल दिया है। इससे **कामायनी** की सृजन-प्रक्रिया के बनने-टूटने का परिचय भी मिल जाता है)। इस तरह रचनाकार के मानस में **कामायनी** की कल्पना या परिकल्पना का संकेत इस आमुख में मिल जाता है। **कामायनी** में यह क्या-कैसे-किस तरह है—इसके आधार पर इसे जाना और पहचाना जा सकता है। कृति रचना के बाद अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना लेती है, उसका अपना रचना-संसार हो जाता है, कृतिकार से यह अलग हो जाती है। इसे मुक्ति-बोध ने भी सृजन-प्रक्रिया-सम्बन्धी अपने लेख में स्वीकार किया है।[१] प्रसाद मनु के **इतिहास** की बात करते हैं; लेकिन वह इतिहास और मिथक में अन्तर को भूल जाते हैं। वह बात तो वैवस्वत मनु की भी करते हैं; उसे ऐतिहासिक पुरुष मानने की करते हैं; लेकिन इतिहास किस तरह मिथक में बदल जाता है इसे डॉ० मेघ ने स्पष्ट किया है। आगे चलकर वह घटनाओं में रूपक के आरोपित कर लेने की सुविधा का संकेत देते हैं। क्या यह सुविधा **कामायनी** के सृजन को बाधित तो नहीं करती; आरोपित होने की गवाही तो नहीं देती? आज के मनुष्य (कवि) के पास आज की संस्कृति का इतिहास होता है। इस इतिहास को कवि ने **कामायनी** में सृजनात्मक अभिव्यक्ति देने की कोशिश की है। यह छायावादी युग के साँचे में ढला हुआ है। इसकी जानकारी सही है या ग़लत, इसकी दिशा सही है या ग़लत—इसके आधार पर **कामायनी** को आँकने की जब कोशिश होती रही है तो यह कोशिश **कामायनी** के बारे में न होकर इसमें इतिहास के स्वरूप और इतिहास की दिशा के बारे में होती रही है। इसमें मानव-विकास या सामाजिक इतिहास के बारे में दृष्टि अधूरी है, अवैज्ञानिक है—इसके आधार पर **कामायनी** की असफलता को घोषित करना उतना ही असंगत लगता है जितना यह कि मुक्तिबोध के 'अँधेरे में' द्वन्द्व की स्थिति का चित्रण क्यों है, समंजस की स्थिति का क्यों नहीं। 'कामायनी' की असफलता इसके भीतर है, न कि इसके बाहर, इसके रचना-विधान में है, न कि इसके चिन्तन या इतिहास के सही-ग़लत होने में। इन दोनों में तनाव है और तनाव का सृजन अनेक स्तरों पर हो सकता है। एक में तनाव को समंजस में परिणत करने की प्रक्रिया है और दूसरी में इसे द्वन्द्व के स्तर पर व्यक्त करने की। **कामायनी** में यह प्रक्रिया बार-बार टूट जाती है, इसे जोड़ने की कोशिश में कवि ने जिस थोड़ी-बहुत कल्पना को काम लाने के अधिकार की बात की है वह गाँठ तो लगा देती है, लेकिन जोड़ साफ़ नज़र आते हैं।

: ६ :

यदि **कामायनी** की राह से गुज़रा जाए तो सबसे पहले मनु को हिमगिरि के शिखर पर शिला की शीतल छाया में

१. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैठे चिन्तित रूप में पाते हैं। इसके पास ही सूखे में महावट से बँधी नौका पड़ी है जिससे वह उतरा है। बाढ़ उतर चली थी और मही निकलने लगी थी। इसका चित्रण छायावादी भाषा में उपलब्ध है। मुक्तिबोध का यह सवाल उठाना कि वह इतना निराश क्यों है, असंगत है। वह अकेला है, असहाय है और विगत विलास-सुख की स्मृतियों के कारण उदास है, चिन्तित है। कवि चिन्ता का चित्रण तथा निरूपण काल-विशेष या स्थिति-विशेष में करने के बजाय एक मनोवृत्ति के रूप में करते हैं (हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल रेखा!) मुक्तिबोध यह शिकायत करते हैं कि मनु को विगत विलास की स्मृतियाँ अधिक क्यों सताती हैं? उसे आज की और आगे की सोच करनी चाहिए, इसकी अधिक चिन्ता करनी चाहिए।[1] मनु के मन की (आगे चलकर शायद केवल मन की) यह स्थिति है—

> विस्मृति आ, अवसाद घेर ले
> नीरवते! बस चुप कर दे;
> चेतना चल जा, जड़ता से
> आज शून्य मेरा भर दे।[2]

इस तरह मनु जड़ होना चाहता है। अतीत सुख की वह जितनी चिन्ता करता है उतनी दुख की लकीरें बढ़ती जाती हैं। उसे भावी में आशा नज़र नहीं आती। प्रकृति को वश में करना कितना कठिन है? अपने मद के कारण मानव पराजित है। वह अब तक विलासिता के नद में तिरता रहा है। यह मनु में तनाव की स्थिति का चित्रण है; लेकिन **चिन्ता** में अतीत का चित्रण इतना विस्तार पाने लगता है कि इस विस्तार में बिखरने का ख़तरा पैदा होने लगता है।[3] इसके बाद **चिन्ता** से **आशा** फूटती है। **चिन्ता** के अन्त में—

> वाष्प बना उड़ता जाता था
> या वह भीषण जल-संघात,
> सौर-चक्र में आवर्तन था
> प्रलय निशा का होता प्रात।

इसके बाद **प्रात** शब्द से कवि **आशा** में उषा के चित्रण से जोड़ना चाहते हैं—

> उषा सुनहले तीर बरसाती
> जयलक्ष्मी-सी उदित हुई,
> उधर पराजित काल-रात्रि भी
> जल में अन्तर्निहित हुई।

आशा के संचार के चित्र को कवि ने गतिशील रूप दिया है और व्यापक यौन-बिम्ब के माध्यम से व्यक्त किया है—

> सिंधु सेज पर धरा-वधू अब
> तनिक संकुचित बैठी-सी;
> प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में
> मान लिए सी ऐंठी-सी।[1]

इस तरह निराश मनु के मन में आशा का संचार होने लगता है और आस-पास इसकी गवाही देने लगता है जिस पर मानवीय भावों का आरोप किया गया है। जीवन की लालसा जाग उठती है, लेकिन मनु को जीकर क्या करने का सवाल बार-बार कचोटता है। उसे अकेलापन भी अखरने लगता है—

> कब तक और अकेले? कह दो
> हे मेरे जीवन बोलो?
> किसे सुनाऊँ कथा? कहो मत,
> अपनी निधि न व्यर्थ खोलो।[2]

मनु की समस्या न केवल अकेलेपन की है, निरुपाय और असहाय होने की भी है। वह आत्म-विश्लेषण इन शब्दों में करता है जिसकी कड़ी आलोचना मुक्तिबोध अपनी दृष्टि से करने के लिए बाधित हो उठते हैं। मनु की समस्या यह है—

> शैल निर्झर न बना हतभाग्य
> गल नहीं सका जो कि हिमखंड;
> दौड़कर मिला न जलनिधि अंक
> आह वैसा ही हूँ पाखण्ड।[3]

मुक्तिबोध का कहना है कि वह हिमालय जाने के पहले तक 'जलनिधि' से नहीं मिल पाता। उसके रास्ते में अनेक जल-निधि पड़ते हैं। वह उनके तट पर बैठता है, उनमें नहाता भी है, किन्तु उनसे एकाकार नहीं हो पाता; अन्त तक नहीं हो पाता, जब तक कि श्रद्धा उसे हिमालय नहीं ले जाती।[4] इस आलोचना से यह आवाज़ निकलती है कि मनु पहले किसी जलनिधि से क्यों नहीं मिल पाता। हिमालय पर उसका चले

१. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ० ३१।
२. चिन्ता से।
३. कामायनी, पृ० ८ से १५ तक।

१. आशा से।
२. वही।
३. श्रद्धा, पृ० ४६।
४. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ० ३२, ३३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाना आलोचक को खलता है, इतना खलता है कि वह इसे ठोस रूप में भी निरूपित करते हैं। मनु स्वयं को पाखण्ड कहता है, हिमखण्ड बताता है जो कभी गल नहीं पाता। उसकी भावुकता के पीछे उसका भयानक अहंकार है जो शान्त होने में नहीं आता। यह हो सकता है कि मनु-समस्या आदि-मानव की समस्या रही हो; लेकिन यह समस्या छायावादी युग के कवि की भी रही है। अभी तक मनु आदि-मानव के रूप में चल रहा है। उसकी जीवन-स्थिति का सजीव चित्रण **श्रद्धा** में किया गया है।[1] मनु की मानसिक स्थिति के बारे में श्रद्धा का कहना है—

दुःख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत् से बनकर अनजान।

इन शब्दों में न केवल छायावादी युग-बोध बोल रहा है जो जीवन की जटिलताओं को लिये हुए है, वरन मानव-नियति का संकेत भी दिया गया है जो काम के अभिशाप का परिणाम है। इस अभिशाप पर महाचिति के लीलामय आनन्द का रंग भी चढ़ा दिया गया है जो कवि के मानस की देन है।[2] मनु-श्रद्धा संवाद के माध्यम से समरसता का काव्यात्मक निरूपण किया गया है। इस संवाद को **कामायनी** में इतना विस्तार दिया गया है कि समरसता का निरूपण शिथिल पड़ने लगता है और वक्तव्य का रूप भी धारण करने लगता है।[3] प्रसाद का कवि मानवता की विजय का गायन करने में अपना आसन उसी तरह जमा लेते हैं जिस तरह मैथिलीशरण गुप्त **साकेत** के नवें-दसवें सर्ग में उर्मिला के विरह को विस्तार देकर यह दिखाना चाहते हैं कि अधिक रोने से अधिक दुःख की अभिव्यक्ति हो सकती है। काम-देवता का आना और काम-वासना का आदि-मानव में जागना—इसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति **कामायनी** के सृजन-खण्डों में एक खण्ड है जिसे एक उपलब्धि के रूप में आँका जा सकता है—

मधुमय वसन्त जीवन वन के,
वह अन्तरिक्ष की लहरों में;
कब आये थे तुम चुपके से

१. कामायनी, पृ० ४८, ४९।
२. वही, पृ० ५३।
३. वही, पृ० ५३-५९।

रजनी के पिछले पहरों में।[1]

काम जो देवों के विनोद का साधन था, मानव के जीवन को घेर लेता है। काम-रति के चित्रण को अनादि रूप दिया गया है। यह छायावादी बोध का परिणाम है जो देश और काल को अनादि, शाश्वत या चिरन्तन-रूप में आँकता है। काम और रति के व्यापार को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

सुर बालाओं की सखी रही
उनकी हृत्तन्त्री की लय थी;
रति, उनके मन को सुलझाती
वह राग भरी थी, मधुमय थी।
मैं तृष्णा था विकसित करता,
वह तृप्ति दिखाती थी उनको;
आनन्द समन्वय होता था
हम ले चलते पथ पर उनको।

इनमें विगत सुख का विलाप है, अतीत की याद की कचोट है। मनु अपनी आँख खोलकर पूछते हैं—

पथ कौन वहाँ पहुँचाता है?
उस ज्योतिमयी को देव! कहो
कैसे कोई नर पाता है?[2]

इस तरह मनु के अनोखे स्वप्न का चित्रण **काम** में हुआ है, अन्त में यह टूट भी जाता है और मनु के हाथों में देवों के सुधा-रस की बेल रह जाती है जो उसे परम्परा में मिली है।[3] अब तक मनु आदि-मानव के रूप में अंकित है, अब वह **वासना** में गृहपति होने जा रहा है, एक से दो और दो से तीन होने जा रहा है। आज तक वह शिशु के समान भटकता रहा है, नारी को पाकर वह अपनी चेतना का दान करना चाहता है। श्रद्धा के मन में लाज का भाव जागता है—

गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी **लज्जा** ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गद्गद बोल।[4]

श्रद्धा के मन में यह सवाल उठता है कि क्या मनु के दान को ले सकेगी जिसे उपभोग करने में विकलता पैदा हो रही

१. कामायनी (काम), पृ० ६३।
२. वही, पृ० ७८।
३. वासना के अन्त में।
४. कामायनी, पृ० १३०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो। इन पंक्तियों में **लज्जा** शब्द आगे आने वाले सर्ग को सूचित करने के लिए दिया गया है जो **कामायनी के भीतर से न निकल कर इससे लटका रह जाता है**। इस सर्ग को चिपकाने के लिए **वासना** के अन्त में **लज्जा** का संकेत दिया गया है। **लज्जा** स्वतन्त्र रूप में एक सृजन-खण्ड है जिसमें श्रद्धा-लज्जा संवाद के माध्यम से नारी के संकोच-भाव को काव्यात्मक अभिव्यक्ति मिली है। नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो की बात, जो कुछ आलोचकों को खली है, वास्तव में **कामायनी** का अभिन्न अंग न होकर उस पर आरोपित होने के कारण इसके सृजन को गहरा आघात पहुँचाती है, यह इसके सृजन में खरोंच न होकर ठेस है। इस स्वतन्त्र खण्ड को **कामायनी** में देने के लिए कवि ने **वासना** के अन्त में **लज्जा** का संकेत आवश्यक समझा है। इसके अन्त में स्मित-रेखा से सन्धि-पत्र लिखने की बात आने वाले सर्ग को जोड़ने के काम भी नहीं आती। इस तरह **लज्जा** सर्ग अपने दोनों छोरों से कटा हुआ लगता है, पहले छोर से इसे लटकाने के लिए श्रद्धा की गिरी पलकों, झुकी नासिका और लाल कान-कपोल का सजीव चित्रण किया गया है जो सहज है। इस तरह **लज्जा** इस काव्य-रचना में असंगति नहीं है, अपैंडेक्स है जो मानव-शरीर की रचना में अनावश्यक समझी जाती है और जिसके दुखने पर इसका ऑपरेशन भी करना पड़ता है। **कामायनी** का ऑपरेशन अब संभव नहीं है। यह इसके रचना-विधान में दुखता रहेगा। **लज्जा** में आकर **कामायनी** की सृजन-प्रक्रिया किस तरह अवरुद्ध हो जाती है, टूटने की गवाही देने लगती है—इसका परिचय इसके पहले और बाद के सर्गों से भी मिल जाता है। **लज्जा** के पहले **काम** और **वासना** है और इसके बाद **कर्म** है। कर्म के शुरू में ही मनु सोच की स्थिति में अंकित हैं, "उसके कान में **काम** का कथन भरा है और मन में नव अभिलाषा है।" इसका सृजनात्मक सम्बन्ध **काम** और **वासना** में है जो **लज्जा** में आकर टूट जाता है। इस तरह **लज्जा कामायनी** पर आरोपित है, इसे गहरी ठेस पहुँचाता है, समूची कृति में दरार डाल देता है जिसे भरने के लिए छायावादी आलोचकों ने बेकार कोशिश की है। **लज्जा** एक अनावश्यक सृजन-खण्ड है जो स्वयं में पूरा है; लेकिन **कामायनी** में फ़िट नहीं बैठता। **कर्म** में आकर **कामायनी** मनु की समस्या को गहराने लगती है—

तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
श्रद्धे ! वह भी कुछ है;
दो दिन के इस जीवन का तो
वही चरम सब-कुछ है।[1]

इसलिए वह श्रद्धा से अनुरोध करता है—

उधर सोम का पात्र लिये मनु
समय देख कर बोले—
श्रद्धा ! पी लो इसे बुद्धि के
बन्धन को जो खोले।[2]

मनु और श्रद्धा के दृष्टिकोणों में तनाव की स्थिति है जिसे **कर्म** में सृजनात्मक अभिव्यक्ति मिली है। मनु के दृष्टिकोण को मुक्तिबोध व्यक्तिवादी कहते हैं और आचार्य वाजपेयी अहंवादी। कवि शायद यह कहना चाहते हैं कि सोम-पान ने देवों में वासना, सुख-भोग को उकसाया है और यही सोम-पान मनु में वासना, सुख-भोग को उकसा रहा है। यह अहंवाद देव-संस्कृति के नाश का कारण बना और यह मानव-संस्कृति के नाश का भी कारण बन सकता है। श्रद्धा बार-बार मनु को समझाती है और चेतावनी भी देती है—

अपने में सब-कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकांत स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा।[3]

इसलिए वह उपदेश देती है जो वक्तव्यमूलक होने के कारण **कामायनी** की सृजन-प्रक्रिया को ठेस तो नहीं लगाता; लेकिन खरोंच अवश्य लगा जाता है। इस तरह के वक्तव्य कहीं-कहीं खरोंचों के रूप में बिखरे हुए हैं—

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सबको सुखी बनाओ।[4]

श्रद्धा को पूरी तरह पाने के बाद और उसकी माँ बनने की प्रक्रिया में मनु में मोहभंग की अनुभूति गहराने लगती है। मनु शिकार खेलने और श्रद्धा तकली कातने में व्यस्त हो जाती है। वह अकेलेपन को महसूस करने लगती है और मनु अभाव को—

१. कामायनी, पृ० १३० ।
२. वही, पृ० १३० ।
३. वही, पृ० १३२ ।
४. वही, पृ० १३२ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रद्धे ! तुमको कुछ कमी नहीं
पर मैं तो देख रहा अभाव;
भूली-सी कोई मधुर वस्तु
जैसे कर देती विकल घाव।[1]

ईर्ष्या में एक साधारण गृहस्थी का एक साधारण चित्र उतारा गया है जो **कामायनी** के स्तर से उतरा हुआ लगता है; लेकिन इसके अन्त में यह फिर उठने की गवाही देने लगता है। मनु को श्रद्धा से अलग करने की योजना में कवि मनु के मन में जलन का भाव पैदा करते हैं—

यह संचित क्यों हो रहा स्नेह
किस पर इतनी हो सानुराग।[2]

वह घर छोड़कर इसलिए चल देता है—

तुम अपने सुख से सुखी रहो
मुझको दुख पाने दो **स्वतन्त्र**
'मन की परवशता महा दुःख'
मैं यही जपूंगा महा मन्त्र।

मन की परवशता मनु के लिए महा दुःख है; वह स्वतन्त्र रहने के महामन्त्र का जाप करना चाहता है। यह मनु के व्यक्तित्व का मूल मन्त्र है जिसे मुक्तिबोध ने मनु के गहरे में उतरकर उसी तरह पकड़ा है जिस तरह कवि ने उसका सृजन किया है और जो सतह पर रहने के कारण डॉ० मेघ की पकड़ में पूरी तरह नहीं आ पाया है। यदि यह आ पाता तो वह यह न कहते कि मनु आदि मानव से गृहपति होते हैं।[3] वह गृहपति होते नहीं, बनाये जाते हैं। इसी तरह वह प्रजापति, साधक और शिव बनते नहीं, बनाए जाते हैं। इसमें **कामायनी** की कमज़ोरी झलकने लगती है। श्रद्धा के पास चेतावनी देने के सिवाय और चारा ही क्या है—

रुक जा, सुन ले ओ निर्मोही !
वह कहती रही अधीर श्रान्त।[4]

इस तरह चेतावनी उसे आगे चलकर भी मिलती है जब पवन उसे साधना के पथ से लौटने के लिए अनुरोध करता है; लेकिन वह उसे अनसुना कर देता है।

इसके बाद मनु की नियति जीवन के अन्धकार में भटकने की है। वह सारस्वत नगर में पहुँचता है जो सूना और उजड़ा है। वह गहरी सोच में डूब जाता है। आत्म-विश्लेषण उसका स्वभाव है। वह श्रद्धा को भूलकर गहरे अनुताप से घिर जाता है। मनु-समस्या आधुनिक या छायावादी युग की समस्या का रूप धारण करती है। कोलाहल और कलह को अनन्त रूप में आँका गया है, द्वयता की स्थिति को शाश्वत रूप में। शंकाओं से घिरा हुआ मनु इस परिणाम पर पहुँचता है—'यातना चलेगी अन्तहीन।' वह अपने भीतर से बाहर आकर सरस्वती के मधुर नाद को सुनता है जिसमें 'हिम-शीतल लहरों का रह-रह कूलों से टकराते जाना' सुनता है और 'आलोक अरुण किरणों का उन पर अपनी छाया बिखराना' देखता है।[1] यह अंश बाहर से सृजन-प्रक्रिया से टूटा हुआ लगता है; लेकिन भीतर से जुड़ा हुआ इसलिए है कि बाहर-भीतर एक हो गए हैं। इस स्थिति में इड़ा का आना होता है—'बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल।' मनु-समस्या एक दूसरे स्तर पर खुलने लगती है—ज़िन्दगी क्या है ? कौन इसे रचने वाला है ? विषाद जीवन को क्यों घेरे रहता है ? बुद्धि के सिवाय और चारा ही क्या है ? विज्ञान को साधन बनाकर जड़ता में चेतना का संचार करने के सिवाय और रास्ता ही क्या है ? इस तरह के सवालों का जवाब वह इड़ा को अपनाने में पाता है जिसे **बुद्धिवाद** कहा गया है। मनु अपने सुख-साधनों के दरवाज़ों को इसके सहारे ही खोल सकता है। उधर मनु सुख-साधनों के द्वारों को खोलने की सोच में है, इधर कामायनी 'एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ' के रूप में 'कुसुम वसुधा' पर पड़ी है। वह विरहिणी नारी है। उसके परिवेश का चित्रण मेघ-चपला, शतदल-सरसी, मधुप-मधुकर की भाषा में किया गया है जो थोड़ा कटा हुआ भी जान पड़ता है।[2] श्रद्धा और मानव के संवाद के बाद **स्वप्न** का आयोजन किया गया है ताकि श्रद्धा-मनु की कड़ी पूरी तरह टूट न पाए। इसमें उस नगर का चित्रण है जो देव नगर से भिन्न है। इस नगर में उस नगरी का चित्रण है जहाँ धातु गलते हैं, नये हथियार ढलते हैं, नये गहने बनते हैं। इस तरह पुरी की शोभा निखरती है। इसकी आभा भी शायद देव नगर की तरह मिटने वाली है। यहाँ इड़ा आसव ढाल रही है। मनु का मानस-देश सूना

१. कामायनी, पृ० १४५।
२. वही, पृ० १४८।
३. मिथक और स्वप्न, पृ० १३७।
४. कामायनी, पृष्ठ १५४।

१. कामायनी, पृष्ठ १६७।
२. वही, पृष्ठ १७५-१७६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उजड़ा हुआ है। वह इड़ा से पूछता है—'तू किसकी है, ये किसके हैं? उसका 'मन उन्मत्त है और काया शिथिल।' उसका नर-पशु हुंकार उठता है—'तब तुम प्रजा बनो मत रानी।'[1] आलिंगन के बाद वसुधा काँप उठती है और चारों ओर हलचल, उथल-पुथल शिव के ताण्डव के रूप में साकार होती है। **कामायनी** में सृजन की लय के शिथिल पड़ते ही शिव का ताण्डव उसमें तेज़ी ला देता है। श्रद्धा इस सपने से **स्वप्न** में काँप उठती है और मनु के बारे में चिन्तित हो जाती है। उधर **संघर्ष** में मनु भी चिन्तित पड़े हैं, दोनों तरफ़ बराबर चिन्ता है—मनु को अपनी और श्रद्धा को मनु की। ताण्डव-लीला जारी है। मनु की सबसे बड़ी खूबी है कि वह अपना विश्लेषण एकदम शुरू कर देते हैं—

महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना,
चेतना की तुष्टि वही है फिर सब सपना।[2]

इस दृष्टिकोण में मनु का व्यक्तित्व झलकता है। मुक्तिबोध का गिला यह है कि मनु 'व्यक्तिवादी' क्यों है या **कामायनी** में कवि ने क्यों इसे इस रूप में उतारा है। इस तरह की आलोचना **कामायनी** की न होकर उसके कवि की हो सकती है। मनु अपने गहरे में उतरकर यह पाता है कि 'नियामक वशी किस तरह रह सकता है, वह चिर-बन्धनहीन है, मृत्यु-सीमा का उल्लंघन करेगा और सतत चलता रहेगा।'[3] यह उसके 'उद्दाम और अदम्य' मन का परिचय देता है। उसके मन में अनुताप नहीं है। यदि नहीं है तो क्यों नहीं है का सवाल भी मुक्तिबोध ने उठाया है।[4] क्या मुक्तिबोध अपनी **कामायनी** की बात करना चाहते हैं या प्रसाद की **कामायनी** की? मनु अपनी बाँहों में इड़ा को ले लेता है और सिंह-द्वार बरौने लगता है, **जनता** भीतर घुस आती है। **प्रजा** अब **जनता** के रूप में अंकित है। इसके बाद फिर वही उथल-पुथल और ताण्डव जो **कामायनी** में रीति-रूढि का आभास देने लगता है।[5] इसे बार-बार दोहराने से सृजन में विकार आने लगता है। भीषण जन-संहार के बाद सारस्वत रानी मनु की रानी नहीं बन सकती। महाशक्ति अन्तरिक्ष में फिर हुंकार उठती है और मनु धरती पर बेसुध होकर गिर पड़ते हैं।

इसके बाद सारस्वत नगर का चित्रण **निर्वेद** में किया गया है जिसकी तुलना इलियट के **वेस्टलैण्ड** से करना अपनी भूल का ही परिचय देना होगा। यह इसलिए कि सारस्वत नगर और **वेस्टलैण्ड** के उजाड़ में जो अन्तर संवेदना के स्तर पर पाया जाता है उसकी अवहेलना नहीं हो सकती। **निर्वेद** में आकर दुखी जगत् और आनन्दमय जगत् में **अलगाव** और **तनाव** की स्थिति का चित्रण है। डॉ० मेघ का यह मत कि **संघर्ष** के बाद **कामायनी** की सृजनात्मक प्रक्रिया टूटने लगती है संगत नहीं जान पड़ता। वह अपनी भूल को आगे चलकर अपनी भाषा में सुधार भी लेते हैं जब वह यह कहते हैं—'आनन्दवादी होने के नाते त्रासदी की महानता वह (कवि) नहीं समझ सके। इसकी कीमत उन्हें चुकानी पड़ी।'[1] (कीमत यह कि **कामायनी** इसके बाद चलने से इन्कार करती है) इसे साफ़ तौर पर कहा गया है—'वे **निर्वेद** के बाद सामाजिक यथार्थता का अतिक्रमण करते हुए कृति को रहस्यात्मक त्रिपुर तथा कैलाश के आनन्द लोक में घसीट ले गए।'[2] इसे आरोपित मूल्यांकन का परिणाम कहा जा सकता है जो कृति से दूर और आलोचक के निकट होने की गवाही देने लगता है। **कामायनी** निर्वेद के बाद आगे जा नहीं सकी है, आनन्द-लोक इस पर आरोपित है, इसकी सृजन-प्रक्रिया को भंग करता है। इसलिए यह अन्तिम रूप में असफल कृति बन जाती है। इन समाजशास्त्रीय आलोचकों का दृष्टिकोण यह है कि **कामायनी** को आनन्दलोक में **क्यों** ले जाया गया है। इसलिए यह गड़बड़ है, इसलिए इसमें असंगति है। कालिदास भी त्रासदी की महानता को नहीं समझते हैं। **'शाकुन्तल'** को चौथे अंक के बाद इसे चलाना इसका परिणाम है। क्या 'शाकुन्तल' कृति नहीं बन सका? इसलिए **कामायनी** की असफलता को मुक्तिबोध और मेघ भाँप तो लेते हैं; लेकिन इसका आधार ग़लत बना लेते हैं। यह ग़लत इसलिए है कि यह **कामायनी** से **कामायनी** की पहचान न होकर अपनी **कामायनी** के आधार पर उसकी परख है। **निर्वेद** में मनु एक बार फिर अपने गहरे में उतरना चाहते हैं, अब तक जो किया है या जो हुआ है उसकी चीर-फाड़ करने में लग जाते

१. कामायनी, पृष्ठ १८४।
२. वही।
३. वही, पृष्ठ १९१।
४. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृष्ठ ८९।
५. कामायनी, पृष्ठ २००।

१. मिथक और स्वप्न, पृष्ठ १६४।
२. वही, पृष्ठ १६४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। वह मन और तन से घायल है; कवि उसे अपनी सहानुभूति देता है, देता रहे। कवि की भाषा शून्य, ताण्डव की है, होती रहे। हर कवि की अपनी भाषा होती है, हर रचना के अपने कला-नियम होते हैं। **कामायनी** अपने कला-नियमों का पालन करने में असफल है, अन्तिम रूप में ताण्डव की भाषा आरोपित है, **निर्वेद** के बाद इसे बैसाखियों के बल पर चलाया गया है, अन्तिम तीन सर्गों को इस पर चिपकाया गया है। **निर्वेद** की अन्तिम **पंक्तियाँ** गोंद का काम देने के लिए गढ़ी गई हैं, ताकि **निर्वेद** के बाद श्रद्धा मनु की खोज में लगकर **दर्शन** में उसे पाकर मनु को शिव का दर्शन करवा सके। एक बार फिर श्रद्धा **निर्वेद** में मनु को पा लेती है। मनु का मोह भंग हो चुका है; सारस्वत नगर उसके लिए छाया है जिससे वह बाहर निकलना चाहता है। उसका पलायन-भाव इतना ज़ोर पकड़ लेता है कि वह कहीं भी रहने को तैयार है—

मुक्त नील नभ के नीचे या
कहीं गुहा में रह लेंगे,
अरे झेलते ही आये हैं
जो कुछ होगा सह लेंगे।[1]

मनु की स्थिति का सजीव चित्रण **निर्वेद** में मिल जाता है, मनु-समस्या जो **कामायनी** की मूल समस्या है इसमें बार-बार उभरती है। इड़ा की दृष्टि में मनु की स्थिति—

बाधाओं का अतिक्रमण कर
जो अबाध हो दौड़ चले,
वही स्नेह अपराध हो उठा
जो सब सीमा तोड़ चले।[2]

श्रद्धा और मानव दोनों मनु को घायल अवस्था में पा लेते हैं और तीनों के मिलन से छोटा-सा परिवार बन जाता है जिस पर श्रद्धा का संगीत एक मधुर स्वर के रूप मे छा जाता है। यह गीत जितना मधुर है उतना ही आरोपित—

तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन।[3]

इस गीत से मनु के मुँदे नयनों को खोलने का काम लिया गया है। मनु भयावने अंधकार में श्रद्धा को खो देना नहीं चाहते; लेकिन वह अपने पर खीजने से भी बाज़ नहीं आते, अपना किया अपराध भीतर से आँधी की तरह उठने लगता है। वह श्रद्धा को मुँह दिखाने के लायक नहीं रहे। वह सबको अपना शत्रु समझने लगते हैं। इनका विश्वास करना बेकार है, मन-ही-मन में घुलने की बात सोचता है। मनु को शांति पाने की खोज में वहाँ से भगाया जाता है ताकि अगले सर्गों की रचना हो सके। यहाँ आकर **कामायनी** की सृजन-प्रक्रिया टूट जाती है जो इसकी असफलता को सूचित करती है, जिसे डॉ० मेघ ने मिथकीय दृष्टि से मिथक से स्वप्न में छलांग कहा है। इसका मतलब यह है **कामायनी** में मिथक और लिरिकल में समन्वय नहीं हो पाया है; लिरिकल विधा में मिथक के सामंजस्य की संभावना तो होती है; लेकिन रूपक विधा में इसकी असंगति रचना को असफल बना देती है। मनु का भाग जाना एक बात है; लेकिन उसे भगा देना आरोपित जान पड़ता है। यह कथा-योजना की दृष्टि से संगत हो सकता था, आनन्दवाद की निरूपित दृष्टि से भी संगत हो सकता था, समस्या का सही-ग़लत समाधान खोजने की दृष्टि से भी संगत हो सकता था (समस्या आधुनिक और समाधान मध्यकालीन); लेकिन यह आन्तरिक संरचना की दृष्टि से आरोपित है, **कामायनी** का न होकर कवि का हो गया है। कवि इसे स्वतन्त्र रूप में कह पाया है, **कामायनी** के माध्यम से कहने में असफल रहा है। यह **कामायनी** की असफलता है, असफलता भी साधारण कोटि की न होकर असाधारण कोटि की है। एक को **कामायनी** में ऐतिहासिक चेतना या दिशा के खो जाने की चिन्ता है, दूसरे को आनन्दवाद के निरूपित होने की, तीसरे को कथा-वस्तु के बाधित होने की, चौथे को नारी को श्रद्धा मानने की, पाँचवें को मिथक से स्वप्न में छलांग लगाने की है। क्या इन चिन्ताओं से **कामायनी** की असफलता का खेद बड़ा नहीं है ? क्या साधारण सफलता से **कामायनी** की असाधारण असफलता बेहतर नहीं है ?

१. कामायनी, पृ० २१६।
२. वही, पृ० २०८।
३. वही, पृ० २१६-२१७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुक्लोत्तर आलोचना : एक विश्लेषण

नित्यानन्द तिवारी

द्विवेदी-युग के बाद हिन्दी कविता की मुख्य धारा की उद्भावना टकराहट से हुई और शुक्लोत्तर आलोचना का विकास सम्भवतः उसी टकराहट का प्रतिफलन है। टकराहट और प्रतिक्रिया द्वारा गति के एक नवीन 'स्वभाव' की पहचान भारतीय मानस को कदाचित् आधुनिक युग में ही हुई। प्रायः भारतीय मानस प्रतिक्रियाशील नहीं रहा है, वह इतिहास के सहज विकास को स्वीकार कर लेने का आदी रहा है। इसलिए व्यक्ति-प्रयत्नों और उसकी प्रतिक्रियाओं द्वारा इतिहास की गति को कितनी शीघ्रता से तीव्र बनाया जा सकता है अथवा उसे परिवर्तित किया जा सकता है, भारतीय चेतना इससे शायद अपरिचित नहीं तो उदासीन अवश्य रही है। इसके विपरीत यूरोपीय चेतना अपने दर्शन, साहित्य तथा अन्य मानवीय विधाओं के विकास में प्रतिक्रियात्मकता के स्वरूप और योग से बहुत पहले से परिचित रही है। व्यक्तित्व का अपेक्षाकृत तीखा बोध ही वहाँ इसका कारण रहा है। हमारे यहाँ यह व्यक्ति-बोध ऐतिहासिक गति को संचालित करने के संदर्भ में यूरोप के संपर्क में आने तथा अन्य अनेक परिस्थितियों के कारण आधुनिक युग की ही देन है।

प्रतिक्रिया में तात्कालिकता सन्निहित होती है और वही सघन होकर दायित्वपूर्ण विरोध में परिणत होती है और जीवन तथा विचार-जगत् में किसी नवीन क्षेत्र का अनुसंधान करती है। उसी तात्कालिकता के कारण प्रयत्न में आवेग की प्रधानता हो जाती है जो आन्दोलन को जन्म देता है। आधुनिक युग के पहले आन्दोलन की अवधारणा इसी रूप में विद्यमान थी, शायद ऐसा नहीं कहा जा सकता। १५-१५,२०-२० वर्षों में साहित्यिक आन्दोलनों का सूत्रपात और नवीनता की अपेक्षाकृत ललक तात्कालिक प्रतिक्रिया और दायित्वपूर्ण विरोध के नये स्वर को उभारते हैं। आधुनिक जीवन और साहित्य में यह प्रवृत्ति छायावाद काल में ही स्थापित हो चुकी थी, जिसे पहचानना और उसके आधार पर साहित्य की व्याख्या-सराहना करना शुक्लोत्तर आलोचना का दायित्व था। इस पहचान में निश्चित रूप से शास्त्र सहायक नहीं हो सकता था और न प्रयत्नों के स्वरूप और दिशानिर्धारण में ही उससे बहुत अधिक सहायता ली जा सकती थी। ऐसी हालत में समसामयिकता का पूर्ण बोध साहित्यिक समझ और उसकी व्याख्या-सराहना करने की नूतन पद्धति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण केन्द्रीय तत्त्व सिद्ध होता है। निराला की कविताओं का मूल्यांकन करते समय पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने यह अनुभव किया कि "जिस कृति में ओजस्विता हो, प्रवाह हो, जिसका प्रभाव हम पर पड़े, उसमें काव्य की प्रतिष्ठा मानी ही जायेगी। यदि इस सिद्धान्त के व्याख्याताओं में आज इतनी व्यापकता नहीं है तो उन्हें व्यापक बनना होगा। आधुनिक युग प्रत्येक दिशा में नई काव्य-सामग्री का संग्रह करने को कटिबद्ध है।" (**हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० १३६**)। दूसरी ओर पंतजी की कविताओं का मूल्यांकन करते हुए यदि डॉ० नगेन्द्र, रस-सम्बन्धी दो-चार उदाहरणों को प्रस्तुत करते भी हैं तो इस वाक्य के साथ कि "उपर्युक्त विवेचन मैंने थोड़ा-सा प्राचीनता-प्रेमियों की तुष्टि के लिए ही किया है। वास्तव में पंत के काव्य की विवेचना पर उससे कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।" (**सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २६**)। प्रतिक्रिया और दायित्वपूर्ण विरोध में समसामयिकता की केन्द्रीयता वाजपेयीजी की निम्न पंक्तियों में अधिक स्पष्ट हो सकी है, "नवीन काव्य जिस नैसर्गिक अदम्यता को लेकर आया है, उसमें यह संभव नहीं कि वह परम्परा-प्राप्त ध्वन्यात्मकता का ही अनुसरण करता चले। प्रचलित प्रणाली को तोड़ने में, नवीन युग का सन्देश सुनाने में, काव्य अपनी क्रम-प्राप्त मर्यादाओं को भी उखाड़ फेंकता है।" (**हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० १३७**)। 'काव्य' में इस 'नैसर्गिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदम्यता' की पहचान शास्त्र के बोध से सम्भव नहीं था, समसामयिकता का आग्रह ही यह पहचान करवा सकता था और पहचान के उपरान्त उस परिपाटी को तोड़ना अनिवार्य था। तभी यह निर्णय भी लिया जा सकता था—"एक विद्रोही कवि जब नवीन भाव-प्रवाह को काव्य में प्रसारित करता है, वह अभिव्यक्त प्रणाली का गुलाम होकर नहीं रह सकता।" **(हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० १३७)**। और इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि समसामयिकता के अतिरिक्त शास्त्र उस नये प्रयत्न की दिशा का निर्धारण भी नहीं कर सकता। उस प्रयत्न की दिशा विद्रोह की है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—"और इसके प्रति विद्रोह का अर्थ है उपयोगितावाद के प्रति भावुकता का विद्रोह, नैतिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातंत्र्य का विद्रोह और काव्य के बंधनों के प्रति स्वच्छन्द कल्पना और टेकनीक का विद्रोह।" **(सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २)**। यहाँ तक तो हमने शुक्लोत्तर आलोचना में समसामयिकता के बोध और उसके कारण प्रयत्न की विद्रोही दिशा के सम्बन्ध में थोड़ी चर्चा की। किन्तु अब एक मिनट रुककर हम यह देखना चाहेंगे कि जिस आलोचक और जिस आलोचना-पद्धति के मुकाबले यह समसामयिकता का बोध और विद्रोही दिशा उभरती है, उसके निर्माण के पीछे कितना व्यापक अथवा संकीर्ण संदर्भ था।

यह बार-बार दोहराया गया तथ्य है कि शुक्लजी के पूर्व हिन्दी आलोचना की कोई व्यवस्थित परम्परा नहीं थी। इसलिए शुक्लजी को किसी पूर्ववर्ती हिन्दी के आलोचक से किसी तरह की टक्कर लेने की कोई गुंजाइश नहीं थी। उन्हें सब-कुछ को व्यवस्था देनी थी, सब-कुछ नये सिरे से बनाना था। उनके सामने एक ओर संस्कृत का साहित्यशास्त्र था और दूसरी ओर अंग्रेज़ी के माध्यम से विपुल पश्चिमी काव्य-चिन्तन, साथ ही हिन्दी का लगभग साढ़े पाँच शताब्दियों का सर्जित साहित्य, जिसकी व्याख्या-सराहना के लिए उन्हें मार्ग खोजना था। शुक्लजी के सामने हिन्दी-साहित्य की प्रकृति और स्वर की विशिष्टता का संधान ही उनके लिए समसामयिकता का आग्रह था। इन साढ़े पाँच शताब्दियों में हिन्दी साहित्य का जो श्रेष्ठतम था उसकी अद्वितीयता ही शुक्लजी की आलोचना-पद्धति का केन्द्रीय तत्त्व बनी। उन्होंने भारतीय तथा पश्चिम की आधुनिकतम आलोचना-प्रणालियों की भी परीक्षा की और उनके समानान्तर अपनी पद्धति का विकास किया। इस प्रकार शुक्लजी की आलोचना का सन्दर्भ विश्वव्यापक था। उनके साहित्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी निबन्धों में डंटन, टालसटाय, रिचर्ड्स, क्रोचे आदि के नाम और उद्धरण ही नहीं मिलते बल्कि उनकी पूरी परीक्षा की गई है और बड़े आत्मविश्वास के साथ उनसे असहमति प्रकट करते हुए शुक्लजी ने अपनी मौलिक पद्धति को विकसित किया है। इस प्रकार शुक्लजी के सन्दर्भ में विश्वव्यापकता, पद्धति में मौलिकता और उसके व्यवहार में अपूर्व दृढ़ता आ गई। यहाँ एक बार मैं फिर दोहरा दूँ कि शुक्लजी के लिए समसामयिकता समूचे हिन्दी साहित्य की अपनी विशिष्टता की खोज थी, न कि उस काल-मात्र में रचित हिन्दी के साहित्य का मूल्यांकन। इस प्रकार उनका एक ऐसा व्यक्तित्व निर्मित हो गया कि अगर कोई चाहता (और चाहा भी गया) तो उनसे टकराकर भी प्रसिद्धि प्राप्त कर सकता था।

शुक्लजी की रुचि कर्म-संकुल जगत् में प्रयत्न की निरंतरता के सौन्दर्य की ओर अधिक आकर्षित होती थी। महत्त्वपूर्ण उसकी सफलता-असफलता नहीं, निरन्तरता है, जिसके द्वारा जीवन में अनेक विविधताओं के बीच सामंजस्य की भूमि खोजी जा सकती है। "विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य है, जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता।" **(चिन्तामणि भाग १, पृ० २१६)** शुक्लजी इसी ओर आकर्षित हुए। यह सामंजस्य का दृष्टिकोण क्लैसिक प्रवृत्ति है। मर्यादा, कर्तव्य, संयम और नैतिकता जिसके मुख्य उपकरण हैं। गेटे ने कहीं कहा था कि क्लैसिसिज़्म स्वास्थ्य है और रोमांटिसिज़्म रोग। शुक्लजी इसे मानते प्रतीत होते हैं। वस्तुतः उनका विरोध इसी बिन्दु से होता है और शुक्लोत्तर आलोचना के विकास का यही प्राथमिक लक्ष्य बिन्दु भी है।

अब छायावाद के सम्बन्ध में उनके कुछ कथन उद्धृत कर मैं यह दिखलाने का प्रयत्न करूँगा कि छायावाद को प्रतिष्ठा दिलाने वाले आलोचक उन्हीं बातों के सम्बन्ध में किस प्रकार का मत रखते हैं।

"चित्र भाषा या अभिव्यंजन-पद्धति पर ही जब लक्ष्य टिक गया तब उसके प्रदर्शन के लिए लौकिक या अलौकिक प्रेम का क्षेत्र ही काफ़ी समझा गया। इस बँधे हुए क्षेत्र के भीतर चलने वाले काव्य ने छायावाद का नाम ग्रहण किया।"
(हि० सा० का इतिहास, पृष्ठ ६१५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"रहस्य भावना और अभिव्यंजन-पद्धति पर ही प्रधान लक्ष्य हो जाने और काव्य को केवल कल्पना की सृष्टि कहने का चलन हो जाने से भावानुभूति तक कल्पित होने लगी।"

(हिन्दी साहित्य का इतिहास)

'रहस्यवाद के अन्तर्गत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने सन्तों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं, जो **तुरीयावस्था या समाधि** दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध **आध्यात्मिक ज्ञान** का आभास देती हुई मानी जाती थीं।"

(वही)

"रहस्यवाद के भीतर आने वाली रचनाएँ तो थोड़ी या बहुत सभी ने उक्त पद्धति पर की हैं, पर उनकी शब्द-कला, वासनात्मक प्रणयोद्‌गार, वेदना विवृति, सौन्दर्य-संघटन, मधुचर्या, अतृप्ति-व्यंजना इत्यादि में अधिकतर नियुक्त रही।"

(वही, पृष्ठ ६१६)

"छायावाद की रचनाएँ गीतों के रूप में ही अधिकतर होती हैं। इससे उनमें अन्विति कम दिखाई पड़ती है।"

(वही, पृष्ठ ६१६)

ऊपर के उद्धरण निश्चित रूप से छायावाद के विषय में शुक्लजी की सहानुभूतिपूर्ण धारणा को व्यक्त नहीं करते।

अब इन्हीं बिन्दुओं पर क्रमशः पं० नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र के शब्द देखें—

"छायावाद मानव-जीवन-सौन्दर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न स्वरूप मानता है; उसे अव्यय की वेदी पर बलिदान नहीं कर देता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन काव्य की सीमा में मानव-चरित्र और दृश्य जगत्, अपने प्रकृत रूप में उपेक्षित ही रहे, जबकि नवीन काव्य में समस्त मानव-अनुभूतियों की व्यापकता पूरा स्थान पा सकी।"

(आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३५२)

"छायावाद काव्य मध्य युग की काव्यधारा से प्रमुखतः इस अर्थ में भिन्न है कि वह किसी क्रमागत सांप्रदायिकता या साधना-परिपाटी का अनुगमन नहीं करता।"

(वही, पृष्ठ ३५४)

"छायावाद की काव्य-सरणी इन अध्यात्मवादी सीमा-निर्देशों से आबद्ध नहीं है, वह भावना के क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करती।"

"नयी छायावादी काव्य-धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है।"

डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं—"नवीन चेतना से उद्दीप्त कवि के स्वप्न अपनी अभिव्यक्ति के लिए चंचल हो रहे थे, परन्तु वास्तविक जीवन में उसके लिए कोई सम्भावना नहीं थी। अतएव स्वभावतः ही उसकी वृत्ति निकट यथार्थ और स्थूल से विमुख होकर, सुदूर रहस्यमय और सूक्ष्म के प्रति आकृष्ट हो रही थी। भावनाएँ कठोर वर्तमान से कुंठित होकर स्वर्ण अतीत या आदर्श भविष्य में तृप्ति खोजती थीं—ठोस वास्तव से ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्न का संसार रचती थीं—कोलाहल के जीवन से भागकर प्रकृति के चित्रित अंचल में शरण लेती थीं—स्थूल से सहमकर सूक्ष्म की उपासना करती थीं।"

(विचार और अनुभूति, पृष्ठ ५२)

उन्होंने अन्यत्र लिखा है—"परम्परा के पाश में चिरकाल से बद्ध भावुकता एक साथ छटपटाकर अभिव्यक्त होने लगी और हृदय के समस्त आवेशों का, आत्मा के सम्पूर्ण स्पन्दनों का कवि की कृतियों में एक विशेष स्थान होने लगा। अब उसकी कल्पना स्वच्छन्द है।...कवि के व्यक्तिगत राग-विराग काव्य में बहुमूल्य समझे जाते हैं।"

(सुमित्रानन्दन पन्त, पृष्ठ ७)

"छायावाद की कविता प्रधानतः शृंगारिक है क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुंठाओं से और व्यक्तिगत कुंठाएँ प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं।"

"छायावाद में उपभोग का भाव न मिलकर विस्मय का भाव मिलता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोमय है।"

ऊपर मैंने बहुत-से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं और इन सभी उद्धरणों को एक साथ रखने से एक ओर शुक्लजी तथा दूसरी ओर नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र का अन्तर समझा जा सकता है।

शुक्लजी छायावाद को "बँधे हुए क्षेत्र के भीतर चलने वाला काव्य" मानते हैं। उसे मधुचर्या, वेदना और अतृप्ति-व्यंजना तक सीमित मानते हैं। यहाँ तक कि प्रसाद और महादेवी के लिए उन्होंने साम्प्रदायिक शब्द का भी प्रयोग किया है। इसके विपरीत वाजपेयीजी उसमें "समस्त मानव-अनुभूतियों की व्यापकता" देखते हैं तो डॉ० नगेन्द्र उसमें हृदय के समस्त आवेशों, आत्मा के सम्पूर्ण स्पन्दनों की अभिव्यक्ति पाते हैं। शुक्लजी जहाँ छायावाद को शायद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़लती से मुड़ गई दिशा मानते हैं।

(हि०सा० का इति०, पृष्ठ ६२३)

"यह स्वच्छन्द नूतन पद्धति अपना रास्ता निकाल ही रही थी कि श्री रवीन्द्रनाथ की रहस्यात्मक कविताओं की धूम और कई कवि एक साथ रहस्यवाद और प्रतीकवाद या चित्र भाषावादकों को एकान्त ध्येय बनाकर चल पड़े।" (हि० सा० का इति०, पृष्ठ ६१४)। वहाँ वाजपेयीजी उसे "सामयिक जीवन-परिस्थितियों से ही मुख्यतः अनुप्राणित" (आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३५१) मानते हैं। शुक्लजी जहाँ छायावादी कविता में कल्पना के अतिरेक से खिन्न होते हैं वहाँ डॉ० नगेन्द्र उसकी कल्पना-मयता और स्वप्न-मयता का सौन्दर्य उभारते हैं। शुक्लजी छायावादी रहस्य-भावना को धार्मिक अनुभूति से पृथक् नहीं मानते और जब उनमें धर्म-साधना का अभाव देखते हैं तो उसे 'अनुकरण' मान लेते हैं। इसके विपरीत वाजपेयीजी और नगेन्द्रजी ने इस रहस्य-भावना को मानवीय और सांस्कृतिक माना है, धार्मिक नहीं। शुक्लजी जहाँ छायावाद को रहस्यवाद मान लेते हैं या मात्र-शैली (हि० सा० का इतिहास, पृष्ठ ६२३), वहाँ दोनों शुक्लोत्तर आलोचक उसे न रहस्यवाद मात्र मानते हैं न शैली-मात्र। जहाँ शुक्लजी प्रकृति के सच्चे स्वरूप और उसकी सच्ची व्यंजना का अभाव पाते हैं वहाँ बाद के आलोचकों ने उसे 'प्रकृति के जीवित अस्तित्व' की नयी अवधारणा के रूप में देखा है। इसीलिए शुक्लजी या तो प्रकृति के स्वतन्त्र वस्तुगत सौन्दर्य का उद्घाटन पसन्द करते हैं या उसके उद्दीपन रूप का चित्रण। **जग के दुख-दैन्य शयन पर यह रुग्णा जीवन बाला** के रूप में चाँदनी के चित्रण की व्याख्या वे नहीं कर सकते, क्योंकि वे मानते हैं कि "चाँदनी अपने आप इस प्रकार की भावना मन में नहीं जगाती।" किन्तु प्रकृति को जीवित सत्ता के रूप में मान लेने से इसमें कोई कठिनाई नहीं पड़ती।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि छायावादी काव्य की प्रेरणा, स्वरूप और प्रक्रिया के कई स्तरों पर पं० नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र ने शुक्लजी से भिन्नता स्थापित की है। इस भिन्नता के प्रत्यक्ष में शुक्लजी से उनकी टक्कर लेना अनिवार्य था। इसीलिए मैंने कहा है कि शुक्लोत्तर आलोचना का विकास टकराहट से हुआ है। इस टकराहट का सन्दर्भ, उद्देश्य और आधार सब-कुछ तात्कालिक था। इस तात्कालिकता के आग्रह के कारण परम्परागत शास्त्रीय शब्दावली की उपेक्षा और नवीन अवधारणाओं को व्यक्त करने वाली परिस्थितियों तथा विचार-धाराओं के प्रति शुक्लोत्तर आलोचकों का ध्यान गया। हम पहले दिखा चुके हैं कि नगेन्द्रजी रसों के आधार पर पन्तजी के काव्य की विवेचना में उदासीन हैं तो वाजपेयीजी नयी परिस्थितियों के अनुरूप रस के स्वरूप में विकास की माँग करते हैं। इनकी आलोचनाओं में नवीनता, स्वतन्त्रता, उन्मुक्तता आदि शब्द बार-बार आते हैं और इनके आधार पर छायावादी काव्य के औचित्य तथा उसकी श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है। स्वप्न, कल्पना, प्रकृति, व्यक्तिवाद और अन्तर्मुखता, आध्यात्मिकता का मानवीय सन्दर्भ आदि ऐसे शब्द हैं जो नई अवधारणाओं को व्यक्त करते हैं और छाया-वादी काव्य की आलोचना में ही पहले-पहल इस रूप में यद्यपि जाने नहीं गए तो प्रतिष्ठित अवश्य हुए। शुक्लजी के बाद के इन आलोचकों को पढ़ने से स्पष्ट लगता है कि उनके विरुद्ध, (उनकी दृष्टि और उनकी पद्धति के विरुद्ध) एक आन्दोलन किया जा रहा है। इस प्रकार सभी परम्पराओं का अध्ययन कर, व्याख्या कर, कुछ अस्वीकार कुछ स्वीकार कर, सामंजस्यपूर्ण विवेकसम्मत पद्धति जिस प्रकार शुक्ल-जी ने विकसित की, उसके बाद की आलोचना का विकास उस प्रणाली पर नहीं हुआ। इसमें प्रतिक्रिया, आवेग और विरोध का स्वर है, जिसमें सामंजस्य नहीं स्वच्छन्दता की कामना है।

विश्लेषण की सूक्ष्मता और विस्तार तथा व्यापक सन्दर्भ किसी भी आलोचना-पद्धति के महत्त्वपूर्ण होने के निर्णायक तत्त्व कहे जा सकते हैं। आलोचक अपने विश्वासों और अपनी मान्यताओं से उतना स्थापित नहीं होता जितना अपने विश्लेषण की सूक्ष्मता, गम्भीरता और विस्तृति से। ऊपर के विवेचन से भिन्न दृष्टि की स्थापना अवश्य होती है और उसे महत्त्व मिलना ही चाहिए किन्तु विश्लेषण का वह सूक्ष्म तथा विस्तृत रूप जो शुक्लजी में मिलता है, निस्संकोच कहा जा सकता है कि इन बाद के आलोचकों में वह उतना भी नहीं है। यही कारण है कि शुक्लजी से असहमत हुआ जा सकता है किन्तु बड़ी-से-बड़ी मेधा का भी अप्रभावित होना असम्भव है। दूसरी ओर इन परवर्ती आलोचकों से (छायावाद के संदर्भ में) शायद सहमत होना ज़्यादा आसान है, किन्तु उसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

मात्रा में प्रभावित भी हुआ जा सकता है—इसमें सन्देह की पर्याप्त गुंजाइश है। शायद यहाँ एक कारण हो जिससे व्यावहारिक आलोचना की तर्कसंगति से ये आलोचक सिद्धांत की ओर अधिक झुकते गए और विश्लेषण की व्यापकता के मुकाबले सिद्धान्त की व्यापकता की चाहना करने लगे। शुक्लजी ने 'लोक मंगल', 'आनन्द की प्रयत्नावस्था और सिद्धावस्था' जैसे अवधारणासूचक शब्दों को अपने विश्लेषण द्वारा ही नया और विशिष्ट अर्थ दिया था, शास्त्र की परिपाटी का अनुगमन करके नहीं। शुक्लोत्तर आलोचक यदि उस प्रकार परम्परा से हटे, किन्तु उसी में से उद्भूत अवधारणा-प्रधान शब्दों का निर्माण कर सके होते तो उनके आलोचक-व्यक्तित्व की सार्थकता अधिक व्यापक और गम्भीर धरातल पर स्थापित हुई होती।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टी० एस० इलियट और 'नई आलोचना'

रामसेवक सिंह

: १ :

बीसवीं शती के पहले दशक के समाप्त होते-न-होते योरोपीय वातावरण में एक नई चेतना आई। अब आलोचकों के लिए कवि के जीवन-वृत्त तक सीमित रहना सम्भव न था। उन्हें कवि के बदले काव्य की चर्चा अभीष्ट हुई। कविता के गठन और उसके स्वरूप पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। स्वाभाविक था कि इस समय का आलोचक इस नई चेतना से ओतप्रोत हो, और कवि भी 'विक्टोरियन निश्चिंतता' से मुक्त होकर अपने कवि-धर्म को ज़िम्मेदारीपूर्वक निभाये। कविता के क्षेत्र में जैसे बिम्बवाद (इमेजिज़्म) इसका एक सीधा परिणाम था, उसी प्रकार आलोचना के क्षेत्र में प्रभाववाद (इम्प्रेशनिज़्म) का अन्त और विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रारम्भ। इसलिए अब आलोचकों के लिए आवश्यक था कि वे समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान-जैसी अन्य विद्याशाखाओं से भी अपेक्षित सहायता लें। इन तमाम जलधाराओं को लेकर जो गंगा निकली वह थी 'नई आलोचना'। इस नई आलोचना के जन्मदिवस के बारे में मतैक्य भले न हो, इतना सभी स्वीकार करते हैं कि लक्षण-रेखाएँ इन पुस्तकों में स्पष्ट देखी जा सकती थीं : टी० एस० इलियट की 'द सेक्रेड वुड' (१९२०), मिडलटन मरी की 'द प्रॉब्लेम ऑफ़ स्टाइल' (१९२२) तथा आई० ए० रिचर्ड्स की 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटररी क्रिटिसिज़्म' (१९२४)।[1] इंगलैंड में यह धारा एफ० आर० लीविस के हाथों तक आते-आते एक स्वस्थ परंपरा बन चुकी थी। अपनी पुस्तक 'रिवैल्युएशन' (१९३६) में बहुत स्पष्ट शब्दों में लीविस ने कहा था कि वे "अंग्रेज़ी काव्य-परंपरा में आये नवीनतम दृष्टिकोण" को अपना रहे थे जिसकी नींव एज़रा पाउण्ड, टी० एस० इलियट तथा आई० ए० रिचर्ड्स जैसे आलोचकों के हाथों पड़ चुकी थी। अमेरिका में इस प्रवाह के आने में उतना ही समय लगा। सही बात तो यह है कि एक के बाद एक करीब आधा दर्जन पुस्तकें १९२० और १९४० के बीच छपीं जिनमें इसी दृष्टिकोण का निरूपण था। इनमें प्रमुख आलोचक थे : इलियट, रिचर्ड्स, जान क्रो रैंसम, केनेथ बर्क, एलीसिओ वाइवास, ब्लैकमुर, आर० एस० क्रेन, अलेन टेट, क्लींथ ब्रुक्स, विलियम एम्पसन, राबर्ट पेन वॉरेन, रेने वेलेक, इत्यादि।

: २ :

यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि ये सभी 'नये आलोचक' मानते हैं कि 'नये' से उनका मतलब यह नहीं कि उन्होंने कोई एकदम नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।[2] उनका प्रयत्न तो यह रहा है कि वर्तमान युग की प्रकृति जुदा होने से जो कुछ धुँधला हो गया है अथवा दृष्टि से ओझल हो गया है, उसी को पुनः स्पष्ट रूप से और बल देकर प्रस्तुत करें। वर्षों से जो बातें बार-बार दोहराई जाने से घिस गई हैं, व्यर्थ या व्यतीत हो गई हैं उन्हें छोड़ें और नकली वैज्ञानिकता को ठुकरावें। इस तरह इन आलोचकों को 'नया' कहने में कुछ हेच हो सकती है। किन्तु यह एक और मज़ेदार बात है कि बीसोत्तरी के बीस वर्ष पहले ही मनोविज्ञान की उपलब्धियों की सहायता से जो नई आलोचना-पद्धति शुरू हुई उसे 'नया' कहने में लोग हिचकते हैं। यद्यपि मनोविज्ञान के प्रभाव में लगभग सभी आलोचक आये हैं। वे आलोचक थोड़े हैं जिन्होंने, फ्रायड, युंग अथवा किसी और मनोवैज्ञानिक की पद्धति का पूरा-पूरा उपयोग किया हो। अब ऐसा लगने लगा है कि नये और पुराने का झगड़ा छोड़कर जिसने जो कुछ भी योग दिया है उसे स्वीकार किया जाए। गंगा किसी एक धारा का नाम नहीं। उसका फैलाव और गहराई इसलिए सम्भव हुए कि कितनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही दिशाओं से जलराशि बिखरती-बिखरती आकर एक प्रबल धारा में परिवर्तित हुई। 'नई आलोचना' के लिए भी कुछ ऐसा ही कहा जा सकता है। हर आलोचक का अपना स्थान है क्योंकि उसने कुछ 'नया' किया है। अच्छी बात यह है कि ये आलोचक एक-दूसरे से कभी नहीं उलझे। समझदार और भले किरायेदारों की तरह 'नये आलोचक' एक ही मकान में रह रहे हैं। वे एक-दूसरे से प्रभावित भी हुए हैं और उन्होंने एक-दूसरे को प्रभावित भी किया है। इलियट ने कितनी ही जगहों पर रिचर्ड्स से विचार-विमर्श किया है। 'द यूस ऑफ़ पोएट्री एंड द यूस ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' (१९३३) की भूमिका में तो यहाँ तक कहा है कि "मुझे इस बात का खेद है कि जब मैं अमेरिका में इन भाषणों को तैयार कर रहा था तब रिचर्ड्स इंगलैंड में थे, और जब मैं उन्हें छपवाने के लिए इंगलैंड में तैयार कर रहा था तब वे अमेरिका में थे। मैंने आशा की थी कि उनकी आलोचना का लाभ इन भाषणों को मिलता।"[३] इस बात का ज़िक्र औरों ने भी किया है। आर० पी० ब्लैकमुर ने इसी विषय पर लिखे अपने निबन्ध में कहा है कि "टी० एस० इलियट पर आई० ए० रिचर्ड्स का प्रभाव कम होकर भी महत्त्वपूर्ण है।"[४]

यह एक दुर्भाग्य की बात है कि समय-समय पर कवियों और काव्य-रसिकों के लिए यह आवश्यक हुआ है कि वे साहित्य की सार्थकता सिद्ध करें। अपने पूर्ववर्ती और समकालीन कवियों को अतिभावुक और तर्कहीन देखकर अफ़लातून ने अपने 'आदर्श राज्य' में से कवियों को निकाल बाहर किया था। इसलिए आवश्यकता हुई थी कि साहित्य की सार्थकता सिद्ध की जाए और अरस्तू ने यह काम बखूबी किया भी था। वैसे ही जब सोलहवीं शताब्दी में प्योरिटनों ने धार्मिक कट्टरता के कारण साहित्य का बहिष्कार किया था तब सर फिलिप सिडनी को 'एपॉलोजी फ़ॉर पोएट्री' लिखनी पड़ी थी। अभी विज्ञान का प्रभाव जीवन पर शुरू ही हुआ था कि पीकॉक-जैसे लोगों ने मान लिया कि संस्कृति के चार चरण सम्भव थे और वर्तमान युग चौथा चरण होने से साहित्य-सृजन के लिए सहायक नहीं था, तब एक बार फिर शेली ने 'डिफ़ेंस ऑफ़ पोएट्री' लिखकर बताया कि किस प्रकार कवि द्रष्टा होता है और उसका चरित्र चाहे जैसा भी हो वह समाज का नियामक होता है। शेली के बाद अभी सौ वर्ष भी नहीं बीते थे कि फिर वही प्रश्न सामने आया: क्या वर्तमान युग में साहित्य का कोई अर्थ है?—नये सिरे से इस बार फिर विचार हुए और लोगों ने महसूस किया कि इस बार साहित्य की सार्थकता सिद्ध करना कठिन था। अब काव्य पढ़कर कोई सत्य या विराट् के दर्शन करता हो यह बात अनर्गल लगने लगी थी। जो सत्य विज्ञान ने हमारे समक्ष रखे हैं वे ज़्यादा ठोस, विश्वसनीय हैं, जब कि काव्य में जिस सत्य का साक्षात्कार होता है वह वायवीय और अनावश्यक होता है। यदि किसी को इस विश्व के पीछे काम कर रही शक्ति या उसमें व्यक्त सौन्दर्य के स्रष्टा को जानना हो तो वह काम दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने से सम्पन्न हो सकता है। उसे वह कुछ पाने के लिए कविता पढ़ने की आवश्यकता नहीं जो विज्ञान अथवा दर्शनशास्त्र से मिल सकता है। इसलिए अब काव्य-सृष्टि नीति-प्रचार और सत्यदर्शन के लिए नहीं हो सकती थी। अब कविता की सार्थकता एकदम नये और निरुपम दृष्टि-बिन्दु से सिद्ध करनी थी। कविता अपने-आप में कोई ऐसी चीज़ है जिसका सानी और कोई विद्याशाखा नहीं। और साथ ही वह जीवन के लिए आवश्यक है। यह काम तभी हो सकता था जब यह बात मान ली जाती कि साहित्य किसी भी प्रकार धर्म का पर्याय नहीं जैसा कि मैथ्यू आरनोल्ड ने माना था, और न ही वह किसी प्रकार की विशेष अनुकूलता पर आधारित—जीवित है। वह अपने-आप में एक इकाई है, उसका अपना अलग अस्तित्व है। यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी जिसे सभी आलोचकों तथा कवियों ने महसूस किया।[५] आई० ए० रिचर्ड्स ने बहुत स्पष्ट शब्दों में लिखा कि इलियट की कविता 'द वेस्ट लैंड' में काव्य और विश्वास एकदम असम्पृक्त हैं। कविता पर धर्म हावी नहीं हुआ है।[६] इस कविता का आकर्षण ही इस बात में है कि जो कुछ हम इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र इत्यादि में पा सकते हैं वह सब इसमें है, फिर भी यह कविता वही अथवा उतना ही नहीं है जितना उन विषयों के अध्ययन से मिलता है। यह-कुछ न तो ज्ञान का स्थान-पूरक है और न ही जीवन का। उन्नीसवीं शताब्दी की यह मान्यता ग़लत है कि "साहित्य जीवन का एक टुकड़ा" है, ठीक वैसे ही जैसे यह कहना कि साहित्य "जीवन की आलोचना" है।[७] इस उत्साह में, पुरानी शब्दावली में ही, रिचर्ड्स ने यहाँ तक कह डाला कि कवि का सत्य संवेगपरक होता है जब कि वैज्ञानिक का तथ्यपरक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

अंग्रेज़ी आलोचना साहित्य के इतिहास में जितने स्मरणीय आलोचक हुए हैं उनमें लगभग सभी उच्चकोटि के कवि भी रहे हैं। सिडनी, बेन जानसन, ड्राइडेन, पोप, वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली, मैथ्यू आर्नोल्ड, आस्कर वाइल्ड, इलियट और जान क्रो रैंसम—ये सभी आलोचक अच्छे कवि रहे हैं।[८] बेन जानसन ने तो यहाँ तक कहा था कि "कविता पर निर्णय देने का अधिकार सिर्फ़ कवि को है।"[९] यहाँ यह अनिवार्य नहीं है कि इस कथन की मर्यादाओं पर विचार किया जाए। विचारणीय सिर्फ़ यह है कि क्या कवि में कविता समझने की सामर्थ्य ज़्यादा होती है? साधारण रूप से यही स्वीकार्य है। इसीलिए आलोचक में सहृदयता का गुण आवश्यक माना गया है। बुद्धि और हृदय के संघर्ष का इतिहास काफ़ी पुराना है, किन्तु इस द्वन्द्व को ख़ास ढंग से उभारा स्वच्छन्दतावाद ने। और तब से यह खाई चौड़ी ही होती रही है। परन्तु इस विज्ञानयुग में कोई कब तक हृदय की दुहाई देकर बुद्धि का वहिष्कार करता रहेगा? इसलिए जब इस नये परिवेश में कविता की उपयोगिता को फिर से प्रतिष्ठापित करने का प्रश्न आया तो इलियट ने कहा कि कविता में किसी प्रकार की तर्कहीनता नहीं होती। कवि जिस संवेग को काव्य में स्थान देना चाहता है उसकी अनिवार्यता और उपयोगिता पर पुनः-पुनः विचार करता है। शब्दों में आकार ग्रहण करने के पहले कविता का कोई अस्तित्व नहीं, और शब्दों में लाने से पहले कवि को कितना विचार करना पड़ता है इसका अन्दाज़ लगाना उन लोगों के लिए मुश्किल है जो कविता को अन्तप्रेरणा की देन मानते हैं। कवि एक-एक शब्द के साथ उलझता है—उसके बारीक अर्थों, माधुर्य, अर्थवत्ता और अनिवार्यता पर हर पहलू से विचार करता है। शब्दों को उनकी पूरी अर्थवत्ता में पकड़ने में अभ्यास की आवश्यकता होती है। शेक्सपीयर जैसे जीनियस को भी वर्षों की रगड़-घिस के बाद उस उपयुक्त अभिव्यक्ति पर काबू आया जो उसके पके विचारों को सफलतापूर्वक सक्षम शब्दों में बाँध सकी।[१०] इलियट भी अन्यों की तरह होमर, दान्ते और शेक्सपीयर को कीर्तिस्तम्भ मानकर चलते हैं। किन्तु वे यह बात कतई मानने के लिए तैयार नहीं कि उनकी सृजनात्मक शक्ति उनकी आलोचनात्मक शक्ति से ज़्यादा प्रबल थी। सही बात तो यह है कि कवि की आलोचनात्मक शक्ति उसकी सृजनात्मक शक्ति से ज़्यादा अच्छी होती है।[११] इस बात को लेकर उन्होंने मिडलटन मरी का प्रतिवाद अपने निबन्ध 'द फंक्शन ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' में काफ़ी विस्तार से किया है। कवि-कर्म इतना सरल नहीं जितना लोग मानकर चलते हैं। इसीलिए इलियट यह मानते हैं कि एज़रा पाउण्ड का सबसे बड़ा योगदान, जो उनके समकालीन कवियों की कृतियों को मिला है, वह है उनका इस बात पर बल कि कवि को अपार सजग परिश्रम करना पड़ता है।[१२] इलियट जिस कमरे में बैठकर कविताएं गढ़ते थे उसे 'वर्कशाप' कहते थे।[१३] इसी वर्कशाप में बैठकर वे अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति एकदूसरे माध्यम से भी करते रहे हैं, यानी आलोचना के माध्यम से। अतएव आलोचना लिखते समय न तो वे हृदय को ताक पर रखते थे और न ही कविता लिखते समय बुद्धि को। दोनों का एक-दूसरे से अटूट सम्बन्ध है, आवश्यक सम्बन्ध है।

: ४ :

इलियट ने अपना लेखक-जीवन कवि और आलोचक की हैसियत से लगभग साथ ही शुरू किया। अतः उनकी विचार-पद्धति में कवि को आलोचक से और आलोचक को कवि से जो अपेक्षाएँ होती हैं उन्हीं पर विशेष बल दिया गया। उन्होंने 'द परफ़ेक्ट क्रिटिक' में यह लिखकर कि आलोचक का काम 'सिर्फ़ अर्थविस्तार करना है'[१४] आगामी चालीस वर्षों के लिए आलोचना की परिभाषा दे दी। 'नई आलोचना' इसी को लेकर कविता की व्याख्या में लग गई। वैसे स्पिंगर्न ने अपने १९१० में लिखे गये निबन्ध का शीर्षक 'द न्यू क्रिटिसिज़्म' रखा था, इस शीर्षक के ध्वनितार्थों को जान क्रो रैंसम ने १९४१ में इसी शीर्षक से छपी अपनी पुस्तक में उभारा। १९२० से लेकर १९४० तक 'नई आलोचना' आकार ग्रहण करती रही थी, फिर चाहे रिचर्ड्स का कविताओं के शीर्षक और कवि का नाम हटाकर छात्रों से उनकी प्रतिक्रिया जानकर उन कविताओं का सही मूल्यांकन करना रहा हो, चाहे एम्पसन का कविता में अन्तर्निहित 'अनेकार्थों' (एम्बिग्विटीज़) का उद्घाटन, और चाहे रहा हो एफ० आर० लीविस का अपनी कक्षाओं में कविता की सविस्तार व्याख्या। ये सभी आलोचक एक ही काम कर रहे थे: कविता का अर्थविस्तार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मगर दुर्भाग्य की बात यह है कि इलियट की [illegible] परिभाषा पर ही आलोचकों का ध्यान केन्द्रित रहा। उसी निवन्ध में थोड़ा आगे चलकर इलियट ने कहा था कि आलोचक 'कविता की व्याख्या' करने के बाद अपने मन पर पड़ी छापों को इस प्रकार सुव्यवस्थित करता है कि वह 'साहित्यिक का सामान्यीकृत वक्तव्य' बन जाता है। परेशानी इसलिए हुई थी कि इलियट ने 'व्याख्या' के साथ एक विशेषण लगाया था 'सिर्फ़'। ये दोनों बातें 'सिर्फ़ व्याख्या' और 'सामान्यीकृत व्याख्या' परस्पर-विरोधी हैं। अतः कविता को 'निराली कृति' मानकर कविता की व्याख्या करने के साथ कुछ आलोचकों ने मूल्य के प्रश्न को भी नज़रअन्दाज़ न करने की गरज़ से कवि के सामाजिक एवं नैतिक उत्तरदायित्वों के प्रति सजगता बरती। परिणाम यह हुआ कि एक विचित्र प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व प्रत्यक्ष हुआ। विलियम एम्पसन ने वर्ड्सवर्थ की कविता 'टिंटर्न एबी' की व्याख्या लगकर की। उन्होंने कहा कि भाषा के उलझी हुई और कथ्य के असन्तोषकारी होने से इस कविता को उच्चकोटि की कृति नहीं कहा जा सकता, किन्तु इसके बावजूद उन्होंने इस कविता की तारीफ़ की।[१४] प्रश्न है, ऐसा क्यों? इसलिए कि आलोचक की अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाएँ चाहे कैसी भी हों, कुल मिलाकर उसके मन पर कविता की क्या छाप पड़ी यह महत्त्वपूर्ण है। और इस दृष्टि से एम्पसन की आलोचना में 'व्याख्या' और 'मूल्यांकन' दोनों को ही लेकर चलने से एक अपरिहार्य अस्पष्टता आ गई है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जिन आलोचकों ने यह माना था कि आलोचना पाठक तक "सानुनय अपनी बात पहुँचाने का मात्र साधन" है उनकी आलोचना में एम्पसन की अस्पष्टता नहीं के बराबर थी। इन आलोचकों में आई० ए० रिचर्ड्स, रैंडेल जैरेल, डी० डब्ल्यू गोटशाक और मार्टिमर एडलर प्रमुख हैं जिन्होंने थोड़े अन्तर से यह माना कि आलोचना हमेशा किसी एक ख़ास वर्ग की रुचि की अभिव्यक्ति होती है। इन आलोचकों[१६] की आँखों से जो बात ओझल हो गई थी वह यह थी कि आलोचना किसी वर्ग की रुचि की अभिव्यक्ति होकर भी औरों की रुचि का परिष्कार करती है। परिणाम यह हुआ कि आलोचना में आलोचक सिर्फ़ अपने प्रति उत्तरदायी हुआ, न कि कविता के प्रति, न ही विवेक या साहित्यिक परम्परा अथवा पाठक के प्रति। बीसोत्तरी और तीसोत्तरी के लगभग सभी आलोचक मूल्यपरक आलोचना [illegible] उनकी धारणा बन गई थी कि मूल्यपरक आलोचना न सम्भव है और न ही सार्थक। इस धारणा के कितने ही कारण थे: उन्नीसवीं शती की प्रभाववादी आलोचना के प्रति विरोधी भावना, वर्तमान शती का सापेक्ष्यतापरक दृष्टिकोण, मूल्य के बदले शिल्प-पद्धति के प्रति आग्रह, मनोविज्ञान के प्रभाव में उभरी आत्मपरक दृष्टि और विज्ञान के क्षेत्र में बरती जाने वाली वस्तुपरक, निर्विकार भेदक दृष्टि। साथ ही अध्यापकी वृत्ति भी ज़िम्मेदार है जिसके कारण कक्षा के अन्दर इस प्रकार के फ़तवे दिये जाते हैं कि साहित्य की श्रेष्ठता कालान्तर में ही स्थापित होती है: यानी जो कृति पीढ़ी-दर-पीढ़ी पढ़ी जाए वही शुद्ध साहित्य, बाकी नहीं। इतना ही नहीं, हर बात को सिद्ध करने के लिए तथ्य इकट्ठा करने की वृत्ति इतनी प्रबल हो गई थी कि साहित्य को पृष्ठभूमि में धकेल दिया गया था, और विद्वत्ता रंगमंच पर आ गई थी। और अध्यापकी दार्शनिकता का तो कहना ही क्या जो हर कविता से, जान क्रो रैंसम के शब्दों में, "आचार शुद्धि और मानवता के कल्याण"[१७] के लिए शुभ सन्देश की अपेक्षा रखती है। इस सिलसिले में उन शैलीभक्तों को भूलना नामुनासिब होगा जो शैली की किसी एक बारीकी, जैसे छन्द, मात्रा या शब्दों तक ही अपने को सीमित रखते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में सभी प्रकार के निर्णय अवैज्ञानिक होते हैं। मुश्किल तो सिर्फ़ यह थी कि ये तृतीय श्रेणी की कविता पर उतना ही श्रम करते हैं जितना किसी उच्च कोटि की कृति पर। हेलेन गार्डनर का कहना है कि मूल्यपरक दृष्टिकोण से लिखी गई आलोचना से पाठकवर्ग को बड़ी दिक्कत होती है: जिस सिद्धान्त अथवा मूल्य को लेकर आलोचना की गई होती है वह पाठक के रसास्वादन में बाधक होता है।[१८] इस परेशानी को दूर करने के लिए ही जैसे केनेथ बर्क ने[१९] हेलेन गार्डनर के बारह वर्ष पूर्व ही लिख दिया था कि "आलोचक जटिलताओं को बोधगम्य बनाने के लिए सुलझी हुई सरल भाषा में" रखने की कोशिश करता है ताकि पाठक को परेशानी न हो।

मूल्यपरक आलोचना की अनिवार्यता में विश्वास रखते हुए भी प्रारम्भ में इलियट आलोचना के सैद्धान्तिक प्रश्नों की चर्चा की ओर से थोड़ा उदासीन थे, क्योंकि उनका मानना था कि किसी भी बात का बोध किसी को एकाएक नहीं होता बल्कि धीरे-धीरे कई स्थितियों में होता है।[२०] यह ठीक भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि आलोचना को 'संवेग की अभिव्यक्ति' से ऊपर उठकर यदि साहित्य का 'विवेकपूर्ण सौन्दर्यदर्शन' कराना है तो ज़रूरी है कि उस प्रत्यक्षज्ञान को किसी खास क्रम में रखकर सिद्धान्तसृष्टि की जाए, और प्रतिक्रियाओं को उसी प्रकार एक क्रम में रखकर मृत्युपरक सिद्धान्त बनाए जाएँ। यह दूसरी बात है कि इलियट स्वयं इस विचार को कार्यरूप में परिणत न कर सके। प्रश्न तो सिर्फ़ यह है कि आलोचक कविता को पढ़ने के बाद अपनी किन प्रतिक्रियाओं को क्रमबद्ध करे : कथ्य और शिल्प के सम्बन्धों को लेकर कविता में व्यक्त अथवा गर्भित 'सत्य' (यदि हो तो) को लेकर, या कवि और कविता के सम्बन्धों को लेकर। ये प्रश्न कोई भी साहित्यिक कृति पढ़ने पर उठ सकते हैं, किन्तु सन् १९२० के बाद की आलोचना ने विशेष ध्यान प्रगीतों पर दिया है, कुछ तो इसलिए कि प्रगीत अपेक्षाकृत छोटे होते हैं अतः उन पर जमकर विचार किया जा सकता है, और कुछ इसलिए भी कि गीत के अलावा कोई भी ऐसी और विधा नहीं जिसमें असाहित्यिक प्रश्न लिपटे न होते हों। नाटकों की भी जहाँ चर्चा की गई है वहाँ अंक-अंक और दृश्य-दृश्य की भरपूर व्याख्या की गई, न कि समग्र नाटक की।[21]

इस प्रकार यह 'नई आलोचना' इतनी दूर तक 'शिल्पपरक' हुई कि कविता का मूल्यांकन न करके शिल्पचर्चा में विशेष प्रवृत्त हुई। इस प्रयत्न के पीछे जो आधारभूत विचार काम कर रहे थे उनमें तीन महत्त्वपूर्ण हैं : एक तो यह कि काव्य का मूल्य इसलिए है कि कविता एक खास प्रकार की निराली संरचना होती है, दूसरे यह कि जीवन में जो कुछ भी कुरूप, सड़ा-गला और क्षयग्रस्त है वह भी साहित्य में ढलकर 'सुन्दर' बन जाता है। जीवन कच्चे माल के समान है। जो, जैसा कि जेम्स जायस ने कहा, कवि की 'आत्मा की भट्ठी में से होकर जब बाहर निकलता है तब वह 'सुन्दर', और इसीलिए 'आनन्दप्रद' होता है। इस तरह जो-कुछ एक साहित्यकार को दूसरे से अलग करता है वह है 'शिल्प' यानी जीवनानुभवों को एक खास प्रकार के क्रम में निबद्ध करने की क्षमता, न कि उनकी अभिव्यक्तियों की पृष्ठभूमि। ये विचार मूलतः कॉलरिज की—आवयविक रूप (ऑर्गेनिक फार्म) और कल्पना (इज़ेम्प्लैटिक इमेजिनेशन) के ही विकसित रूप हैं। आधुनिक कविता की उपलब्धि ही है 'आत्मशुद्धि की खोज'…हर प्रकार के असम्बद्ध अथवा बाह्य तत्वों से बचाने के लिए कविता का शुद्धीकरण, यानी कविता के निखालिस तत्त्वों की खोज।[22] इस माने में आलोचकों ने कविता को जितना मार्गदर्शन दिया है उतना ही वे उससे प्रभावित भी हुए हैं।

: ५ :

यह कहना कठिन है कि इलियट ने किस बात को ज़्यादा महत्त्व दिया, कविता के शिल्प या अर्थ को। दान्ते के 'डिवाइन कामेडी' के सिलसिले में इलियट ने एक तरफ़ यह कहा है कि "कविता के रसास्वादन की परिणति होती है उस विचारमग्नता में जिसमें व्यक्तिगत संवेगों के लिए कोई स्थान नहीं होता", तो दूसरी तरफ़ शेली की कविताओं के बारे में यह भी कहा है कि "शेली के कुछ विचारों को मैं नापसन्द करता हूँ। परिणाम यह हुआ है कि ये विचार उन कविताओं के रसास्वादन में आड़े आते हैं जिनमें ये व्यक्त हैं।"[23] हो सकता है कि शेली की कविताओं के रसास्वादन के लिए इलियट से जिस तटस्थता की आवश्यकता थी वह सम्भव न हो पाई। 'धर्म में कैथोलिक, राजनीति में राजशाही के विश्वासी और साहित्य में क्लोसिसिस्ट' होने से इलियट के अपने निजी विचार शेली तथा अन्य रोमांटिक कवियों के रसास्वादन में बाधक हुए हों यह खूब सम्भव है। किन्तु इलियट और कॉलरिज के विचारों की समानता यहाँ महत्त्वपूर्ण है : दोनों ही मानते हैं कि कविता किस क़िस्म की है। यह इस बात पर निर्भर है कि कवि को इष्ट क्या है और वह विश्व को किस रूप में व्यक्त करना है। कॉलरिज ने भी माना था कि विश्व बड़ा संकुल है और धीरे-धीरे उलझता जा रहा है, इसीलिए इस युग की कविता भी उलझी हुई होगी। इसी बात को इलियट ने भी दोहराया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इलियट जिस नई आलोचना के विकास के लिए प्रयत्नशील थे उसके लिए उचित शब्दावली उनके पास न थी। इसलिए ली० टी० लैमन ने कहा कि "इलियट विद्रोही स्वर न होकर एक संक्रमणकालीन आलोचक बनकर रह जाते हैं।"[24] इस स्थिति में होने से इलियट के लिए यही सम्भव था कि दो में से एक ही काम करते : कविता के कथ्य के लिए शिल्प के औचित्य पर विचार करते, अथवा शिल्प के लिए कथ्य की अनुकूलता पर। किन्तु हुआ यह कि इलियट ने दोनों ही मानदंडों का उपयोग किया। इस धारणा की पुष्टि के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचक का एक वाक्य काफ़ी होगा : 'सिर्फ़' वही शैली टिक पाती है जिसमें स्थायी, रुचिकर कथ्य की अभिव्यक्ति होती है।"[२५] इसी आधार पर इलियट ने अपने १९३६ के निबन्ध में मिल्टन-जैसे कवि की भर्त्सना की थी और कहा था कि 'श्रवण कल्पना' के कविता के अन्य मूल्यों पर हावी हो जाने के कारण कवि अपनी संवेदनाओं को 'सार्थक अनुभव' में ढाल नहीं पाया है। कविता में, इलियट के ही शब्दों में, सिर्फ़ 'महत्त्वपूर्ण संवेगों' के लिए ही स्थान होता है न कि किसी भी संवेग के लिए। इस प्रकार इलियट की आलोचना में हमेशा दोनों बातें अलग रही हैं : 'मुख्य बात' यानी 'कथ्य' एक तरफ़ और 'तकनीक' यानी जो कुछ उस मुख्य बात को स्थापित करता है वह दूसरी तरफ़। यों यह बात ज़रा मुश्किल से समझ में आएगी कि क्यों इलियट जब मिल्टन और शैली को उनके विचारों और जीवन-दर्शन के लिए नापसन्द करते हैं तो शेक्सपियर को जीवन-दर्शन हल्का होने के बावजूद पसन्द करते हैं।

इलियट से कहीं ज़्यादा व्यवस्थित ढंग से अन्य 'नये आलोचकों' ने कविता के अर्थ पर विचार किया है। विलियम एम्पसन ने एक पते की बात कही कि यद्यपि हममें से हरेक के अपने विचार होते हैं, अपनी धारणाएँ होती हैं तो भी हम कविता को पढ़-सुनकर आनन्दित होते हैं। इसका कारण है हमारे "सांस्कृतिक विश्व में व्याप्त अनिर्णय की स्थिति।"[२६] हमें विरोधी विचारों के बीच जीने की आदत हो गई है। रिचर्ड्स भी इलियट की तरह कविता के 'अर्थ' के बारे में दोतरफ़ा वृत्ति रखते हैं। रिचर्ड्स एक तरफ़ यह मानते हैं कि कविता की भाषा 'संवेगवाही' होती है, क्योंकि उसमें 'असत्य कथन' होता है। कविता में 'ट्रॉथ' के लिए स्थान है 'ट्रुथ' के लिए नहीं। तो दूसरी तरफ़ वे कहते हैं कि "कलाएँ हमारे मूल्यों के भण्डार हैं···कला का यदि ठीक ढंग से अध्ययन किया जाए तो हमें पता चलेगा कि कौन-से अनुभव मूल्यवान हैं और कौन-से निरर्थक।"[२७] इन विरोधी वक्तव्यों से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि रिचर्ड्स के विचार अस्पष्ट थे। जब कविता विचारशून्य होकर सिर्फ़ भाषा होती है तो फिर यह कैसे सम्भव है कि वह मानव-मूल्यों और अनुभवों का भण्डार हो। और भण्डार है तो बौद्धिक, इन्द्रियजन्य और संवेगात्मक—सभी प्रकार के अनुभवों का क्यों नहीं? इस तरह रिचर्ड्स की स्थिति इलियट से किसी कदर ज़्यादा सुलझी हुई नहीं है। जान क्रो रैंसम मानते हैं कि अत्यन्त आवश्यक होकर भी कविता में न्यूनतम मात्रा में तर्क होता है[२८], क्योंकि इसी के आस-पास कवि उन अप्रासंगिकताओं का ताना-बाना बुनता है जिससे कविता को आकार मिलता है। आइवोर विंटर्स के विचार इस दृष्टि से बिल्कुल स्पष्ट हैं : "मेरा विश्वास है कि कविता···शब्दों में मानवीय अनुभव का वक्तव्य है···हर कविता में एक कथ्य होता है जो बुद्धिगम्य होता है और हर कविता में उस संवेग के संप्रेषण का प्रयत्न होता है जो बुद्धिगम्य बनाने के लिए आवश्यक होता है। इसप्रकार कविता कुल मिलाकर एक नीतिपरक निर्णय है जिसमें तार्किक और सांवेगिक दोनों ही स्तर पर अनुभवों का मूल्यांकन होता है। मेरे विचार से यह दृष्टिकोण अपरिहार्य है।"[२६]

किन्तु 'मूल्य' और 'कथ्य' से हटकर विशेष ध्यान कविता के शिल्प पर ही 'नये आलोचकों' ने दिया है। इन आलोचकों का मुख्य प्रयत्न ही जैसे कविता के शिल्प की व्याख्या करना रहा है ताकि राजनीति, नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र अथवा मनोविज्ञान आदि इतर विषयों के भँवर से वे बचे रहें। इनका कहना है कि कविता एक 'संवृत्त आकृति' है, एक 'स्वायत्त व्यवस्था' है, अतः जो कुछ भी कवि कहना चाहता है अथवा कह सकता है, मूर्त या अमूर्त, वह कविता में ही होता है। पाठक के पास जो कुछ भी है वह कविता है बाकी कुछ नहीं—न तो कवि या उसका जीवन और न ही उसका मन्तव्य जिससे प्रेरित होकर उसने यह कविता लिखी। यदि कविता को पढ़ते समय कविता में ही पाठक एकदम तल्लीन नहीं हो जाता और उसको कविता का कोई भी तत्त्व उस "प्रतीकों की सहायता से बने स्वयंपूर्ण व्यवस्थित आकृति" से हटाकर 'संसार में वापस' ले जाता है तो उसका सौन्दर्यात्मक आनन्द बाधित होता है।[३०] इसलिए आवश्यक है कि पाठक और इसीलिए आलोचक भी कविता के मूलपाठ तक अपने को सीमित रखे। और इस प्रकार कविता के अन्दर ही निहित विविध सम्बन्धों की छानबीन करे। इस प्रकार कविता को कविता मानकर ही कविता की आलोचना करना आलोचक का उचित कार्यक्षेत्र माना गया। आरटेगा या गैसेट ने यहाँ तक कहा कि "यदि कविता में इस विश्व का एक भी कण किसी प्रकार घुस जाय तो नाक में दुश्मन की बू आयेगी।"[३१]

इस प्रकार 'नई आलोचना' ने कविता के विस्तृत विश्लेषण की नींव डाली। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ कवि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताओं की बड़ी ही सुस्पष्ट व्यावहारिक आलोचना हुई और क्लींथ ब्रुक्स की 'अंडरस्टैंडिंग पोएट्री' (१९३८) लेकर स्टेनली वर्नशा द्वारा सम्पादित 'द पोएम इटसेल्फ़' (१९६०) तक कितने ही निबन्ध-संग्रह छपे जिनमें इसी प्रकार के विश्लेषण थे।[३२] इस उद्देश्य से कई पत्रिकाएँ भी निकलने लगीं। जबकि 'एक्सप्लिकेटर' जैसी पत्रिकाएँ किसी भी साहित्यिक कृति के विश्लेषण के लिए शुरू हुई तो 'क्रिटीक' जैसी पत्रिका मुख्यतया उपन्यासों की व्याख्या के लिए। काव्येतर किसी भी विचार से निरपेक्ष इस दृष्टि से कृति की "आन्तरिक समनुगति" पर पूरा-पूरा विचार हुआ। किन्तु एक सीमा तक जाकर यह दृष्टिकोण अतिवाद का शिकार हुआ। इस सिलसिले में तीन बातें ख़ास तौर से महत्त्वपूर्ण हैं : एक तो यह कि कविता शब्दों की बनी होती है और शब्द अपने परिप्रेक्ष्य में ही सार्थक होते हैं, अतः कविता से बाह्य विश्व को एकदम अलग रख सकना मुश्किल ही है। जैसे इलियट की कविता 'द लव सांग ऑफ़ अल्फ्रेड, जे० प्रूफ़ॉक' को लें। इस कविता में किसी एक व्यक्ति की ओर निर्देश नहीं है, कोई ख़ास सेटिंग भी नहीं है और वह व्यक्ति काल्पनिक विचारों और भावनाओं में उलझा हुआ है, किन्तु कविता की सौन्दर्यानुभूति का अधिकांश इस बात के मान लेने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रूफ़ॉक नामक व्यक्ति वर्तमान युग के 'आर्थिक मानव' का सम्मिलित नाम है। इस कविता की सोद्देश्यता ही इस बात में है कि पाठक के सामने धीरे-धीरे एक मनुष्य के अनुभवों के माध्यम से बृहत्तर विश्व की झाँकी के लिए द्वार खुलते हैं। इस उदाहरण से दूसरी बात पर भी प्रकाश पड़ता है। कविता और पाठक के बीच ऐसी कई सत्ताएँ हैं जिनको नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता : मानसिक स्थिति, शिक्षा इत्यादि। अर्थात् कोई भी यों ही साहित्यानुरागी नहीं हो जाता, उसे प्रयत्नपूर्वक संवेदनाओं को विकसित करना पड़ता है। संवेदना कोई ऐसा पैदायशी थक्का नहीं है जो शरीर के अन्दर कविता पढ़ने पर धड़कने लगता हो। अतः पाठक और कविता के बीच की दूरी को न तो नज़रअन्दाज़ किया जा सकता है और न ही इस बात से इनकार कि हरेक पाठक उसी कविता के साथ कुछ-न-कुछ नया जोड़ता रहता है। इससे ज़ाहिर है कि कविता के बाहर भी कुछ है जो कविता के अर्थ को प्रभावित करता है। इसीलिए कविता के अन्दर ही रहने के आग्रही क्लींथ ब्रुक्स को भी, पादटिप्पणी में ही सही, स्वीकार करना पड़ा है कि "हम कविता के बाहर विचरण करते हैं क्योंकि निहित उसमें 'तनाव' और 'समंजनों' को समझने के लिए कविता के बाहर निकलना एक अनिवार्य आवश्यकता है।"[३३] इसी सिलसिले में एक तीसरी बात। कविता 'बन्द' है अथवा 'खुली' यह प्रश्न सापेक्ष है निरपेक्ष नहीं। शेली की पंक्ति 'आइ डाइ, आइ फ़ेंट, आइ फ़ेल' अथवा शेक्सपीयर की 'राइपनेस इज़ ऑल' अथवा 'रेस्ट इज़ साइलेंस' अपने संदर्भों से बाहर भी उतनी ही प्रभावकारी और सार्थक है, किन्तु कोई भी व्यक्ति इनके मर्म को नहीं समझ सकता जब तक कि संदर्भों को न जाने। अतः बन्द कविता में भी कहीं एक सुराख का होना ज़रूरी है, ठीक वैसे ही जैसे एकदम खुली कविता से भी किसी-न-किसी प्रकार के आकार की अपेक्षा है।

कविता के बन्द आकार को लेकर जो समस्याएँ उभरी हैं उनमें भाषा की समस्या प्रधान है। कविता की भाषा कॉलरिज के समय से ही विज्ञान या दर्शन की भाषा से अलग मानी गई है। रिचर्ड्स के भाषा-सम्बन्धी विचार इस सिलसिले में उद्धरणीय हैं। विज्ञान की भाषा तथ्यात्मक होती है जब कि कविता की संवेगात्मक। कविता की भाषा से यह अपेक्षित नहीं है कि वह जो कुछ कहे वह यथातथ्य हो, किन्तु यह ज़रूरी है कि वह 'सार्थक' हो। 'भीगा हुआ' अथवा 'शीतल' जैसे शब्दों से यथार्थ की उम्मीद करने वाला कविता का रसास्वादन नहीं कर सकता। कीट्स की कविता 'लॉ बेल दाम साँ मर्सी' की पंक्ति 'आइ शट हर वाइल्ड वाइल्ड आइज़ विद किसेज़ फ़ोर' में यथार्थ की खोज करना व्यर्थ है। इस पंक्ति में कवि को अनुभूति के तीखेपन का अहसास कराना अभिप्रेत था, और यह काम दक्षतापूर्वक सम्पन्न हुआ है।

इलियट खुद काव्यात्मक और सामान्य भाषा को नज़दीक लाने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। उनके मतानुसार 'सामान्य भाषा' वह भाषा है जिसे सर्वसाधारण सभी वर्गों के लोग बोलते हैं। और चूँकि उनकी भावनाएँ और संवेग शुद्ध होते हैं उनकी शब्दावली को लेकर ही कवि उस संगीत की सृष्टि करता है जो कविता को सामान्य अनुभव से अलग करती है। किसी भी वर्ग के लोगों की भाषा में निहित विन्यास, लय, ध्वनि और मुहावरे उनके व्यक्तित्व को वाणी देते हैं, किन्तु कवि को उनकी भाषा को आत्मसात करने के बाद एक काम और करना होता है, 'उस सामान्य शैली का उन्नयन'[३४] अथवा 'अर्थ-विस्तार एवं सुधार करना'[३५] इतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो कॉलरिज ने भी माना था, इलियट थोड़ा भिन्न हैं। आधुनिक काव्यशास्त्र में सामान्य भाषा के अन्तर्गत शब्दचयन ही नहीं बल्कि व्याकरण, शब्द-योजना इत्यादि सभी कुछ शामिल है। इसलिए रैंसम कविता के 'तंतु-विन्यास' (टेक्सचर) और संरचना (स्ट्रक्चर) दोनों को अलग करके देखते हैं। इनके मतानुसार कविता में एक विशिष्ट प्रकार की भाषा का प्रयोग होता है: ऐसी भाषा जो गद्य की भाषा से जान-बूझकर अलग किस्म की बनाई हुई होती है। 'जान-बूझकर' इसलिए कि सामान्य भाषा अभिधात्मक एवं अपरिष्कृत होती है और कवि के लिए यह अनिवार्य होता है कि वह अनगढ़ भाषा को अपने लिए परिमार्जित-परिशोधित करके उपयुक्त बनाये। इतना ही नहीं, कवि को कविता के तत्त्व, ख़ासतौर से तन्तु-विन्यास और अप्रासंगिकताएँ, वह-कुछ कहने से रोकते हैं जिसे सामान्यतया मनुष्य उन शब्दों की सहायता से कहता है। परिणाम यह होता है कि कविता के आन्तरिक और उसके बाह्य उपकरणों में भारी अन्तर होता है। कवि को खूब पता होता है कि वह क्या कहना चाहता है, किन्तु इस ज्ञात और सुनिश्चित से शुरू करके जब कवि भाषा में उसे रूपायित करना चाहता है तब मुश्किलें पैदा होती हैं। उसे स्थान-स्थान पर जो ध्वनि या अर्थ अभिप्रेत होता है उससे कुछ दूसरे ही प्रकार की योजना करनी पड़ती है, जो अपूर्व-निश्चित होता है। कविता के आकार से जूझने में यह भी होता है उसका मूल विचार एकदम मौलिक न रहकर काफ़ी बदल जाता है।[३६] यह तो ठीक है कि शब्द और आकार से जूझने में काफ़ी-कुछ बदलना पड़ता है, किन्तु जो कुछ नया उसे करना पड़ता है उसे अपूर्वनिश्चित न कहकर 'नवीन पूर्व-निश्चित' कहना उचित होगा।[३७] बहरहाल रैंसम की पद्धति भारी-भरकम होकर भी आकार और कथ्य के संघर्ष के अलावा कोई नई बात नहीं कह सकी है। इसी रचना-प्रक्रिया को रावर्ट फ्रास्ट ने 'दोहरी सर्जनात्मकता' कहा है।[३८]

कविता की आकार-व्याख्या के सम्बन्ध में रैंसम की एक बात और महत्त्वपूर्ण है। वे यह मानते हैं कि कविता के कथ्य की कोई अपनी विशिष्ट संरचना नहीं होती। किन्तु कविता के रूप में ढलते ही एक ऐसी 'ठोस सार्वभौमिकता' बन जाती है जो निराला होता है तथा कोई भी आलोचक उसकी तुलना ठीक वैसी ही दूसरी वस्तु से नहीं कर सकता। कविता की विशिष्टता उसके अर्थ या कथ्य में नहीं बल्कि उसके छंद, परिकल्पना और अलंकरण-आवर्त में होती है। परिकल्पना और अलंकरण तो साहित्य की अन्य विधाओं में भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिए कविता के आकार की चर्चा में छन्द को ही रैंसम ने प्रधानता दी है। परिणाम यह हुआ कि रैंसम की आलोचना में छन्द को कविता का अपरिहार्य उपकरण माना गया है और लय को छन्द-योजना का ही एक रूप। छन्द के दो मुख्य फ़ायदे हैं: एक तो यह कि छन्द पर ध्यान देने के कारण कविता में अर्थ का महत्त्व अपने-आप कम हो जाता है। दूसरे यह कि छन्द कवि पर एक प्रकार का नियंत्रण रखता है, नहीं तो कथ्य को कवि बहुत ही असभ्य ढंग से पकड़ने की कोशिश करेगा। यों छन्द शुरू में भाषा के बहाव में बाधक लगते हैं, सही बात तो यह है कि छन्दों में ढलकर मुहावरे चमक उठते हैं। अगर छन्द पूरी तरह क्रियाशील हों तो उनसे बड़े घंटों के टकराने की टन-टन ध्वनि निकलती है न कि छोटी घंटियों की टिन-टिन ध्वनि।[३९]

जैसे काव्य के आकार की चर्चा के लिए नए शब्दों को रैंसम ने अर्थवत्ता प्रदान की है, उसी प्रकार कुछ अन्य आलोचकों ने भी कुछ नए शब्द चलाए हैं जिनसे 'नई आलोचना' की दूसरी उपलब्धियों पर प्रकाश पड़ता है। अलेन टेट ने काव्य के उस गुण को 'तनाव' कहा है जिसका अनुभव हमें काव्य में निहित 'अर्थों के संरूप' से होता है। आलोचना का कर्तव्य है इन्हीं संरूपों का परीक्षण तथा मूल्यांकन करना। वैसे 'तनाव' की ठीक-ठीक व्याख्या कठिन है, कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि टेट ने कविता में शब्दों के मुख्यार्थों और संपृक्त्यार्थों के उचित सम्मिश्रण पर भार दिया है। इसी बात को दूसरे ढंग से कहा जाए तो कविता में शब्द-योजना ही इसलिए की जाती है कि या तो 'अन्तस्तनाव' (इन्टेन्शन) पैदा हो या 'विस्तार' (एक्सटेन्शन) का अहसास हो और उससे उत्पन्न प्रभाव कवि के उद्देश्य को स्पष्ट कर सके। टेट ने इस सिद्धान्त की बड़े संक्षेप में व्याख्या की है। अतः यह बात स्पष्ट नहीं होती कि 'अन्तस्तनाव' और 'विस्तार' के किस अनुपात में होने से कविता सुन्दर बन जाती है। वैसे टेट[४०] ने इस सिद्धान्त को व्यक्तिगत पूर्वग्रह और लेख्य-बंधन माना है। उन्होंने सभी प्रकार की कविताओं को इस सिद्धान्त के प्रकाश में देखना चाहा है। इससे अन्तर्विरोध ही पैदा हुए हैं। एम्पसन का अनेकार्थवादी सिद्धान्त कुछ कम उलझनभरा नहीं है। एक-एक शब्द की पूरी-पूरी व्याख्या, उसके अनुषंगों,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थों और प्रभावों का पूरा-पूरा विश्लेषण करके एम्पसन ने यह बताना चाहा कि कविता तकनीकी दृष्टि से बिल्कुल फ़िल्म जैसी है। जैसे सिनेमा के पट पर चित्रों का नैरन्तर्य प्रेक्षक के मन पर एक विकसित कहानी का अहसास कराता है, और साथ ही उसके मन को प्रभावित करता है, ठीक वैसे ही कविता में प्रयुक्त शब्द भी चित्रों जैसे हैं जिनका सम्यक् प्रभाव उन शब्दों के अर्थों से कुछ अलग ही होता है। इसलिए पाठक को रोककर एम्पसन उसे बताता है कि क्यों किसी खास शब्द के खास तरह से खास जगह पर प्रयुक्त होने से कोई खास प्रभाव उत्पन्न हो सका। जहाँ तक कविता को उसकी समग्रता में पकड़ने का सवाल है इस विश्लेषण में आलोचक हमेशा पाठक के पीछे रहता है। इससे भी ज़्यादा बुरी बात यह है कि आलोचक पाठक को अपनी व्याख्या में इतना उलझा देता है कि वह कविता के अन्य महत्त्वपूर्ण पहलुओं से विमुख होकर गलत रास्ते पर चलने लगता है। रैंसम की यह बात काफ़ी ठीक लगती है।[४१]

आर० पी० ब्लैकमुर कुछ हद तक एम्पसन की अतिवादिता को नियन्त्रित करने में सफल हुए हैं। उनके मतानुसार भाषा मात्र अंगविक्षेप (जेश्चर) है, अर्थात् ऐसी चेष्टा कि जो अन्दरूनी और काल्पनिक अर्थों को नाटकीय ढंग से कुछ इस तरह बाहर लाती है कि हम प्रभावित हो जाते हैं।[४२] जैसे कष्ट और ग्लानि की अनुभूति होने पर हमारी आत्मा का निर्णय हमारे चेहरे पर अपने-आप उभर आता है, उसी प्रकार भाषा जब चेष्टा बन जाती है तो अर्थ अपने-आप अभिव्यक्त हो जाता है। सार्थक अथवा अनर्थक शब्दों के दोहराये जाने से अथवा अलंकार के प्रयोग से जो असर उत्पन्न होता है वह शब्दों के अर्थों के कारण नहीं बल्कि उनकी संयोजना के कारण। कवि और लिपिक की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। लिपिक को जो शब्द-वाक्य सुनाई पड़ते हैं वह उन्हें लिख देता है, किन्तु आवाज़ के आरोह-अवरोह, शब्दों के बीच के अन्तर या स्वरोच्चारण के कारण जो अर्थवत्ता उन शब्दों या वाक्यों को मिलती है वह लिपिक की पकड़ से बाहर होती है। कवि का कर्तव्य होता है इसी अव्यक्त को मूर्त करना ताकि पाठक अपने-आप कवि का कथ्य समझ जाए। शेक्सपीयर के नाटक 'ओथेलो' में जब नायक अपनी पत्नी डेसडिमोना से आड़ी-तिरछी बातें करता है तो वह कहती है, "मैं तुम्हारे शब्दों से इतना तो समझ सकती हूँ कि तुम क्रुद्ध हो, किन्तु इन शब्दों का अर्थ क्या है यह मेरी समझ के परे है।" यहाँ भाषा का चेष्टा के रूप में प्रयोग तो नहीं हुआ, किन्तु बात कुछ ऐसी ही है : नायक के अन्दर की भावना श्रोता पर व्यक्त हो गई, वैसे उसके शब्द दुरूह ही बने रहे। ब्लैकमुर का सिद्धान्त काफ़ी महत्त्वपूर्ण है, किन्तु उनके कुछ उदाहरण अतिवादी आग्रह होकर रह गए। उन्होंने कहा कि मैकबेथ अपनी पत्नी की मृत्यु का समाचार सुनते ही एकाएक निराश और शोकग्रस्त हो गया। मैकबेथ की उस मानसिक स्थिति को लेखक ने 'टुमारो एण्ड टुमारो एण्ड टुमारो' वाले स्वगत-भाषण में व्यक्त किया है। ब्लैकमुर का कहना है कि शब्द अपने-आपमें अन्धी गली जैसे हैं। अतः शेक्सपीयर ने यहाँ 'टुडे एण्ड टुडे एण्ड टुडे' भी लिखा होता तो प्रेक्षक के मन पर वही प्रभाव होता जो 'टुमारो एण्ड टुमारो…' से होता है। इस प्रकार ब्लैकमुर ने यहाँ शब्दों के अर्थ को एकदम महत्त्वहीन माना है और सारा महत्त्व कुछ शब्दों के दोहराये जाने को दे दिया है। यह अतिवादिता नहीं तो और क्या है! अच्छी बात यह है कि ब्लैकमुर ने आगे चलकर अपने विचार परिमार्जित कर लिए हैं। 'ए बर्डन फ़ॉर क्रिटिक्स' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने यह बात मान ली है कि आलोचना का कर्तव्य सिर्फ़ कविता के बाह्य उपकरणों तक उलझे रहना ठीक नहीं है, बल्कि उसे कवि की प्रमुख धारणाओं, मनोग्रस्तियों और अन्तर्दृष्टियों पर ध्यान देना चाहिए ताकि वह समझ सके कि किस प्रकार कवि इनकी सहायता से मानव-सम्बन्ध खड़े कर पाया है। इसी प्रकार उसे चाहिए कि वह उन प्रतीकों का अध्ययन करे जिनके कारण कविता अनेकार्थी हो जाती है।

क्लींथ ब्रुक्स ने तीन नए शब्दों, व्यंग (आइरनी), नाटक (ड्रामा) और रूपक (मेटाफर) को नई अर्थवत्ता प्रदान की है। व्यंग में, जिसमें 'विट' और 'विरोधाभास' भी शामिल हैं, उस 'संरचनात्मक संबोध' का पर्याय है जो विविध अभिवृत्तियों और अर्थों को मिलाकर एकीकृत अनुभव की प्रतीति कराता है। अतः ब्रुक्स की मान्यता है कि जिस कविता में 'व्यंग' नहीं होता वह कविता नहीं। वर्ड्सवर्थ का सानेट 'वेस्टमिंस्टर ब्रिज' कथ्य की दृष्टि से (कविता में व्यक्त भाव की उदात्तता के आधार पर) बिलकुल साधारण कविता है, किन्तु यदि यह कविता इतनी लोकप्रिय हुई है तो इसका कारण यह है कि इसमें कवि ने उस आश्चर्य की अभिव्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की है जिसका अनुभव उसे वेस्टमिंस्टर ब्रिज को देखकर उस सुबह हुआ था। यदि उस 'आश्चर्य' को कविता से निकाल दिया जाए तो कुछ भी ऐसा नहीं रह जाएगा जो पाठक को अपील करे। इस व्याख्या से सहमत होना[४३] भले सम्भव न हो, यह ज़ाहिर है कि आलोचक ब्रुक्स की आलोचना का आधार ठीक वैसे ही एकपक्षी है जिस प्रकार उन आलोचकों का जिन्होंने कविता में सिर्फ़ अनेकार्थ अथवा आतति ढूँढ़ा, अथवा कविता की भाषा को 'अंगविक्षेप' माना। इन सभी शब्दों से ज़्यादा व्यापक और सक्षम शब्द है जटिलता जिसके अन्तर्गत कविता के विश्लेषण के लिए किन्हीं उपायों का भी प्रयोग हो सकता है। जहाँ तक ब्रुक्स के अन्य दो पारिभाषिक शब्दों 'नाटक' और 'रूपक' का सम्बन्ध है यह कहा जा सकता है कि उनमें 'रूपक' ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। कविता को रूपक मानने में तब तक आपत्ति नहीं हो सकती जब तक कि आलोचक हर कविता से अपेक्षा न करे कि वह अनिवार्यतः प्रतीकात्मक ही हो। ब्रुक्स की यही ज़िद कि कविता प्रतीकात्मक होती है यह कहने को बाध्य करती है कि राबर्ट फ्रास्ट की कविता 'टू ट्रैम्प्स इन मड-टाइम' प्रतीकात्मक न होने से 'गद्य होकर रह गई है,'[४४] जो किसी भी सहृदय पाठक को मान्य नहीं होगा।

सन् १९२० के बाद की अँग्रेज़ी और अमरीकी आलोचना में एक प्रकार की एकांगिता और हठवादिता का ज़ोर रहा है।[४५] किन्तु इन प्रवृत्तियों का एक ज़बरदस्त फ़ायदा यह हुआ है कि कविता का विश्लेषण मनोयोगपूर्वक किया गया है। सन् '२० से पहले कवि के जीवन से कविता को जोड़ने की प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो गई थी कि कविता बहाना मात्र रह गई थी। उसी प्रकार आलोचना के दूसरे निकायों ने भी कविता के अलावा अन्य सभी पक्षों पर ध्यान दिया था फिर चाहे वह वातावरण-स्थान-समय पर भार देने वाला टेन का सिद्धान्त रहा हो और चाहे मैथ्यू आर्नोल्ड का सिद्धान्त कि कविता जीवन की आलोचना है। सबसे ज़्यादा आपत्तिजनक वह प्रभाववादी आलोचना थी जिसमें किसी भी कृति को पढ़कर जो कुछ भी छाप मन पर पड़ी उसका ज़िक्र कर देना मात्र काफ़ी था, कृति को उसकी समग्रता में देखने-परखने का प्रश्न ही नहीं था। अब जब 'नई आलोचना' भी कृति का विश्लेषण करते-करते अतिवादिता और एकांगिता का शिकार हो गई तो आर० एस० क्रेन जैसे आलोचक ने इस बात पर बल दिया है कि आलोचना किसी एक दृष्टिकोण से नहीं होनी चाहिए। साहित्यिक आलोचना "एक दृष्टिकोण का पर्याय न कभी रही है और न है···बल्कि वह ऐसे ढाँचों और भाषाओं का कलाप रही है जो पृथक् और काफ़ी हद तक बेमेल थे।"[४६] इस प्रकार क्रेन दृष्टिकोणों की अनेकता में विश्वास करते हैं और यह काफ़ी हद तक उचित है। यों क्रेन का अपना भी एक सुनिश्चित, सुपरिभाषित दृष्टिकोण है। अरस्तू की आलोचना-परम्परा में विश्वासी क्रेन का कहना है कि आज की आलोचना का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह साहित्य की किसी भी विधा को अन्य विधाओं से अलग करके नहीं देख पा रही है। हर विधा का अपना एक आकार होता है, अतः आलोचक को चाहिए कि वह कृति को इस दृष्टि से देखे कि वह कहाँ तक अपना विशिष्ट आकार ग्रहण कर पाई है। अर्थात् उस विधा के दायरे में उस कृति का आकार उचित है या नहीं। वह कृति ठीक आकार ले पाई है या नहीं। यह जान लिया जाए कि कृतिकार किस विधा में अपनी सामग्री को प्रस्तुत करना चाहता था तो यह कहना सरल हो जाएगा कि किन कारणों से उसे अपनी सामग्री को आकार देने में सफलता मिली है और किन कारणों से बाधा उत्पन्न हुई है। कृतिकार की 'आकारान्तर्दृष्टि' ही संरूपक कारण होने से उसका मार्गदर्शन करती है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि क्रेन कृतिकार की नीयत के विश्लेषण के आग्रही हैं, और न ही कि वे रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण में विश्वास रखते हैं। उनका कहना है कि आलोचक का कर्तव्य है कि वह उस आधारभूत विचार का विश्लेषण करे जिसका उपयोग कृतिकार को अपनी काव्यगत समस्याओं को हल करने के लिए करना पड़ता है।[४७] इस प्रकार कृतित्व में कृतिकार को क्या कहना और करना अभिप्रेत है उसे ईमानदारीपूर्वक प्रयत्न करके आलोचक को भी जान लेना चाहिए। सैद्धान्तिक रूप से यह बात ठीक है, किन्तु यह व्यावहारिक नहीं है। सम्भव है कि कृतिकार की दृष्टि से कृति के कथानक में किसी तत्त्व का आना अनिवार्य रहा हो, किन्तु आलोचक या पाठक को ऐसा लग सकता है कि वह 'अनिवार्य तत्त्व' रसास्वादन अथवा प्रभावोत्पादन में बाधक है। ऐसी स्थिति में उस अनिवार्य तत्त्व को क्या दोष न माना जाए? आर० एस० क्रेन के पास इसका कोई उत्तर नहीं है। परिणाम यह है कि उनके सिद्धान्त अच्छी और सुन्दर कृतियों को बुरी और असुन्दर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृतियों से पृथक् करने में असमर्थ हैं।

इस प्रकार कृति विश्लेषण की पद्धति सन् '२० के बाद की आलोचना में खूब प्रचलित हुई। परिणामतः कृति की बखिया इतनी दूर तक उघाड़ी जाने लगी कि लिविंग्स्टन लोव ने कॉलरिज की दो मुख्य कविताओं का विश्लेषण ६०० पृष्ठों वाली किताब 'रोड टु जनाडू' में किया, और जे० कैंम्पबेल तथा एच० एम० राबिन्सन-जैसे समर्थ आलोचकों ने जेम्स जॉयस की 'फ़िनेगेन्स वेक' का विश्लेषण उतनी ही मोटी दूसरी पुस्तक 'ए की टु फ़िनेगेन्स वेक' में किया। ज़ाहिर है इतनी मोटी पुस्तकें पढ़ते-पढ़ते पाठक इतना थक जायेगा कि मूल कृति को पढ़ने के नाम से कतराएगा। इलियट ने अपने निबन्ध 'द फ्रंटियर्स ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' में इसी अतिवादी आलोचना की भर्त्सना करते हुए कहा कि यह 'नीबू-निचोड़क'[४८] आलोचना पाठक के रसास्वादन में भयंकर बाधाएँ उत्पन्न करती है। और आगे कहा कि पाठक कविता को सिर्फ़ समझना ही नहीं चाहता, बल्कि उसका आनन्द भी लेना चाहता है, जबकि दुर्भाग्य से ऐसी भारी-भरकम विश्लेषणात्मक आलोचनाएँ उसे बरगलाती हैं। साहित्येत्तर सामग्री का उतनी ही दूर तक उपयोग ज़रूरी है जहाँ तक कि वह कविता के रसास्वादन में सहायक होती है। इससे ज्यादा कुछ करने वाली आलोचना 'साहित्यिक' नहीं रह जाती, बाकी चाहे जो-कुछ भी हो। यह समझना हमारा प्रयत्न होना चाहिए कि कविता कुल मिलाकर क्या करना चाहती है, वह अपनी विकसित पूर्णता में क्या है।[४९]

: ६ :

उपर्युक्त मुद्दे के सिलसिले में इस बात की ओर भी संकेत किया गया है कि कविता को पढ़ने वाला जो कोई व्यक्ति होता है उसके अस्तित्व को ख़याल में रखे बग़ैर कविता की रचना सम्भव नहीं। कविता और कवि के बीच में ही पाठक का अस्तित्व है, और सारी आलोचना ही इसलिए लिखी जाती है कि पाठक के रसास्वादन में बाधक कठिनाइयों को दूर किया जा सके। जब कवि पाठक की उपस्थिति को झुठलाकर रचना-प्रवृत्त होता है तब निश्चित ही वह दुरूह हो जाता है। अथवा इतना आत्मपरक हो जाता है कि उसकी अभिव्यक्ति के असामाजिक और विकृत हो जाने का डर होता है। कृति का अपना अस्तित्व होता है; उसकी ठोस उपस्थिति से इन्कार नहीं किया जा सकता, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि वही कृति अलग-अलग पाठक के लिए अलग-अलग चीज़ होती है। असल में कविता और पाठक की चेतना के परस्पर-संघर्ष में आने पर जो कुछ पाठक के मानस-पटल पर उभरता है वही उस पाठक के लिए कविता होता है। अतः यह बात पाठक की शिक्षा, संवेदना और सावधानता पर निर्भर करती है कि वह कविता को कितना और कैसे समझता है। इलियट ने कहा, "यह एक सामान्य बात है कि कविता का अर्थ पाठक के लिए कवि के चेतन उद्देश्य से कहीं ज़्यादा हो सकता है।"[५०] इतना ही नहीं, "हो सकता है कि पाठक द्वारा की गई कविता की व्याख्या कवि की व्याख्या से बिल्कुल जुदी हो और उतनी ही वैध, कदाचित उससे ज़्यादा अच्छी। जितने-कुछ के प्रति कवि सजग था उससे भी ज़्यादा-कुछ कविता में अन्यों को दिखलाई पड़े, यह सम्भव है।"[५१] कवि कॉलरिज अपनी कविता 'द राइम आफ़ द एंशेंट मैरिनर' में बलि-छाग के आद्यरूप के विभिन्न ध्वनितार्थों से अवगत नहीं थे। इन ध्वनितार्थों का जितना विशद विवेचन मॉड बॉडकिन ने अपनी पुस्तक 'द आर्कि-टाइपल पैटर्न्स ऑफ़ पोएट्री' में किया है वह इस युग की देन है।

अतः पाठक और कविता के बीच की दूरी रुचि-परिष्कार और अध्ययन से प्रयत्नपूर्वक कम की जानी चाहिए। आलोचक भी समयान्तर में यही सीखता है कि किस प्रकार कविता की व्याख्या करते वक्त 'न्यूनतम मात्रा में आत्मपरक' और 'अधिकतम मात्रा में वस्तुपरक' हो। न तो यही सम्भव है कि पाठक एकदम आत्मपरक हो क्योंकि कविता में भी ऐसे तत्त्व होते हैं जो उसे बिल्कुल आत्मपरक होने से रोकते हैं, और न ही यह सम्भव है कि पाठक एकदम आत्मपरक हो, क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच समानता भी इतनी है कि एक-दूसरे की बात समझी जा सकती है। इस समानता को केनेथ बर्क ने 'अतिच्छाद का हाशिया'[५२] कहा है। इस प्रकार तीन बातें महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं—कविता की समृद्धि, पाठक की प्रसामान्य स्थिति और पाठक से यथापेक्षिताएँ तथा निधीयन। ली टी० लेमन[५३] ने कविता और पाठक के बीच के सांबन्धिक संबोधों को स्पष्ट करने के लिए इन शब्दों का उपयोग किया है। 'समृद्धि' से लेमन का मतलब है कविता की उस विशेषता से जो पाठक के सामने नये-नये आयाम उपस्थित करती है, तथा युग-युगान्तर में मानव-मन को छू जाने की रहस्यमय शक्ति से सम्पन्न होती है। यह शक्ति ब्रुक्स ने शेक्सपीयर में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखी थी—"शेक्सपीयर ने अपने प्रशंसकों के लिए अपेक्षाकृत यह सरल कर दिया है कि वे जो चाहें पसन्द करें और जिस चीज को नापसन्द करते हों उसे छोड़ दें।"[५४] इस प्रकार विचारतत्त्व की दृष्टि से 'समृद्धि' का अर्थ है अनेकानेक सौन्दर्यबोधी मूल्य, और संरचना की दृष्टि से वे सारे ताने-बाने जो कविता की रचना में आवश्यक होते हैं और हमारी भावनाओं को आकृष्ट करने में सहायक सिद्ध होते हैं। पाठक की ओर से भी इस प्रकार की तैयारी होनी चाहिए कि वह कविता को उसकी समग्रता में समझ सके। इसलिए पाठक से अपेक्षा होती है कि उसकी शिक्षा और संवेदना तथा दृष्टिकोण अनिवार्यतः इतने विकसित हों कि वह कविता को समझने योग्य हो सके। इस प्रकार की साधनसम्पन्नता को लेमन ने निधीयन कहा है। एक ही पाठक एक कविता को हर बार पढ़ने पर कुछ नया पाता है। (इसका मतलब यह कदापि नहीं कि ऐसा अनिवार्यतः होता है, किन्तु इस बात की प्रबल सम्भावना ज़रूर होती है।) इन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ज़रूर 'आदर्श पाठक' का काम कर सकता है।[५५] किन्तु इस मनोवैज्ञानिकता का विरोध एलीसिओ वाइवास और मरे क्रीगर[५६] ने खास प्रकार से किया है। उनका कहना है कि हर कविता में कुछ 'निहित मूल्य' होते हैं जिनको उस कविता के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। जो कुछ पाठक अपनी ओर से कविता की व्याख्या में जोड़ता है वह उसी कविता से ही प्रेरित होकर भी 'बाहरी मूल्य' होता है, वह पाठक की आनुभूतिक संरचना का अंश होता है न कि काव्य-संरचना का। यह बात इन आलोचकों को इसलिए सूझी कि वे कविता की संरचना के विश्लेषण में विश्वास रखते हैं, अतः ईमानदारीपूर्वक वे कविता तक अपने-आपको सीमित रखना चाहते हैं। बात सिर्फ़ इतनी है कि वस्तुपरक होने के पहले ईमानदार-से-ईमानदार आलोचक भी 'क्या मूल्यवान है और क्यों' प्रश्न का उत्तर देने के बाद ही व्याख्या-विश्लेषण शुरू करता है। इसलिए सभी मूल्य कविता में निहित हों, यह ज़रूरी नहीं। इस दृष्टि से लेमन का निष्कर्ष विवेकपूर्ण लगता है कि "सम्भवतया कविता में पाया जाने वाला मूल्य कहीं कविता और पाठक के बीच होता है।"[५७]

: ७ :

इलियट के मानस-विकास में फ्रांसीसी प्रतीकवाद का काफ़ी योगदान है। यदि किसी आधुनिक आलोचक में अरस्तू की तरह अपनी व्यक्तिगत और आत्मपरक प्रतिक्रियाओं के आधार पर साहित्यालोचन के सिद्धान्त बनाने की क्षमता है तो शायद रेमी द गूरमाँ में। यह स्वाभाविक है कि अपनी प्रतिक्रिया को, या कृति को पढ़ने पर मन पर पड़ी छापों को ज्यों ही आलोचक शब्दबद्ध करना चाहता है, इस बात की आवश्यकता होती है कि वह उन प्रतिक्रियाओं और छापों का विश्लेषण और मूल्यांकन करे। इस प्रकार अनिवार्यतः आलोचक एक निर्मिति करता है जो सीमाओं में रहकर सर्जनात्मक आलोचना बन सकता है और सीमोल्लंघन करके स्वयं एक कृति बन सकता है। 'द सिम्बोलिस्ट मूवमेंट इन लिटरेचर' के लेखक सिमन्स की प्रतिक्रियाएँ आलोचना न होकर गद्य-कविता हो गई हैं।[५८] आस्कर वाइल्ड ने भी अपनी पुस्तक 'द क्रिटिक ऐज़ आर्टिस्ट' में इस बात पर ज़ोर दिया है। किन्तु इलियट की मान्यता है कि आलोचना कविता की तरह स्वतःपूर्ण नहीं होती, क्योंकि वह किसी चीज़ के बारे में होती है, और कृति के पूर्व उसका जीवन भी नहीं होता है। अतः आलोचना को हमेशा कृति के सन्दर्भ में सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना चाहिए।

वह 'कृति' क्या है यह अलग विचारणीय प्रश्न है। कवि का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। कृति में गुँथी घटनाएँ कवि के जीवन की घटनाओं से अलग होती हैं। कृति में कवि की भावनाओं और उसके विचारों से 'किसी माने में' अलग किस्म की भावनाएँ और विचार होते हैं। यह बात इलियट ने 'द सेक्रेड वुड' के १९२८ के संस्करण की भूमिका में दोहराई थी, किन्तु इस सिद्धान्त का प्रारूप 'ट्रेडिशन एंड द इंडिविजुअल टेलेंट' शीर्षक निबन्ध में ही मिल जाता है। जहाँ उन्होंने कवि को सिर्फ़ माध्यम 'केटेलिटिक एजेंट' माना था और कहा था कि कविता में कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं होती, क्योंकि यह सम्भव है कि जो अनुभव कवि के जीवन में महत्त्वपूर्ण हों वे कविता में आएँ ही नहीं, और कविता में जो अनुभव महत्त्वपूर्ण हों वे कवि के जीवन में किसी प्रकार की भूमिका ही न अदा करें। उन्होंने यह भी कहा कि कृति का संवेग निर्वैयक्तिक होता है और कवि तब तक पूर्ण रूप से निर्वैयक्तिकता की स्थिति नहीं प्राप्त कर सकता जब तक कि वह अपनी कृति के प्रति आत्म-समर्पण न कर दे। इतना ही नहीं, कविता संवेगों को निर्बाध नहीं करती,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल्कि संवेगों से पलायन करती है क्योंकि कविता व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि व्यक्तित्व से पलायन है।[५८] इस तरह के कथनों से पाठकों को काफ़ी धक्का लगा। लोगों को आश्चर्य हुआ कि इलियट-जैसा कवि किस प्रकार इतना अरोमांटिक हो सकता था। इस बात की संपुष्टि १९२८ में हुई जब उन्होंने घोषणा की कि वे 'साहित्य में क्लासिसिस्ट' थे। यहाँ मुद्दे की बात है कि इन कथनों में एक प्रकार की विसंगति है। यदि कवि संवेगों और व्यक्तिपरक अनुभवों से पलायन करता है तो निश्चित ही वह प्रयत्नपूर्वक अपने-आप को वस्तुपरक बनाने के लिए अन्तः या बाह्य, किसी-न-किसी प्रकार का नियन्त्रण ज़रूर स्वीकार करता है। यह नियन्त्रण उसे अत्यन्त वैयक्तिक होने से जहाँ बचाता है, वहीं अपने स्व को समष्टि में तिरोहित करने में सहायक भी होता है। अनुभव तो बेमेल और बेतुके, सभी प्रकार के होते हैं, किन्तु उनको मिलाकर उनका 'एकीकरण' करना कठिन कार्य है। यह कार्य सत्रहवीं शताब्दी के मेटाफ़िज़िकल कवियों ने भी किया था, और निकट भूत में उन्नीसवीं शती के प्रतीकवादी कवि जूल लाफोर्ग तथा तिस्तन कारवायर ने भी किया था। उनके विचार और भाव पृथक्-पृथक् थे। सभ्यता ने उन्हें मजबूर किया था कि वे दोनों में अन्तर करें, क्योंकि उनकी संवेदना 'छिन्न-भिन्न' हो गई थी। किन्तु उनकी तारीफ़ इस बात में है कि उन्होंने "विचारों को भोगा और भावों को सोचा।" आख़िर यह संभव कैसे हुआ ?

इसी प्रश्न के संदर्भ में ऊपर कही गई विसंगति की चर्चा भी कर लेना ठीक रहेगा। जब इलियट यह कहते हैं कि "कविता का एक माने में अपना स्वतन्त्र जीवन" होता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता जो कुछ भी कवि के दिमाग़ में था उससे अलग होती है, अतः उसके अपने निजी नियम होते हैं जिनका अध्ययन आलोचक को करना चाहिए। इस सिलसिले में यह ज्ञातव्य है कि कविता की स्वतन्त्र अवस्थिति पर ज़ोर देकर इलियट ने काव्य-प्रक्रिया के बदले काव्य पर ध्यान केन्द्रित किया था। किन्तु वे इस बात से इनकार न कर पाये कि कवि की नीयत और उसकी कृति में सम्बन्ध होता है। इसीलिए इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने 'वस्तुपरक सापेक्षता'[६०] (ऑबजेक्टिव कोरिलेटिव) सिद्धान्त की चर्चा की। 'हैमलेट एंड हिज़ प्राब्लेम्स' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने कहा कि जब कवि किसी संवेग को अभिव्यक्त करना चाहता है तो वह उसके अनुकूल एक ऐसी स्थिति की खोज करता है जिसमें एक ख़ास तरतीब में घटनाओं को उपस्थित करके वह उस संवेग को प्रक्षेपित कर सके। चूँकि कवि के लिए यह माध्यम चुनना अनिवार्य होता है ताकि वह अपनी बात सीधे ढंग से पाठक तक पहुँचाये, वह एक 'आबजेक्टिव कोरिलेटिव' की तलाश में काफ़ी सावधानी बरतता है। यह बात फ्रांसीसी प्रतीकवादियों ने भी स्वीकार की थी कि चूँकि कवि अपनी बात सीधे ढंग से पाठक तक नहीं पहुँचा सकता इसलिए उसे किसी माध्यम की खोज करनी पड़ती है। एज़रा पाउण्ड ने भी १९१० में ही इस बात को स्वीकार किया था कि "कविता उस गणित की तरह है जो मानव-संवेगों के लिए समीकरण प्रस्तुत करता है।[६१] बाद में भी १९३५ में यह कहा था कि "कविता सिर्फ़ संकेत करती है, वस्तुस्थापना नहीं।"[६२]

इलियट के इस मत की बड़ी ज़ोरदार चर्चाएँ हुई हैं, जिनमें एलीसिओ वाइवास का तर्क काफ़ी ठीक लगता है। इलियट का यह मानकर चलना कि शेक्सपीयर के मन में पहले 'संवेग' स्पष्ट था, बाद में उसने उसके लिए 'आबजेक्टिव कोरिलेटिव' की खोज की, यानी घृणा की अभिव्यक्ति के लिए उस स्थिति का चुनाव किया जिसमें हैमलेट की माँ अपने नैतिक पतन के कारण अपने बेटे की घृणा का पात्र बन सके। इलियट की दृष्टि से यह नाटक असफल इसलिए रहा कि अपनी माँ के जघन्य अपराधों के कारण संवेदनशील पुत्र हैमलेट के मन में जो घृणा थी उसका भार उसकी माँ वहन न कर सकी, अर्थात् उसकी माँ उचित 'आबजेक्टिव कोरिलेटिव' न बन सकी। एलीसिओ वाइवास ने[६३] इस मत को नकारते हुए कहा कि कविता की रचना ज्यों-ज्यों होती जाती है त्यों-त्यों कवि के संवेग स्पष्ट होते जाते हैं, आकार ग्रहण करते जाते हैं। यह कहना ग़लत है कि पहले संवेग होते हैं और बाद में उनकी अभिव्यक्ति के लिए पर्याय स्थिति की खोज होती है। यहाँ यह कहना समीचीन होगा कि आइवोर विंटर्स ने भी इलियट के उपर्युक्त सिद्धान्त को मानने से इनकार किया है। विवेक और संयम में विश्वास करने वाले विंटर्स ने इलियट को रोमांटिक माना है।[६४] क्योंकि कवि को 'माध्यम' मानने का अर्थ होगा उसको किसी बाह्य शक्ति का हथकंडा मानना, फिर चाहे उसकी संज्ञा 'प्रेरणा' ही क्यों न हो। यद्यपि यह बात दूसरी है कि अत्यन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों से बचने के लिए ही इलियट ने प्रतीक की खोज पर बल दिया है। विंटर्स को जो बात नापसन्द है वह है प्रतीकों में व्याप्त नाटकीय तत्त्वों पर भार, जिनके बिना इलियट के मतानुसार कविता नहीं बन सकती।[६५] किन्तु विंटर्स के अनुसार अपने कथ्य पर कवि की गिरफ़्त कमज़ोर होने पर ही ऐसा होता है। आश्चर्य है कि क्यों विंटर्स कविता को 'कथन' मानते हैं जबकि 'रूपक' भी एक प्रकार की क्रिया[६६] है जिनकी सहायता से कवि अपने मन के अन्दर की बात को अभिव्यक्त करता है।

इस प्रकार कविता को प्रतीकात्मक आकृति मानने का अर्थ है कविता को यथार्थ की 'व्याख्या' मानना, न कि यथार्थ का 'प्रतिरूपण', इसीलिए क्लींथ ब्रुक्स ने 'समनुगति पर आधृत निर्णय' यानी 'संरचनात्मक संबन्ध' तथा 'तदनुरूपता पर आधृत निर्णय' में अन्तर माना है। कविता के अन्तर्गठन की व्याख्या को ही ब्रुक्स आलोचना का उचित कार्यक्षेत्र मानते हैं। यथार्थ से कविता कितनी दूर तक तदनुरूपता प्राप्त कर पाई है महत्त्वपूर्ण होते हुए भी गौण है, क्योंकि तदनुरूपता की मात्रा कितनी भी हो वह कविता के विशिष्ट अन्तर्गठन के कारण ही संभव होती है। अतः उचित बात यह है कि आलोचक इस बात पर ही ध्यान दे कि कितनी मात्रा में और कैसे यथार्थ से कविता में व्यक्त कथ्य की 'संगति' बैठती है।

इस मत को थोड़े दूसरे ढंग से नार्थरोपफ्राँय ने प्रस्तुत किया। उन्होंने कविता को प्रतीक माना, लेकिन प्रतीक-योजना की चर्चा करते हुए उन्होंने 'आद्यरूपों' का ही विश्लेषण किया। चूँकि हमारे संवेगों और अनुभवों के ही प्रतिरूप ये आद्यरूप हैं इनकी व्याख्या हर युग अपने नये परिवेश में पुनः-पुनः करता है। उनके इस कथन का कि "प्रत्येक कृति के अर्थ की दिशा अन्तर्मुखी होती है"[६७] संकेत स्पष्ट है: वे कविता में समनुगति के पक्षधर हैं। ठीक इसके विपरीत इलियट के विचार हैं जो क्लासिकल साहित्य के अध्येता रहे हैं और परम्परा के विश्वासी हैं। 'वाट इज़ ए क्लासिक' में इलियट ने जिन तत्त्वों को किसी भी क्लासिक कृति में अनिवार्य रूप से देखना चाहा था, उनमें मस्तिष्क और शिल्प दोनों की 'प्रौढता' ही सर्वप्रमुख थी, ताकि यह ज्ञात हो सके कि जिस युग की वह कृति है उस युग के जनसमुदाय के संवेग-समुच्चय का, उनकी आकांक्षाओं-योजनाओं का यानी उनके 'संयुक्त व्यक्तित्व' का आकलन उचित ऐतिहासिक बोध के साथ हो पाया है कि नहीं। कथानक को इतना 'व्यापक' होना चाहिए कि उसको पढ़ने पर उस युग के मनुष्य-समाज के जीवन की झाँकी मिल सके। इस दृष्टि से इलियट इस बात पर भार देते हैं कि काव्य और कथ्य को उस युग के यथार्थ से कितनी दूर तक 'संगति' बैठती है। किन्तु हम यह भी जानते हैं कि न तो पूर्ण रूप से 'संगति' ही संभव है और न ही 'समनुगति'। अतः कविता को कविता की तरह, यानी उसकी संरचना को पहले देखना चाहिए और बाद में यह कि उस कविता का मूल्य क्या है और वह जीवन के लिए कितनी उपयोगी है।

: ८ :

इस सिलसिले में यह जान लेना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इलियट ने कवि के 'व्यक्तित्व' को कितना महत्त्व दिया है। ऊपर इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि इलियट ने कविता को 'संवेग से पलायन' माना है। जो कुछ कवि का निजी होता है यानी उसके विशिष्ट अनुभव और संवेग, उन्हें वह इस प्रकार कविता में ढालता है कि वह सामान्यीकृत होकर सामाजिक एवं सार्वभौम हो जाता है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति में दो व्यक्तित्व होते हैं: एक वह जो जीवन जीता है और दूसरा वह जो पहले व्यक्तित्व द्वारा अर्जित अनुभवों की सहायता से कला का निर्माण करता है। अतः कोई मानव कलाकार बनना चाहता है तो उसे अपने 'स्व' की सीमा में से बाहर निकलकर 'सर्वस्व' के सामने नतमस्तक होना पड़ता है। 'व्यष्टि' को भूले बिना कलाकार को 'समष्टि' के लिए कलानिर्माण करना पड़ता है। उसे कला-निर्माण से आत्मतोष होता है, किन्तु इतने से वह संतुष्ट नहीं होता। वह चाहता है कि उसकी कला युगयुगान्तर में लोगों को आनन्द दे। इस प्रकार वह व्यक्तिगत अनुभवों को उनकी सारी विशिष्टताओं के साथ स्वीकार करता है और उन्हें एक सामान्य प्रतीक में इस प्रकार ढालता है कि वे व्यक्तिगत अनुभव न रहकर सार्वभौम और व्यापक हो जाते हैं। यह सिद्धान्त वैयक्तिक तथा निर्वैयक्तिक दोनों ही हैं। इसीलिए इलियट ने अमरीकी नाट्यकार ओ'नील की प्रशंसा में लिखा, "ओ'नील की सफलता इस बात में नहीं है कि वे नीग्रो समस्या को समझते हैं, बल्कि इसलिए है कि वे उस समस्या को वर्तमान युग की एक विराट् समस्या के रूप में रखकर उसे 'स्थानिक' से उठाकर 'सार्वभौम' बनाने में सफल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए हैं।"[६८]

कोई भी कृतिकार अपने निजी अनुभवों को ही अभिव्यक्ति देकर महान् कलाकार नहीं बन सकता। इसीलिए इलियट ने आत्माभिव्यक्ति में विश्वासी रोमांटिक कवियों की भर्त्सना की है। 'महान कविता में' एलियट ने लिखा है, 'किसी-न-किसी ऐसे निर्वैयक्तिक की ओर संकेत होता है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए कवि काफ़ी हद तक निश्चेष्ट होकर माध्यम का काम करता है।"[६९] वह अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर अपनी आत्मा को उसकी स्वेच्छा से आकार ग्रहण करने देने के लिए[७०] खुद माध्यम बन जाता है। वैसे यह विचार काफ़ी हद तक दार्शनिक है और युंग के साहित्योत्पत्ति सम्बन्धी विचार से मिलता-जुलता है, इलियट दार्शनिक या तत्त्ववेत्ता नहीं हैं, वे शुद्ध साहित्यिक आलोचक हैं।

इलियट ने निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त १९२० में प्रतिपादित किया था, किन्तु समयान्तर में वे व्यक्तित्व-प्रधान साहित्य के पक्षधर बन गये थे। अतः उन्होंने जॉन फोर्ड शीर्षक निबन्ध में स्पष्ट कहा कि किसी भी कृतिकार के कृतित्व पर उसके 'व्यक्तित्व' की छाप होती है। 'व्यक्तित्व' ही उसके समग्र कृतित्व को एक प्रकार की एकता प्रदान करता है। और जिस कृतिकार में यह एकता परिलक्षित नहीं होती "उसकी आत्मा का संघर्ष निश्चय ही प्रकट नहीं हो पाता है। एलिजाबेथकालीन नाट्यकार जान फोर्ड के नाटकों में यह कमी खटकती है।"[७१]

जान क्रो रैंसम प्रारम्भिक इलियट के काफ़ी समान हैं। वे 'कविता के अनाम' होने पर बल देते हैं। अतः उनकी दृष्टि में कविता या तो कवि के मनमानेपन पर नियंत्रण का काम करती है अथवा उस नियंत्रण का प्रतिफल होती है, इसलिए 'द वर्ल्ड्स बॉडी' १९३८ में उन्होंने कहा कि कवि अपने चेहरे पर एक प्रकार का मुखौटा चढ़ाकर कविता लिखता है ताकि उसके सही भावों को पाठक न देख सके। इससे इतना तो स्पष्ट है कि काव्य-सृष्टि के लिहाज़ से कवि के व्यक्तित्व का कौन-सा हिस्सा मूल्यवान है यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। हरबर्ट रीड ने इसी बात को स्पष्ट करने के लिए 'व्यक्तित्व' और चरित्र में भेद किया है।[७२] व्यक्तित्व एक व्यापक शब्द है जिससे मनुष्य के सर्वस्व का बोध होता है जबकि चरित्र से व्यक्तित्व के उस हिस्से का बोध होता है जिसको हरेक मनुष्य समाज में जीवित रहने के लिए विकसित करता है यानी संस्कार का वह मुखौटा जिसे पहनकर हम अपनी आदिम वृत्तियों को छिपाते हैं ताकि समाज में रह पाना दूभर न हो जाए। कवि उस व्यक्तित्व को कविता में व्यक्त करना चाहता है, न कि चरित्र को।

व्यक्तित्व का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी इलियट ने कभी व्यक्तित्व और संवेग को समानार्थी नहीं माना, और न ही यह कि व्यक्तित्व ही कवि के लिए सब-कुछ है। 'ट्रेडिशन एण्ड द इंडिविजुअल टेलेंट' में उन्होंने जिस परम्पराबोध और ऐतिहासिक अवस्थिति का ज़िक्र किया था वह आजीवन उनकी विचार-सरणी के अंग बने रहे। किसी भी कृति को उसकी विधा के संदर्भ में देखना उतना ही आवश्यक है जितना मानव के सांस्कृतिक उत्थान के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में। होमर से लेकर आज तक जो कुछ लिखा गया उसमें कुछ ऐसा ज़रूर है जिसका सातत्य अक्षुण्ण रहा है। उन सभी महान् कृतिकारों में कुछ बातें समान ज़रूर रही हैं। अतः कोई भी नया लेखक अपने कर्तव्य के प्रति पूरी सजगता नहीं दिखाता जब तक कि वह यह न जाने कि हमारी साहित्यिक परम्परा का बहाव किस दिशा में रहा है। उस परम्परा से अलग उसकी मौलिकता निरर्थक है। हर लेखक को इतिहास-बोध होना चाहिए और साथ ही अपने समय की माँगों का तीखा अहसास। इस प्रकार हर युग का 'नया नवीन' अगले युग के लिए 'पूर्वगामी नवीन' हो जाता है। परम्परा इसीलिए कभी मरती नहीं, हमेशा नवीन रहती है। हमारा भूत हमारे वर्तमान में उपस्थित है क्योंकि उसी से वर्तमान का जन्म हुआ है और इसी वर्तमान में से हमारे भविष्य का जन्म होगा। इसीलिए परम्परा का ज्ञान आवश्यक है। शेक्सपीयर-जैसे जीनियस लेखकों को अनायास यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है किन्तु अन्य लेखकों को यह ज्ञान प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना पड़ता है। इससे मुक्ति नहीं है।

'नये आलोचकों' की उस अतिवादी प्रवृत्ति की कटु आलोचना इलियट ने अपने निबन्ध 'द फ्रंटियर्स ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' में की जिसके फलस्वरूप कविता को स्वयंपूर्ण, स्वतन्त्र और इसीलिए समाज-समय-परम्परा निरपेक्ष मान लेने का आग्रह था। यों इस वृत्ति का अच्छा नतीजा यह निकला कि कवि के बदले कविता को केन्द्र में रखकर विशद विश्लेषण हुए, किन्तु बुरा यह हुआ कि कविता समाज से इतनी अलग-थलग हो गई कि उसकी उपयोगिता का प्रश्न फिर-फिर उठने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगा। इलियट ने विशेष रूप से कविता के विस्तृत विश्लेषण की उस वृत्ति को आपत्तिजनक कहा था जिसमें विश्लेष्य कविता को कृतिकार की अन्य कृतियों से अलगियाकर देखा जाता है। कविता की विस्तृत व्याख्या की परम्परा इलियट ने ही शुरू की थी, किन्तु इसलिए नहीं कि कविता को विश्व के सन्दर्भ में न देखा जाए। उनकी दृष्टि में आलोचना के दो औज़ार हैं: विश्लेषण और तुलना, और इनमें से एक भी त्याज्य नहीं है। ऑस्टिन वैरेन और रेने वेलेक ने 'थियरी ऑफ़ लिटरेचर' १९४९ में जब कहा कि साहित्य के अध्ययन के 'अन्तर्गामी' और 'बहिर्गामी' दो में से कोई भी तरीका अपनाया जा सकता है तो लोगों को यह शक हुआ कि ये लोग कृति को सब-कुछ से अलगियाकर देखना चाहते थे। अतः इन्होंने आगे चलकर यह स्पष्ट किया कि उनके उपर्युक्त कथन का अर्थ यह कदापि नहीं था कि वे कृति को उस कृतिकार की अन्य कृतियों के संदर्भ में नहीं देखना चाहते थे। अथवा उसी विधा, समयखंड और परम्परा में लिखी अन्य कृतियों से उस कृति की तुलना नहीं करना चाहते थे। उन्होंने इलियट के इस विचार की पुष्टि की कि ऐतिहासिक बोध का अर्थ अपनी पीढ़ी की विशिष्टता तथा उसके दायित्व के प्रति उत्तरदायी होना ही नहीं होता, बल्कि इस बात की प्रतीति भी ज़रूरी है कि होमर से लेकर आज तक के यूरोप के सम्पूर्ण साहित्य और उसके ही अन्दर उस देश के सम्पूर्ण साहित्य का युगपद अस्तित्व है। इसी दृष्टि से इन लोगों ने अपनी उसी पुस्तक के अन्त में साहित्यिक इतिहास के नवीनीकरण की बात की थी ताकि वे इस बात को स्पष्ट कर सकें कि साहित्य का इतिहास न तो सामाजिक प्रवृत्तियों को समझने के लिए माध्यम है और न ही वह विभिन्न प्रकार की कृतियों के विश्लेषण का समयक्रम में प्रस्तुत कोई ब्योरा ही। साहित्य का इतिहास सच्चे अर्थ में कला और उसकी परम्परा के अन्तर्प्रवाह को समझने का यत्न है।[७३] इसी दृष्टि से आगे चलकर उन्होंने अपनी नयी पुस्तक 'कंसेप्ट्स ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' में आलोचक से यह अपेक्षा की कि वह विकासवाद के सिद्धान्त को, जिसको आजकल लगभग भुला दिया गया है, नज़रअन्दाज़ नहीं करेगा तथा उसे ऐतिहासिक कालखंडों, रोमांटिक युग, यथार्थवादी युग, इत्यादि का ही नहीं, बल्कि अपने युग की विशिष्टताओं का भी पूरा-पूरा ज्ञान होगा।[७४] इस तरह आलोचक यदि आवश्यक ज्ञान से सज्ज होकर अपना दायित्व निभाएगा तो निश्चित ही कविता की संरचना जिन मूल्यों को लेकर हुई है उन्हें पहचान पाएगा। मूल्य के प्रश्न को परे रखकर अथवा विज्ञान की तरह आलोचना को वस्तुपरक बनाने के प्रयत्न असफल ही होंगे। विश्लेषण, व्याख्या और मूल्यांकन एक ही काम की विविध अवस्थाएँ हैं।

इस प्रकार 'नई आलोचना' १९२० से चलकर वर्तमान दशक तक पहुँचते-पहुँचते इस नतीजे पर पहुँची है कि उसके मानदंड एकांगी थे। और जो बात इलियट ने १९२० में ही कही थी वह काफ़ी ठीक थी कि किसी भी कृति का मूल्यांकन यूरोपीय साहित्य के संदर्भ में किया जाय। ट्रंगो सीलडर ने अपने निबन्ध 'द आइकोनोलेट्रिक फ़ैलेसी ऑन लिमिटेशंस ऑफ़ इंटर्नल मेथड ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' में कहा है कि "अब कोई भी ऐसा 'नया आलोचक' नहीं है जो 'मात्र आन्तर रीति' का प्रयोग करता हो और न ही 'नये आलोचक' की तरह विशिष्ट ही है। ये सभी आलोचक रूढ़ि से हट रहे हैं।"[७५] वर्तमान धारणा यह है कि "साहित्यिक आलोचना के लिए न्यूनतम हवाला कृतिकार का सम्पूर्ण कृतित्व है और अधिकतम हवाला मानव-इतिहास का सम्पूर्ण संदर्भ।"[७६] इस सिलसिले में यह कहना ज़रूरी है कि रेने वेलेक ने एक कदम आगे चलकर इस बात पर ज़ोर दिया है कि "अब समय आ गया है कि हम देश और महाद्वीप के दायरे में बँधे साहित्य का सम्बोध पीछे छोड़कर विश्व-साहित्य की बात करें। इसके लिए आवश्यक होगा कि पश्चिमी आलोचना के साथ-साथ विश्व के पूर्वी अंचल में समादृत उस काव्यशास्त्र का भी अध्ययन किया जाए जिसका विकास पश्चिम के सम्पर्क में आने के पहले हुआ है।"[७७] इसके लिए आवश्यक है कि 'ऐतिहासिक सापेक्षतावाद' के साथ-साथ 'अनैतिहासिक निरपेक्षवाद' का भी पल्ला छोड़ें और 'परिप्रेक्ष्यवाद' का नया सिद्धान्त अपनायें ताकि प्रत्येक कृति को सभी सम्भव पहलुओं से देखा जा सके।[७८]

: ९ :

१९६१ में लीड्स विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह के अवसर पर दिये गये भाषण 'टु क्रिटिसाइज़ द क्रिटिक'[७९] ने अपनी उपलब्धि पर विचार किया था। तीन प्रकार के आलोचक होते हैं: पेशेवर, उत्साही तथा सैद्धान्तिक आलोचक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनमें से किसी भी कोटि में इलियट नहीं आते। चौथी कोटि है उन आलोचकों की जो मुख्यतः कवि हैं और आलोचना अपनी ही कविता की निजी विशिष्टताओं को स्पष्ट करने तथा उसकी तरफ़दारी करने के लिए लिखते हैं। जार्जियन कविता और आलोचना के ख़िलाफ़ इलियट ने १९२० के आस-पास जो आवाज़ उठाई थी उसी की अनुगूँज आख़िर तक उनकी आलोचना में देखी जा सकती है। इलियट के अनुसार यह उनके साथ अन्याय है। उनके विचार समयान्तर में बदले हैं और उन्होंने हमेशा अपनी रुचि के लेखकों को पढ़ने पर जो विचार आये हैं उनको ही सिद्धान्त-रूप में प्रतिपाद्य किया है। अतः उनकी आलोचना के वे अंश ही भविष्य में पढ़े जाएँगे जिनमें उन्होंने कवि के रूप में जिन लेखकों से प्रभावित हुए हैं उन पर अपनी राय ज़ाहिर की है। अतः यह कहना समीचीन नहीं लगता कि उन्होंने बीसवीं शती के पाठकों का रुचि-परिष्कार किया और मेटाफ़िज़िकल कविता को पुनः प्रतिष्ठापित किया। उन्होंने बताया कि मेटाफ़िज़िकल कवि तो उनके साहित्य-क्षितिज पर आने के पहले ही पहचान लिये गये थे। १८९९ में ही एडमंड गॉस ने अपनी पुस्तक 'लाइफ़ एंड लेटर्स' में जॉन डन के प्रति आकर्षण बताया था। और १९१२ में ग्रियर्सन ने 'मेटाफ़िज़िकल पोएट्री' शीर्षक से दो भागों में सत्रहवीं शताब्दी के मेटाफ़िज़िकल कवियों का संग्रह छापा था। इसी संग्रह को ग्रियर्सन ने जब इलियट को समीक्षा के लिए दिया तो कवि इलियट को पहली बार ऐसे कवियों से साक्षात्कार हुआ जिनकी संवेदना उनकी संवेदना के काफ़ी नज़दीक थी। दो समान आत्माओं का मिलन ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है बनिस्वत इस बात के कि इलियट ने उन कवियों को पुनर्स्थापित किया। अतः अगला प्रश्न यह है कि क्या कवि की अपनी रुचि परिष्कृत नहीं होती? हाँ, होती है। इलियट का कहना है कि जो लेखक उन्हें जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में अच्छे लगे थे वे बाद में भी अच्छे लगते थे, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि नये लेखकों-कवियों को उन्होंने रुचिकर नहीं पाया। यह सच है कि जिस लेखक को वे पसन्द नहीं कर पाये वह चाहे जितना बड़ा हो उसके प्रति अपने पूर्वग्रह को छिपा नहीं पाये। टॉमस हार्डी और डी० एच० लारेंस ऐसे अभागे लेखक हैं जो इलियट को कभी न भाये। लारेंस के उपन्यास 'लेडी चैटर्लीज़ लवर' पर लगे प्रतिबन्ध को उठाने के लिए जो दलीलें पेश की गईं उनमें साहित्येतर दलीलें भी थीं, जैसे लेखक का नैतिक प्रयोजन आदि। अतः कृति का मूल्यांकन मात्र साहित्यिक गुणों के आधार पर ही नहीं हुआ करता। किन्तु जब कृतिकार अपनी कृति के बारे में लिखता है तो उसमें अहसास का तीखापन होता है, और इसीलिए ऐसी आलोचना ज़्यादा ईमानदार होती है। इलियट ने आजीवन 'अपनी' बात कही, किन्तु हमेशा प्रयत्नपूर्वक वस्तुपरक होकर और साहित्यिक सीमा में रहते हुए। इसीलिए 'नई आलोचना' का अग्रदूत होकर भी उन्होंने समय आने पर उसकी अतिवादिता की भर्त्सना की। उन मानदंडों का समर्थन किया जिनपर आधृत आलोचना साहित्य के 'साहित्यिक' गुणों की व्याख्या कराती है।[८०]

पाद-टिप्पणियाँ

1. Ray B. West, Jr., (Editor) *Modern Literary Criticism*, (New York, Renehart & Co. Inc.), pp. 4 & 115.
2. "The New Critics are not presenting a *new* way of literature but are regaining an old view lost or obscured by the temper of our age and the demands of an over-worn pseudo-scientific scholarship." —Eric Bentley, 'The Importance of Scrutiny', collected in *F.R. Leavis* ed. by C.D. Narsimhaia, 1963.
3. T.S. Eliot, *The Use of Poetry and The Use of Criticism*, (London, Faber and Faber, 1951) p. 11.
4. R.P. Blackmur's 'A Critic's Job of Work' in *Literary Opinion in America*, ed. by M. Zabel, (N.Y. Harper & Bros, 1937), p. 748.
5. Murray Kreiger, *The New Apologists for Poetry*, (Minnesota, University Press, 1956), p. 6.
6. I.A. Richards, *Principles of Literary Criticism*, (Routeledge and Kegan Paul, 1924).
7. T S. Eliot, *The Sacred Wood*, (London, Methuen & Co., 1920), p. ix
८. डॉ० जॉनसन, हैजलिट, वाल्टर पेटर और रिचर्ड्स इनके अपवाद हैं।
9. "To judge of poetry is the faculty of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

poets." Ben Jonsen.

10. (a) "Only once in every five or ten years does inspiration flood the barriers, the rest is practice and patience." Eliot's Introduction to Ezra Pound's *Selected Poems* (London, Faber & Faber), p. xviii.

(b) "For those who obey the inner voice (perhaps, 'obey' is not the word) nothing that I can say about criticism will have the slightest value. For they will not be interested in the attempt to find away common principles for the pursuit of criticism. Why have principles when one has the inner voice? Thus speaks the Inner Voice. It is the voice to which for convenience we may give a name; and the name I suggest is Wiggery." T.S. Eliot in 'The Function of Criticism', *Selected Essays*, (London, Faber and Faber), p. 29

11. "I do not intend from this the usually silly inference that the creative gift is higher than the critical. When the creative mind is better than another, the reason often is that the better is the more critical." T.S. Eliot, *The Sacred Wood*, p. xiv.

12. T.S. Eliot, 'Ezra Pound, I-II', *New English Weekly*, Oct. 31 & Nov. 7, 1946.

13. T.S. Eliot, 'The Frontiers of Criticism', *On Poetry and Poets*, p. 106.

14. T.S. Eliot, 'The Perfect Critic, *The Sacred Wood*. p. 11.

15. William Empson, *Seven Types of Ambiguity*, (3rd edition, N.Y. Meridian Books, 1955), p. 174.

16. देखें: I. A. Richards, *Practical Criticism*, (N.Y. Harvest Books) p. 10;
Randell Jarrell, *Poetry and the Age*, (N.Y., Vintage Books, 1955), p. 80;
D.W. Gotshalk, *Art and the Social Order* N.Y., Dover Books, 1962), p. 186.
Mortimer Adler, *Art and Prudence*, (N.Y., Longmans, 1937), p. 458-59.

17. "a nudget of wisdom, a principle that makes for righteousness and the welfare of mankind", John Crowe Ransom, *The World's Body* (N.Y. Charles Scribner & Sons, 1938), p. 309.

18. Helen Gardner, *The Business of Criticism*, (Oxford, Clarendon, 1953), p. 13.

19. "The critic tries to explain a complexity in terms of simplicity... ..and a simplicity is what a complexity is not. "Kenneth Burke, *The Philosophy of Literary Form*, (Baton Rouge, Louisiana University Press, 1941) p. 22.

20. "Perceptions do not accumulate as a mass but form themselves as a structure," T.S. Eliot, 'The Perfect Critic', *The Sacred Wood*, p. 15.

२१. देखिये एल० सी० नाइट्स द्वारा किये गए शेक्सपियर के नाटकों के अध्ययन।

22. Jaques Maritain, *Creative Intuition In Art and Poetry*, (N.Y., Meridian Books, 1955), p. 53.

23. T.S. Eliot, 'Shelley and Keats', *The Use of Poetry*, p. 91.

24. "He is a transitional figure rather than a radical innovating force," Lee T. Lemon, *The Partial Critics*, (N.Y., Oxford University Press), p. 53.

25. T.S. Eliot, *Selected Essays*, p. 495.

26. *Seven Types of Ambiguity*, p. 275.

27. *Principles of Criticism*, p. 33 & 62.

28. "Art gratifies a perceptual impulse and exhibits a minimum of reason," John Crowe Ransom, *The World's Body*, p. 30.

29. Yvor Winters, *The Function of Criticism*, (Denver, Swallow Press, 1957) p. 26.

30. Murray Kreiger, *The New Apologists For Poetry*, p. 129.

31. Jose Artega Gasset, *The Dehumanization of Art*, (Garden City, Doubleday Anchor Books, 1956), p. 69.

32. अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं: Cleanth Brocks, *The Well Wrought Urn* 1938.
W.K. Wimsatt and Monroe E. Beardley, *The Verbal Icon* (1954), John Wain, (ed.) *Interpretations* (1956), Edgar Lohner (ed) *Passion and Intellect* (1967).

33. Cleanth Brooks, *The Well Wrought Urn*, (N.Y. Reynal Hithcock, 1947) p. 228-29.

34. T.S. Eliot, Milton II, *On Poetry and Poets*, p. 154.

35. T.S. Eliot, 'The Social Function of Poetry' *On Poetry and Poets*, p. 20.

36. "The independent character of the detail is the texture of the poem and it *depends* from the logical arguments in a sense, though not closely determined by it." J.C.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Ransom, *The New Criticism*, (Norfolk, New Directions, 1941) p. 271.
37. Lee T. Lemon, *The Partial Critics*, p. 121.
38. *The Poems of Robert Frost* (N.Y. Modern Library, 1946), p. xxi.
39. John Crowe Ransom, *Poems and Essays*, (New York, Vintage Books, 1955), p. 156-7.
40. Allen Tate, *Reason in Madness*, (N.Y. Putnam's Sons, 1941), p 76.
41. J.C. Ransom, *The New Criticism*, p. 273-74.
42. R.P. Blackmur, *Language as Gesture*, (N.Y. Harcourt Brace & Co.) p. 6.
43. इस बात का खण्डन ली० टी० लेमन ने *The Partial Critics* किया है: If there is surprise in the poem it is not the surprise of paradox, but the surprise of fulfilment. 'Realization' is a much better word here than 'surprise', p. 143.
44. Cleanth Brooks, *Modern Poetry and the Tradition*, (Chapel Hill, 1939) p. 113.
45. 'Much literary criticism since 1920's has been theoretically irresponsible.' Lee T. Lemon, *The Partial Critics*, p. 139.
46. R.S. Crane, *The Language of Criticism*, (Toronto, University of Toronto Press, 1953), p. 13.
47. "The actual rationale of the poem's construction in terms of the poetic problems the writer faced and the reasons which determined his solutions"...R.S. Crane, *The Language of Criticism*, p. 166-7.
48. T.S. Eliot, 'The Frontiers of Criticism', *Selected Essays*, p. 106.
49. Ibid. p. 106.
50. T.S. Eliot, 'The Music of Poetry', *On Poetry and Poets*, p. 30.
51. Ibid, p. 31.
52. Kenneth Burke, *Counter Statement*, (Chicago, University of Chicago, 1957), p. 78.
53. Lee T. Lemon, *The Partial Critics*, p. 163.
54. Cleanth Brooks, *The Well Wrought Urn*, p. 27.
55. Cleanth Brooks, 'The Formalist Critics', Kenyon Review, xiii, 1951, p. 75.
56. Murray Krieger, *The Apologists for Poetry*, pp. 140-41.
57. Lee T. Lemon, *The Partial Critics*, p. 159.
58. William K. Wimsatt, Jr., and Cleanth Brooks, *Literary Criticism: A Short History* (N.Y., Alfred A. Knopf, 1959), p. 658.
59. T.S. Eliot, *Selected Essays*, pp. 8, 10, 11.
60. "The only way of expressing emotion in the form of art is finding an 'objective correlative'; in other words, a set of objects, a situation, a chain of event, which shall be the formula of that particular emotion; such that when the external *facts* which must terminate in sensory experience is immediately evoked." T.S. Eliot, *Selected Essays*, p. 124-5.
61. Ezra Pound, *The Spirit of Romance*, (London, 1910), p. 5.
62. Ezra Pound, *Make it New*, (New Haven, 1935) p. 187.
63. "What the poet really felt can only be expressed precisely in and through the poem, which is to say that he had to discover through the act of composition." Eliseo Vivas, 'The Objective Correlative of T.S. Eliot', *Creation and Discovery*, (N.Y., Noonday Press, 1955) p. 164.
64. Yvor Winters, *In Defence of Reason*, (N.Y. Allan Swallow), 1937.
65. T.S. Eliot, 'A Dialogue of Dramatic Poetry, *Selected Essays*, p. 38.
66. Yvor Winters, *In Defence of Reason*, p. 72.
67. "Final direction of meaning is inward" Northrope Frye, *Anatomy Of Criticism*, (Princeton University Press, 1957), p. 73.
68. T.S. Eliot, Review of *All God's Chullun Got Wings*, *The Criterion*, April, 1926.
69. T.S. Eliot, Commentry, *Criterion*, October, 1932.
70. T.S. Eliot, *On Poetry and Poets*, p. 101.
71. T.S. Eliot, 'John Ford', *Selected Essays*, p. 196, 203.
72. Herbert Read, 'The personality of the Poet', *Collected Essays* (London, Faber and Faber, 1938), p. 23.
73. Rene Welleck, 'Some Principles of Criticism.' *The Critical Moment*, (London, Faber and Faber, 1964) p. 43.
74. Ibid, p. 44 45.
75. *The Journal of Aesthetics and Art Criticism*, Fall, 1967, Footnote, 9b, p. 15.
76. Ibid,
77. Rene Wellek, 'Some Principles of Criticism', *The Critical Movement*, p. 46.
78. Ibid, p. 47.
79. T.S. Eliot, *To Criticise the Critic*. (London, Faber and Faber, 1966).
80. T.S. Eliot, 'Frontiers of Criticism', *On Poetry and Poets*, p. 116.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिकागो समीक्षक

डॉ० राजनाथ

वर्तमान शताब्दी के चौथे और पाँचवें दशक में शिकागो विश्वविद्यालय के छः प्राध्यापकों[1] ने एक नए समीक्षा-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जो शिकागो सम्प्रदाय के नाम से विख्यात हुआ। साहित्यिक समस्याओं के प्रति समान दृष्टि ही इन समीक्षकों के मध्य सामान्य भूमि है।

शिकागो समीक्षकों को पूर्ण रूप से समझने के लिए इस सम्प्रदाय को 'नई समीक्षा' के समानान्तर रखना पड़ेगा क्योंकि 'नई समीक्षा' ही वह सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि है जिसकी प्रतिक्रिया में इस सम्प्रदाय का जन्म हुआ। नये समीक्षकों ने अपनी समीक्षा के केन्द्रीय तत्वों को आधुनिक समीक्षा के दो महान् स्तम्भों, टी० एस० इलियट और आई० ए० रिचर्ड्स, से लिया है। समीक्षक का कार्यक्षेत्र किस प्रकार उसके समक्ष प्रस्तुत कृति तक ही सीमित होता है इसका प्रतिपादन विस्तार से इन दोनों समीक्षकों ने किया है। अपनी व्यावहारिक समीक्षा में इलियट ने यह प्रदर्शित कर दिया है कि किस प्रकार समीक्षक को कृति की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार अपनी पुस्तक **'प्रैक्टीकल क्रिटिसिज़्म'** में रिचर्ड्स ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कृतिकार का व्यक्तित्व समीक्षक के लिए कुछ भी मूल्य नहीं रखता। सम्प्रेषण का सिद्धान्त, जो रिचर्ड्स की समीक्षा का सबसे बड़ा आग्रह है, इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत है कि समीक्षक का सम्बन्ध पूर्ण रूप से कवि के माध्यम से है।

तथाकथित नये समीक्षक इलियट और रिचर्ड्स से काफ़ी आगे बढ़ गए और उन्होंने अपने सिद्धान्तों को इतनी विस्तृत भूमि पर रखने का प्रयास किया कि उनकी सशक्त प्रतिक्रिया एक आवश्यकता हो गई। नये समीक्षकों की कमज़ोरियों का बहुत-कुछ उत्तरदायित्व रिचर्ड्स और इलियट के ऊपर भी है। समीक्षा में एकसूत्रीय प्रवृत्ति, जो शिकागो सम्प्रदाय के अनुसार नई समीक्षा का प्रधान विषय रही है, इलियट और रिचर्ड्स में भी परिलक्षित होती है यद्यपि उस मात्रा में नहीं जितना नई समीक्षा में। प्रत्येक नये समीक्षक ने एक विशिष्ट समीक्षात्मक शब्द चुन लिया है और अपनी समीक्षा में उसी शब्द पर अधिकाधिक ध्यान दिया है। नये समीक्षकों ने इन एकल सूत्रों पर इतना अधिक बल दिया है कि वे कोई भी विकल्प स्वीकारने को तैयार नहीं होते। स्वभावतः प्रत्येक नया समीक्षक अपने प्रिय सिद्धान्त का प्रयोग, बिना कोई भेद किये, सभी कलाकृतियों के मूल्यांकन में करता है। इन समीक्षात्मक शब्दों को उँगलियों पर गिना जा सकता है। ब्रुक्स के अनुसार काव्य-शैली का अनिवार्य सिद्धान्त 'विरोधाभास' है, एम्पसन 'श्लेष' को, रैन्सम 'विन्यास' को, टेट 'प्रतति' को तथा ब्लैकमर 'अंगविक्षेप' को काव्य-कला का निर्णायक तत्त्व मानते हैं। प्रथमतः ये समीक्षक काव्य-माध्यम को ही केन्द्रीय तत्त्व मानकर काव्य के अन्य उपादानों को नगण्य मानते हैं। यही नहीं, काव्य-माध्यम अर्थात् भाषा में भी, सम्प्रेषण की सम्पूर्ण प्रक्रिया को वे विरोधाभास अथवा प्रतति जैसे एकल शब्दों तक सीमित कर देते हैं। प्रमुख रूप से नये समीक्षकों की इसी एकसूत्रीय दृष्टि को ही शिकागो समीक्षकों ने अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया है। नई समीक्षा, विशेष रूप से ब्रुक्स और एम्पसन, की निकट से जाँच करने पर शिकागो समीक्षक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि नये समीक्षक समीक्षा के सही लक्ष्यों की उपलब्धि में अपनी एकसूत्रीय पद्धति और सैद्धान्तिकता के कारण असफल रहे हैं। यही नहीं कि नया समीक्षक एक सिद्धान्त-विशेष में आस्था ही रखता हो, वह यह भी मान लेता है कि कृति की व्यापक समीक्षा के लिए केवल उसी का सिद्धान्त सही है। ब्रुक्स पर लिखे गए क्रेन के निबन्ध का शीर्षक ही क्रेन के विरोध को स्पष्ट कर देता है।[2] क्रेन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि किस प्रकार ब्रुक्स ने कॉलरिज को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सिद्धान्त के घेरे में बन्द कर दिया है। क्रेन का विचार है कि सभी नये समीक्षकों की यही हालत है, समीक्षात्मक एकसूत्रता सभी नये समीक्षकों में विद्यमान है। शिकागो सम्प्रदाय के अन्य समीक्षक एल्डर आल्सन ने भी विलियम एम्पसन पर ऐसा ही दोष लगाया है। आल्सन क्रेन के समान ही यह विश्वास करते हैं कि सामान्य रूप से सारे नये समीक्षक और एम्पसन विशेष रूप से किसी एक सिद्धान्त विशेष पर अनावश्यक बल देते हैं। एम्पसन ने सम्पूर्ण समीक्षात्मक कार्यक्रम को श्लेष में ही निहित माना है। एम्पसन की व्याख्या-पद्धति सभी काव्य-विवेचन को भाषा-विवेचन तक तथा भाषा-विवेचन को भी श्लेष की समस्याओं के विवेचन करने तक सीमित करने की है।[3]

आल्सन का विचार है कि भाषा काव्य का बहुत महत्त्व-पूर्ण अंग नहीं है, और श्लेष जो काव्य-भाषा का मात्र एक पहलू है वह तो बिल्कुल ही नहीं। इस प्रकार एम्पसन का सिद्धान्त दो अर्थों में एकसूत्रीय है :

"एम्पसन का सिद्धान्त, इस प्रकार काव्य के केवल एक अंश तक सीमित है और वह अंश काव्यात्मकता की दृष्टि से बहुत कम महत्त्वपूर्ण है, वस्तुतः (एम्पसन का सिद्धान्त) उस अंश के केवल एक गुण, जिसका कि काव्य से बहुत ही अस्पष्ट और सतही सम्बन्ध है, तक सीमित है। श्लेष न तो काव्य की विशिष्टता है और न ही सभी अथवा सर्वोत्तम काव्य का सार्वभौम गुण।"[४]

इसी सन्दर्भ में आगे विचार करते हुए आल्सन फिर कहते हैं कि यह सैद्धान्तिक एकसूत्रता एम्पसन ही नहीं अपितु उन सभी समीक्षकों में है जो अपने को 'नये समीक्षक' कहते हैं :

"ये कमियाँ केवल एम्पसन में ही नहीं हैं, अपितु सम्पूर्ण 'नई समीक्षा' में, और इस प्रकार सामयिक समीक्षा में, इनकी बहुलता है।"[६]

नई समीक्षा की इस एकसूत्रता के विरोध में शिकागो समीक्षकों ने अपने बहुसूत्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसका मतलब यह है कि शिकागो समीक्षकों के मत में समीक्षक को किसी एक सिद्धान्त से चिपकना नहीं चाहिए, साहित्य के विवेचन और विश्लेषण के लिए जितने भी सिद्धान्तों की आवश्यकता पड़े उन्हें ग्रहण करना चाहिए। सभी शिकागो समीक्षक इस बात पर एकमत हैं कि बहुसूत्रता उनकी समीक्षा का आधारतत्त्व है। शिकागो समीक्षकों के अगुआ आर० एस० क्रेन ने बार-बार इस बात को दोहराया है कि वे तथा उनके साथी समीक्षक बहुसूत्रता को आधार मानकर चलते हैं। **क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज़्म** (१९५७) में संकलित निबन्धों पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं कि "इन निबन्धों का समीक्षा-दर्शन बहुसूत्रता है।"[७]

उनके अनुसार समीक्षा को किसी एक सिद्धान्त के घेरे में सीमित नहीं करना चाहिए। इसमें विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों एवं मान्यताओं का समाहार होना चाहिए :

"साहित्य-समीक्षा, जिसमें परवर्ती लेखकों का योगदान पूर्ण न होकर आंशिक रहा है, न तो कभी अमिश्रित अनुशासन रही है और न है, इसके विपरीत उसे स्पष्ट तथा न्यूनाधिक रूप में अतुलनीय 'संघार' एवं 'भाषाओं' का संग्रह कहा जा सकता है।"[८]

इस प्रकार किसी भी समीक्षा-पद्धति को इसलिए नहीं अस्वीकार किया जा सकता कि वह किसी विशिष्ट समीक्षक की पद्धति का अनुमोदन नहीं करती है। प्रत्येक पद्धति के अपने निजी गुण-दोष होते हैं। गुण यह है कि इसके द्वारा किसी साहित्यिक कृति के किसी एक पक्ष का उद्घाटन होता है और दोष यह है कि यह तमाम उन पक्षों को छोड़ देती है जिनका विवेचन-विश्लेषण आवश्यक होता है। 'बहुसूत्रता' शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए क्रेन ने कहा है कि समीक्षा की अनेक मान्य पद्धतियाँ हैं जिनमें से प्रत्येक साहित्यिक कृति पर विभिन्न रूप से प्रकाश डालती है और प्रत्येक की अपनी शक्तियाँ एवं सीमाएँ हैं।"[९]

क्रेन की ही भाँति एल्डर आल्सन भी समीक्षक के लिए किसी दृष्टिकोण-विशेष से प्रतिबद्ध न होकर विभिन्न दृष्टियों के स्वागत की बात करते हैं। उनका मत है कि कोई भी महान् कलाकृति स्वयं में ही एक प्रकार की पूर्ण इकाई होती है, उसके रूप एवं गुण के अनुसार उसे समझने के लिए एक दृष्टि-विशेष की आवश्यकता होती है। स्वाभाविक है कि एक कलाकृति के लिए जो समीक्षा-पद्धति उपयुक्त है दूसरी के लिए उपयुक्त न हो। डब्ल्यू० बी० येट्स का एक गीत 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम' एक विशेष प्रकार का गीत है और चूँकि गीत-काव्य की अनेक कोटियाँ होती हैं अतः सभी प्रकार के गीतों के विश्लेषण के लिए एक ही समीक्षा-पद्धति समीचीन नहीं हो सकती :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"'लिरिक' शब्द का प्रयोग अनेकानेक अर्थों में किया गया है। सूक्ष्मदर्शी विश्लेषक और समीक्षक इस धारणा के साथ कि महान् कलाकृति—उसकी रचना-प्रक्रिया कितनी भी परिचित क्यों न हो—अन्ततोगत्वा स्वतंत्र कृति होती है, विभिन्न समीक्षा-पद्धतियों का अनुसरण करेंगे।"[10]

अपनी बहुसूत्रीय पद्धति को विकसित करने के लिए शिकागो समीक्षक अरस्तू की **पोइटिक्स** में प्रतिपादित अनुकरण सिद्धान्त का सहारा लेते हैं। अरस्तू ने वस्तु, साधन और रूप के तिहरे वैशिष्ट्य का उल्लेख किया है। इन्हीं तीन तत्त्वों के आधार पर उन्होंने साहित्य की एक विधा को दूसरी विधा से विभेदित किया है। उदाहरण के लिए हम अरस्तू की सबसे प्रिय विधा, त्रासदी के विवेचन को ले सकते हैं। अरस्तू ने त्रासदी की परिभाषा ऊपर के तिहरे वैशिष्ट्य को ध्यान में रखकर की है। त्रासदी की परिभाषा करते हुए अरस्तू ने कहा है :

"त्रासदी ऐसे क्रियाकलापों का अनुकरण है जो गम्भीर तथा विस्तृति के साथ, अपने में पूर्ण हो, जिसकी भाषा सुखद उपसाधनों से पूर्ण तथा कृति के विभिन्न अंशों के अनुरूप बदलने वाली हो, जो वर्णनात्मक न होकर अभिनेय हो तथा जो करुणा तथा भय को विभिन्न उपाख्यानों से उद्बुद्ध करके इन संवेगों का रेचन निष्पादित करती हो।"[11]

ऊपर की परिभाषा के परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह परिभाषा अनुकरण की वस्तु, उसके साधन तथा उसके रूप पर निर्धारित है। अनुकरण की वस्तु गम्भीर क्रियाकलाप है, साधन भाषा है और रूप नाटकीय है। परिभाषा का अन्तिम अंश—करुणा और भय का रेचन—तीनों उपादानों का परिणाम है। यही तिहरा विभेदन साहित्य की अनेक विधाओं, त्रासदी, महाकाव्य, कामदी और व्यंग्य-काव्य को एक-दूसरे से अलग करता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य की इन तमाम विधाओं के लिए समीक्षा की विभिन्न पद्धतियों को विकसित करना पड़ेगा। त्रासदी की संरचना महाकाव्य अथवा कामदी से भिन्न होती है और स्वभावतः त्रासदी की समीक्षा के लिए अपनाई गई पद्धति महाकाव्य या कामदी के लिए उपयुक्त नहीं होगी।

इसके अतिरिक्त अरस्तू ने त्रासदी की संरचना को भी छः भागों में बाँटा है—कथानक, चरित्र, विचार-शृंखला, भाषा, दृश्य-विधान और संगीत; जिनमें प्रथम तीन का संबंध को त्रासदी की विषय-वस्तु से तथा अन्तिम तीन का सम्बन्ध उसके रूप-विधान से है। इन छः संघटकों में अरस्तू कथानक को सर्वोपरि महत्त्व का समझते हैं। उन्होंने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि "कथानक त्रासदी की आत्मा है।"[12]

शिकागो समीक्षकों ने अरस्तू के काव्य-शास्त्र में निहित बहुसूत्रता को अपने समीक्षात्मक विवेचनों और विश्लेषणों का आधार बनाया है। मैंने पहले ही संकेत कर दिया है कि किस प्रकार शिकागो समीक्षक नई समीक्षा की एकसूत्रीय पद्धति का प्रतिरोध करते हैं, क्योंकि इसे वे भाषा अथवा माध्यम के प्रति अतिशय अनुराग का परिणाम मानते हैं। इस प्रकार कृति का जो अंश नए समीक्षकों के लिए सर्वाधिक महत्त्व का है अरस्तू के लिए उसका महत्त्व द्वितीय श्रेणी का है। नया समीक्षक भाषा को लेकर अपनी समीक्षा प्रारम्भ करता है और प्रायः उसी के साथ समाप्त भी करता है, परिणाम यह होता है कि वह साहित्य की एक विधा और अन्य विधाओं में, समीक्षात्मक मूल्यांकन के लिए अपेक्षित, विभेद करना भूल जाता है और इसका कारण यह है कि साहित्य की सारी विधाओं में भाषा सामान्य माध्यम है। दूसरी ओर अरस्तू की पद्धति संवेगात्मक प्रभाव से प्रारम्भ होकर साधनों से होते हुए बहुसूत्रीय परिणति प्राप्त करती है। नए समीक्षकों से अरस्तू तक की यात्रा एकसूत्रता से बहुसूत्रता की ओर विकास-क्रिया है। आर० एस० क्रेन ने अधोलिखित उद्धरण में अरस्तू और क्लियन्थ ब्रुक्स जैसे नए समीक्षकों में अन्तर स्पष्ट कर दिया है :

"अरस्तू जैसे समीक्षकों, जिनके लिए काव्य-कृति संरचनाओं की विविधता प्रदर्शित करती है जिसे किसी वर्ग-विशेष में सीमित नहीं किया जा सकता और क्लियन्थ ब्रुक्स जैसे समीक्षक, जिनका यह आग्रह है कि काव्य-कृति की संरचना मूलतः एक होती है और जोद **ओडेसी** और **द वेस्टलैण्ड** 'टियर्स आइडिल टियर्स' और **द रेप ऑफ़ द लाक**-जैसी एक-दूसरी से सर्वथा भिन्न कृतियों के सामान्य प्रतिमान की परिभाषा में अपनी शक्ति ख़र्च करते हैं, में भेद बिलकुल स्पष्ट है।"[13]

इस प्रकार अपने समीक्षा-सिद्धान्तों को अरस्तू के काव्य-शास्त्र पर आधृत करते हुए इन समीक्षकों ने यह विश्वास प्रकट किया है कि समीक्षक का प्रथम कर्तव्य जिस कृति का विश्लेषण और विवेचन करने वह जा रहा है उसकी प्रजाति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को समझना और फिर उसके अनुकूल पद्धति का अन्वेषण करना है। यदि कृति 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम'-जैसा कोई गीत है जिसमें अरस्तू के अर्थ में प्रयुक्त कोई कथानक नहीं है तो उसकी समीक्षा उसी रूप में होनी चाहिए। एल्डर आल्सन ने 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम' के विवेचन में यही किया है। लेकिन यदि कृति फील्डिंग के **टाम जोन्स** के समान अनुकरण-वस्तु तथा घटनाक्रम से व्यवस्थित एक स्पष्ट कथानक संरचना है तो समीक्षक को कथानक के विश्लेषण को अपना उद्देश्य मानना चाहिए। टाम जोन्स की समीक्षा में अपनी कथानक सम्बन्धी मान्यता का प्रतिपादन करते हुए अरस्तू की भाँति क्रेन भी अनुकरण-कृति में कथानक को केन्द्रीय मानते हैं और अन्य संघटनों से इसका अधिक महत्त्व बतलाते हैं। कथानक को परिभाषित करते हुए क्रेन कहते हैं :

"···हम कह सकते हैं कि किसी भी उपन्यास अथवा नाटक का कथानक लेखक द्वारा सम्पन्न किया हुआ क्रियाकलाप, चरित्र और विचार-श्रृंखला के तत्त्वों का, जो उसकी उपज्ञता के पदार्थ हैं, एक विशिष्ट अस्थायी संश्लेषण है।"[१४]

इस प्रकार क्रेन तीनों में से किसी एक तत्त्व के, जो संभाग शक्ति के रूप में कार्य करता है, अनुसार कथानक के तीन भेद करते हैं—घटनाक्रम का कथानक, चरित्र का कथानक और विचार-श्रृंखला का कथानक।

संश्लेषणात्मक सूत्र में तीनों नैमित्तिक उपकरणों में किसी एक अथवा दूसरे के प्रयोग के अनुसार भिन्न-भिन्न संरचनाओं के कथानक हो सकते हैं। इसीलिए क्रियाकलाप का कथानक, चरित्र का कथानक और विचार-श्रृंखला का कथानक अलग-अलग होते हैं।[१५]

कथावस्तु के इन तीनों प्रकारों को स्पष्ट करते हुए क्रेन ने कहा है :

"पहले प्रकार में संश्लेषणात्मक सूत्र नायक की स्थिति में, क्रमिक अथवा आकस्मिक, पूर्ण परिवर्तन है जो चरित्र तथा विचार-श्रृंखला द्वारा निर्णीत तथा सम्पन्न होता है (जैसे इडिपस और द ब्रदर्स कारमजोव में), दूसरे में यह सूत्र नायक के चरित्र में पूर्ण नैतिक परिवर्तन है जो क्रियाकलाप द्वारा निस्साहित तथा सचंकक्रत होता है और चरित्र, विचार-श्रृंखला तथा संवेगों में प्रकट होता है (जैसे जेम्स के द पोट्रेट ऑफ़ ए लेडी में), तीसरे में यह सूत्र नायक की विचार-श्रृंखला और परिणामस्वरूप उसके संवेगों में परिवर्तन की पूर्ण प्रक्रिया है जो चरित्र और क्रियाकलाप द्वारा निर्धारित एवं निर्देशित होती है (जैसे पेटर के मेरियस द इपीक्यूरियन में)।"[१६]

कथानक की इस प्रकार व्याख्या करके क्रेन उस अग्र भूमि पर आ जाते हैं जहाँ वे कथानक को कृति का मौलिक तत्त्व मानते हैं। इस प्रकार संघटक तत्त्वों का विश्लेषण करने के पूर्व कथानक की इस स्पष्ट धारणा की उपलब्धि समीक्षक का प्रथम कर्तव्य होता है :

"समीक्षक के लिए कथानक का रूप प्रथम सिद्धान्त है जिसे उसे किसी भी कृति के विभिन्न अंगों द्वारा उठाए गए प्रश्नों से उलझने के पहले उसकी परीक्षा करने के लिए यथा-संभव स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।"[१७]

चूँकि टाम जोन्स का कथानक (क्रियाकलाप कथानक) पहले प्रकार का है।[१८] क्रेन ने अपना विवेचन क्रियाकलाप या अरस्तू के शब्दों में पुरावृत्ताख्यान (फेबुल) पर केन्द्रित किया है, परन्तु साथ ही चरित्र और विचार-श्रृंखला पर भी उचित ध्यान दिया है।

नार्मन मैक्लियन की शेक्सपीयर के किंग लियर की व्याख्या,[१९] आल्सन और क्रेन की क्रमशः 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम' तथा टाम जोन्स की व्याख्या से भिन्न, किंग लियर के चरित्र पर केन्द्रित है। और यह उचित भी है। यह एक तथ्य है कि केवल किंग लियर ही में नहीं, अपितु शेक्सपीयर की सभी त्रासदियों में नायक का चरित्र ही नाटक का केन्द्र है और इसीलिए चरित्र, जो किंग लियर के संदर्भ में उसकी विक्षिप्तता है, की व्याख्या औचित्यपूर्ण है। जैसा पहले ही कहा जा चुका है कि क्रियाकलाप, चरित्र और विचार-श्रृंखला तीनों मिलकर एक आंगिक एकता का निर्माण करते हैं। किसी एक का विवेचन शेष दो के विवेचन से अलग नहीं किया जा सकता। लियर की विक्षिप्तता पर ध्यान केन्द्रित करने का तात्पर्य यह नहीं कि नाटक के घटनाक्रम और विचार-श्रृंखला को अछूता छोड़ दिया जाता है। सबका उचित विवेचन होता है, परन्तु चूँकि चरित्र नाटक का नियामक तत्त्व है अतः स्वाभाविक है कि सम्पूर्ण विवेचन में इसका केन्द्रीय स्थान हो।

शिकागो समीक्षक सिद्धान्तवादियों और संशयवादियों के मध्य में स्थित हैं, एक ओर उनका विश्वास है कि कोई भी समीक्षा-पद्धति, उसकी विचार-भूमि कितनी भी विस्तृत क्यों न हो, सभी प्रकार की कृतियों पर लागू नहीं हो सकती और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी ओर उनका यह भी विचार है कि साहित्य के विवेचन के लिए कुछ सामान्य धारणाएँ भी हो सकती हैं। क्रेन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वह और उनके अनुयायी संशयवादी नहीं हैं। साहित्य-समीक्षा सैद्धान्तिक सीमाओं से आवृत्त नहीं है यह कहने का तात्पर्य संशयवादिता नहीं है।

"साहित्य अथवा काव्य के सत्य को किसी विशिष्ट शब्द-योजना अथवा सिद्धान्त-व्यवस्था में नियोजित नहीं किया जा सकता ऐसा आग्रह करने का मतलब संशयवाद की पुष्टि करना नहीं है।"[20]

परन्तु यदि शिकागो समीक्षक संशयवादी नहीं हैं तो वे सिद्धान्तवादी भी नहीं हैं। जैसा कि क्रेन ने कहा है कि शिकागो समीक्षकों के लिए सिद्धान्तवादिता सर्वाधिक असंगत प्रतीत होती है, क्योंकि उसका उनकी बहुसूत्रीय पद्धति से मेल नहीं बैठता। वे यह नहीं चाहते कि कोई समीक्षक अपनी ही पद्धति का सर्वाधिक समीचीन होने का दावा करे।

बहुसूत्रीय समीक्षा सिद्धान्त, जिसकी चर्चा मैं इस निबंध में करता आ रहा हूँ, का सर्वाधिक विरोध उस सामान्य धारणा से है जो विभिन्न परम्पराओं के समीक्षकों में वाक्-युद्ध की तह में है और जो ऐसे निश्चयात्मक कथन कि अमुक पद्धति ही काव्य-विवेचन अथवा अध्ययन के लिए 'उचित' या 'एकमात्र उपयोगी' पद्धति है, को प्रेरित करती है।[21]

यहाँ इस बात का भी उल्लेख आवश्यक है कि क्रेन के अनुसार 'सिद्धान्तवाद' शब्द भी एक विशिष्ट अर्थ में सभी समीक्षा-पद्धतियों को समाविष्ट कर लेता है और इस विशिष्ट अर्थ में शिकागो समीक्षक भी सिद्धान्तवादी है। वस्तुतः कृति के विश्लेषण के लिए प्रत्येक समीक्षक कुछ बुनियादी सिद्धान्तों का सहारा लेता है। और यदि हम 'सिद्धान्तवादी' शब्द को विस्तृत अर्थ में ग्रहण करें, जिसमें प्रत्येक समीक्षा-पद्धति का समाहार होता हो, तो स्वभावतः शिकागो समीक्षक इस कोटि में आ जायेंगे यद्यपि उनकी सिद्धान्तवादिता नकारात्मक और अवरोधक न होकर सकारात्मक तथा स्वस्थ प्रकृति की होगी।

"यह (शिकागो समीक्षकों की बहुसूत्रीय पद्धति) सिद्धान्त-वादिता तो है परन्तु अनुपेक्ष्य एवं श्रेयस्कर कोटि की, जिसके बिना किसी भी विज्ञान एवं कला में कोई विकास नहीं हो सकता। इसे नकारात्मक तथा प्रतिबंधक सिद्धान्तवादिता, जो आजकल सुरुचिपूर्ण समीक्षकों और इतिहास-मनीषियों के पारस्परिक प्रत्यभियोगों में प्रकट हो रही है, के साथ सम्भ्रमित नहीं करना चाहिए।"[22]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी समीक्षा-पद्धति में संदेहवादी तत्त्वों के होते हुए भी शिकागो समीक्षक न तो स्पष्ट संदेहवादी ही हैं और न कट्टर सिद्धान्तवादी ही, यद्यपि एक विशिष्ट अर्थ में उनकी समीक्षा सिद्धान्तवादी तत्त्वों से अछूती भी नहीं। वास्तव में ऐसा कहते समय कि वे सिद्धान्त-वादी नहीं हैं आर० एस० क्रेन के मस्तिष्क में नये समीक्षकों का ध्यान था जो कि पूर्णरूपेण सिद्धान्तवादी हैं। नया समी-क्षक समीक्षा को केवल एकसूत्रीय परिकल्पना के रूप में विच्युत ही नहीं करता अपितु वह यह भी मान लेता है कि समीक्षा की यह एकमात्र पद्धति है। इसके विपरीत शिकागो समीक्षक, क्योंकि वह समीक्षा को बहुसूत्रीय मानता है, विभिन्न पद्धतियों का स्वागत करता है, क्योंकि उसका विश्वास है कि इन सारी पद्धतियों का, बिना किसी विपर्यय अथवा असंगति के, सह-अस्तित्व हो सकता है।[23] शिकागो समीक्षक अपनी पद्धति के विषय में इतने उदार हैं कि वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि उनकी समीक्षा-पद्धति भी अन्तिम नहीं। उन्होंने कुछ तर्कसिद्ध पद्धतियों को सूत्रबद्ध किया है परन्तु उन्हें वादों के रूप में बदलना उनके समीक्षा के उद्देश्यों की पराजय होगी। "यदि मेरे समीक्षा-सिद्धान्त के पुनरुन्नयन से सिद्धान्त-वादी समीक्षकों की वृद्धि हुई तो इससे कोई लाभ नहीं होगा।"[24] एल्डर आल्सन भी इसी तरह सावधान करने में एक कदम और आगे बढ़ जाते हैं जब वह यह कहते हैं कि उनकी व्यावहारिक समीक्षा (सेलिंग टु बाइजेन्टियम का विवेचन) को किसी सिद्धान्त-विशेष का आग्रही न समझा जाए जिसे उसी प्रजाति की अन्य कृतियों पर लागू किया जा सकता हो। 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम' के विवेचन के लिए उन्होंने उस सिद्धान्त का प्रयोग किया है जो उस कविता के विवेचन के लिए उनकी दृष्टि में प्रयुक्त था, लेकिन सभी प्रकार की लिरिक कविता पर उसी सिद्धान्त का प्रयोग नहीं होना चाहिए, क्योंकि लिरिक कविता की भी विभिन्न कोटियाँ होती हैं।

"कुछ विशिष्ट कविताओं का परिनिरीक्षण, इस प्रकार, समीक्षात्मक उपक्रम का प्रारम्भ होगा, परन्तु विश्लेषण द्वारा आविष्कृत जिन सिद्धान्तों तक अन्ततः हम पहुँचते हैं वे किसी भी दूसरी कविता की संरचना में सन्निहित क्रिया-पद्धति का नियमन करने वाले सूत्र नहीं होंगे और न ही काव्य-अवयवों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और काव्योक्तियों की परिगणना की विश्लेषणीय तथ्यों से आगे दीर्घाकरण ही किया जा सकता है।"[२५]

अपनी व्यावहारिक समीक्षा में नये समीक्षकों की ही भाँति शिकागो समीक्षक भी अपने को मूल पाठ तक सीमित रखते हैं। पाठगत-विश्लेषण की समानता के कारण कुछ समीक्षकों का कहना है कि शिकागो समीक्षकों और नये समीक्षकों का विवाद पारिवारिक है। डब्ल्यू० एस० स्कॉट इसी मत का पोषण करते हैं।[२६] इसी तरह जार्ज वाटसन का भी मत है कि दोनों प्रकार के नये समीक्षकों के मध्य का विवाद पारिवारिक है।[२७] लेकिन मेरे विचार से नये समीक्षक अपना ध्यान एक ऐसे बिन्दु पर केन्द्रित करते हैं जिसे शिकागो समीक्षक बहुत ही कम महत्त्व देते हैं। यह सच है कि वे मूलपाठ का विश्लेषण करते हैं क्योंकि उनके विचार में मूल-पाठ की सन्निकटता अधिक उपादेय होगी। एल्डर आल्सन कहते हैं कि "विवेचना का प्रधान विषय कृति ही होती है।"[२८] परन्तु यहाँ हमें ध्यान रखना चाहिए कि पाठगत विश्लेषण अपने में कुछ भी मूल्य नहीं रखता। इसका मूल्य इसमें प्रयुक्त सिद्धान्तों तथा इससे निस्सारित होने वाले परिणामों पर निर्भर करता है। इस तर्क का आधार लेकर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शिकागो समीक्षकों और नये समीक्षकों में एक अन्तर्विरोध है। नया समीक्षक एक ही सिद्धान्त को साहित्य की प्रत्येक विधा पर लागू करता है। क्लियन्थ ब्रुक्स जिस किसी भी कविता का अनुशीलन करते हैं उसी में विरोधाभास का आरोप करते हैं, इसी तरह एम्पसन सभी कविताओं में श्लेष का दर्शन करते हैं। यही नहीं विवेच्य कृत्य में ये समीक्षक अपनी प्रिय पद्धतियों को खोजने में असफल होने पर उस कृति को निरर्थक करार देते हैं। इसके ठीक विपरीत शिकागो समीक्षक कृति को केन्द्र मानकर चलता है। प्रथमतः वह कृति की मूल प्रजाति का अन्वेषण करता है और तत्पश्चात् उस प्रजाति-विशेष के लिए सर्वाधिक समीचीन पद्धति का निर्माण करता है। यदि कृति डब्ल्यू० बी० येट्स की 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम'-जैसी कोई गीत-रचना है जिसमें अरस्तू की कथावस्तु का कोई लक्षण नहीं है तो वह रूप को विवेचन का केन्द्र मान लेता है जिसके विश्लेषण से क्रमशः वह अन्तिम परिणाम तक पहुँचता है। आल्सन द्वारा 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम' की विवेचना नए समीक्षकों की विवेचना के ही सदृश है। यही कारण है कि डब्ल्यू० एस० स्कॉट ने इस निबन्ध को रूपवादी समीक्षा के अन्तर्गत रखा है।[२९] लेकिन आल्सन और नये समीक्षकों की विश्लेषण-पद्धति में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। आल्सन ने कविता के रूप का विश्लेषण इस विश्वास के साथ किया है कि कोई दूसरी पद्धति उसके उपयुक्त नहीं है। परन्तु नये समीक्षक ऐसे किसी भी तर्क को नहीं मानते और वे रूप का विश्लेषण इसलिए करते हैं क्योंकि इसे वे समीक्षा की अनिवार्य शर्त मानते हैं। इसके अतिरिक्त रूप के किसी विशिष्ट अंग पर आल्सन ने अत्यधिक बल नहीं दिया है, वह रूप के विभिन्न संघटकों तथा कवि की अनुभूति से उनके सम्बन्धों का विश्लेषण करके कुछ ठोस निष्कर्षों पर पहुँचते हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. आर० एस० क्रेन, डब्ल्यू० आर० कीट्स, नार्मन मैक्लियन रिचर्ड मकियन एल्डर आल्सन और बर्नार्ड वाइनबर्ग।

२. 'क्लियन्थ ब्रुक्स आर द बैन्क्रप्सी ऑव क्रिटिकल मोनिज़्म' मॉडर्न फिलालजी, (१९४८), पृ० २२६-४५।

३. विलियम एम्पसन, 'कन्टेम्पोरेरी क्रिटिसिज़्म, एण्ड पोयटिक डिक्शन, 'क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज़्म', सं० आर० एस० क्रेन (शिकागो, १९५७), पृ० २७।

४. वही, पृ० ३५।

५. वही।

६. प्राक्कथन, 'क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज़्म', पृ० ५।

७. 'द लैंग्वेजेज़ ऑव क्रिटिसिज़्म एण्ड द स्ट्रक्चर ऑव पोयट्री (टोरंटो, १९५३), पृ० १३।

८. वही।

९. 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम : प्रोलेगोमेना टु ए पोयटिक्स ऑव लिरिक', 'फ़ाइव एप्रोचेज़ टु लिटररी क्रिटिसिज़्म, सं० डब्ल्यू० एस० स्कॉट (न्यूयार्क, १९६२), पृ० २२९-३०।

१०. पोयटिक्स, अनु० इंग्राम बाइवाटर (लन्दन, १९६२) पृ० ३५।

११. वही।

१२. 'द लैंग्वेजेज़ ऑव क्रिटिसिज़्म एण्ड द स्ट्रक्चर ऑव पोयट्री, पृ० ५।

१३. पोयटिक्स, पृ० ३७।

१४. क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज़्म, पृ० ६६।

१५. वही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६. क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज़्म, पृ० ६६-६७।
१७. वही, ६८।
१८. वही, ६७।
१९. 'इपीसोड, सीन, स्पीच एण्ड वर्ड : द मैडनेस ऑव लियर' क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज़्म, पृ० ९४-११४।
२०. द लैंग्वेजेज़ ऑव क्रिटिसिज़्म एण्ड द स्ट्रक्चर ऑव पोयट्री, पृ० २७।
२१. वही, पृ० २९-३०।
२२. वही, पृ० ३०।
२३. वही, पृ० ३१।
२४. वही।
२५. 'सेलिंग टु बाइजेन्टियम : प्रोलेगोमेना टु ए पोयटिक्स ऑव लिरिक', 'फाइव एप्रोचेज़ टु लिटररी क्रिटिसिज़्म, पृ० २१६-७।
२६. फ़ाइव एप्रोचेज़ ऑफ़ लिटररी क्रिटिसिज़्म, पृ० १८२।
२७. लिटररी क्रिटिक्स, पृ० २२२।
२८. फ़ाइव एप्रोचेज़०, पृ० २१६।
२९. फ़ाइव एप्रोचेज़ ऑफ़ लिटररी क्रिटिसिज़्म, पृ० २१५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नॉर्थ्रप फ्राई के मूलरूपकीय आलोचना-सिद्धान्त

शिवमूर्ति पाण्डेय

कोई भी विचार मात्र अर्द्ध सत्य है यदि उसमें स्वयं उसी का विपर्यय भी निहित न हो और वह अपने स्वयं के ही खण्डन या परिमार्जन द्वारा विस्तृत न किया जा सके।

—नॉर्थ्रप फ्राई[१]

मानवी परिकल्पना के इतिहास में सभी वस्तुएँ उसी सीमा तक नई हैं जहाँ तक वे पुरानी हैं; नई दुनिया पुरानी का ही एक रूप है।

—नॉर्थ्रप फ्राई[२]

आज की मूलरूपकीय आलोचना के अग्रेसर अठारहवीं शती के इटालियन विद्वान् वीको और उनसे प्रभावित जर्मन विद्वान् हर्डर माने जाते हैं।[3] लेकिन बीसवीं शती के मूलरूपकीय आलोचकों पर सबसे अधिक प्रभाव आदिम सभ्यता की छान-बीन करने वाले दो बाद के विद्वानों की कृतियों का है—सर एडवर्ड टाइलर की **प्रिमिटिव कल्चर** (१८७१) और सर जेम्ज़ फ्रेज़र की **गोल्डन बाउ** (१८९०-१९१५) का। आदिम सभ्यता से प्रभावित इस शती के प्रारंभिक विद्वानों में मैरिट, गिल्बर्ट मरी, ऐंड्रू लैंग, जेन हैरिसन, कॉर्नफर्ड, जॉन स्ट्यूअर्ट, फ्रित्स स्ट्रीछर, और मिस जेसी वेस्टन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मूलरूपकीय आलोचना पर आदिम सभ्यता के अतिरिक्त आधुनिक मनोविज्ञान का, मुख्यतया फ्रॉइड, युंग और एडलर की कृतियों का भी प्रभाव पड़ा है। व्यावहारिक और सैद्धांतिक मूलरूपकीय आलोचना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य इस शती के तीसरे दशक के अन्त से प्रारंभ होता है—प्रेस्कॉट, अर्न्स्ट कासिरेर, डग्लस बुश, मॉड बॉड्किन, लॉर्ड रैग्लन, राइनहोल्ड नीबूर, रोझेर कैल्वा, विलियम ट्रॉय, ओ'डॉनेल, और विल्बर अर्बन ने इस दिशा में काम किया। पाँचवें दशक और बाद के मूलरूपकीय आलोचकों में विशेष उल्लेखनीय हैं रिने ग्वास्ताला, सुज़ैन लैंगर, फ़िलिप वील्राइट, कार्ल केरेन्यी, टॉमस मान, नॉर्थ्रप फ्राई, रिचर्ड चेस, हास्केल ब्लॉक, विल्हेल्म एम्रिछ, और लेस्ली फीड्लर।[४] उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूलरूपकीय आलोचना इस शतक के पाश्चात्य जगत् का एक विकासोन्मुख अन्तर्राष्ट्रीय आलोचना-प्रवाह है। विल्बर स्कॉट के अनुसार मूलरूपकीय आलोचना साहित्य के सन्निहित अध्ययन पर बल देते हुए भी मानववादी है, पाठक पर साहित्य के मनोवैज्ञानिक प्रभाव का विश्लेषण करते हुए भी समाज और संस्कृतिपरक है, सांस्कृतिक अनुसंधान में ऐतिहासिक होते हुए भी साहित्य की शाश्वत उपादेयता पर बल देने में अनैतिहाासिक है।[५] अतएव स्पष्ट है कि मूलरूपकीय आलोचना में अन्य आलोचना-प्रवाहों को आत्मसात कर लेने की क्षमता है।

यद्यपि नॉर्थ्रप फ्राई के आलोचनात्मक निबन्ध सन् १९३६ से ही विभिन्न पत्रिकाओं में छपते रहे हैं और उनके विचार समकालीन आलोचकों का ध्यान आकर्षित करते रहे हैं, तथापि १९५७ में जब उन्होंने अपने पूर्वप्रकाशित कुछ निबंधों को **अनैटमी ऑव क्रिटिसिज़्म** के नाम से न्यूनाधिक हेरफेर के साथ संकलित किया तो आलोचना-जगत् में इसकी धूम मच गई। वैसे, विलियम ब्लेक का उनका मूलरूपकीय अध्ययन पहले ही ख्याति प्राप्त कर चुका था।[६] **अनैटमी** के प्रकाशन के दश वर्ष के अन्दर ही अमेरिकन 'इंग्लिश इंस्टीट्यूट' ने इस कनाडियन आलोचक के विचारों पर कान्फ़रेंस आयोजित की और उसमें पठित निबन्धों में से कुछ को प्रकाशित किया।[७]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब तक व्यावहारिक आलोचना की बीसियों ऐसी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें नॉर्थ्रप फ्राई के विचारों का स्पष्टतः उपयोग किया गया है। नॉर्थ्रप फ्राई के विचारों का जैसा प्रभाव समसामयिक नवोदित आलोचकों पर पड़ा वैसा किसी अन्य का नहीं, टी० एस० इलियट का भी नहीं।[८] उनकी 'स्किमैतिकी' की विशेषता यह है कि वह अफलातून से लेकर आज तक की सैद्धांतिक आलोचना को आत्मसात करते हुए सबसे भिन्न एक ऐसी मानव-केन्द्रित, वर्ग-निरपेक्ष, सार्वभौम, लोकतांत्रिक अबाध स्वच्छन्दतावादी 'खुली' आलोचना-पद्धति का निरूपण करती है जो अपने ऐतिहासिकता, स्वरूपकीयता, मूलरूपकीयता और भाषा-अलंकारिता के सिद्धान्तों के अन्तर्वेध से सर्वकालीन विश्व-साहित्य के सभी पक्षों को अपने अध्ययन की परिसीमा के अन्तर्गत समेट लेने का साहस करती है। इस लेख का उद्देश्य अप्रतिम मेधावी प्रोफेसर नॉर्थ्रप फ्राई की आलोचना के मात्र एक पक्ष पर प्रकाश डालना है, उनके मूलरूपकीय आलोचना-संबंधी सिद्धान्तों पर।

: १ :

नॉर्थ्रप फ्राई के अनुसार, साहित्य के आधारगत सिद्धान्त साहित्य और पुरागाथा से ही प्राप्त किए जा सकते हैं; और चूँकि पुरागाथाओं में साहित्यिक आधार-विधान अपने शुद्धतम रूप में विद्यमान हैं, अतः वे बाइबिल और क्लासिकीय पुरागाथिकी के प्रतीकवाद को पाश्चात्य साहित्यिक मूलरूपकों का व्याकरण मानते हैं।[९] 'पूर्ण शुद्धता' से फ्राई का तात्पर्य है जीवन-सादृश्य-शून्यता, जैसा कि हम आधुनिक अमूर्त चित्रकला में भी पाते हैं। अतः पुरागाथाओं का जगत् विशुद्धतम कथा और अर्थ का जगत् है—"प्रत्येक युग में ऐसे विचारों, बिंबों, विश्वासों, धारणाओं, आशंकाओं और आशाओं का आधारविधान रहता है जो मनुष्य की स्थिति और भविष्य के प्रति उस समय के सामान्यतः मान्य मनः-दर्शन को व्यक्त करते हैं।"[१०] विचारों आदि के इसी आधार-विधान को फ्राई पुरागाथिकी कहते हैं और इसकी इकाइयों को पुरागाथाएँ। इस अर्थ में, पुरागाथा "मनुष्य की अपने प्रति, वस्तुओं के विधान में अपने स्थान के प्रति, समाज और ईश्वर से अपने संबन्ध के प्रति, अपनी व्यक्तिगत या सारी मानव-जाति की परिणत उत्पत्ति और अन्तिम भाग्य के प्रति उसकी चिंता, उद्वेग और औत्सुक्य की अभिव्यक्ति है।"[११] कथा की दृष्टि से, पुरागाथा "इच्छा के परिकल्पित सीमांतक कार्यव्यापारों की अनुकृति है।"[१२] दिव्य कार्य-व्यापारों की अनुकृति और अर्थ की दृष्टि से, पुरागाथा "कार्यक्षेत्र के रूप में देखा गया वही जगत् है।"[१३]—अर्थ विचारपूर्ण बिंब-विधान में निहित रहता है, स्वर्ग की परिकल्पना में, पूर्ण-रूपकीय ऐशोन्मेषीय जगत् में। यदि पुरागाथा साहित्यिक रूपविधान की शुद्धतम सीमा है तो प्रकृतिवाद उसकी संकरतम सीमा, और बीच के सारे क्षेत्र में अद्भुत-साहित्य परिव्याप्त है। फ्राई इस स्थिति को स्थानान्तरण की दृष्टि से देखते हैं—विशुद्ध साहित्यिक आधारविधान पुरागाथा से स्थान-भ्रष्ट होकर अद्भुत-साहित्य, यथार्थवाद या प्रकृतवाद में आ गिरता है; किन्तु आधारविधान प्रत्येक दशा में वही रहता है, अपरिवर्तित, अक्षुण्ण, और बीसवीं शती के व्यंग्यात्मक साहित्य में वह पुनः पुरागाथा की ओर लौटता दृष्टिगत होता है। नॉर्थ्रप फ्राई की मूलरूपकीय आलोचना में पुरागाथी बिंबों या प्रतीकों और कथाओं के इस स्थानांतरण के सिद्धान्त का विशेष स्थान है। पुराकथाओं और मूलरूपकीय बिंबों या प्रतीकों के अमूर्त आधारविधान हमें अडिग, अच्युत या अस्थानांतरित पुरागाथा में मिलेंगे, जो पूर्णरूपकीय एकरूपता वाले ऐशोन्मेषी या दिव्य और पैशाचिक, इन दो परस्पर-विरोधी जगतों से संबंधित हैं। अद्भुत-साहित्य और यथार्थ-वाद में हमें स्थानान्तरित पुरागाथा मिलेगी।

: २ :

ऐशोन्मेषीय जगत्, स्वर्ग, यथार्थ के प्रवर्गों को मानवीय इच्छाओं के अनुरूप प्रस्तुत करता है, क्योंकि पुरागाथिकी, फ्राई के अनुसार, "विश्व को सदा मानव-केन्द्रित दृष्टिकोण से देखती है।"[१४] मनुष्य के कार्यों और इच्छाओं द्वारा वनस्पति-जगत् को दिया गया रूप बाग, कृषि, कुंज या उद्यान का रूप है; प्राणिजगत् को दिया गया रूप मेष आदि पालतू जानवरों का रूप है; द्रव्य-जगत् को दिया गया रूप नगर का रूप है। नगर, वाटिका और मेषगोष्ठ बाइबिल के प्रतीक विधान में संयोजक रूपक हैं; और फ्राई की दृष्टि में, अपनी पूर्ण एकरूपता के कारण इनमें से प्रत्येक पिंड सार्वभौम है, जिसमें दिव्य, मानव, प्राणि, वनस्पति और द्रव्य—इन पाँचों की इकाइयाँ, समाज, और जगत् सन्निहित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

उदाहरण के लिए क्राइस्ट पिण्ड-सार्वभौम के रूप में एक देव, एक मनुष्य, एक दिव्य मेष, एक जीवन-तरु, और एक चर्च-भवन के अतिरिक्त इन इकाइयों के प्रत्येक के समाज और जगत् भी हैं। नॉर्थ्रप फ्राई बृहदारण्यक से भी एक पिण्ड-सार्वभौम का उदाहरण देते हैं; बृहदारण्यक के बलि-अश्व के शरीर में अखिल विश्व निहित है।[१५] धार्मिक दृष्टि से एक-रूपीकरण अस्तित्वपरक होता है, किन्तु साहित्य की दृष्टि से एकरूपीकरण मात्र रूपकात्मक है। मूलरूपकीय स्तर पर, काव्य मानव-सभ्यता के शिल्पजन्य पदार्थों में है और प्रकृति मानव को अपने में समाहित रखती है; लेकिन गूढार्थ-स्तर पर मनुष्य ही प्रकृति को अपने में समाहित किए हुए है, और उसके नगर और बाग मानवी-विश्व के ही अंग हैं। अतः ऐशोन्मेषीय प्रतीकवाद के क्षेत्र में क्षिति, अप, तेज, वायु और आकाश—सभी का समाहार होता है।

ऐशोन्मेषी प्रतीकवाद के विपरीत पैशाचिक प्रतीकवाद है, जिसमें वह जगत् प्रस्तुत किया जाता है जिसे मानव-इच्छा एकदम अस्वीकार करती है। यह जगत् दुःस्वप्न और बलि-पशु का, बन्धन, कष्ट और संभ्रम का, कुकर्म और कर्मनाश का, विनाश और श्मशान का, यंत्रणा-यंत्रों और मूर्खता स्तूपों का जगत् है, जो अस्तित्वपरक नरक से सम्बन्धित है। पैशाचिक जगत् का आकाश मानव की पहुँच के बाहर है; वह मनुष्य के रहस्यमय अदृष्ट की ओर इशारा करता है, और उसमें स्थित देवता स्वयं आनन्द करते हैं और मनुष्य को सुख से वंचित रख उन्हें यातना देते हैं। पैशाचिक बिंब-विधान के मानवीय जगत् में अहं के तनावों का संघर्ष चलता है; निष्ठुर, निर्दय, निरंकुश शासक होते हैं, नरभक्षण होता है; विनाशकारी वासनाओं का विकृत यौनसम्बन्ध, सहयौन और सहलिंग सम्बन्ध, तथा अगम्यागमन होता है। भीड़-प्रवृत्तियाँ पैशाचिक नर्तन करती हैं। पैशाचिक प्राणि-जगत् में भेड़ियों, बाघों, गिद्धों, सर्पों, ड्रैगनों आदि का प्राधान्य रहता है। पैशाचिक वनस्पति जगत् में भयावह जंगल, झाड़ियाँ, बैताली बाग, मृत्यु-वृक्ष, सूली-काष्ठ, क्रॉस, फाँसी का तख्ता, विनाशकारी जलती लकड़ी, कोड़ों आदि की बहुलता रहती है। पैशाचिक द्रव्य-जगत् में मरुभूमि, चट्टान, ऊसर, विनाशोन्मुख पापी नगर बाबुल की मीनार, यंत्र, शस्त्र, कारागार, आग की जलती भट्ठी, भयंकर बाढ़, भँवराह जल, नियति-चक्र, श्मशान, कब्रगाह, आदि हैं।

ऐशोन्मेषी बिंबविधान में मानव-इच्छाओं के अनुरूप विशुद्ध आधारविधान है, और पैशाची बिंबविधान में मानव के दुःस्वप्नों के विशुद्ध आधारविधान। इन दोनों आत्यन्तिक बिंबविधानों के बीच सादृश्यपरक बिंबविधानों का जगत् है। ऐशोन्मेषी बिंब पुरागाथाविधा के अनुकूल पड़ते हैं और पैशाचिक बिंब व्यंग्यविधा के उस सोपान के, जहाँ वह पुरागाथा की ओर बढ़ती है। शेष तीन विधाएँ—अद्भुतविधा, उच्चानुकृतिविधा और निम्नानुकृतिविधा—बिंबों का सादृश्यात्मक प्रयोग करती हैं। अद्भुतविधा, जिसमें 'रोमांस', शूर-साहित्य, लोक-कथा और परी-कथाएँ आती हैं, आदर्शीकृत जगत् को प्रस्तुत करती है, जो ऐशोन्मेषी जगत् का मानवी प्रतिरूप है और निर्विकार पर बल देता है। अद्भुतविधा में माता-पिता, बुद्धिमान-बुजुर्ग, जादू-कुशल व्यक्ति, शुभचिंतक बैताल आदि के रूप में दैवी-बिंब प्रस्तुत किये जाते हैं, और मानवी बिंब बच्चों, युवकों और युवतियों के रूप में, जिनमें निर्विकार, कौमार्य, हृदय-शुद्धता, आदि गुण होते हैं। आकाश-जगत् का शीतल चन्द्रमा भी विद्यमान रहता है। प्राणियों में मेष, मेमने, श्वान, 'यूनिकॉर्न', 'डॉल्फिन', गर्दभ, पक्षियाँ, तितलियाँ, बिंब के रूप में प्रस्तुत की जाती हैं, और वनस्पति-जगत् से 'ईडन' वाटिका, जादू की लकड़ी और पुष्प। द्रव्य-जगत् से मीनारों, किलों, कुटीरों, जल, निर्झरों, बावलियों, नदियों आदि के बिंब रहते हैं। अद्भुतविधा के बिंबों में ऐशोन्मेषी बिंबों के प्रति निर्विकार का सादृश्य रहता है, तथा कौमार्य और जादू उनके संयोजक सिद्धान्त हैं। उच्चानुकृतिविधा के संयोजक प्रेम और आचार हैं, और इसका बिंब-क्षेत्र प्रकृति और विवेक के प्रति सादृश्यात्मकता है। मानव आदर्शीकृत रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। राजाओं में दैवत्व का स्पर्श रहता है, और राजसभा की रमणियों में देवित्व का। प्राणि-जगत् से बाज़, सिंह, वाजि, चील, मोर, हंस और 'फीनिक्स' के बिंब रहते हैं, वनस्पति-जगत् से गृहोद्यान, राजदंड और ध्वजाओं के। द्रव्य-जगत् के बिंब राजनगर, राजप्रासाद, नियन्त्रित नदियाँ और शाही बजरे हैं।

निम्नानुकृतिविधा का बिंबक्षेत्र अनुभव का सादृश्य है और पैशाचिक जगत् से सम्बन्धित है, वैसे ही जैसे अद्भुतविधा और उच्चानुकृतिविधा का सम्बन्ध ऐशोन्मेषी जगत् से है। निम्नानुकृतिविधा का यदि कोई सम्बन्ध ऐशोन्मेषी जगत् से है तो वह मात्र व्यंग्यानुकृत्यात्मक है। निम्नानुकृतिविधा

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विंब अनुभव-जगत् के सामान्य जीवन से भिन्न रखते हैं, और इसमें दिव्य विंबों और आध्यात्मिकता की शून्यता रहती है। मानव-जगत् के विंब 'यथार्थ मानवी दशा' पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, और अद्भुतविधा के आदर्शीकृत जीवन का विडम्बन रहता है; प्राणिजगत् के बिम्ब मानव को बन्दर और बाघ के रूप में प्रस्तुत करते हैं; वनस्पति-जगत् के विम्बों में उद्यान का स्थान खेत-खलियान ले लेता है, जिसमें अभिषप्त मानव अनन्त श्रम के फावड़े चलाता है; शहर भूलभुलैया है, भीड़ से ठसाठस, और यहाँ मानव अत्यन्त अकेलेपन का अनुभव करता है, जलबिम्ब विनाशकारी समुद्र के रूप में आता है, और नावें दैत्य के समान हैं जो मानव को अपने उदर में रखता है; अग्नि अपने विनाशकारी रूप में प्रस्तुत की जाती है।

निर्विकार का ऐशोन्मेषी बिम्ब से तथा अनुभव का पैशाचिक बिम्ब से सम्बद्ध होना, फ्राई के अनुसार, नैतिक दिशा में स्थानान्तरण है। फ्राई के आलोचकों ने उनकी विचार-शृंखला में प्रायः विरोधाभास पाया है,[१६] और स्वयं फ्राई के अनुसार भी पूर्ण-सत्ययुक्त विचार में स्वयं उसी का विपर्यय भी निहित रहता है।[१७] उनके अनुसार अकाट्य तर्क वह नहीं है जो काटा न जा सके अपितु जिसके कट जाने पर भी उसका आधारभूत सत्य अक्षुण्ण रह जाए। ऐशोन्मेषी बिम्बों की निर्विकारता और अनुभव-बिम्बों की पैशाचिकता का आधारभूत सत्य भी कुछ इसी अकाट्य प्रकृति का है, जो उन्हीं की तर्क-शृंखला में स्पष्ट हो जाती है। पूर्णतया आकांक्षित और पूर्णतया अनाकांक्षित ये दो आत्यन्तिक आधार-विधान हैं, और अनैतिक काम-तृप्ति की भी आकांक्षा की जाती है। कुछ आदिम संस्कृतियों में अबाध, अनियंत्रित आकांक्षा-उद्भूत पुरागाथाप्रियता के उदाहरण मिलते, लेकिन ज्यों-ज्यों धर्म और नैतिकता का विकास होता गया त्यों-त्यों धार्मिक और काव्यात्मक मूलरूपक एक-दूसरे के समीप आते गये। अतः काव्य और धर्म का तारतम्य नैतिकता के उभय परिवेश में होता गया। किन्तु साहित्य और काव्य अनाकांक्षित नैतिकता के बन्धन तोड़कर इच्छा की दिशा में दौड़ते हैं, और साहित्य का परिकल्पित जगत् "मानव-आकांक्षाओं की पूर्ण तुष्टि से लेकर, जिसका वे पूर्णतया परित्याग करती हैं, वहाँ तक परिव्याप्त मानवी रूप में विश्व है।"[१८] नैतिकता और अकांक्षा में प्रायः प्रतिद्वंद्व रहता है। साहित्य, नैतिकता [illegible] और जिसे धर्म अवाच्य, अश्लील, ध्वंसात्मक, लंपट और अधम कहते हैं, साहित्य उसे भी स्थान देता है, अपने स्थानान्तरण-उपायों से। स्थानान्तरण की सरल युक्ति को फ्राई पैशाचिक संक्रम की संज्ञा देते हैं। कोई भी प्रतीक अपना अर्थ संदर्भ से प्राप्त करता है, अतएव 'ड्रैगन', द्वीप, सर्प, डाकू, समुद्री लुटेरे, 'जिप्सी' आदि का प्रयोग साहित्य में पैशाचिक संक्रम द्वारा भी किया गया है। मूल रूपकों के नैतिक संकेत को उलट देना ही पैशाचिक संक्रम है, और मूलरूपक वह "साहित्यिक प्रतीक या प्रतीक-पुंज है जिसकी समस्त साहित्य में प्रत्यावृत्ति हुई हो।"[१९] अतएव सच्चे प्रेम को पैशाचिक संक्रम द्वारा ही परस्त्रीगमन, समलिंगसम्बन्ध और अगम्यागमन के बिम्बों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। 'सादवाद', 'प्रमीथ्यूसवाद' तथा 'शैतानवाद' भी पैशाचिक संक्रम के उदाहरण हैं।

ऐशोन्मेषी प्रतीकवाद में असीम आकांक्षा को प्रस्तुत किया जाता है—मनुष्य की वासनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं को दिव्य रूप में देवताओं पर आरोपित किया जाता है। निर्विकार के सादृश्य का साहित्य आकांक्षित को मानवी, परिचित, सुलभ और नैतिकतासम्मत रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है—इस प्रकार के साहित्य में सुखान्त, सौम्य, अद्भुत और भक्तिसाहित्य, प्रशस्तिकाव्य, आदर्शीकृत और जादू या अलौकिक तत्त्व-सम्पन्न साहित्य आते हैं। अनुभव के सादृश्य का साहित्य भी नैतिक आधार पर ही पैशाचिक जगत् से सम्बद्ध है—उदाहरण के लिए, त्रासदी का परिकल्पना-दर्शन ऐसी घटनाओं को प्रस्तुत करता है जो वास्तविक जगत् में घटित हो सकती हैं और जिन्हें नैतिकता की दृष्टि से स्वीकार करना चाहिए। अतएव आकांक्षाओं के मार्ग की सभी बाधाओं के प्रति मानव के तीक्ष्ण विक्षोभ का विशुद्ध पुरागाथी पैशाचिक जगत् से नैतिक और अनुभवसम्मत सन्दर्भ में स्थानांतरण होता है। किसी भी रचना को सन्निहित ऐशोन्मेष या पैशाची तत्त्व ही इतिवृत्तात्मकता से उठाकर साहित्य की श्रेणी में लाता है।

: ३ :

काव्य का अर्थ उसके प्रस्थित्यात्मक बिंबविधान में निहित है और उसकी कथा बिंबों के गत्यात्मक विधान में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्विकार और अनुभव के सादृश्य-पुराणकथा को प्रकृति के अनुरूप संयोजित करते हैं और नगर-निर्माण तथा उद्यानारोपण के प्रक्रम का मनोदर्शन प्रस्तुत करते हैं। प्रक्रम का आधारभूत रूप वृत्ताकार गतिमयता है; तथा उत्थान और पतन की, प्रयास और विराम की, जीवन और मृत्यु की परिवृत्ति प्रक्रम की लय है। अतएव सातों श्रेणियों के बिंब वृत्ताकार गतिमयता के विभिन्न रूपों में देखे जा सकते हैं। देव-जगत् का केन्द्रीय प्रक्रम मृत्यु और पुनर्जन्म पर आधृत है, जो प्रकृति के वृत्ताकार प्रक्रम से सम्बद्ध है—दैनिक वृत्त में, सूर्य-देव रात को मरता है और प्रातः पुनर्जीवित हो जाता है; वार्षिक वृत्त में, वह मकर-संक्रान्ति के अवसर पर पुनर्जन्म ग्रहण करता है। वनस्पति-देवता शरद में मरता है और वसन्त में पुनर्जन्म ग्रहण करता है। वृत्त का विशुद्ध या पुरागाथी आधारविधान जन्म से मृत्युपर्यन्त प्रक्रम के समान ही मृत्यु से पुनर्जन्मपर्यन्त आत्मसंज्ञा की अविच्छिन्नता है। मृत्यु और पुनर्जन्म के इस आधार-विधान पर ही अन्य बिंब-प्रक्रम-वृत्ति भी आधृत हैं। आकाशीय अग्नि-जगत् में तीन महत्त्वपूर्ण वृत्ताकार लयें हैं—सूर्य की दो लयों की चर्चा की जा चुकी है; तीसरी लय चन्द्रमा की है, जो महीने में तीन दिन तक लुप्त रहने के पश्चात् पुनः प्रकट होता है। मानव-जगत् में जाग्रत और सुषुप्त जीवनों का परिकल्पना-वृत्त है, और जन्म, मृत्यु तथा जातीय पुनर्जन्म का दूसरा वृत्त भी, जो प्राणि-जगत् का भी वृत्त है। वनस्पति-जगत् का मृत्यु-पुनर्जन्म वृत्त ऋतव्य वृत्त के समरूप है। सभ्यताओं के विकास, पराकाष्ठा, पतन, मृत्यु और पुनर्जन्म का वृत्त भी होता है। जल-प्रतीकवाद में वर्षा, नाले, नदी, समुद्र या बर्फ़ और पुनः वर्षा का वृत्त है।

कथा की दो आधारभूत गतियाँ हैं—एक, प्राकृतिक-विन्यास के ही अन्तर्गत वृत्ताकार-गति और दूसरी, प्राकृतिक विन्यास से ऐशोन्मेषी-जगत् की ओर तार्किक गति। पैशाचिक-जगत् के प्रति उन्मुख गति बहुत ही कम पाई जाती है क्योंकि प्रकृति-विन्यास की सतत वृत्त्यानुवृत्ति स्वयं में ही पैशाचिक है। प्रतनकथा-वृत्त के ऊपरी अर्द्ध-क्षेत्र में अद्भुत-साहित्य तथा निर्विकार का साहित्य स्थित है, और निचले में यथार्थवाद तथा अनुभव का सादृश्य। इस प्रकार हमें चार प्रकार की प्रतनकथागतियाँ मिलती हैं—अद्भुत में, अनुभव में, एकदम नीचे और एकदम ऊपर। ऊपर से नीचे की गति त्रासदीय और ऊर्ध्वोन्मुख गति कामदीय है। साहित्यिक प्रतनकथा की कुल चार श्रेणियाँ हैं, जो सामान्य साहित्यिक वर्गों से पहले की और विशालतर हैं—अद्भुत, कामदीय, त्रासदीय और व्यंग्य-साहित्य। समस्त कथा-साहित्य फ्राई की इन चार श्रेणियों के अन्तर्गत आ जाता है, क्योंकि वे इन प्रवर्गों का प्रयोग सामान्य परम्परासम्मत अर्थ में न करके आधार-विधान और भाववृत्ति की दृष्टि से करते हैं और इस प्रकार चार प्राक्साहित्यिक प्रतनकथाओं के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। प्रतनकथा-विधान की दृष्टि से, त्रासदीय और कामदीय साहित्य में, अद्भुत और व्यंग्य-साहित्य में प्रतिपक्षता है। इसके विपरीत, कामदीय-साहित्य एक ओर तो अद्भुत-साहित्य में और दूसरी ओर व्यंग्य-साहित्य में घुल-मिल जाता है; अद्भुत-साहित्य त्रासदीय या कामदीय हो सकता है; और त्रासदीय-साहित्य अद्भुत के शिखर या तीक्ष्ण व्यंग्य के धरातल को स्पर्श कर सकता है।

: ४ :

कामदीय-साहित्य वासन्ती प्रतनकथा है। एक युवक किसी युवती की आकांक्षा करता है, उसकी इच्छा-तृप्ति के मार्ग में माता-पिता या अन्य तत्त्वों द्वारा बाधा उपस्थित की जाती है, और अन्त में बाधाएँ दूर होती हैं तथा वह अपनी इच्छा पूरी करता है—यह वासन्ती प्रतनकथा का सरल आधार-विधान है, जिसमें कई जटिल तत्त्व भी विद्यमान रहते हैं। कामदी एक तरह के समाज से दूसरे की ओर बढ़ती है—प्रारम्भ में, बाधक पात्र समाज पर हावी रहते हैं; लेकिन अन्त में, नायक और नायिका के इर्द-गिर्द एक नए समाज का निर्माण होता है, जिसका द्योतक प्रीति-भोज, कर्मकाण्ड, विवाहोत्सव या नृत्य होता है। नायक की इच्छा-पूर्ति के मार्ग में आनेवाली बाधाओं के कारण ही कामदी का कार्य-व्यापार आगे बढ़ता है। नायक का विरोधी उसका बाप या पैसे और शक्तिवाले बूढ़े या अन्य व्यक्ति होंगे, जिनका अन्त में मज़ाक उड़ाया जाता है और जिन्हें क्षमा कर दिया जाता है। कार्य-व्यापार मुकदमों के कार्य-व्यापार-जैसा ही होता है। कामदी का प्ररूप या तो बाधाओं पर विशेष ध्यान केन्द्रित करके बढ़ाया जाता है या अन्वेषण और बैरशमन पर बल देकर। असंगति के विरुद्ध सामाजिक निर्णय दिया जाता है। बाधक-पात्र के चरित्र में सांकेतिक विचार-बाध्यता होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, और पुनरावृत्ति के सिद्धान्त द्वारा इससे हास्य उत्पन्न किया जाता है। नया समाज उन्मुक्त समाज होता है, और कामदी की गति बन्धन से स्वातन्त्र्य की ओर, भ्रम से सत्य की ओर होती है। कथानक में जटिलता की भरमार होती है क्योंकि जटिलता स्वयं में हास्यास्पद है, और उसका अन्त भी कथानक को अचानक मोड़ देकर किया जाता है। अप्रत्याशित विचार-परिवर्तन होते हैं, और दैवी घटनाओं का सहारा लिया जाता है। कामदी का अन्त उस स्वर्ण-युग की प्राप्ति में होता है जो सम्भवतः कथानक के आरम्भ होने के पहले था। कामदी के पात्रों को चार श्रेणियों में रखा जा सकता है—पाखण्डी, आत्मनिन्दक, विदूषक और गँवार। कामदी सामाजिक और नैतिक न्याय का रूपात्मक प्रयोग करती है, तथा सहानुभूति एवं उपहास की भावना को जागृत कर उनसे मुक्ति दिलाती है। इसका क्षेत्र तीक्ष्ण व्यंग्य से लेकर आकांक्षा-तृप्ति तक व्याप्त है, किन्तु प्रत्येक दशा में आधार-विधान और चरित्र-चित्रण का सिद्धान्त एक-सा रहता है। वासन्ती कथा के छः सोपान होते हैं। पहला कामदी का अति व्यंग्यात्मक सोपान है—नायक का समाज अपने बचपन में रहता है, तथा बाधक पाखण्डी समाज अपरास्त रह जाता है। पैशाचिक जगत् अधिक दूर नहीं होता। कामदी का दूसरा सोपान नायक की किशोरावस्था का सोपान है और पाखण्डी-समाज अपने स्थान पर स्थिर रह जाता है। तीसरा कामदी का सामान्य सोपान है, जिसमें नायक का समाज पूर्ण वयस्क हो जाता है, और पाखण्डी-समाज को नायक की आकांक्षाओं के सामने घुटने टेकने पड़ते हैं। चौथा कामदी के हरे जगत् का सोपान है, जिसमें अनुभव की दुनिया से निर्विकारी और अद्भुत जगत् में प्रवेश होता है। पाँचवें सोपान में नायक समाज सुव्यवस्थित और धार्मिक प्रवृत्ति का होता है। छठे सोपान में कामदीय समाज टूटता दृष्टिगत होता है, सामाजिक इकाइयाँ छोटी हो जाती हैं, गुप्त स्थान और अध्यात्म का प्राधान्य रहता है, प्रेत-वैताल प्रवेश करते हैं, और कामदीय समाज पुनः गर्भाशय की ओर लौटता है।

ग्रीष्म-प्रत्नकथा अद्भुत-साहित्य में, आकांक्षा-तृप्ति की सर्वाधिक प्रधानता रहती है। शासक-वर्ग या बुद्धिजीवी अद्भुत-साहित्य में अपने आदर्शों का प्रक्षेपण करते हैं। इसके कथानक का आवश्यक तत्त्व अद्भुत-कर्मप्रधान अन्वेषण-यात्रा है, जिसके तीन भाग होते हैं—विपत्संकुल-यात्रा, संघर्ष और नायक का उत्कर्ष। अद्भुत-साहित्य के नायक का सम्बन्ध पाठकों के मूल्यों और आदर्शों से रहता है; नायक पैग़म्बर के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उसके प्रतिपक्षी में पैशाचिक शक्तियों का सादृश्य होता है; वह शिशिर, अन्धकार, अस्त-व्यस्तता, अनुर्वरता, म्रियमाण दशा और बुढ़ापे से सम्बद्ध होता है। एक देश बूढ़े असहाय राजा द्वारा शासित है। एक समुद्री दैत्य देश को बर्बाद कर रहा है और प्रतिदिन एक युवक या युवती को खा जाता है। वृद्ध राजा की लड़की की बारी आती है। इसी समय नायक आता है और 'ड्रैगन' को मारकर राजा की लड़की से शादी करता है और सिंहासनारूढ होता है। संघर्ष में नायक की सांकेतिक या वास्तविक मृत्यु होती है, और उसका सांकेतिक पुनरुत्थान या पुनर्जन्म होता है। अन्वेषण-प्रत्नकथा के पात्र या तो अन्वेषण के पक्ष में होते हैं या उसके विपक्ष में। प्रकृति के देवी-देवता निष्पक्ष होते हैं। अद्भुत-साहित्य का प्रथम सोपान नायक के जन्म से, दूसरा सोपान उसकी निर्विकार किशोरावस्था से सम्बद्ध रहता है, और तीसरा अन्वेषण-कथा का सोपान है। चौथे सोपान में निर्विकारिता पर अनुभव के आघात होते हैं, किन्तु वह अक्षुण्ण बनी रहती है; नैतिकता और संयम का प्रतीकात्मक दृष्टान्त निहित रहता है। पाँचवें सोपान में सौम्यता और विचारात्मकता के उच्च स्तर पर से अनुभव-जगत् को देखा जाता है, और छठे सोपान में साहसिक कार्यों का स्थान ध्यान-चिंतन ले लेता है।

शारदीय प्रत्नकथा त्रासदी का अन्त प्रशान्ति, हर्ष या संदिग्ध भाव में होता है, और हमारा ध्यान समाज के बदले नायक पर सर्वाधिक केन्द्रित किया जाता है। नायक प्रेक्षक से महान् होता है और वह अपने से भी किसी बड़ी शक्ति के संपर्क में रहता है जो किसी अटल नियम के रूप में रहस्योद्घाटित होती है। यह अटल नियम अपने सरल रूप में प्रतिशोध है और सूक्ष्म में दैवी न्याय। दैवी प्रकोप या नैतिक प्रतिशोध त्रासदीय साहित्य के प्रक्रम में आता है; वह उसका मूल आधार कदापि नहीं है। नायक अडिग रहने के लिए सक्षम होते हुए भी पतित होने के लिए स्वतन्त्र है। नायक किसी अन्य स्थिति के लिए अपनी वर्तमान स्थिति का विनिमय करता है; उसके इस वरण के कारण त्रासदी में एक ऐसा क्षण आता है जब प्रेक्षक या पाठक को दो मार्गों की स्पष्ट झलक मिलती है—एक जिसे नायक ने अपनाया होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और दूसरा जिसे वह ग्रहण करेगा। मूलरूपकीय दृष्टि से त्रासदी में बलि और स्वप्न की अनुकृति रहती है; प्रेक्षक को एक तीसरे जगत् का आभास मिलता है। वास्तव में अद्भुत, त्रासदीय, कामदीय और व्यंग्य साहित्य—सभी पूर्ण अन्वेषण-प्रत्नकथा में उपाख्यान हैं। नायक पर दैवी प्रकोप का स्रोत एक दैवी उत्प्रेरक पात्र होता है दूसरा साधन-पात्र। इनके अतिरिक्त पारिपार्श्विक पात्र होते हैं, जो सामाजिक विधि पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। त्रासदी में कामदी का बीज रहता है। व्यक्ति परिवार से और परिवार समाज से विलग हो जाता है। त्रासदी के प्रथम सोपान का नायक सर्वाधिक निर्विकार, साहसी और जीवन-सक्षम होता है। दूसरे सोपान में उसकी अनुभवहीनता पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है; तीसरे में दुःखान्त के बावजूद नायक के आदर्शों की विजय होती है; चौथे में नायक अपनी ग़लती और घमण्ड के कारण पतित होता है; पाँचवें में शौर्य कम होता है तथा व्यंग्यात्मकता बढ़ती है; छठे में संक्षोभ की प्रधानता रहती है और पैशाचिक जगत् का आभास मिलता है।

शिशिर-प्रत्नकथा व्यंग्य-साहित्य अनादर्शीकृत अस्तित्व की जटिलता और अस्तव्यस्तता को प्रस्तुत करता है। अद्भुत-कथा की व्यंग्यानुकृति ही इसका आधार-विधान है। इसके प्रथम तीन सोपानों में आक्षेपगर्भ आक्रामक व्यंग्य रहता है, और उनके नैतिक आदर्श स्पष्ट होते हैं। असंगत, अपरूप और विषम समाज पर आघात करने के लिए कल्पना-जगत् का निर्माण होता है। लेखक की दृष्टि से असंगति, अपरूपता और विषमता को चुनना स्वयं में ही नैतिक कार्य है। आक्षेप-व्यंग्य के लिए दो बातें आवश्यक हैं—कल्पनाजन्य ह्रास और आघात का विषय। प्रथम सोपान निम्नादर्श का है, जो विधिविरोध, अन्याय, मूर्खता और अपराध के जगत् को प्रस्तुत करता है। कथक सरल, सहजबुद्धि और लोकाचार को मानने वाला होता है। दूसरे सोपान में लोकाचार के मूल्यों पर आघात किया जाता है और अनुभव, सहजबुद्धि का पक्ष रूढ़िवाद के विपक्ष में लिया जाता है। तीसरा सोपान उच्चादर्शों का है, जो सहजबुद्धि पर विजय पाते हैं। चौथे सोपान में त्रासदीय स्थिति की व्यंग्यानुकृति की जाती है, पाँचवें में प्राकृतिक वृत्तों पर बल रहता है; और छठे में, जीवन सतत बाध्यता में जकड़ा हुआ प्रस्तुत किया जाता है।

: ५ :

स्पष्ट है कि पुरागाथा से नॉर्थ्रप फ्राई का तात्पर्य धर्म-कथा के किसी धार्मिक पक्ष या आध्यात्मिकता, विषयवस्तु की सत्यता-असत्यता से न होकर उसमें निहित साहित्यिक रूप के प्राक्साहित्यिक आधारगत संयोजक सिद्धान्त से है, जो साहित्यिक विश्व की सात बिंब-श्रेणियों को इक्कीस प्रस्थित रूपों में देखता है—प्रकृतार्थ को मूलरूपक में, मूलरूपक को गूढार्थ में और इन सब को पिंड-सार्वभौम में तथा साहित्यिक बिंबों की वृत्ताकार गत्यात्मकता को चार प्रत्नकथाओं के चौबीस सोपानों के रूप में। अर्थ और कथा की दृष्टि से फ्राई के प्रत्नकथा के प्राक्साहित्यिक आधारविधानों की परिसीमा के अन्तर्गत आज तक का विश्वसाहित्य समाहित हो जाता है, एक तो इसलिए कि उनके साहित्यिक प्रवर्ग समस्त साहित्य से ही प्राप्त किये गए हैं, और दूसरे इसलिए कि साहित्य और मनःकल्पना के इतिहास में फ्राई के अनुसार "सभी वस्तुएँ उसी सीमा तक नई हैं जहाँ तक वे पुरानी हैं।"[२०] फ्राई का मूलरूपकीय खाका जो रचना-विशेष की 'विलक्षणता' को पूर्ण साहित्यिक रूप के संदर्भ में देखता है, मात्र अन्योपदेशिक भाष्यकारों की भव्य बुद्धिचातुरी की निरर्थकता पर आघात करता है।[२१] फ्राई का मूलरूपकीय आधारविधान आलोचना-शास्त्र की वैचारिक रूपरेखा है, जो साहित्य से वैसे ही अनुमानित या प्राप्त की गई है, जैसे आधुनिक भौतिकशास्त्र की वैचारिक रूपरेखा स्वयं विश्व के अध्ययन से ही प्राप्त की गई है। फ्राई की अध्ययन-विधि वैज्ञानिक अध्ययन विधि के समरूप होने का दावा करती है और उनके अनुसार साहित्य का अन्तिम रूप अस्तित्वपरक न होकर गणित के अन्तिम रूप के समान 'स्वायत्तशासी भाषा' है।[२२] विज्ञान के समान ही फ्राई साहित्यानुमानित आलोचनात्मक विचार-रूपरेखा का प्रतिपादन साहित्य के अध्ययन के लिए करते हैं। अपने इस रूप में फ्राई की आलोचना-विधि उन सभी आलोचना-विधियों से भिन्न है जो किसी साहित्येतर मापदण्ड या वैचारिक रूपरेखा को साहित्यिक अध्ययन पर लागू करते हैं।

नॉर्थ्रप फ्राई का मूलरूपकीय सिद्धान्त गूढार्थक आलोचना पर आधृत होने के कारण रहस्यवादी है, लेकिन यह आध्यात्मिक रहस्यवाद न होकर साहित्यिक रहस्यवाद है—साहित्य का ऐशोन्मेषी मूलरूपक, गूढार्थक, पिण्ड-सार्वभौम वह बिन्दु है जहाँ "विषय, विषयवस्तु, सार्वभौम—आलोचक,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य, कवि, कृति, जगत् और साहित्य या स्वप्नजगत्—सभी उस 'एक' में विलीन हो जाते हैं जो सबका समाहार करता है, 'एक' जिसका रूप स्वप्नजगत् वैसे ही धारण करता है जैसे वह स्वयं मनुष्य की सर्व-संपरिवर्तक प्रसर्जनक्रिया बन जाता है।"[२३] नॉर्थ्रप फ्राई ने स्वयं कहा है कि उनकी मूलरूपकीय आलोचना साहित्यिक रसानुभव को हटाकर उसके स्थान पर साहित्यिक रहस्यवाद को प्रस्थापित करती है।[२४] अतएव फ्राई का मूलरूपकीय रहस्यवाद एक ओर उनकी मूलरूपकीय आलोचना को अरस्तू से लेकर आधुनिक शिकागो-संप्रदाय तक की रसवादी आलोचना से पृथक् करता है तो दूसरी ओर साहित्य-केन्द्रित होने के कारण, अफ़लातून के दार्शनिक मूलरूपकों के आध्यात्मिक रहस्यवाद से। युंग के मूलरूपक भी अध्यात्मवाद पर आधृत हैं जिन्हें "हमारी विचारणा भी स्पष्टतया ग्रहण नहीं कर सकती, क्योंकि उसने उन्हें कभी जन्म ही नहीं दिया,"[२५] जबकि फ्राई के मूलरूपकों की सृष्टि मानव-परिकल्पना ने मनुष्य की इच्छाओं के उत्तर में की है।[२६] फ्राई और फ्रायड में भी अन्तर है—फ्रायड के अनुसार काव्य में अर्थ का स्थानान्तरण कवि के वैयक्तिक जीवन से उसकी गुप्त इच्छाओं और उनकी विफलताओं से संबद्ध है[२७] जबकि फ्राई के अनुसार, मूलरूपकीय अर्थ का स्थानान्तरण, उसकी जन्मदात्री इच्छाओं और उनकी विफलताओं के ही समान, सार्वभौम और समस्त मानवजाति का है। फ्राई इच्छा का प्रयोग सामान्य अर्थ में करते हैं, "जिसका शारीरिक आवश्यकताओं और मनोवैज्ञानिक कमियों से कोई सम्बन्ध नहीं है।"[२८] समस्त मानव की, अर्थात् समग्र जन की, सुपरिचित इच्छा को साहित्य-सृजन का आधार मानने के कारण फ्राई की आलोचना एक अर्थ में लोकतांत्रिक और मानववादी है।

ऐशोन्मेषी और स्वच्छन्दतावादी होने के कारण नॉर्थ्रप फ्राई की मूलरूपकीय आलोचना बीसवें शतक की अस्तित्व-परक आलोचना से भी पृथक् है—टी० ई० ह्यूम ने क्लासिकी ससीमता पर बल दिया; टी० एस० इलियट ने अपने को क्लासिकीयवादी घोषित किया; जे० सी० रैन्सम 'विश्व की देह' पर ध्यान केन्द्रित करते हैं; ऐलन टेट का 'तनाव' अपनी प्रतीकात्मक उड़ान में प्रकृतार्थक यथार्थ को अपने साथ खींच ले जाता है; इलिसिओ वाइवस के अनुसार कवि को 'अनुभव के प्राथमिक तत्त्वों' पर बल देना चाहिए; मरी क्रीगर के अनुसार कविता में 'अस्तित्वपरक अभिव्यंजना' होनी चाहिए;[२९] और केनथ बर्क के अनुसार, "कविता को यथार्थ की सेवा करनी चाहिए।"[३०] इसके विपरीत, फ्राई अस्तित्व-परक प्रक्षेपण की निन्दा करते हैं, क्योंकि ऐसा आग्रह साहित्यिक विश्व की स्वायत्तता को नष्ट कर देता है और उसे 'निम्न अनुभूति-जगत्' में बदलने का प्रयास करता है। फ्राई के अनुसार, "साहित्य अपने स्वयं के ही विश्व में निहित है; वह जीवन या यथार्थ पर भाष्य कदापि नहीं है।"[३१] इसके अतिरिक्त, फ्राई की मूलरूपकीय आलोचना मूल्यांकन का कोई मापदण्ड नहीं देती; वह हर तरह के साहित्य को बिना किसी भेदभाव के अपनी विचार-रूपरेखा की परिसीमा में अध्ययन के लिए खींच लेती है। फ्राई मूल्यांकन के खोखलेपन पर प्रकाश डालते हैं और सिद्धान्ततः उसके विरुद्ध हैं। इसके बावजूद फ्राई के प्रतिपक्षी भी यह मानते हैं कि उनका मूलरूपकीय विधान अन्तर्दृष्टि और पैनी सूझ से पूर्ण है।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, मूलरूपकीय आलोचना आधुनिक पाश्चात्य जगत् का अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह है; नॉर्थ्रप फ्राई की आलोचना का इसमें विशिष्ट स्थान है। उनकी मूलरूपकीय विचार-रूपरेखा का अन्यत्र भी स्वागत होगा, केवल इसलिए नहीं कि वह अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वभौम होने के कारण परम्पराभ्रष्ट या परम्पराहीन राष्ट्रों के लिए विशेष आकर्षक होगी, बल्कि मूलतः इसलिए कि वह अन्तर्दृष्टि-उद्दीपक 'खुली पद्धति' होने के कारण विशेष उपयोगी होगी। जहाँ तक भारतवर्ष का सम्बन्ध है, प्रोफ़ेसर नॉर्थ्रप फ्राई की मूलरूपकीय आलोचना के व्याकरण का 'स्थानान्तरण' यहाँ की पुरागाथाओं के सन्दर्भ में बड़ी सुगमता से किया जा सकता है—एक बृहद् भारतीय-पुरागाथी आलोचनात्मक जागरण प्रतीक्षा कर रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पाद-टिप्पणियाँ

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. द मॉडर्न सेंचुरी (टरॉण्टो, १९६७), पृ० ११९।
२. फेबल्ज़ ऑव आइडेंटिटी (न्यूयॉर्क, १९६३), पृ० ५२।
३. विलियम के० विमसैट एण्ड क्लियंथ ब्रुक्स, लिट्ररी क्रिटिसिज़्म (न्यूयॉर्क, १९५९), पृ० ६९९-७००।
४. देखिए रिने वेलक और ऑस्टिन वॉरन, थियरी ऑव लिट्रेचर (हार्मंड्ज़वर्थ, १९६३), पृ० १८६-२११, ३४८-३४९; विमसैट और ब्रुक्स, पृ० ६९९-७२०।
५. विल्बर स्कॉट, फ़ाइव एप्रोचेज़ टु लिटररी क्रिटिसिज़्म (न्यूयॉर्क, १९६२), पृ० २४७।
६. फियरफुल सिमिट्री (प्रिंस्टन, १९४७)।
७. मरी क्रीगर, सं०, नॉर्थ्रप फ्राई इन मॉडर्न क्रिटिसिज़्म (न्यूयॉर्क, १९६६)।
८. क्रीगर, पृ० १-२।
९. फ्राई के विचार अनैटमी ऑव क्रिटिसिज़्म (प्रिंस्टन, १९५७) से ही प्रधानतया प्रस्तुत किए जाएँगे। अन्य स्रोतों का विवरण दिया जाएगा।
१०. द मॉडर्न सेंचुरी, पृ० १०५।
११. वही, पृ० १०६।
१२. अनैटमी, पृ० १३६।
१३. वही।
१४. मॉडर्न सेंचुरी, पृ० १०६।
१५. अनैटमी, पृ० १४३।
१६. क्रीगर, पृ० ६।
१७. द मॉडर्न सेंचुरी, पृ० १०६।
१८. नार्थ्रप फ्राई, द वेल-टेम्पर्ड क्रिटिक (ब्लूमिंग्टन, १९६३), पृ० १५५।
१९. फेब्ल्ज़, पृ० १२०।
२०. वही, पृ० ५२।
२१. अनैटमी, पृ० ३४१-३४२।
२२. वही, पृ० ३५०-३५१।
२३. क्रीगर, पृष्ठ १३।
२४. अनैटमी, पृष्ठ ३५०।
२५. फ्रीडा फॉर्डम, 'अन इन्ट्रोडक्शन टु युंग्ज साइकॉलोजी (हार्मंड्ज़वर्थ, १९६६), पृष्ठ २८ पर युंग के 'टू एसेज़ ऑन ऐनालिटिकल साइकॉलोजी', पैरा ११९ से उद्धृत।
२६. फ्राई, 'दि ऐड्यूकेटिड इमैजिनेशन' (ब्लूमिंग्टन, १९६४), पृष्ठ ९८-१००।
२७. फ्रायड : 'डिक्शनरी ऑव साइकोअनैलिसिस', सं० फाडर और गेनर (न्यूयॉर्क, १९६६) में 'ड्रीम', 'न्यूरासिस' और 'विश-फुलफिलमेन्ट' पर देखिए।
२८. फेबल्ज़, पृष्ठ १५२।
२९. क्रीगर, पृष्ठ ७-१२।
३०. वही, पृष्ठ ७५ पर विमसैट द्वारा उद्धृत।
३१. अनैटमी, पृष्ठ १२२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तलघर | *प्रमोद सिनहा*

लंबी यात्रा के बाद—
सब वहाँ आ गए, जहाँ
बोलते हैं इतिहास की भाषा
और वह खुद-ब-खुद लिख जाता है

भाषा का प्रश्न इनके बीच
कभी नहीं उठता
क्योंकि इनके पास कहने के लिए
नहीं है बहुत कुछ विस्तार से

यहाँ उड़ती हुई धूल आवाज़ को मैला करती है
और पैर गन्दे हो जाते हैं
एक जगह से दूसरी
जगह उठ-उठ कर बैठने में

सभी पढ़ते हैं
छपते रहते हैं इश्तहार
पर ख़रीदने वाले कम हुआ करते हैं
इसलिए—यह निश्चय हुआ कि अब कोई
यहाँ जीवन की भूमिका नहीं लिखेगा, लेकिन
सारे निर्णय तोड़े
लिया था पुत्रवत जिन्होंने।
और रख दिये फ़ैसले को ताख पर
अच्छे दिनों के नाम

ऐसा कैसे संभव हुआ कि
एक-एक घर में इतने आदमी रहते हैं
और एक-दूसरे की जड़ नहीं खोदते।

अक्सर कहते हैं—
सारी दुनिया को चाहिये
पैसा-लड़की-और मकान
कितने आदिम हैं ये ?

हर शाम—
अपने गले में तख़्तियाँ लगाए घूमते रहे कि
प्रबुद्ध अधिक हम…
कर सकते सही ग़लत की तलाश सहज रूप में

लेकिन यह घोषणा अच्छी नहीं हुई क्योंकि
जहाँ-जहाँ उत्तेजना की भाषा थी
स-ह-सा बंद कर दी गई, तलघर में—
ख़तरा टालने के लिए

तलघर—एक तल्ख़—सीलन-बदबू-सड़ांध
भरी गयी औरतें साथ देने को,
जिनसे संभावना थी खड़ी कर लेगी
रोशनी की दरार।
एक शब्द ता…बू…त
शहर के नीचे एक दूसरा शहर
बहती हैं जिसमें मटमैली नालियाँ—
कीट—पतिंगे—चींटियाँ, घूमते तेलचिट
देह की सुरक्षा में व्यस्त।
इनकी मस्ती लोक-गीतों तक सीमित हो गयी।
करते शिकार केकड़ों का, खुशियाँ मनायी जातीं
हिस्से बांटे जाते और तब
यह सब अँधेरी रोशनी हो जाती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काला सूरज उगने पर एक [illegible]
साथ कन्याओं ने किया प्रसव
तब पहली बार रोशनी जलाई गई
सभी मश्कें लिए झुंड में बैठे रहे उत्सव के लिए
क्योंकि नहीं था किसी एक का जन्म-दिन
पैदा हुआ था स-मू-ह
विरासत में लिए हुए अँधेरे का मनोविज्ञान
सब-कुछ उन्हें रोशनी जैसा लगता
देख सकते थे बारीक सूइयाँ
और उनमें रंगों की पहचान
ऊपरी आँखों से अधिक थी,
वैसे ही नहीं
इस भाषा में इनके अलग नाम थे

अक्सर बाहरी दुनिया के लोग
तलघर में झाँकते
सुनने आते आराम सुविधा की शिकायतें
और हँस-हँस कर भरे-पूरे आश्वासन के साथ
लौट जाते
देखते सब

उ···त्सु···क···ता···से
लोग बड़े-बड़े-गम बूट पहने हुए
सीढ़ियाँ उतर रहे हैं।
पहले टाँगें दिखती फिर धड़ और सिर दिखने तक
फैल जाती सूचना पूरे तलघर में
—'कुछ महत्त्वपूर्ण लोगों ने कृपा की है आने की
बूढ़े नि···रा···श
इस आने-जाने से
क्योंकि जानते थे
सांत्वना की उपयोगिता जीवन के लिए क्या है?
यह दाँत नहीं बन सकती
न इससे रोटियाँ तोड़ी जा सकती हैं।
लेकिन
इन्हें पैदा होते ही विरासत में मिली थी, केवल

[illegible]
इतनी तल्ख़ी जी लेने के बाद
उनकी दीवार की नींव अविश्वास थी
होती थी यहीं से सोचने की शुरुआत।
अक्सर वे कुएँ की जगत पर बैठ
सुना करते वृद्धगाथा—

हर बार ऐसा क्यों किया गया
कि हम सब उसी ओर देखते रहे
और लंबे-चौड़े वादे दोहराते रहे
यह दशक उनका नहीं था
न वे बुनियाद पर खड़ी दीवार ही उनकी थी
वे सब घुसपैठिये थे
जिन्होंने अपनी हथेली पर नमक लगा रक्खा था
और वे कुत्ते हर बार उसे ही चाटकर लौट आते थे।
शब्दावलियाँ बदल दी गईं
और वे खुश हो गए, गहरा परिवर्तन पा
पर उनकी समझ पर छींटे पड़े थे

सारे अनाज को बड़े पैमाने पर खरीद
कील कर दिया गया
और शोर कर दिया गया
कि पूरे प्रदेश में सूखा पड़ा है
छोटे-छोटे लड़के चौपाल में बैठे किस्से सुन रहे थे
और कुछ बाप-दादे बतला रहे थे—
गाँव के बीचोंबीच एक नहर खुदेगी और तुम···
अपनी-अपनी डोंगियाँ तैरा सकोगे
कुएँ तालाब जैसे होंगे
जिसमें भैंसें नहायेंगी
गढ़ों में मछलियाँ होंगी
मनमानी झख मारोगे।
लेकिन उनकी अपनी भाषा कहाँ थी?
अँधेरी गुहा में वे दूर-दूर तक भटकते रहे थे और
हर बार गूँगी दीवारों से पूछते रहे थे
अनगिनत प्रश्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एबारा-दोबारा
फिर भी उन्हें लौटती आवाज़ों से अनुत्तरित ही रह
जाना पड़ा था।
शब्दों में
उँगलियाँ नहीं धँसती
सख्त —काँच की तरह पारदर्शी
नदी बहती जा रही थी गहरी
जिसे देखते-देखते सुबह हो गयी।
अब—प्रतीक्षित जगह पर ढेर सारे कौए उतर
आये थे
…पर ये कहाँ जायेंगे?
उनके नकली घोंसलों पर नाक लगाये बिल्लियाँ
बैठी होंगी
और सुरक्षित मीनार डालों पर टँगी होगी
लेकिन—
उनके घोंसलों तक कोई गुफावासी नहीं जा सकेगा
और उनसे बिना पूछे जादुई लकड़ी नहीं ला सकेगा।

लम्बे चौड़े प्रस्ताव…और
फिर लौटा लिये गए
ऐसा कभी नहीं हुआ कि सारे रिश्ते मंजूर कर
लिये गए।
एक लम्बी कतार खड़ी कर दी गई
पीपा पुल से पानी निकालने के लिए
अब… … …?
वे अपनी परछाइयाँ देखकर खुश हो रहे थे
चिलम पी रहे थे क्योंकि यह सब आयातित था

उनके लिए सब मनु एक ही संतान से पैदा हुए थे
जिनकी नावें हिमालय नहीं, चंबल की घाटी में
लगी थीं

और वे सब सिर के बल उतारे गये थे

सुना जाता है वे सब, राजधानी की ओर लौट गए थे
और लौटती बार सभाओं में बोले थे—
हमसे कुछ, जनता से कुछ, संसद से कुछ
गोया वे बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्तित्व थे
जिसके भीतर हीनता-ग्रन्थि न थी।
लेकिन सारे संघर्षों के बावजूद उनका भविष्य
ग़रीब बच्चों की तरह था।
कभी-कभी—सोचते-सोचते वे
देखने लगते
दि…वा…स्व…प्न
गिर रही हैं
सीलन बढ़ जाने से
दीवारें, आमने-सामने की।
रोशनी बहने लगी है
सूरज डूबता जा रहा है
हवा आ रही है ठंढी, जैसा सुन रक्खा था
उन्होंने अपनी कथाओं में

ऊपर छत नहीं होगी
आसमान के छाते में खड़े
किस तरह देखेंगे
ताड़ के लम्बे वृक्ष
मीठे फल की झाड़ियाँ, बड़-पीपल।
यह एक आश्चर्य है कि उसके नीचे
एक साथ खड़े हो लेते हैं—
सैकड़ों लोग—और
ऊपर ताकने पर पत्तों के सिवा
और कुछ नहीं देख सकते

पर वे ज़रा हटकर खुले में रहेंगे खड़े
देखेंगे—आसमान
जिसके ढेर सारे पर्यायवाची नाम
छापे गये हैं कोश में
क्या सही हैं?
सितारे चमकेंगे—
और आपस में घुल-मिलकर बातें कर लेने के बाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

सो जायेंगे चौपाल से लौटे हुए आदमी की तरह
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

याद्दाश्त ठीक नहीं—
सुना है—
रात-भर एक ही तरह की सूरत रख
सुबह ऊब से बचने के लिए मेकअप बदल लेते हैं
तब उन्हें पहचाना नहीं जा सकता।
हवाएँ तेज़ बहती हैं
आदमी के बाल खड़े हो जाते हैं
उड़ने लगते हैं फरफराते हुए
कितना मज़ा आता होगा ?
केवल आदमी नहीं उड़ता।
रोशनी हुआ करती है सड़कों पर
चाहे कोई चले या नहीं
और बल्ब रास्ते-भर अपनी आदत बिखेरते हैं।

देखेंगे नमक के, पहाड़
घुलकर नमकीन शर्बत बन जाते होंगे ?
खदानों में काम करते आदमी
कोयले, अबरक, शीशे—ढेर-के-ढेर।

सुना है—
होती हैं वहाँ—
पाप की मुद्राएँ अलग-थलग
डरते हैं आदमी लगातार
कहते———हैं,
'बचने के लिए जूते बदल लो'
सब-कुछ अतीत है
और वे चाहते हैं वर्त्तमान से अधिक भविष्य
कोरे अखबारी।
आखिर हमें ही क्यों वंचित रक्खा गया ?

छपा था
ऊपर लोग कोई लम्बा सौदा तय कर रहे हैं
वे नहीं चाहते, बाधक बने कोई

मुट्ठियाँ निर्माण से कसने लगी थीं
और वे फाड़ने लगे थे पोस्टर
पूर्वजों के जहाँ कभी भी थे।
यह कैसी भाषा थी—
जिसे ज़ुबान से नहीं व्यक्त किया जा सकता
केवल हाथ ही संकेत—
परम्परा और स्वीकार के नाम पर—
एक थूक।
दीवार भरने लगी गोटियों की तरह
और देखते-देखते तलघर दीवारों पर
चेचक निकल आये।

कोई पिता नहीं
सब—केवल आदमी
औरतें, बच्चे……;
बीच की स्थिति इनके लिए असह्य थी
श्रेणियों में बँटे हुए लोग ?
छोटे-बड़े कुछ नहीं—
क़द उनके लिए जन्मजात पूँजी थी
डर का आभास भी खुद से
उल्लंघित नहीं थी अँधेरी व्यवस्था
उनकी बाढ़—
फैली थी ऊपर
जड़-शाखा—टहनी-पत्तियों की तरह
कुछ भी भटकने नहीं पाता—
और नीचे सम्बन्ध
बने रहते थे यथावत
बिना टूटे-काँच के खिलौनों की तरह।

आबादी बढ़ती जा रही थी
फैलती जा रही थीं गंदमी-सड़ांध—
नाक पर रूमाल लगाये घूमते थे निवासी इधर-उधर
छपती सारी खबरें
य…था…व…त
बढ़ती थी उत्तेजना—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आ। त्म। बो। ध। खुद को जानने-सुनने,
जिज्ञासा भविष्य की एक साथ जन्म लेती
भीतर-ही-भीतर

छप रहा था—इतिहास-चक्र
निरर्थक—
अनायास—
अपनी गति से (वर्तमान) पाठ्यक्रम की तरह

एक शाम इकट्ठे होने लगे सारे लोग अपने नियत
समय पर
फैलने लगी भभक पसीने की
लथपथ, निर्णय स्वीकार
बिना किसी बहस-मुबाहसे के
'नहीं तलघर स्वीकार'
रोशनी वापस मिले जिसे सुना अपने पूर्वजों से

देखने लगे ऊपर के प्रतिनिधि
सूराखों से,
यह भाषा, कैसे जन्म ले गयी ?
डालेंगे खतरे में वर्तमान
आखिर उन सम्बन्धों का क्या होगा
जो अब तक हमने बनाये
और रखते रहे इन्हीं के लिए गद्दियाँ-फिर गद्दियाँ
तह-की-तह आराम के लिए।

यह उत्तेजना ?
इसका दबाव खाली कर देगा इन्हें
नियति शताब्दी की सोचने की भाषा—
ठंडी है

एक प्रस्ताव आया
आ…श्वा…स…न
दूसरा प्रस्ताव—
तीसरा—

फिर…चौथा
……….,

एक लम्बी तलाश के बाद
इनकी भाषा दृढ थी
'…………'
'…………'

चाहिए उन्हें अपने शब्द हक……।
बदली व्यवस्था
जिससे वे अपने वर्तमान
लौटा सकें—
गढ़ सकें आदमकद, अपनी शक्लें

देख सकें पूर्वजों के देश—
जड़ें कितनी गहरी हैं।

अब तो प्रायः हर दोपहर ऐसा होता, कि
सभी लोग जगत पर धीरे-धीरे जाते और
अपने-अपने साँपों को छोड़कर
चुपके से लौट आते उस गोल खम्भों वाले नगर में
कोई किसी से कुछ भी नहीं बोलता
शब्द कहीं खाये हुए

हर तरफ़ हरियाली—बर्फ़—ऊँचाइयाँ
० लेकिन अब तो—
इस सन्नाटे में पहाड़ उगाने होंगे
झरने बनाने होंगे ताकि इन साँपों को
वक़्त-बेवक्त
तैरना सिखाया जा सके

प्रस्ताव फिर आने लगे—
'………'
'……………'
'………………'

लोग चिल्लाने लगे—य। ह। ग। ल। त
य। ह स। ब ग। ल। त है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाता जाने लगा गोल खंभों वाला भवन
बीच की भाषा खो गयी
सारा कुछ हिलता—; अनस्थिर मुद्राएँ
पहचान की भाषा खो गयी।

हर तरफ़ विस्मय
तारकोल, लम्बी सड़क
बढ़ते अनगिनत पैर

टू त
ट ल
ता घ
र

—गे, आगे, फिर और आगे
और ये नारे सहित एक निश्चय के साथ ही
जनम गए।

अब
इस द्वीप में
बहती है मीठे जल
—की
फंतासी नदी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युवा पीढ़ी : आहत होते जाने और किए जाने की प्रतिषिद्ध जिजीविषा का नामांकन

हृषीकेश

युवा पीढ़ी—एक ऐसा भाववाचक, अनुभव-समर्थित वायवी नाम, जिससे एक ही साथ कई बोध जुड़ जाते हैं; उसके बहुत-कुछ होने की छितरायी समग्रता का—अत्यन्त तेजोमय, इमैक्यूलेट, स्थितप्रज्ञ, प्रत्यक्षतः हैपी-गो-लकी, मेधावी, अन्वेषी, सावधान, प्रभामण्डित, स्फुरणशील, कल्पनाग्रस्त, अनौपचारिक, कुपित, अस्वस्थ, पिशुन, प्रमादी, मोनोलिथ, आश्वस्तिभीरु, रिज़रेक्शनिस्ट, अवसन्न, मिसफ़िट, रेक्लूज़िव, निःसत्व, डिस्मल, दुर्विनीत, पराङ्मुख एवं निश्चय ही बेहद टर्बुलेण्ट। बेहिसाब निर्दोष, कृत्रिम और आदिम। और भी नाम दिए जा सकते हैं, किन्तु उन्हें अभी दिए जा चुके नामों की शरण में तलाश लिया जा सकता है। ऐसे सारे शब्द, जो कोई-न-कोई नाम देते हैं, अब केवल स्थिर नामों के स्थिर शब्द नहीं रह गए हैं, क्योंकि अब हर शब्द एक व्यापक स्थिति है और इस तरह हर शब्द जीवन की अन्तर्भूत करुणा का प्रखर अनुभव भी है। पूर्ववर्ती पीढ़ी 'मूल्य', 'चेतना', 'दायित्व' जैसे तमाम शब्दों को उपदेशित करती थी, युवा पीढ़ी ने ऐसे सारे शब्दों से बिदककर उनकी व्यंजित स्थितियों की अन्तर्भूत करुणा से निस्संग साक्षात्कार किया है। 'अभाव', 'भूख', 'बेकारी', 'यौनकुण्ठा' इत्यादि की अच्छी-से-अच्छी परिभाषाएँ पूर्ववर्ती पीढ़ी के पास मौजूद हैं, युवा पीढ़ी के सामने इन शब्दों की स्थितियों की ध्वन्यात्मकता की ग्रहणशीलता का अनुभव संसार है। इस संसार में रहने आकर युवा पीढ़ी ने गँवाना अपनाया है और बहुत क्रूर और मानवेतर होते जाना उसे प्रिय लगता गया है।

एक वर्ष पहले प्रकाशित 'विकल्प' अर्धवार्षिक के प्रवेशांक के अपने निबन्ध में मैंने युवा या नयी पीढ़ी को स्पष्टतया पहचानने और उसके व्यथाधर्म को अनुसूचित करने का प्रयास किया था तथा 'संभावना' के प्रवेशांक में युवा पीढ़ी के यंत्रणाओं में घिरे होने पर भी विचार दे चुका हूँ। इन स्थापनाओं को अपनाते हुए 'अनास्था' के एक अंक में बहुत ठेठ बयान आ चुका है जिसका उल्लेख 'आलोचना' के पूर्णांक ४१ के सम्पादकीय में है तथा अन्य बहसों में भी। मुझे लगता है कि मेरी बातें युवा पीढ़ी को कहीं केवल आदर्शवादी न लगती हों, और यदि ऐसा है तो किसी 'संवाद' की अपेक्षा हो नहीं सकती। किसने कब 'संवाद' चाहा और किसने कब 'संवाद' को व्यर्थ बनाया यह इस बात से कतई सम्बन्ध नहीं रखता कि 'संवाद' का वातावरण तनावों की स्थितियों से मुक्त था या नहीं। इससे यही सिद्ध हो सकता है कि अपने-अपने मौकों पर युवा पीढ़ी और उसकी प्रतिस्पर्धी पीढ़ी, दोनों ने एक खास किस्म का निकम्मा 'ऐडवेंचर' किया और खुश करने की नौबत पर उतरना पड़ा। सही बात इतनी है कि जब दोनों ही 'संवाद' की ज़रूरत पाएँ, तभी 'संवाद' की प्रक्रिया संभव है। इस स्वीकारोक्ति के साथ मैं यह कहने की स्थिति में हूँ कि काल के एक और आयाम का स्वामित्व चाहता होऊँ तो मेरे लिए इसकी चरितार्थता ही ग़लत है, क्योंकि गुलाम देश में पैदा होकर भी मैं युवा पीढ़ी से अलग तो नहीं हूँ। विशेष स्थिति मेरी यही हो सकती है कि अपनी ही पीढ़ी से और अपनी ही पीढ़ी में 'संवाद' न करा पाने की मेरी असफलता युवा पीढ़ी को उन नामों के देने के कारण ही होगी जिनके उल्लेख से इस निबन्ध की शुरुआत की गई है। मैं गम्भीरता से महसूस करता रहा हूँ कि युवा पीढ़ी का संवाद-सूत्र न केवल अपने पूर्ववर्तियों या बिचली पीढ़ी से टूटा नज़र आता है वरन यह भी कि खुद युवा पीढ़ी में अपने संवाद-सूत्रों की आत्मीय-भावना नहीं है। यह बात चाहे अनुभव कर ली जाती हो कि 'निराला' या मुक्तिबोध या इसी अभिप्राय के लिए और भी कुछ नामों से युवा पीढ़ी का 'संवाद' रहा है, पर सच यह है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि यह तथ्य केवल, उत्तम कोटि [illegible] है। इस स्थापना की संगति तर्कसिद्धता में नहीं है, क्योंकि क्या यह हकीकत नहीं है कि 'निराला' या मुक्तिबोध जैसे नामों से युवा पीढ़ी के संवाद-सूत्र को स्वीकार करने के पीछे यह अपरिहार्यता नहीं है कि युवा पीढ़ी अपनी जिन विशिष्टताओं, गुणों, साहसिकताओं, आहत होते जाने और किए जाने की गहराइयों को बहुत रोमांटिकता की सीमा पर सगर्व अपनी मौलिकता बताती है वह उसमें 'निराला', मुक्तिबोध को अपने से कई बालिश्त ऊपर अधिक सहज, अप्रतिहत और दबंग पाती है और यह भी कि संवाद-सूत्र मानने में युवा पीढ़ी के पास यह मानने के सिवा विकल्प-भाव नहीं है कि 'निराला', मुक्तिबोध का बहुत ओजस्वी कुछ उसमें तो है, उसका अपना ज़्यादा कुछ फ़ोहश 'निराला', मुक्तिबोध में नहीं था। उन्हीं की पीढ़ी में उन अन्यान्य लोगों से युवा पीढ़ी का 'संवाद' नहीं हो सकता जो संवाद-बोध के मामले में अजीवाणुक रहे—'संवाद' की बेचैनी के अहसास के प्रति पूर्णतः अपरितप्त।

युवा पीढ़ी के साथ 'संवाद' की स्थिति के न होने की संभावना के बारे में यह बात सही है कि उसकी गहरी उपेक्षा की गई, किन्तु यह कारण भी है कि 'संवाद' के लिए इच्छुक होने की सक्षमता युवा पीढ़ी में नहीं रही। युवा पीढ़ी में 'संवाद' कराने की इच्छा का मुखर होना उसके प्रति बरते गए उपेक्षा-भाव का पछतावा नहीं है, बल्कि अक्षमताओं के घेराव में युवा पीढ़ी का समर्पणशील हो जाना, भविष्य की संभावनाओं के प्रति अपनी अदूरदर्शिता की याद ताज़ा करना है। युवा पीढ़ी पहले जब 'संवाद' चाहती थी (क्या वह यही युवा पीढ़ी थी? कहीं बिचली पीढ़ी से आशय तो नहीं है!) तब उपेक्षा हुई (यानी बिचली पीढ़ी की, या बिचली पीढ़ी की भी, उपेक्षा हुई), अब जब संवाद चाहा जा रहा है तब युवा पीढ़ी इच्छुक नहीं है (युवा पीढ़ी क्या कभी इच्छुक रही); यह स्थिति इतनी रूढ हो चुकी है कि उसे तोड़ने का सवाल है—और सारे सवाल अपने-आपसे हैं—यह सब केवल तर्कनिष्ठ नीति-भाव हैं। शायद सवाल इस बात को लेकर ही हो सकता है कि 'संवाद' कराने की शर्तें किसकी हों—युवा पीढ़ी की शर्तों पर 'संवाद' चले या बिचली पीढ़ी समेत सभी पूर्ववर्तियों की शर्तों पर। हमारे जनतंत्र की सारी शर्तें हमारे पूर्ववर्तियों की हैं, यहाँ तक कि जनतांत्रिकता खण्डित कर डालने तक का जनतंत्र चाहने की शर्तें भी, और इन शर्तों की रक्षा की चिन्ता लेकर 'संवाद' की स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती। युवा पीढ़ी की बहुत बुनियादी शर्त यह हो सकती है कि न केवल पूर्ववर्ती पीढ़ी अपनी शर्तों की स्वार्थन्यस्तता ढीली करे वरन् शर्तों की स्थिति से मुक्त भी हो। यह आसान बात नहीं मानी जा सकती। 'संवाद' की स्थिति उत्पन्न करने की पहल में भी दखल बनाने की अवसरवादिता घोर संक्रमण की स्थिति कायम रख सकती है। कहना न होगा कि जिसे हम युवा पीढ़ी के प्रति अपनी उपेक्षा या उस उपेक्षा के समय में युवा पीढ़ी का 'संवाद' के लिए इच्छुक होना तथा अब 'संवाद' के लिए अपनी इच्छा का जगना किन्तु तब तक युवा पीढ़ी का 'संवाद' चाहने से विरत हो जाना कहते हैं, वह मूलतः इतना है कि पहले युवा पीढ़ी की अपनी शर्तों पर 'संवाद' कराने की उम्मीद (बहुत ईमानदार और वाजिब उम्मीद) को हमने अपनी शर्तों पर झुकाने के प्रयास द्वारा निरर्थक बनाया और अब यदि हम 'संवाद' के लिए युवा पीढ़ी की शर्तों पर शुरुआत करने को तत्पर होने लगते हैं तो भी उनकी शर्तों की परिणति अपनी शर्तों के अखण्ड विस्तार में ही चाहते हैं—और यथास्थिति बनाए रखने का यह भाव युवा पीढ़ी के लिए शंका, अविश्वास, परायापन और क्षोभ मानने की बात हो गई है। यह केवल एक प्रासंगिक बात है कि इन दिनों एक कोई विप्र गोस्वामी नामक महाशय होने लगे हैं जिन्होंने 'संवाद' साबित कर डाला है।

युवा पीढ़ी विसंगतियों की मार खा रही है यह सन्देह की बात नहीं है और इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि युवा पीढ़ी ने अपने समूचे निर्माण-क्रम या विकास-प्रक्रिया को स्वभावहीन और स्थापनाच्युत बनाया है, किन्तु इस बनाए जाने के पीछे पूर्ववर्ती पीढ़ी का वह तमाम स्वच्छन्द, निर्विघ्न अवसरवाद है जिसके संस्कार में मध्यकालीन मूल्यबोधों के परवर्ती निषेधों का गहरा जमाव है। ऐसे ही निषेधों से मुक्त होते जाने के क्रम में युवा पीढ़ी को अपने पूर्ववर्तियों से 'संवाद' की संभावनाओं से मुक्त होते जाना भी सुलभ हुआ है।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद, मध्यकालीन मूल्य-बोधों के परवर्ती निषेधों के गहरे जमाव के संस्कार में ग्रस्त हमारी पूर्ववर्ती या अभिभावक पीढ़ी को युद्धोत्तर विवशताओं की जिन जवाबदेहियों के गुज़रने की भारी मानसिक यंत्रणा का चाप सहना पड़ा, उसने उसे विवेक देने के बजाय निकट रूप से पराजयबोध दिया और इस पराजयबोध को दूसरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह कहें तो वह उस पीढ़ी का नितान्त आत्मकेन्द्रित और निरन्तर अनुपस्थित होते जाने का क्रूर आभास था। व्यक्तिगत जीवन, पेशेवर जीवन, अलग-अलग समूहों के विभिन्न जीवन और अन्ततः बहुत प्रकट एक मान्य सामाजिक जीवन को अवसर और सुविधा के मुताबिक जीते हुए दोहरी-तिहरी ज़िन्दगी जीने की संभावनाएँ ख़त्म होती नज़र आने लगीं। उसी पीढ़ी के माध्यम से यह उन संस्कारों के अन्त की सूचना थी जिसमें मनुष्य के आपसी रिश्तों के नामों, कामों, निर्वाहों, अपेक्षित बन्दिशों का लोकमत निर्धारित था और ऐसे निर्धारण की ऐतिहासिक आवश्यकताओं में साम्राज्यवाद, गुलामी, के तई तर्कातीत विनयशील विवशता, प्रश्नरहित आज्ञाकारिता, आत्मप्रतिष्ठाशून्य अनुशासनप्रियता, निजत्वहीन अनुमोदनप्रियता तथा सर्वथा आरोपित मर्यादावाद की बदबू थी। प्रत्येक व्यक्ति की एक ही साथ दो नैतिकताएँ होती थीं, नैतिक मर्यादा पोषित जीवनाचार मनवाने की तथा खुद ढोने की। आज जिसे युवा पीढ़ी पूर्ववर्तियों की बुज़दिली, ढोंग, कृत्रिमता, कपट तथा अपने लिए स्पष्टवादिता, साहसिकता, वस्तुपरकता और अनौपचारिकता कहती है वह और कुछ नहीं, केवल पूर्ववर्ती पीढ़ी का व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन का विरोधाभास बनाये रखने और उसका अपने द्वारा इन्कार जताने का आग्रह है। पूर्ववर्ती पीढ़ी के लिए व्यक्तिगत जीवन की कोई सामाजिक मान्यता स्वीकरना संभव था ही नहीं और इस जीवन को वह पीढ़ी बहुत ऐकान्तिक बनाकर जितनी स्वच्छन्दता से जीती थी उतनी ही युवा पीढ़ी ने यह जताया है कि यदि कोई जीवन-शैली छिपाकर बरती जाती है तो क्यों न उसे आधुनिक जीवन की एक प्रक्रिया मानकर स्वीकार कर लिया जाय। ऐयाशी कर आने, रिश्वत ले चुकने, ऊँची पहुँच का फ़ायदा उठा चुकने, सेक्सीय परवर्शन निभा आने के बाद निरामिष आस्वाद में उद्घोषणाएँ करने की कौन-सी मानवीयता हो सकती है! युवा पीढ़ी ने पिता और पत्नी दोनों के प्रति समान वितृष्णाएँ ज़ाहिर की हैं और पिता के माध्यम से उसने समूचे अभिभावक वर्ग की साम्राज्यवादिता और पत्नी के माध्यम से गुलामी को उसने नकारा है। अभिभावकवर्ग की निरंकुश स्वार्थन्यस्तता और पत्नी-भाव की अर्थहीन और अमानवीय समर्पणशीलता दोनों ही में उसे निरी कायरता, धोखा और पुंसत्वहीनता नज़र आई है। यही कारण है कि अभिभावकीय दुराग्रहों से युवा पीढी जेहाद बोलती है और समर्पणशील नारी से वह ऊबती-उकताती है, क्योंकि अपनी-अपनी जगह दोनों ही स्थितियाँ उसे मजबूरी अपनाने की नियति जान पड़ती हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर दिया जाए कि अभिभावकत्व केवल पुरुषों के सन्दर्भ में या समर्पणशील नारी केवल नारी के सन्दर्भ में अभिप्रेत नहीं है और पीढ़ी के उल्लेख में दोनों ही व्यंजित होते हैं। युवा पीढ़ी सोचना-समझना सीखने की वय प्राप्त करते ही शिक्षा के उद्देश्य की निस्सारता, शिक्षा और रोज़ी-रोटी के पेशे के बीच विवादी अवहेलना, अभिभावकों-शिक्षकों-अधिकारियों-संस्थानों में व्याप्त कलुषता, विवाह के प्रति बरती जाने वाली दुनियादारी, विवाह की आवश्यकताओं और दाम्पत्य-जीवन की खिंची चली आ रही रुग्ण नियमितताओं, सन्तानोत्पत्ति के संदर्भ में साम्प्रतिक जीवन की दुराशाओं के माध्यम से उत्पन्न भयातुरता इत्यादि विभिन्न महत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर पूर्ववर्ती पीढ़ी की लकीर से दूर हटकर आत्मसाक्षात्कार के आधार पर व्याकुलता से ग़ौर करती है। समूचे जीवन में तिरस्कार की मुद्रा ने उसे कहीं बहुत आत्मनिर्भर हो जाने की स्वच्छन्दता दी है। पूर्ववर्ती पीढ़ी की देशभक्ति, आदर्शोन्मुखता, सदाचार, नैतिक अनुशासन और आचरणों की पाबन्दी का बयान उसने सुन या पढ़ रखा है तथा उस पीढ़ी की प्रत्यक्ष देन—घोर धाँधली, रिश्वत-प्रेम, सिफ़ारिशबाज़ी, अड़ंगेबाज़ी, स्वार्थान्धता, जालबट्टा, सभी प्रकार की भ्रष्टताओं में अदम्य विश्वास वग़ैरा को अपने ऊपर झेलते हुए पाती है कि समाज का सारा इतिहास झूठे और दंभी वक्तव्यों से भरा पड़ा है, जीवन एक अव्यक्त, मन्तव्यहीन और सारहीन अवसरवाद का नाम है जिसके प्रति किसी का कोई दायित्व मानना धोखा है। यह विचित्र बात है कि युवा पीढ़ी की ऐसी तीव्र और मौलिक प्रतिक्रिया को वाणी देने वाला, स्वयं पूर्ववर्ती पीढ़ी का विशिष्ट व्यक्तित्व है—सार्त्र। कहा जा सकता है कि सार्त्र ने अपने विवेक में युवा पीढ़ी की जो अगुआई की है उसमें उसके अप्रतिबद्ध होने वाले मंत्र को तो युवा पीढ़ी अपना नुस्खा समझकर ले उड़ी, किन्तु सार्त्र के अगले सन्देश—कि जीवन को हम प्रयोजन देते हैं—इसका युवा पीढ़ी ने मतलब लगाना ज़रूरी नहीं समझा। सार्त्र की सारी चिन्ता इस प्रयोजन को लेकर है और अप्रतिबद्धता से शुरुआत करने वाले सार्त्र का फ्रांस की विराट् देश-व्यापी उथल-पुथल में अगुआई करने जाना जीवन को प्रयोजन देने की प्रतिबद्धता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

निभाना है। पता नहीं हमारे देश की युवा पीढ़ी [illegible] के इस अत्यन्त अर्थपूर्ण अभियान से क्या पाती है जबकि यह मान ली गई बात है कि वह पूर्ण विद्रोह के मूड में है। ऊपरी तौर पर लग सकता है कि युवा पीढ़ी के विद्रोह का समवेत स्वर पूरी व्यवस्था के प्रति है, अतएव उसमें कोई आधारभूत प्रयोजन भी अवश्य निहित है। किन्तु सत्यता इस बात में है कि युवा पीढ़ी का विद्रोह बहुत निजी स्तरों पर है और अप्रतिबद्ध होने की छूट लेने के इरादे में उसका निजी स्तरों की सुविधाएँ चाहना स्पष्टतया आभासित होता है। युवा पीढ़ी का निजी स्तरों पर विद्रोह, सामाजिक स्तरों से उसके बहिष्कृत हो जाने के अनुभवों का प्रतिफल है। हमारे भारतीय संस्कार में जहाँ आज भी प्याज-लहसुन खाना वर्जित है, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की कठोर परिभाषाएँ हैं, तमाम दायित्वों की प्यूरिटनिक व्याख्याएँ हैं, पारिवारिक सम्बन्धों की आरोपित ज़िन्दगी है, उसे ध्यान में रखते हुए युवा पीढ़ी का मांस-मदिरा का सेवन करने लगना, सेक्सीय अभियान में मुक्त हो जाना, पत्नी को छोड़ देना या ऐसा सारा काम बहुत साहसिक लगता है और इसे वह विद्रोह जताती है। किन्तु इस तथाकथित विद्रोह में आत्मरति, गोपनीय पछतावा, यंत्रणा में स्खलित होते जाना और निरीह बनते जाना ज़्यादा है।

युवा पीढ़ी के बात करने के अन्दाज़ में विद्रोह का स्वर मुखर करने का शोर है—ऐसा शोर जो संभवतः पहले नहीं रहा। ऐसा नहीं जान पड़ता कि युवा पीढ़ी अपने विद्रोह के स्वर की भूमिका जानती है और अनजाने ही किसी आगामी प्रभावकारी विद्रोह की भूमिका युवा पीढ़ी से बन रही है। इसके प्रति उचित चैतन्यता भी शायद उसमें नहीं है। अतएव बहुत वस्तुनिष्ठ बनने के चाव में युवा पीढ़ी बहुत आदर्शवादी, एक हद तक काफ़ी निष्क्रिय और ईर्ष्या करते-करते झुक जाने की मनःस्थिति का शिकार है और पूर्ववर्ती पीढ़ी के ढोंग, अवसरवाद और बनावटीपन को खंडित करने के प्रयास में उसने अपना नया ढोंग, नया अवसरवाद और नया बनावटीपन पैदा कर लिया है। यही कारण है कि युवा पीढ़ी अत्याधुनिकता के पूरे मतलब से अनभिज्ञ होकर, अस्वीकार की मुद्रा में निरन्तर दयनीय बनकर बहुत गैर-ज़िम्मेदार, बेहूदगीपसन्द, बेभरोसा, शुबहा का पात्र और संभावनाशून्य लगती है। असहिष्णुता, लंठई, दुराचार को विद्रोह से नहीं जोड़ा जा सकता जबकि युवा पीढ़ी ने दूसरों से महज़ [illegible] अपेक्षाएँ रखते हुए स्वयं मूल्यजड़ता, बुद्धिहीनता और उत्तरदायित्वविमुखता से अपने को जोड़ा है—इसे ही मैं निजी स्तरों का विद्रोह कहता हूँ। जिन अभिभावकों की व्यवस्था के प्रति गुस्सा, हिक़ारत और लांछन का भाव युवा पीढ़ी के मन में है उसमें मूलतः विद्रोह की आग उतनी नहीं है जितनी निजी सहूलियतें चाहने की भीरु आकांक्षा है और यही कारण है कि मौकेवश निजी सहूलियतें प्राप्त होते ही तीव्र अमानवीयता, प्रतिक्रियावाद, दमनप्रियता और निश्चय ही अभिभावकीय व्यवस्था की कामगर मशीनरी का अंग बन जाने का सुख उसमें जग जाता है। मेरी व्यक्तिगत जानकारी के अनुसार, कई ऐसे युवा उत्साही, जो जन-आन्दोलनों में हिस्सा लेते-लेते प्रशासकीय पदों की उपलब्धि पर भी नज़र रखते थे, पदों पर आते ही गिरफ़्तारियाँ कराने, गोलियाँ चलवाने और जन-आन्दोलनों को तोड़ने की ब्रिटिश सरकार वाली तरकीबें बरतने लगने में अपने अभिभावकों से भी ज़्यादा प्रवीण हो गए। ध्यान रहे कि मैं यह कह आया हूँ कि पूर्ववर्तियों के ढोंग से चिढ़ने वाली युवा पीढ़ी में ही 'संवाद' कराने की आत्मीय भावना नहीं है, क्योंकि युवा पीढ़ी के मन में व्यवस्था के प्रति सचेष्ट विद्रोह नहीं है। केवल निजी स्तरों के असन्तोष के वाद निजी स्तरों की अपेक्षापूर्तियों का, विद्रोह की व्यापक अर्थवत्ता से कोई सरोकार नहीं। पिछले आम चुनाव व उसके पूर्व की देशव्यापी अव्यवस्थाओं को ध्यान में रखकर एक धारणा यह बनती है कि जनमानस में विस्फोटक स्थिति की सजगता है और सामान्यतः सर्वत्र व्यवस्था (बनाम कांग्रेस व्यवस्था) के प्रति विद्रोह का मूर्त स्वरूप उपस्थित है और चूँकि पिछला आम चुनाव मुख्यतः युवा पीढ़ी के मतदानों की शक्ति पर हारा और जीता गया, अतएव युवा पीढ़ी ने वामपंथ की तेजस्विता को पहचाना है। बताया जाता है कि विद्रोह की प्रखरता इसी पहचान में है। यदि यह सच है तो निश्चय ही अभिनन्दनीय और स्फूर्तिप्रद भी है। चुनाव-चिन्तन की शैली का सन्दर्भ त्यागकर सोचें तो एक सवाल यह है कि क्या कांग्रेस को अपदस्थ कर देने के मंसूबे में वामपंथ का बोध व्याप्त है। फ़िलहाल कांग्रेस एक राजनीतिक दल होने के साथ-साथ सत्ता और व्यवस्था का एक स्वरूप अवश्य है, किन्तु कांग्रेस का विकल्प स्वयं कांग्रेस से बहुत पीछे का, नीचे का, अतीत का और चुके हुए का प्रतिक्रियावाद भी हो सकता है और युवा पीढ़ी के मार्फ़त ही

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है—जैसा कि कई जगह देखने में आएगा। अतएव यह मानना गलत निर्णयों का आधार भी हो सकता है कि कांग्रेस-विरोध के नाम पर व्यवस्था-विरोध की जागरूकता वामपंथ के स्वीकार का मौलिक लहज़ा है, असलियत यह है कि पूरे देश में, कुत्सित प्रतिक्रियावाद और दक्षिण पंथ का ज़ोर प्रबल होता गया है जो घोर चिन्ता का विषय है और हमारा किसी भी तरह काम्प्लेसेण्ट मूड अख्तियार कर लेना घातक हो सकता है।

युवा पीढ़ी ने जिन बहुत सारे मूल्यों में अनास्था व्यक्त की है और अस्वीकार की मुद्रा में जिन मूल्यों का खण्डन किया है उनमें एक 'जनतन्त्र' भी है। यह 'जनतन्त्र' सचेत भाव से किसी मूल्य का बोध न रहकर कांग्रेस-प्रदत्त वर्तमान व्यवस्था है, अतः मूलतः व्यवस्था का विरोध होते-होते 'जन-तन्त्र' का विरोध होता गया है और ऐसे विरोध के पीछे बहुत स्पष्टता के साथ 'राष्ट्रीय जनतंत्र' के इरादे काम में आते रहे हैं। कांग्रेस-प्रदत्त व्यवस्था का ही विरोध करने का विद्रोह लेकर, वामपंथ के स्वीकार की जागरूकता का भ्रम फैलाते हुए युवा पीढ़ी के माध्यम से उभरते हुए 'पेती-बुर्जुआ वामपंथ' ने 'राष्ट्रीय जनतंत्र' की भूमिका में 'बूर्जुआ जनतांत्रिक विद्रोह' की शक्ति के आधार पर 'बूर्जुआ जनतांत्रिक समाज-वाद' की स्थापना करना अपना ध्येय बनाया है। इस देश में बारह प्रकार के समाजवाद मौजूद हैं, अतः वामपंथ स्वीकारने में सन्देह कहाँ है। समाजवाद क्या है और उसका वामपंथ किस तरह का है, यह जानते हुए भी वर्तमान व्यवस्था बनाम कांग्रेस व्यवस्था का विकल्प युवा पीढ़ी के मन में वह नहीं है जिसे विगत चुनावों के नतीजों के ठेठ आधार पर समझा जाता है। वास्तव में युवा पीढ़ी में वामपंथ-विरोध का सारा अकर्मण्यवाद, पैंतरेबाजियाँ, कपट और दुराग्रह मौजूद है और 'संवाद' की तत्परता से प्रेरित होकर युवा पीढ़ी का मात्र पक्ष-धर हो जाने के लिए इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। अतः 'संवाद' का संकट पीढ़ियों के सन्दर्भ में नहीं है, मान्यताओं के सन्दर्भ में ही ज़्यादा है। युवा पीढ़ी व्यवस्था : बनाम कांग्रेस व्यवस्था के विरोध में जब आक्रोश व्यक्त करती है तो वह लहज़ा वामपंथ का अमूर्त आभास भले दे दे, उसी लहज़े को अगर प्रगतिशील लहज़ा या साम्यवादी लहज़ा बताया जाए तो युवा पीढ़ी को डर लगने लगता है, क्योंकि युवा पीढ़ी के मन में अपने काम आने वाले सारे स्तम्भों का आश्रय पाते रहने का घोर अवसरवाद विद्यमान है और इस अवसरवाद के नाते ही यह युवा पीढ़ी मंच पर व्यवस्था की खिलाफ़त करने, खुलेआम व्यवस्था को कोसने, किन्तु चुपके-से, छिपे-छिपे समझौतावादी, समर्पणवादी रुख अख्तियार कर लेने की चतुराई का मूल्य पहचान गई है।

पूर्ववर्ती पीढ़ी या बिचली पीढ़ी को निश्चय ही यह दीन-भाव और सेवकाई-भाव पसन्द आता होगा और उसे यह साफ़ मालूम है कि युवा पीढ़ी का सारा विद्रोह और आक्रोश-भाव निजी स्तरों की सुविधाएँ चाहने का है। यही कारण है कि युवा पीढ़ी घटिया स्तर की रचनाएँ छपवाने और शीघ्र ख्याति अर्जित कर लेने की जल्दबाजी का शिकार है और व्यवस्था-वादी सम्पादक विघटन, बदला, त्रास-जैसे भावों से प्रेरित होकर निरन्तर घटिया, प्रतिक्रियावादी, मानवद्रोही रचनाएँ छापकर सस्ते लेखन को प्रोत्साहन दे रहे हैं और प्रौढ़, गम्भीर तथा टिकाऊ लेखन का प्रतिनिधित्व नहीं हो पा रहा है। युवा-पीढ़ी की स्वाभाविक, उर्वर प्रतिभा को मरोड़ देने का यह जघन्य अपराध उस पूर्ववर्ती या बिचली पीढ़ी द्वारा हो रहा है जिनमें स्वयं 'संवाद' अवरुद्ध है—ठीक वैसे ही जैसे युवा-पीढ़ी का अपना कोई 'संवाद'-स्तर नहीं है। और युवा पीढ़ी को मंजूर है कि उसे निजी स्तरों की सुविधाओं की पूर्ति अवश्य मिले। उसे जब अवहेलित होते जाने, निरादृत होते जाने की शिकायत है और यह भी शिकायत है कि अपराजेय विवशताओं में जन्म लेकर उसे ही भोगने की नियति भी उसकी ही है, तब यह क्यों सम्भव हो रहा है कि अपनी प्रति-स्पर्धी पीढ़ी के 'दबावों' को वह झेलने का साहस नहीं रखती। युवा-पीढ़ी का यह बयान सर्वथा झूठ और बकवास है कि वह दोनों तरफ़ से पिट रही है। 'दोनों तरफ़' से क्या आशय है? क्या 'युवा पीढ़ी' के बाद भी कोई पीढ़ी है? पिटने की बात तो एक ही तरफ़ से सम्भव है—पूर्ववर्ती या बिचली पीढ़ी की तरफ़ से—और यह पिटना, युवा पीढ़ी के मज़े की चीज़ भी रही है। दूसरी तरफ़ से पिटना अगर सम्भव है तो वह मेरे विचार से युवा पीढ़ी का अपनी तरफ़ से ही पिटना है। मुझे खूब पता है युवा पीढ़ी को जिस तरफ़ से निरन्तर पिटना पड़ा है उसी तरफ़ उसकी चापलूसी का भाव भी बढ़ा है, दयापात्रता और कृपापात्रता का निवेदन मुखर हुआ है।

'द्वन्द्व दो दुनिया का है, दो विरोधी मूल्यों का है। इस विरोध में भी संवाद सम्भव है यदि दोनों पक्ष अपने-अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजनबी न हों', 'इतिहास से बाहर लाने की चेष्टा अदबदा-कर उन्हें (युवा पीढ़ी) आदिमपन में ना छोड़ती है', 'यह पीढ़ी इसी इतिहास की रौंदी हुई भग्नावशेष है', 'युवा पीढ़ी का विद्रोह विकल्प वाली व्यवस्था से ज़्यादा गहरा नहीं है और व्यवस्था के प्रति गुस्सा अस्पष्ट है', जैसे बहुत सारे कथन युवा पीढ़ी के लिए बहुत सही उतरते हैं और इस जान-कारी के आधार पर ही उसे चिकनी सतहों के बहते आन्दोलनों का ऐयाश प्रेत साबित कर उसका कचूमर ढीला करने की साज़िशें रची गई। उपलब्ध जीवन की यथास्थिति को ही जीने, उसे तोड़ने-बदलने या बढ़ाने से मुकरकर भाग खड़े होने तथा केवल अभिव्यक्ति के स्तर पर भाषा के माध्यम से जीवन के अर्थों में नई व्यंजना लाने का विरोधाभास युवा-पीढ़ी की गहरी विसंगति है। युवा पीढ़ी अपनी शक्ति न पहचान पा रही है न विसंगति तोड़ने की मुद्रा उसके पास दीखती है। वह अनेक ग़लतफ़हमियों में जकड़ती जा रही है। 'दोनों तरफ़ से पिटने', 'दोनों तरफ़ से हमलों का शिकार होने', 'किसी से प्रतिबद्ध न होने', 'प्रतिबद्धता में अपराधवृत्ति पाने' जैसे कपोलकल्पित जुमलों में युवा पीढ़ी की क्रिमिनल नेग्लि-जैंस का सारा स्वाद मौजूद है और उसे अज्ञान ने इस क़दर घेर रखा है कि उसे यह भी समझना नहीं आता कि बिना प्रतिबद्ध हुए विद्रोह की बात कहना परले सिरे की मूर्खता है तथा अपने आन्तरिक संघर्ष से ही प्रतिबद्ध होकर विद्रोह नहीं उपजता, आत्महन्ता की स्थिति उपजती है।

मैं यहीं यह कहना आवश्यक समझता हूँ कि संवादहीनता की स्थिति पीढ़ियों का संघर्ष नहीं है, वह केवल विचारों का संघर्ष है—ऐसा इसलिए कि, युवा-पीढ़ी में पूर्ववर्तियों के विचार वाले भी हैं तथा एक ही पीढ़ी में विचारों का बेहद तीव्र संघर्ष है। अतएव 'संवाद' की सम्भावना के लिए विचारों की समानता या समानान्तरता या निकटतम ऐक्य की सम्भावना उत्पन्न करना ही आवश्यक है। युवा-पीढ़ी में रचनात्मकता के प्रति स्तरोन्मुखता का चाव उतना नहीं है, जितना निजी जीवन में व्यवहार-विचार-आचरण-रहन-सहन की पहनी हुई असामान्यता के प्रचार के चाव के प्रति है। 'निराला' एकमात्र ऐसे कलाकार थे जिन्होंने जीवन-भर यातनाएँ झेलने का पौरुष रखा, जो व्यक्तिगत जीवन में अधिकतम रूप से असामान्य व्यवहार-विचार-आचरण-रहन-सहन वाले थे, किन्तु उन्होंने इसी के माध्यम से अपने रचना-स्तर को प्रचारित कर उठाने का प्रयास नहीं किया। राज-कमल चौधरी ने अपने औसत लेखन-स्तर को अपनी बनावटी असामान्यताओं के प्रचार-बल पर उठाते रहने का नाटक बराबर किया और युवा पीढ़ी के औसत-दिमाग़ लोगों को अनुगामी बनाया। सच तो यह है कि मादक द्रव्यों के सेवन करने, व्यभिचारी और अनैतिक जीवन जीने, बीवी-बच्चों से निस्संग होकर रहने, तलाक़ देने, दग़ा करने, साधारण, सस्ते मामूली मामलों में भी झूठ ही बोलने के तमाम अनुभवों की अपनी स्वाभाविक स्थितियाँ होती हैं, किन्तु शौक के लिए अपने संस्कारी नैतिक साहसों के विपरीत ऐसे कार्यों के किए जाने और अन्ततोगत्वा यंत्रणा, पछतावा और कर्मविमुखता में टूटते जाने का कोई मूल्य नहीं हो सकता। चाहे जो हों, उन्हें यह पता नहीं है कि पछतावे से दबते जाने के काम का विद्रोह से वास्ता नहीं होता। आज युवा पीढ़ी में बेशुमार ऐसे लेखक हैं जो अस्पष्ट प्रसंगों में व्यवस्था-विरोध का निराधार वामपंथी स्वर मुखरित कर सरासर धोखा खड़ा करते हैं, सेक्स की आत्मरतिजनित प्रस्तावनाएँ अन्वेषित करते हैं, पर ढोंग करते हैं कि वे स्वस्थ मन से वामपंथी हैं और इस बात के लिए तत्पर हैं कि सारा कल्मष छँट जाए। युवा पीढ़ी अपनी बुज़दिली में इतनी चतुर होती गई है कि उसे यह मंज़ूर है कि उसकी रचना को सभी तबकों में पसन्द कराने के स्वाँग साधने ज़रूरी हैं और बिल्कुल प्रगतिशील तथा प्रतिगामी तबकों में एक ही रचना का समान रूप से पसन्द कर लिया जाना पूर्व-वर्ती या बिचली पीढ़ी का शैतानी इरादा तो है ही, उच्छिष्ट रचनाओं द्वारा सही लेखन का ढँकते जाना भी है। ऐसी राज-नीतिक बेईमानी के दौर में 'संवाद' की क्या सचमुच ज़रूरत है? क्या यह सच नहीं है कि पूर्ववर्ती पीढ़ी के पास 'संवाद' का संसार नहीं है और अपने संसार में युवा पीढ़ी को 'संवाद' की कतई ज़रूरत नहीं है? ज़ाहिर है कि 'संवाद' के लिए शर्तों का आधार आड़े आ जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिक्लोश रॉद्नोति की दो कविताएँ

अनुवादक : गिरधर राठी

मिक्लोश रॉद्नोति (१९०९-१९४४) : जन्म से यहूदी, यूरोपीय काव्य के मर्मज्ञ, युद्ध-कालीन मॉजॉर कविता के प्रमुखतम स्वर। लम्बे अरसे तक यातना-शिविरों में, फिर छीन लिए नंगे पैरों हंगरी के देहातों में ज़बर्दस्ती चलाए जाते हुए—एक जर्मन एस० एस० सैनिक की गोली से मौत। कब्र में मिली नोट-बुक में उनकी कविता का उत्कृष्टतम रूप सामने आया।

: १ :

भले ही मैं न जानूँ

भले ही मैं यह न जानूँ
कि किसी और के लिए यह वसुन्धरा क्या मानी
रखती है,
मेरे तईं, यह मेरी जन्म-भूमि है, यह छोटा-सा देश
लपटों के आग़ोश में, मेरे बचपन का संसार डोलता
हुआ दूर
मैं उगा हूँ इसमें से, जैसे तने से एक पतली डाल
और मुझे उम्मीद है कि मेरी देह धँसेगी इसी ज़मीन में
मैं अपने घर हूँ। और जब-कभी कोई झाड़ी
झुक आती है घुटनों के बल मेरे पैरों में, मैं जानता
होता हूँ
उसका नाम और उसका फूल भी,
मैं जानता हूँ कि कहाँ और कौन टहलते हैं सड़क पर
और मैं जानता हूँ कि सई-साँझ गर्मी में
मकानों की दीवारों पर रिसते हुए बैंजनी-रँगी दर्द
का मतलब क्या हो सकता है।

उसके लिए, जो इस पर से उड़ता है जहाज़ में, यह
वसुन्धरा
महज़ एक नक़्शा है, वह नहीं जानता
कि यहाँ मिहाइ वोरोश्मार्ति कहाँ रहता था :
क्या छुपाये हुए है यह नक़्शा उसके लिए? कारख़ाने
और भयावह सैन्यागार,
लेकिन घसियारे मेरे लिए, और बैल और बुर्ज़ और
मृदुल खेत-खलियान;

वह देखता है दूरबीन से कारख़ाने और क्यारियाँ,
जबकि मैं देखता हूँ मेहनतकश भी, जो थरथराता है
अपने काम के लिए (उसकी नियति के प्रति
चिन्तातुर),
मैं देखता हूँ जंगल और सीटी मारते फलोद्यान,
अंगूर के खेत
और कब्रें
और कब्रों में दादियाँ, रोती हुई नीरव,

और ऊपर ऊँचे से जो प्रतीत होती है रेल या
कारख़ाना ध्वस्त करने के लिए,
वह चौकीदार की कुटिया है, चौकीदार सामने खड़ा
हुआ
और अपने हाथ के लाल झण्डे से सन्देश भेजता हुआ,
उसे घेरे हुए हैं ढेर-से बच्चे, और कारख़ानों के
अहातों में
कूद-फाँद करते हैं भेड़-रक्षक कुत्ते, और उधर वह
सूअर है,
विगत प्रेमों के पद-चिह्न,
और मुँह में चुम्बनों का स्वाद—अभी मधुर, अभी
कसैला,

और स्कूल जाते हुए मैं चढ़ गया था दूब पर रखे एक
पत्थर पर,
उस दिन मुलाक़ात टालने के लिए,
अरे, वह पत्थर यहाँ है, मगर ऊपर ऊँचे से
यह पत्थर भी देखा नहीं जा सकता
कोई यन्त्र नहीं है जो यह सब इंगित करे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोकि हम अपराधी हैं, दूसरे मुल्कों की तरह,
और हम जानते हैं कि किसके ख़िलाफ़ हमने पाप
    किए हैं, और
कब और कहाँ और कैसे,
किन्तु श्रमजीवी लोग भी बसते हैं यहाँ, और कवि,
    निष्पाप,
भी; और दूध-पीते शिशु जिनमें विवेक विकसेगा
और उन्हें दृष्टि देगा;
और वे अँधेरी बम-शरण-गाहों में छुपे उसकी
    रखवाली
कर रहे हैं, जब तक
फिर से हमारे देश पर नहीं दिखता निशान अमन का;
और हमारे पराजित शब्द तब उत्तरित होंगे उनके
    ताज़े शब्दों से।
ढँक लो हमें अपने विशाल डैनों में, तुम,
पहरुए रात्रि-मेघ।

: २ :

फेनिल आकाश

फेनिल आकाश पर चाँद
    नाच रहा है।
मैं चकित हूँ
    कि मैं ज़िन्दा हूँ।
एक कर्मठ मौत कुरेद रही है
इस युग को
और वे सब-के-सब
    जिन्हें यह पा जाती है
बेतरह सफ़ेद हैं।

वर्ष
जब-तब
नज़र डालता है चारों तरफ़ और
चीख़ उठता है
वह चारों तरफ़ नज़र डालता है
और फिर बेहोश हो जाता है।
कैसा पतझर दुबक रहा है मेरे पीछे
और कैसा शीत,
दर्द से बोझिल!

जंगल
ख़ून टपकाते रहे
और घिसटन में
ख़ून टपकाता रहा वक़्त
    हर घण्टे।
हवा
लिखती रही बर्फ़ पर
बड़े-बड़े धुँधले अंक।
मैं समझता हूँ उसे, और उस
    दूसरे को भी,
महसूस करता हूँ हवा
    भारी।
एक गुनगुनी चुप्पी, सरसराहट-भरी,
भींच लेती है बाँहों में मुझे
वैसे ही
जैसे तब, जब मैं पैदा नहीं हुआ था।

ठहर जाता हूँ यहाँ वृक्ष के चरण में
गुस्से से यह
अम्बार लगा देता है
पत्तों का।
एक डाल पहुँच जाती है ज़मीन तक।
क्या यह मेरा गला पकड़ रही है?
मैं कायर नहीं हूँ, न ही मैं कमज़ोर हूँ—
सिर्फ़
थका हूँ। मैं चुप हूँ। और वह डाल, भी,
निःशब्द और भयभीत
गुज़रती है मेरे बालों में होकर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सचमुच
आदमी को चाहिए कि भूल जाए, लेकिन मैं
अभी तक
    कभी
    कुछ नहीं भूला हूँ ।

फ़ेन थपेड़े मारता है चाँद पर, आकाश पर
ज़हर
एक गहरी हरी पट्टी खींच देता है ।
मैं अपने लिए
एक सिगरेट लपेटता हूँ
आहिस्ता-आहिस्ता,
होशियारी से ।
मैं ज़िन्दा हूँ ।

क़ब्रगाह की ज़मीन में

देवेन्द्रकुमार

क्या मैं पूछ सकता हूँ—
कि आपके संविधान के छाते के नीचे
कितने लोग आ सकते हैं ? यदि बुरा न मानें तो
बरसों पहले आपको इसे बता देना
    चाहिए था,
जिसे बीस बरसों बाद, आज मुझे
    पूछना पड़ रहा है
वह भी इसलिए
कि आगामी ८० बरसों में भी,
आप इसे······
शायद ही बता पाएँ ।
पैर फैलाकर वातानुकूलित कक्ष में, ऊँघ रही हैं
राष्ट्रसंघ की कुर्सियाँ
जबकि 'मैटर्निटी-वार्ड' को बेख़बर किए हुए है
नवजात शिशु का एक शब्द—कि हाँ, कि हाँ···
और यह अकस्मात नहीं है
कि एक साथ;
दुनिया की तमाम भाषाओं में किसी नये-से-
नये सम्बोधन की तलाश में;
हम शक्ल कोयले की ख़ानों में पहुँच गये हैं
जहाँ ख़तरे की जगह टँगा है
रुग्ण होने से खानाबदोश होना कहीं अच्छा है ?
कागज़ की क्यारियों में खिले गुलाब का
बच्चे की मूड़न से
क्या ताल-मेल हो सकता है ?
बहस, जब यहाँ आकर टिक गई है
कब का टूट चुका है
'सब-कुछ ठीक हो जाएगा' का तिलस्म
और उसकी जगह बचा रह गया है
भुनाने के लिए
फ़िलहाल एक-दूसरे का ग़म ।
चर्च से चुनाव-आयोग तक कुछ पक रहा है
हाँ ! तो कहाँ है—वह कोहनूर !
जिसकी क़ीमत का अन्दाज़ा, जौहरियों ने
कुछ इस ढंग से लगाया है—
कि दुनिया में जितने भी लोग हैं;
कम-से-कम एक वक़्त, अच्छा-से-अच्छा भोजन
    कर सकते हैं
मतदान से पहले
मतदाता उसे देखना चाहता है । देखना और—
    परखना,
संयोग से मैं यहाँ हूँ ! और—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह 'हूँ'
उस समय और भी मुआफ़िक हो जाता है
जब किसी के मान-पत्र में शिलालेख भेंट किए
जाते हैं
और सारे यातायात
एक अज्ञात-भीड़ से नियंत्रित होते पाए जाते हैं
सबूत कोई नहीं है
सिवाय इसके कि मैं यहाँ हूँ
और यह 'हूँ' भी अब कितना पाज़ी हो गया है
पाज़ी और अनाहूत
जो मुझे हर बार
अपरिचित-आकांक्षाओं के बीच जबरन ठेल देता है
जहाँ ३००० वर्ष पुराने आईने के सामने
खड़ा होने पर
एक तरह से खुद को हास्यास्पद लगने लगता हूँ।

आँखों से आँसू की जगह गिरता है—
भय,
जिसे पोंछकर जेब में रखने का साहस जुटा पाना
अपने-आपमें एक भीड़ हो जाना है
जिसे एकदम नहीं चाहता ?
क्यों ? (—)
आपने मेरी हर शंका को बारहा लौटाया है
और जिसे गोद लिया है
उसे भी साल में एक दिन अस्पृश्यता-निवारण-दिवस
के रूप में मनाया है—
क्या मैं पूछ सकता हूँ
कि कब्रगाह की ज़मीन में बीज डालकर
फ़सल काटने का इतना बड़ा भ्रम ! कहीं और भी
देखने में आया है ?

'आलोचना' के जुलाई-सितम्बर '६८ के अंक में हंगरी के कवि ऑत्तिला योझ़ेफ की कविता 'ज़िन्दगी के शिखरों से' के अनुवादक श्री गिरधर राठी का नाम भूल से छूट गया था। —सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिनय की शैली

वीरेन्द्र नारायण

अभिनय की चर्चा प्रारंभ करते समय इसके बारे में विरोधी मतों का उल्लेख किया गया है। अभिनय के बारे में इस तरह की जितनी चर्चाएँ हैं उनकी तह में दो स्पष्ट विचारधाराओं का संकेत मिलता है। १. अभिनेता पात्रों को प्रस्तुत करता है और २. अभिनेता पात्र बन जाता है।

पहली विचारधारा के आधुनिक प्रवर्तकों में गार्डन क्रेग की यह उक्ति उसे और भी स्पष्ट कर देगी। अपनी प्रसिद्ध रचना 'द एक्टर एंड यूथर मेरिओनेट' में क्रेग लिखता है—

"रंगमंच की संपूर्ण इकाई का मकसद है उसकी कला की स्थापना और इस दिशा में पहला कदम होगा रंगमंच पर से पात्रों के स्वरूप को उपस्थित करने की मनाही. प्रकृति के यथारूप-चित्रण पर प्रतिबंध। जब तक पात्रों की काया का प्रवेश रंगमंच पर होता रहेगा रंगमंच स्वतन्त्र नहीं हो सकता। अभिनेताओं को चाहिए कि पुरानी शिक्षाओं और सिद्धांतों का सहारा लें। यदि सबसे पुराने सिद्धांतों को आधार बनाना बहुत कठिन जान पड़ता हो तो कुछ आगे बढ़ जाएँ। उन्हें अपनी अभिव्यक्ति में जान डालने की प्रवृत्ति को रोकना पड़ेगा। निन्यानवे से भी अधिक प्रतिशत में तो इसका यही अर्थ होता है—अतिरंजित अंग-संचालन, चुस्त नकल, आवाज़ जो दहाड़ती है और दृश्य जो चकाचौंध पैदा करता है। रंगमंच पर यह सब इस मिथ्या आशा और विश्वास के भरोसे किया जाता है कि प्रदर्शन प्राणवान होगा। और नियम के अपवाद की तरह कभी-कभी किसी हद तक यह सफल भी हो जाता है। यह किसी हद तक सफल होता है, क्योंकि रंगमंच पर बड़ा ही प्राणवान व्यक्ति रहता है। उन लोगों के लिए नियमों के विरोध के सामने बल्कि उनके बावजूद यह सफलता बन जाती है और हम, जिन्हें देखने का अवसर मिलता है, खुशी में चीख उठते हैं, तालियाँ बजाते हैं, वाहवाही लुटाते हैं। हमारे लिए कोई चारा नहीं रह जाता। हम सोचना या प्रश्न करना नहीं चाहते। हम धारा के साथ बह जाते हैं प्रशंसा और सुझाव के आधार पर............हम सम्मोहित हो जाते हैं, लेकिन हमारी सुरुचि को इसकी परवाह नहीं......हमें खुशी होती है और हम इतने द्रवित हो जाते हैं कि खुशी से उछलने लगते हैं। महान् व्यक्तित्व हम और कला दोनों पर विजय प्राप्त कर लेता है। लेकिन ऐसे व्यक्तित्व बहुत ही विरले होते हैं और अगर हम यही देखना चाहते हैं कि किस प्रकार एक व्यक्तित्व रंगमंच पर हावी हो गया है और अभिनेता की तरह चरम विजय प्राप्त करता है, तो यह भी परोक्ष रूप में सिद्ध होता है कि उस समय नाटक अन्य अभिनेता और सौंदर्य के प्रति हम उदासीन रहते हैं......"

दूसरी विचारधारा के सबसे शक्तिशाली समर्थक और प्रवर्तक कान्सटेटिन एस० स्तानिस्लावस्की ने लगभग १२०० पांडुलिपियों में अपनी प्रणाली का निरूपण किया है। इसमें सभी अभी प्रकाशित नहीं हो पाई हैं। प्रकाशित रचनाओं के आधार पर स्तानिस्लावस्की के शब्दों में अभिनेता के पात्र बन जाने की सबसे सहज उक्ति यह है—

अभिनेता अपने से कहता है—

"ये सारे सज्जा-उपकरण, रूपसज्जा, वेशभूषा, दृश्यबंध, प्रस्तुतीकरण का सार्वजनिक स्वरूप मिथ्या हैं। मैं जानता हूँ कि यह मिथ्या है और यह भी जानता हूँ कि मुझे इनकी कोई ज़रूरत नहीं। यदि यह सत्य होता तो मैं यह करता, वह करता, मेरा व्यवहार ऐसा होता, इन घटनाओं के प्रति मेरी ऐसी प्रतिक्रिया होती।"

यह मेरी समझ में आया कि जिस कारण अभिनेता की आत्मा और कल्पना में यह तिलस्मी और सृजनात्मक यदि आ जाता है उसी समय सृजनात्मक प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। जब तक वास्तविक सत्य रहता है, ऐसा जिस पर विश्वास न करने का प्रश्न नहीं उठ सकता, तब तक सृजनात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिक्रिया प्रारम्भ नहीं होती। उस समय यह सृजनात्मक यदि सामने आता है, अर्थात् वह काल्पनिक सत्य सामने आता है जिस पर अभिनेता उतनी ही ईमानदारी से विश्वास कर सकता है, वास्तविक सत्य से अधिक उत्साह के साथ विश्वास कर सकता है जिस प्रकार बच्चे गुड़िया की ज़िन्दगी और उसके चारों ओर के जीवन में विश्वास करते हैं। जिस क्षण यह यदि सामने आता है उसी क्षण से अभिनेता वास्तविकता के धरातल से अलग होकर दूसरे जीवन के धरातल पर आ जाता है जिसकी कल्पना और सृष्टि उसने स्वयं की है। इस जीवन में विश्वास के साथ ही अभिनेता का सृजन प्रारम्भ हो जाता है।

दृश्यबंध का सत्य जीवन का सत्य नहीं है। उसकी अपनी विशेषता है। मेरी समझ में रंगमंच का वही सत्य है जिसमें अभिनेता विश्वास करता है। मेरी समझ में यही आया कि साफ़ झूठ को भी रंगमंच का सत्य बनना ही पड़ता है ताकि वह कला का रूप ले सके। इसके लिए जरूरी है कि अभिनेता बच्चे जैसा भोलापन और विश्वास करने की क्षमता हासिल करे, सत्य के प्रति और अपने शरीर तथा आत्मा के सत्य के प्रति असीम कलात्मक संवेदनशीलता विकसित करे। इन गुणों की समष्टि के सहारे वह दृश्य के एक भोंडे असत्य को कल्पना के जीवन से उसके सम्बन्धों के कोमलतम सत्य में बदल सकता है। इन सभी गुणों की समष्टि को मैं **सत्य की अनुभूति** के नाम से पुकारना चाहूँगा। इसमें कल्पना का खुला क्षेत्र है और सृजनात्मक विश्वास की सृष्टि है, इसमें दृश्यों के असत्य का प्रतिरोध है, इसमें सच्चे मूल्यों की अनुभूति है, इसमें बालसुलभ विश्वास का वृक्ष है और है कलात्मक अनुभूति की ईमानदारी। सत्य की इस अनुभूति को विकसित भी किया जा सकता है और उसका अभ्यास भी सम्भव है। इस काम के साधन या उसकी प्रणाली की चर्चा करने का यह स्थान नहीं। मैं सिर्फ़ यही कहूँगा कि सत्य की अनुभूति की क्षमता इस हद तक विकसित करनी चाहिए कि रंगमंच पर कोई ऐसा काम नहीं हो, ऐसा कुछ नहीं कहा या सुना जाए जो सत्य की कलात्मक अनुभूति से छनकर न आए।

यदि यह सही होता तो मांसपेशियों का तनाव दूर करने और ध्यान जमाने के मेरे सभी अभ्यास निरर्थक होते। मैंने उसे आत्मा और शरीर के सत्य से नहीं छाना। मैंने एक भावभंगिमा रंगमंच पर अपनाई। शरीर की दृष्टि से मेरा उस पर विश्वास नहीं था। इधर-उधर मैंने तनाव कम कर देखा। पहले से कुछ अच्छा लगा। मैंने भाव-भंगिमा में परिवर्तन किया। हाँ, अब बात समझ में आई। जब कोई बढ़कर किसी चीज़ तक पहुँचना चाहता है तो इन तनावों के कारण ऐसी भाव-भंगिमा हो जाती है। फिर मेरा शरीर और आगे चल-कर मेरी आत्मा ने भी यह विश्वास कर लिया कि मैं उस चीज़ की ओर खिंच रहा हूँ, मेरी मांसपेशियों में ऐसा तनाव आ रहा है, क्योंकि मैं उस चीज़ तक पहुँचना चाहता हूँ जिसे बुरी तरह पाना चाहता हूँ।

सत्य की अनुभूति के ही सहारे, उस भाव-भंगिमा की अनिवार्यता के आन्तरिक विश्वास के सहारे जीवन में और रंगमंच के प्रदर्शन में मांसपेशियों का तनाव मैं दूर कर सका।

उस समय के बाद मांसपेशियों के तनाव दूर करने और ध्यान केन्द्रित करने के मेरे सभी अभ्यास सत्य की इस अनुभूति से नियन्त्रित होने लगे।

अभिनय के सिद्धान्त के दोनों छोरों की इन विचार-धाराओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि अभिनय की शैलियों को दो प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है—अयथार्थवादी और यथार्थवादी शैली।

दोनों शैलियों में सृजन और प्रस्तुतीकरण का पहलू है। अयथार्थवादी शैली में पात्रों का निर्माण सृजनात्मक प्रक्रिया ही है। उसकी अभिव्यक्ति के समय सृजनात्मक व्यक्तित्व अलग हो जाता है और तकनीक की सहायता से शरीर, वाणी आदि के द्वारा उस पात्र का एक चित्र प्रस्तुत करता है। यथार्थवादी शैली में अभिनेता स्वयं पात्र बन जाता है और उसकी तरह बोलता-चालता-हँसता है। ग़ौर से देखें तो यथार्थवादी शैली में भी प्रस्तुतीकरण का पहलू विद्यमान रहता है। एक काम को करने के कई तरीके हो सकते हैं। रंगमंच के कई हिस्सों में उतनी ही सफलता से एक क्रिया-कलाप हो सकता है। यथार्थवादी अभिनय के समय भी अभिनेता इन सभी सम्भावनाओं में से एक को चुनता है, किसी अन्य को नहीं, इसे प्रस्तुतीकरण के पहलू से अलग नहीं किया जा सकता।

अयथार्थवादी शैली में पात्र को प्रस्तुत किया जाता है इसलिए प्रस्तुतिकरण का पहलू ऊपर रहता है, दिखाई पड़ता है। और उसे दिखाई पड़ना भी चाहिए, क्योंकि अयथार्थवादी प्रदर्शन हमें यह भूलने नहीं देता कि हम एक कलात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यक्ति देख रहे हैं, हम प्रेक्षागृह में हैं ... यह कोशिश की जाती है कि हम भूल जाएँ कि हम प्रेक्षा-गृह में हैं बल्कि प्रेक्षागृह, अभिनेता आदि की अनुभूति ही समाप्त हो जाए।

यथार्थवादी शैली अपनी प्रकृति के कारण बहुत विविधता की गुंजाइश नहीं छोड़ती। अपनी प्रवृत्ति के कारण अयथार्थ-वादी शैली के विभिन्न प्रकार बन जाते हैं।

सामान्यतः दोनों शैलियों के बीच के ही अधिकांश प्रदर्शन होते हैं। यथार्थवादी अभिनय की चेष्टा में रूढिवादी अभिनय ही हासिल होता है। कहीं-कहीं उसमें सच्चाई की चिनगारी भी दिखाई पड़ती है। इसलिए यथार्थवादी शैली के आसपास दो शैलियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं—(१) रूढिवादी शैली, (२) परकाया प्रवेश की शैली।

यथार्थवाद अभिनय में अभिनेता पात्र बनकर उसकी भावदशा को अपना लेता है। बाकी सब यानी अंग-संचालन, गतिविधान, क्रियाकलाप, संवाद-निवेदन आदि उसी के अनुरूप होते हैं। वह अपनी अभिव्यक्ति के अनुरूप इन साधनों को आकार और स्वरूप दे देता है। रूढिवादी अभिनय में रंगमंच की परंपराओं को ध्यान में रखकर वह सब-कुछ किया जाता है जो एक भावदशा में होता है। अंगसंचालन, संवाद-निवेदन आदि सबका चुनाव इसी प्रकार किया जाता है। लेकिन यह अभिनेता की असमर्थता के कारण किया जाता है। इस तरह हथेली पर ठोड़ी टिकाकर बैठने से चिन्ता और परेशानी का बोध होता है। लेकिन इस रूढिवादी अभिनय में प्रयत्न रहता है सच्ची भावदशा को पकड़ने का, जिसका फल यह होता है कि कहीं-कहीं भावदशा की अभिव्यक्ति भी झाँकने लगती है। असल ऐसे रूढिवादी अभिनय में यथार्थवादी अभिनय की चित्रकारी ही उसका मुख्य आकर्षण बनती है। सामान्यतः अधिकांश अभिनय इसी श्रेणी में आते हैं। ऐसे अभिनय के लिए यथार्थवादी दृश्य-सज्जा का उपयोग किया जाता है। मैं यथार्थवादी दृश्य-सज्जा की बात कर रहा हूँ तो पारसी रंगमंच के रँगे पर्दों वाले रंगमंच को भी इसमें शामिल मानता हूँ। ऐसी अभिनय-शैली का एक प्रमुख गुण होता है अतिरंजना, स्वाभाविकता के आधार से अलग हटने की कोशिश न करते हुए भी कृत्रिमता से अछूता नहीं रहता।

इसके पास ही है परकायाप्रवेशवाली शैली। इसमें भी अंग-संचालन, क्रियाकलाप, संवाद-निवेदन आदि यथार्थवादी ... होते हैं। लेकिन जिस अभिनेता को हम रंगमंच पर देखते हैं वह माध्यम है उस सृजनात्मक प्रतिभा का जिसने पात्र का निर्माण किया, लेकिन इस समय अपने माध्यम से अलग हो गया है। इस शैली में अभिनेता अपने लिए पात्र का एक मण्डल तैयार कर लेता है। उस मण्डल को तैयार करते समय वह अपनी समस्त सृजनात्मक प्रतिभा का उपयोग करता है। लेकिन जब मण्डल तैयार हो गया तो उसका सृजन समाप्त हो जाता है। उसकी अभिव्यक्ति सिर्फ़ तकनीकी सफलता या असफलता से सम्बन्ध रखती है। अभि-व्यक्ति में भावदशा की सच्चाई नहीं शामिल होती। भावदशा का दर्शकों को बोध कराया जाता है।

परकाया प्रवेशवाली इस शैली में अभिव्यक्ति की तक-नीक यथार्थवादी भी हो सकती है और अयथार्थवादी भी। यदि अभिव्यक्ति की तकनीक यथार्थवादी हुई तो उसे यथार्थ-वादी अभिनय से मिलाकर देखने की ग़लती नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यथार्थवादी अभिनय और परकायाप्रवेशवाले अभिनय में मौलिक भेद भावदशा के निरूपण में होता है। यथार्थवादी अभिनय में भावदशा की सृष्टि सच्ची होती है। परकायाप्रवेशवाले अभिनय में भावदशा की सच्ची अभि-व्यक्ति नहीं होती। उसका अभिनय किया जाता है। इसे रूढिवादी अभिनय से भी अलग समझना चाहिए। यह अस-मर्थता को छिपाने का साधन नहीं। यहाँ जान-बूझकर सृजन-कर्ता को प्रस्तुतीकरण से अलग रखा जाता है।

इस परकायाप्रवेशवाली शैली में अभिव्यक्ति यदि रीति-बद्ध हुई तो हम कहते हैं अभिनय की शैली रीतिबद्ध है। यह ग़लत धारणा अक्सर घर कर जाती है कि रीतिबद्ध शैली में सृजन का मूल्य नहीं रहता। यह ध्यान देने की बात है कि इस शैली में भी पात्र का सृजन तो अभिनेता करता ही है। अभिव्यक्ति के समय वह यथार्थवाद का सहारा नहीं लेता।

हमारा सारा लोकनाट्य और नृत्य-नाट्य इसी शैली के अन्तर्गत आता है। यात्रा में जब श्रवण के माता-पिता विलाप करते हैं अथवा शैव्या रोती है तो हमें यह एहसास नहीं होता कि अभिनेता-अभिनेत्री सचमुच रो रहे हैं, यदि वे यथार्थवादी अभिनय की तरह सचमुच रो पड़ें तो इसे दोष ही समझा जाएगा। यहाँ वे रोने का अभिनय करते हैं। यह सचमुच का रोना नहीं एक कलात्मक प्रक्रिया है जो असमर्थता का बोधक नहीं। अभिनेता के लिए यही उचित है कि वह सचमुच रो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

न पड़े बल्कि रोने का अभिनय करे और दर्शक के लिए भी यह ज़रूरी है कि इसे अभिनय ही समझे, भावजगत् पर आलोड़ित होकर उनकी आँखें गीली न हो जाएँ।

दर्शकों की उपलब्धि की दृष्टि से दर्शक भावनात्मक स्तर पर अछूता रहता है और ऐसे अभिनयों में उसे अछूता ही रहना चाहिए। ऐसे अभिनयों में उसकी उपलब्धि सौन्दर्य-बोध के धरातल पर ही होती है और वही अभीष्ट भी है। माँ-बेटे के चित्र को देखकर या ईसामसीह की शहादत का चित्र देखकर हमें खुशी या दुख नहीं होता। हमें दोनों चित्र अच्छे लगते हैं, क्योंकि माँ-बेटे या ईसामसीह के साथ हमारी भावनात्मक एकता स्थापित नहीं होती। कला के क्षेत्र में इस तरह के तटस्थ आनन्द का बड़ा महत्त्व होता है। इससे यथार्थवादी अभिनय के हिमायती भी इनकार नहीं करते। दर्शक की दृष्टि से यथार्थवादी अभिनय में भावनात्मक आनन्द के साथ-साथ सौन्दर्यबोध और विचारों के धरातल पर भी हमें आनन्द प्राप्त होता है। परन्तु उसका बल रहता है भावनात्मक आनन्द पर। एक दृष्टि से इसे अधिक परिपूर्ण समन्वित कहा जाएगा। लेकिन इसी आधार पर अयथार्थवादी अभिनय के हियायती उसे हेय मानते हैं। इसी को लक्ष्य कर गार्डन क्रेग ने कहा था—"उस समय नाटक, अन्य अभिनेता और सौन्दर्य के प्रति हम उदासीन रहते हैं।" कलात्मक आनन्द का प्रकार और स्वरूप भावनात्मक आलोड़न के कारण दूषित हो जाता है। सौन्दर्यात्मक आनन्द का रंग भौतिक आनन्द गँदला कर देता है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रीतिबद्ध अभिनय के कई प्रकार हो सकते हैं जिन्हें अभिव्यक्ति के आधार पर बाँटा जा सकता है। कथकली का पात्र नाचता है और बताता है कि वह आकाशमार्ग से सीता को लिये जा रहा है। नाच का पात्र रंगमंच पर चार चक्कर लगाकर यह बताता है कि वह अपने गाँव से शहर पहुँच गया है अभिव्यक्ति भी विशिष्टता में परम्परा, स्थानीय रीति-रिवाज आदि मिल जाते हैं और एक शैली के रूप में उसका उद्भव होता है।

अभिनय के क्षेत्र में शैली की दृष्टि से मौलिक योगदान पिछले दिनों ब्रेख्ट का हुआ। विरोधीकरण का उसका अभिनय का सिद्धान्त इस पृष्ठभूमि में दिलचस्प है।

ब्रेख्ट के ही शब्दों में उस शैली की विशेषताएँ इस प्रकार गिनाई जा सकती हैं:

"इस तकनीक का ध्येय है कि दर्शक प्रश्नकर्त्ता का, आलोचक का रुख अख्तियार करे घटनाओं के बारे में। इसके लिए जो साधन काम में लाये जाते हैं वे कलात्मक हैं।"

ऐरिक बेंटली ने ब्रेख्ट की शैली की अन्य शैलियों से तुलना करते हुए एक चार्ट तैयार किया है जो उस शैली की विशेषताओं को स्पष्ट करता है—

'नाटकीय' रंगमंच	**ब्रेख्ट का रंगमंच (एपिक रंगमंच)**
रंगमंच पर घटना घटित होती है	रंगमंच घटना का वर्णन करता है।
किसी घटना से दर्शक का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है।	उसे प्रेक्षक बनाता है, लेकिन उसकी शक्ति जाग्रत होती है।
उसकी सारी शक्ति, कार्य की इच्छा का शोषण होता है।	निश्चय की माँग की जाती है।
उसकी भावनाओं में आलोड़न होता है, अनुभवों का संप्रेषण होता है।	ज्ञान का संप्रेषण होता है।
दर्शकों को किसी क्रियाकलाप में शामिल किया जाता है	किसी क्रियाकलाप के सामने उसे खड़ा किया जाता है।
सुझावों की भरमार रहती है।	दलीलों का सहारा लिया जाता है।
स्पंदनों की सुरक्षा की जाती है।	जब तक कि वे अन्तर्दृष्टि न बन जाएँ
मनुष्य को जानी-पहचानी चीज़ की तरह रखा जाता है।	मनुष्य खोजबीन की चीज़ रहता है।
मनुष्य अपरिवर्तनशील है	जो बदला जा सकता है और बदल रहा है।
फल में तनावपूर्ण दिलचस्पी	घटना में तनावपूर्ण दिलचस्पी
हर दृश्य दूसरे दृश्य के लिए है।	हर दृश्य सिर्फ़ अपने लिए है।
....	....
दुनिया जैसी है वैसी है	दुनिया वह है जो वह बन रही है।
मनुष्यों के लिए क्या उचित है।	मनुष्य के लिए क्या अनिवार्य है
उसकी अंतश्चेतना	उसका विवेक
विचारों से यथार्थ का निश्चय।	सामाजिक यथार्थ से विचारों का निश्चय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तुलना अपने में दिलचस्प है। यदि हम अभिनय की प्रक्रिया पर ध्यान दें तो इस शैली को स्पष्ट समझा जा सकता है। इस शैली में भी अभिनेता पात्र नहीं बन जाता। पात्र के अपने मण्डल को वह रंगमंच पर प्रस्तुत करता है। यह काम अयथार्थवादी शैलियों में भी होता है। ब्रेख्त की शैली में इन माडेलों की सृष्टि करने वाला कलाकार छिप नहीं जाता। अयथार्थवादी शैलियों में इस सृष्टि के बाद प्रस्तुतीकरण रह जाता है। ब्रेख्ट की शैली में अभिनेता का विचारक भी मंच पर उपस्थित रहता है। वह जिस पात्र को उपस्थित करता है, उस पर और उसके सहारे घटनाक्रम तथा अन्य वस्तुओं पर अपनी टीका-टिप्पणी भी करता है। संवाद-निवेदन के समय वह पात्र नहीं रहता। वह किसी व्यक्ति के कथन को सुन रहा होता है। अंग-संचालन और क्रियाकलाप में पात्र की तरह वह जो कुछ करता है, व्यक्ति की तरह उसे उसी प्रकार देखता भी है, जिस प्रकार दर्शक देखते हैं। चूंकि अभिनेता उस पात्र के साथ एकाकार नहीं हो जाता जिसे वह रंगमंच पर प्रस्तुत कर रहा है, इसीलिए वह दर्शक की हैसियत से, जो एक सामाजिक प्राणी है, रंगमंच पर होने वाले सभी कुछ को देखकर उस पर टीका-टिप्पणी भी कर सकता है।

यह शैली रीतिबद्ध अभिनय से मूलतः भिन्न है। रीतिबद्ध शैली में भी अभिनेता एक पात्र को विशेष प्रकार से प्रस्तुत करता है। लेकिन अभिनेता या विचारक या दर्शक कोई काम नहीं करता रंगमंच पर। ब्रेख्ट की शैली में अभिनेता का रंगमंच का काम दो हिस्सों में बँट जाता है। एक हिस्सा तो वह होता है जो पात्र के प्रस्तुतीकरण से सम्बन्ध रखता है और दूसरा हिस्सा वह है जो उस पर सामाजिक व्यक्ति की हैसियत से अपने विचार सामने रखता है।

अयथार्थवादी शैली के अभिव्यंजनात्मक आदि रूपों की कल्पना कठिन नहीं। पात्र के प्रस्तुतीकरण की शैली जिस प्रकार बदलती है उसी के आधार पर ये नामकरण किये जा सकते हैं। •

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राग दरबारी : कला-रूपों की नैतिकता का सवाल

कमलेश

कोई ज़माना ऐसा होता है जब समाज की ज़िन्दगी में साहित्य का निश्चित महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। आदर्श के तौर पर ही सही, ऐसे समाज की कल्पना की जा सकती है जब साहित्य ज़िन्दगी की मुख्य धारा में एक जीवनोपयोगी भूमिका निभा रहा होता है। उस ज़माने में ज़िन्दगी के हर क्षेत्र में सन्तुलन रहता होगा, सर्वमान्य अदब-कायदे होते होंगे, विभिन्न श्रेणियों में सुलभ संचार के कारण इतनी गतिशीलता रहती होगी कि असन्तोष इकट्ठा होकर उग्र प्रतिरोध उभरने का और समाज के असन्तुलित हो जाने का मौक़ा नहीं आता होगा। संस्कृत के शास्त्रीय कवियों का ज़माना शायद ऐसा रहा हो। उस समय किसी को भी मात्र इन्द्रियानुभूति के स्तर पर रसास्वादन कराने के लिए भी काव्य की रचना करते हुए मन में कोई अपराध-भाव नहीं उठता होगा। यह कहने के लिए यह प्रमाण जुटाने का स्थान नहीं कि आज का ज़माना वह ज़माना नहीं है। ऐसे प्रमाण जुटाने का कार्य वैसे भी फ़िज़ूल होता है।

ऐसा लगता है कि आज के ज़माने में साहित्य ज़िन्दगी की मुख्य धारा के बाहर की गतिविधि हो गया है। जैसे साहित्य के अच्छा-बुरा होने, होने या न होने से हिन्दुस्तानी आदमी की ज़िन्दगी में कोई फ़र्क नहीं पड़ने वाला है। ज़्यादातर साहित्य के विषय भी आदमी की ज़िन्दगी के सीमान्ती पहलू हैं और स्वयं साहित्य भी सीमान्ती संवेदना वाले लोगों की अनुभूति का विषय बनकर रह गया लगता है। साहित्यकार अपने लिए नकली अस्मिताएँ विरच कर एक नकली यथार्थ से समायोजन की समरनीतियाँ गढ़ता है और आलोचक इस नकली समर के सिद्धान्तों की उपलब्धि कर उन्हें लागू करने का काम करता है। यहाँ 'नकली' से तात्पर्य मुख्य जीवन-प्रवाह से बाहर के अर्थात् सीमान्ती लस्तगों से है। यह अर्थवान ज़िन्दगी और अर्थवान साहित्य के परस्पर सत्यापन के रिश्तों के टूटने का, अर्थात् अर्थों का पद की हद के बाहर चले जाने का ज़माना लगता है। असली लड़ाई साहित्य के बाहर हो रही है और साहित्य ने असली लड़ाई की ओर पीठ कर रखी है। आलोचक साहित्य के 'शाश्वत' मानदण्ड खोजकर 'शाश्वत' साहित्य की खोज कर रहे हैं जबकि हमारी ज़रूरतें बहुत ही वक्ती हैं, ज़िन्दगी की असली लड़ाई के हथियारों की हैं। यह दूसरी बात है कि साहित्य इस ज़रूरत को पूरा करते हुए भी शाश्वत साहित्य बन जाए और साहित्य के 'हथियार' का स्वभाव अनोखा हो।

ज़िन्दगी की अव्यवस्था के समतुल्य साहित्य का व्यवस्थित होना उसके देश-काल-बद्ध होने, बहुत-कुछ शब्दाकार होने की विवशता है जो उसी स्तर को भेदने की कोशिश में उसे अगले स्तर पर देश-कालातीत भी कर देती है। पर यदि साहित्य की व्यवस्था किसी नैतिक दृष्टि का फल है—एक ऐसी नैतिक दृष्टि का फल है जो समकालीन अव्यवस्था में निहित अनैतिकता को साहित्य की व्यवस्था के रूप में नैतिकता प्रदान करके उचित ठहराने की कोशिश करती है तो यह दृष्टि समाज की मौजूदा हालत में अपराध बन जाती है। यह दृष्टि मूलतः ग़लत नैतिकता की देन है। ऐसे ज़माने में किसी को यह लगे कि 'जिन्दगी' का मात्र वस्तुपरक समतुल्य खड़ा करना, जिसका हर चूल-काँटा दुरुस्त हो, इसे नैतिक दृष्टि से भी उचित ठहराना है और यह कार्य विवेक-विरुद्ध है तो वह अतिरंजना का, अव्यवस्था के कारण प्रतीकों पर व्यंग्य की चोट करने का, वस्तुपरकता को त्याग देने का रास्ता अपना सकता है। कोई भी ऐसा रास्ता चुन सकता है जो उसकी रचना की संगतिबद्ध व्यवस्था को नैतिक औचित्य

राग दरबारी : लेखक श्रीलाल शुक्ल, प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६, पृष्ठ संख्या ४२६, मूल्य पन्द्रह रुपए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देता हुआ न लगे। वह रचनाकार की तटस्थता को छोड़ सकता है, यदि उसकी दृष्टि के अनुसार यह तटस्थता मौजूदा ढाँचे को बनाये रखने का षड्यंत्र बन गई है। वर्णन की हर शैली में एक नैतिक दृष्टि निहित होती है। वर्णन की वस्तु का चयन भी इस नैतिकता के स्वरूप को जाहिर करता है। वर्णन की कोई शैली किसी ज़माने में अनैतिक लग सकती है। लेखक ज़िन्दगी से मिली दृष्टि के अनुसार अपनी नैतिक समझ से उचित वर्णन-शैली खोजने की कोशिश करेगा। ज़ाहिरन जितने लेखक, उतनी दृष्टियाँ, उतनी ही वर्णन-शैलियाँ भी कम-से-कम सिद्धान्ततः सम्भव हैं, पर यदि लेखन कहीं नैतिक समझदारी की भी अभिव्यक्ति बन चुका है तो यह अपेक्षित हो जाता है कि हम अपनी कसौटी को उसी स्तर पर ले जाएँ और तथाकथित साहित्यशास्त्रीय मानदण्ड उस कसौटी का आनुषंगिक बन जाए।

राग दरबारी पर बातचीत करने के पहले यह पूर्वपीठिका स्थापित कर लेना ज़रूरी है क्योंकि वह व्यंग्य कृति हो या न हो, वह एक व्यंग्य-दृष्टि या ज़्यादा सही बात, एक क्रीड़ा-('कॉमिक'?) दृष्टि को रूप देने की कोशिश है और उसका सारा ढाँचा इस दृष्टि के नैतिक औचित्य पर ही टिकता या मिटता है।

अपनी कसौटी को हम और भी प्राथमिक ठोस शक्ल दें तो हम कहेंगे कि साहित्य यदि सच को पूर्णतम रूप में उपलब्ध कराने की समरनीति है तो लेखक या तो उस सच का सामना करता है या उस सच की बग़ल से निकल जाता है, टालमटोल करता है या साफ़ झूठ बोलता है। सच को पूरा-पूरा उपलब्ध कराने की समस्याएँ हो सकती हैं, पर सच का सामना किया गया या नहीं, यह ज़्यादा मूल बात है। यदि इस पहले चरण पर कोई कृति खरी उतरती है तो इसके बाद के हर चरण पर हम क्रमानुसार अधिक तरह देते हुए आगे बढ़ सकते हैं। यहाँ यह बात भी साफ़ होनी चाहिए कि यथार्थ का वही पहलू ज़माने का सच हो जाता है जिसके बारे में कुछ करने की, जिसे बदलने की हम ज़रूरत महसूस करते हैं।

राग दरबारी के कठोरतम समीक्षक (नेमिचन्द्र जैन, साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' के 'प्रायदृष्टि' स्तम्भ में, १६ जनवरी १६६६) ने भी यह स्वीकार किया है कि "आज के भारतीय जीवन के इस पक्ष के बहुत-से, विभिन्न स्थितियों के बड़े प्रभावी चित्र 'राग दरबारी' में हैं जो हमारे अतिपरिचित अनुभव को फिर से ताज़ा कर जाते हैं।" इसलिए बाहरी साक्ष्य से सत्यापन की बहुत ज़रूरत नहीं और इतना कहने के लिए यह समीक्षक माँग होने पर सबूत पेश कर सकता है कि गाँव का इतना सच हमारे कथा-लेखन की परिधि में नागार्जुन और रेणु के बाद कभी नहीं आया है। इसकी कोई वजह होगी। अब हम बातचीत को आगे बढ़ा सकते हैं। उत्तर प्रदेश के अवध इलाके के लखनऊ-जैसे किसी शहर से कुछ ही मील दूर सड़क के किनारे स्थित गाँव कस्बा शिवपालगंज किसी नक्शे में ढूँढने पर शायद न मिले, पर 'राग दरबारी' का शिवपालगंज आज़ादी के बाद विकसित हुए हिन्दुस्तान में कहीं भी मिल सकता है। शिवपालगंज आम गाँवों से कुछ ज़्यादा तरक्की पर है। वहाँ इण्टरमीडिएट कालेज है, सहकारी समिति है, वह तहसील और थाने का सदर मुकाम भी है। और तो और वहाँ दुकानें और शराब की भट्ठी भी है फिर भी वहाँ पंचायत ही है, 'टाउन एरिया' नहीं है। आज़ाद हिन्दुस्तान की राजनीति, इस दौर में चले विकास-कार्यों से, सरकार और उसकी नौकरशाही तथा दूसरे औज़ारों की गति-विधियों से इस दरम्यान किस तरह की औलादें पैदा हुई हैं, उनका व्यक्तित्वशास्त्र, नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र क्या है—यही 'राग दरबारी' की वस्तु है। इस वस्तु के बारे में लेखक का एक ख़ास दृष्टिकोण है—शायद उस दृष्टिकोण के कारण ही वे तमाम बातें रचना-दृष्टि के दायरे में आ जाती हैं जो अमूमन 'वस्तुपरकता' की हामी भरने वालों की चेतना के दायरे के परे रह जाती हैं।

'राग दरबारी' का विषय और उसे देखने का दृष्टिकोण उपन्यास में शुरुआत से ही ज़ाहिर है और अन्त तक कायम है। इससे स्खलन के एक-दो उदाहरण शायद ढूँढे जा सकें, पर वह निरर्थक होगा।

शहर का किनारा। उसे छोड़ते ही भारतीय देहात का महासागर शुरू हो जाता था।

वहीं एक ट्रक खड़ा था। उसे देखते ही यकीन हो जाता था, इसका जन्म केवल सड़कों के साथ बलात्कार करने के लिए हुआ है। जैसे कि सत्य के होते हैं, इस ट्रक के भी कई पहलू थे। पुलिस वाले उसे एक ओर से देखकर कह सकते थे कि वह सड़क के बीच में खड़ा है, दूसरी ओर से देखकर ड्राइवर कह सकता था कि वह सड़क के किनारे पर है। चालू फ़ैशन के हिसाब से ड्राइवर ने ट्रक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का दाहिना दरवाज़ा खोलकर डैने की तरह फैला दिया था। इससे ट्रक की खूबसूरती बढ़ गई थी; साथ ही यह ख़तरा मिट गया था कि उसके वहाँ होते हुए कोई दूसरी सवारी भी सड़क के ऊपर से निकल सकती है।

इन्हीं वाक्यों के साथ उपन्यास शुरू होता है। ट्रक का मालिक तो दूर, इस सम्पत्ति नामक वस्तु को कहीं से स्पर्श करने वाला ड्राइवर भी सम्पत्ति के नशे में मस्त है। या उसका कोई और भी वसीला है—किसी अफ़सर, या उसके चपरासी या पुलिस सिपाही से ख़ास परिचय है जो उसके नशे का अतिरिक्त कारण हो सकता है। उसका सारा अहंकार और काफ़ी वासनाएँ उसी ट्रक में केन्द्रित हो गई हैं। वह 'चालू फ़ैशन के हिसाब से···ट्रक का दाहिना दरवाज़ा खोलकर डैने की तरह फैला देता है, बिना यह ख़याल रखे कि दूसरी सवारियों को भी सड़क पर से निकलना हो सकता है। उसकी स्थिति पर पुलिस वाला आपत्ति भी कर सकता है, लेकिन ड्राइवर उससे बहस कर सकता है। बहस का अन्त ऐसे भी या वैसे भी, ट्रक कहीं भी खड़ा हो, दो रुपए की रिश्वत से होना है। यदि यह रिश्वत प्रथा बन गई है तो ड्राइवर को ट्रक सड़क पर कहीं भी खड़ा करने का अतिरिक्त उत्साह मिल जाता है। ट्रक कहीं भी खड़ा न करके वह अपने अहं की पुष्टि का शायद एकमात्र उपलब्ध रास्ता बन्द क्यों करे? आज़ाद भारत में सम्पत्ति का हर मालिक, सम्पत्ति या किसी भी प्रकार की सत्ता से कहीं भी जुड़ा हुआ हर व्यक्ति पूरे समाज में अपनी विशेष स्थिति, अपने विशेष अधिकार इसी प्रकार दिखाते हुए, सामाजिक या सरकारी अदब-कायदों, कानूनों, नैतिकताओं या शिष्टाचारों से अपने को ऊपर सिद्ध करते हुए निरंकुश लोकतन्त्र का स्वच्छन्द उपभोग करता है। इस लोकतन्त्र में अंकुश प्रायः सम्पत्ति और सत्ता से दूर के लोगों पर लगता है और तभी लगता है जब कि या तो इन लोगों की किन्हीं हरकतों की वजह से विशेषाधिकारों पर आपत्ति हो रही हो या उन पर ख़तरा महसूस हो रहा हो, अर्थात् ये लोग सरकार की विविध चक्कियों में पिसने की पूरी प्रक्रिया झेलने से इनकार करने लगे हों।

उपन्यास का अगला पैराग्राफ़ इस बस-स्टेशन पर दुकानों को स्थापत्य—'छप्परों, लकड़ी और टीन के सड़े टुकड़े और स्थानीय क्षमता के अनुसार निकलने वाले कबाड़ की मदद से खड़ी की हुई दुकानें'—पाकशास्त्र—'प्रायः सभी में जनता का एक मनपसन्द पेय मिलता था जिसे वहाँ गर्द, चीकट, चाय की कई बार इस्तेमाल की हुई पत्ती और खौलते पानी आदि के सहारे बनाया जाता था', अगला पैराग्राफ़ भारतीय रेल का टाइम टेबुल और उसके प्रति तदनुकूल यात्री-रुख—'स्थानीय पैसेंजर ट्रेन को रोज़ की तरह दो घण्टा लेट समझकर वह घर से चला था, पर वह सिर्फ़ डेढ़ घण्टा लेट होकर चल दी थी'—बतलाता है तथा और भी आगे हमारे गाँव की गन्दगी की भरपूर तस्वीरें मिलती हैं।

जिनकी ट्रेन छूट जाती है वे श्री रंगनाथ हैं। प्राचीन इतिहास में एम० ए० करने के बाद बेकारी के दिन काटने के लिए रिसर्च करने लगते हैं। शहर में स्वास्थ्य कुछ हलका पड़ रहा है इसलिए अपने मामा वैद्यजी के पास देहात में—शिवपालगंज—सेहत बनाने जा रहे हैं। ट्रक का ड्राइवर उनको देखकर—'अहा! क्या हुलिया था! नवकंजलोचन कंज मुखकर कंज पद कंजारुणम्। पैर खद्दर के पैंजामे में, सर खद्दर की टोपी में, बदन खद्दर के कुर्ते में। कन्धे से लटकता हुआ भूदानी झोला।'—ट्रक में शिवपालगंज तक बैठने की इजाज़त दे देता है। बाद में पता चलता है कि शोध-छात्र महाशय को यह सुविधा और साथ में सद्व्यवहार सिर्फ़ इसलिए प्राप्त हुआ था कि उन्हें सी० आई० डी० का आदमी समझा गया था, जो गाँव शायद किसी कत्ल के मामले का पता लगाने जा रहा था वरना यह पोशाक 'कोई तुक का आदमी तो पहनता नहीं।' भ्रम टूटते ही ड्राइवर का रुख बदल जाता है। रिसर्च-स्कॉलर साहब को आगे यातायात महकमे द्वारा की जाने वाली ट्रकों की जाँच-पद्धति का भी पता चलता है और साहब के चपरासी को रिश्वत के दो रुपये देने पड़ते हैं।

"थोड़ी देर में ही धुँधलके में सड़क की पटरी पर दोनों ओर कुछ गठरियाँ-सी रखी हुई नज़र आयीं। ये औरतें थीं, जो कतार बाँधकर बैठी हुई थीं। वे इतमीनान से बातचीत करते हुए वायु-सेवन कर रही थीं और लगे हाथ मल-मूत्र का विसर्जन भी। सड़क के नीचे घूरे पटे पड़े थे और उनकी बदबू के बोझ से शाम की हवा किसी गर्भवती की तरह अलसायी हुई चल रही थी। कुछ दूरी पर कुत्तों के भूँकने की आवाजें हुई। आँखों के आगे धुएँ के जाले उड़ते हुए नज़र आए। इससे इनकार नहीं हो सकता था कि वे किसी गाँव के पास आ गये थे। यही शिवपालगंज था।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दृश्य के साथ पहले अध्याय का अन्त होता है। अपने देश में यात्रा (या बहुतों के लिए जीवन-यात्रा) जैसे चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में समुद्री मार्ग में भटक गये किसी पोत पर हो रही यात्रा है। ('चिड़िये नज़र आते हैं तो उम्मीद बँधती है कि खुश्की कहीं समीप है'—उसी तरह राग दरबारी में यह दृश्य अनेक बार गाँवों की निकटता की सूचना देता है।) यह अनिवार्य दृश्य भारत-यात्रा पर आये हुए आल्डुअस हक्सले को भी दिखा था—'रेल से यात्रा कर रहे आदमी को सुबह-सुबह उठने पर दोनों ओर निसर्ग में जो सबसे आम दृश्य दिखेगा—पाखाना हो रहे लोग।' (याद से उद्धृत) बहुत सारे लोगों के लिए यह दृश्य बार-बार दिखते हुए भी उल्लेखनीय नहीं होता, लेकिन आल्डुअस हक्सले इस एक, बहुत-महत्त्वपूर्ण नहीं, असारगर्भित दृश्य का उल्लेख कर जाता है। वह कार्डिनल रिशेलु के सहायक संन्यासी फ़ादर जोसेफ़ की जीवनी के माध्यम से राजनीति और धर्म के अपने बहुस्तरीय अध्ययन 'द ग्रेट एमिनेंस' में फ्रांस के राजपरिवार व दरबारियों के शौच-निवृत्त होते हुए बातचीत करने का दृश्य भी चित्रित कर जाता है, बिलकुल उसी तरह ये गाँव की औरतें अपनी नित्य-क्रिया में संलग्न हैं। (तत्कालीन फ्रांस में बीमार बादशाह के दस्त की रूप-रंगत का विस्तृत विवरण देने वाली चिकित्सा-बुलेटिनें रोज़ प्रकाशित होती थीं और बादशाह के स्वास्थ्य के बारे में बड़े पैमाने पर अतिशय उत्सुक नागरिक इन बुलेटिनों की बेसब्री से प्रतीक्षा और अध्ययन करते थे। डीन स्विफ़्ट के साहित्य में इस तरह के दृश्यों की विविधता तो अब इतिहास-दार्शनिकों के अध्ययन का भी विषय बन चुकी है। (देखिए नार्मन ब्राउन, 'लाइफ़ अगेंस्ट डेथ' का 'फिल्दी लूकर' अध्याय) लेकिन रेबेला, स्विफ़्ट, सरवेन्तीज़, या 'मंकी' अथवा 'गुड सोल्जर श्वाइक' के लेखक का उल्लेख किसी बहुस्तरीय तुलना के लिए नहीं, क्रीड़ा-('कॉमिक') दृष्टि के कुछ लक्षणों की 'राग दरबारी' में उपस्थिति की ओर संकेत करने मात्र के लिए ही किया जा सकता है। यह क्रीड़ा-दृष्टि उपन्यास की पूरी वर्णन-शैली में व्याप्त है।

इस स्थिति का ग्रामीण समाजशास्त्र या जनस्वास्थ्य-शास्त्र सोचने की बात दूर 'आंचलिक' उपन्यास लिखने के लिए गाँव की सैर पर निकले कथाकारों की दृष्टि की परिधि में ये दृश्य आते ही नहीं। (न ही राजनीतिज्ञों, शासन अधिकारियों, समाज-सुधारकों की दृष्टि में ये दृश्य आते हैं। गांधी एक अपवाद हैं और राममनोहर लोहिया दूसरे।) राममनोहर लोहिया जब गाँव की औरत की, अर्थात् भारत की लगभग आधी आबादी की खास समस्याओं में सबसे बड़ी पाखाना होने की समस्या मानते थे तो राजनीतिक शिष्ट जनों को ऐसे उल्लेख फूहड़, अश्लील और असभ्य लगा करते थे। उन राजनीतिक शिष्टजनों-जैसा ही दिमाग़ हमारे शिष्ट आलोचकों का भी है।

औपनिवेशिक दिमाग़ में गाँव की तसवीर भी जैसे विलायती गाँव को मानदण्ड बनाकर चलती है। स्वामी-देश में गाँव या तो औद्योगिक बस्ती या शहर में कामकरदा नौकरशाह का भीड़ शोर-भरे शहर लन्दन की हद से बाहर सप्ताहान्त का आरामगाह होता है या शिकारगाह के किनारे की बस्ती। गाँव का आवास, हर शुक्रवार को गाँव के लिए प्रयाण, सप्ताहान्ती सैलानी की उच्चस्थिति के प्रतीक होते हैं। बेशरम औपनिवेशिक दिमाग़ स्वामी-देशों के गाँव को अपने गाँव पर भी आरोपित कर लेने का सरल रास्ता अख्तियार करता है। रूसो के गाँव पर दूर से सोचे हुए हिन्दुस्तानी गाँव के लक्षण थोपकर हमारा असरदार तबका गाँव-जंगल-आदिवासियों के प्रति रूसो वाले रुख़ को बरकरार रखता है। हमारे कथा-लेखन में भी ये उधारी-रोमानी आग्रह इतने सूक्ष्म स्तरों तक पैठे हुए हैं कि बहुत बेलाग और दीर्घकालीन आत्मविश्लेषण ही इससे कुछ हद तक मुक्ति दिला सकता है। यह आत्मविश्लेषण तभी सम्भव हो पाएगा जब जिस वस्तु को शब्दबद्ध किया जा रहा है उसके बारे में कुछ करने की भी बेताब इच्छा होगी। जो करना है वह प्रत्यक्ष होने पर जो स्थिति है वह भी प्रत्यक्ष होने लगेगी और वह करने में अपने निजी और वर्ग-स्वार्थ या अपने आग्रह कहाँ तक बाधा डालते हैं यह भी मालूम होने लगेगा। कर्म के समीप रहा शब्द ही सही तौर पर सजीव या सार्थक होता है। लेकिन हिन्दुस्तानी औपनिवेशिक दिमाग़ को लेखन के सोद्देश्य होने से स्वामियों द्वारा रटाये गये मानदण्डों पर आँच आने लगती है। 'तटस्थता', 'वस्तुनिष्ठता', 'अनुभव के प्रति ईमानदारी', 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव', 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण'-जैसे तमाम अर्ध-सत्य साहित्यिक जगत् में सर्वमान्य खरे सिक्कों के रूप में चलते हैं।

राग दरबारी में जिन्दगी, हिन्दुस्तान के गाँव की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हालत, इस दुनिया की पुलिस, थानों, अफ़सरों, स्कूलों, विद्यार्थियों, प्रिंसिपलों, गाँव के राजनीतिज्ञों और उनके चंगुल में पड़ी सहकारी संस्थाओं, सबके घृणित पहलुओं को सामने लाती है। 'स्थितियाँ अपने-आपमें इतनी वज़नदार हैं कि इन पहलुओं का वस्तुगत प्रस्तुतीकरण ही महान् उपन्यास बन जाता'—यह आलोचक कह सकता है। पर वैसा करने के लिए राग दरबारी के लेखक को यह तय करना पड़ता कि उसे महान् उपन्यास लिखना है, फिर उसे आलोचक से महान् उपन्यास के तत्त्वों की जानकारी हासिल करनी पड़ती, और इससे भी अधिक ज़रूरी उसे आलोचक की संवेदना उधार लेनी पड़ती। राग दरबारी में किसी साहित्यिक मानदंड के समीप होने के बजाय ज़िन्दगी के ज़्यादा समीप होने की कोशिश है। इस बात को राग दरबारी के मुहावरे में भी पहचाना जा सकता है जो लगभग उसी तरंग-लम्बाई पर है जिस तरंग-लम्बाई पर यहाँ वर्णित ज़िन्दगी है। एक उदाहरण यह है—

रुप्पन बाबू ने अपनी डंडामार शैली में जवाब दिया था :

"देखो दादा, यह तो पॉलिटिकल है। इसमें बड़ा-बड़ा कमीनापन चलता। यह तो कुछ भी नहीं हुआ। पिताजी जिस रास्ते में हैं उसमें इससे भी आगे कुछ करना पड़ता है। दुश्मन को, जैसे भी हो, चित करना चाहिए। यह न चित कर पाएँगे तो खुद चित हो जाएँगे और फिर बैठे चूरन की पुड़िया बाँधा करेंगे और कोई टका को भी न पूछेगा।

"पर इस कालेज के बारे में सुधार की ज़रूरत है। प्रिंसिपल हरामी है। दिन-रात गुटबंदी की खिचखिच लगाए रहता है। खन्ना मास्टर भी उल्लू के पट्ठे हैं। पर वे हरामी नहीं हैं। यह साला उन्हें बहुत दबा चुका है। अब खन्ना मास्टर को उबरना चाहिए। मैंने पिताजी से भी बात की थी, पर वे प्रिंसिपल को उखाड़ना नहीं चाहते।

यदि यह रुप्पन बाबू के संवाद का प्रतिरूप है तो खुद लेखकीय वर्णन की भी भाषा देखिए :

उससे लगभग एक फर्लांग की दूरी पर रुप्पन बाबू एक पेड़ के सहारे काफ़ी देर से बैठे हुए अपने पेंट की अन्दरूनी सफ़ाई कर रहे थे। अपनी इस निजी समस्या को सार्वजनिक ढंग से निबटाकर जब वे उठ खड़े हुए तो रंगनाथ भी अपनी जगह पर खड़ा हो गया। रुप्पन बाबू जब उसकी तरफ़ नहीं आए तो वही उनकी ओर चल दिया। लगा, कोई नेता अभी-अभी किसी संकट के गड्ढे से ऊपर आया है और प्रेस उसका इंटरव्यू लेने जा रहा है।

यहाँ गाँव के परिवेश में 'प्रेस इंटरव्यू' का रूपक लाना सिर्फ़ यह ज़ाहिर करता है कि रोष केवल देहाती ज़िन्दगी के प्रति नहीं सारी हिन्दुस्तानी ज़िन्दगी के प्रति है। ऐसे रूपक उपन्यास-भर में हैं और देहात की ज़िन्दगी को शहर की ज़िन्दगी से जोड़ते चलते हैं। भाषा हलके स्तर पर है, पर दो-टूक है और लोक-भाषा के ज़िन्दगी-लसे आवेग का प्रतिरूप है। इसे व्यंग्यकार की चुस्ती मानना तथाकथित 'गँवारों' की बातचीत से अपरिचय इज़हार होगा।

कातिक पूर्णिमा को शिवपालगंज से लगभग पाँच मील की दूरी पर एक मेला लगता है। वहाँ जंगल है, एक टीला है, उस पर देवी का एक मन्दिर है और चारों ओर बिखरी हुई किसी पुरानी इमारत की ईंटें हैं। जंगल में करौंदे, मकोय और बेर के झाड़ हैं और ऊँची-नीची ज़मीन है। खरगोश से लेकर भेड़िये तक, भुट्टाचोरों से लेकर डकैत तक इस जंगल में आसानी से छिपे रहते हैं। नज़दीक के गाँवों में जो प्रेम-सम्बन्ध आत्मा के स्तर पर कायम होते हैं उनकी व्याख्या इस जंगल में शरीर के स्तर पर होती है।...

प्रकृति-वर्णन का यह ग़ैर रोमांसीकरण प्रेम-वर्णन में भी है। दमित वासनाओं वाले समाज की ग्रन्थियों से ज़्यादातर युवक पात्र पीड़ित हैं। प्रौढ़ पात्रों में या उनमें द्वन्द्व या गति खोजना और न पाना, इसे 'यथार्थवादी सपाटता' कहना और 'नीचे कोई और ज़िन्दगी खोजना', फलस्वरूप इसे एक सीमा के बाद सच्ची तसवीर न मानना, अपनी ज़रूरत की माँग ग़लत जगह पर करना होगा। देहाती पात्रों में द्वन्द्व नहीं है—जैसे एक जाति पर दूसरी जाति और इस तरह असंख्य जातियों का जमघट भारतीय समाज में है; जिस तरह लोक या कबीले की 'छोटी परम्परा', वेद मंत्रों या तंत्रों की 'महान् परम्परा', मुग़लिया विलासिता और शानो-शौकत, इकट्ठा होकर और 'आधुनिकता' के उपकरणों से समन्वित होकर हिन्दू संस्कार बन जाते हैं, उसी तरह तमाम विरोधी-संवादी बातों का घालमेल कर समन्वय करने वाला हिन्दू व्यक्तित्व हर नयी बात का एक और खोल अपने ऊपर चढ़ा लेता है। 'राग दरबारी' के लगभग सभी पात्रों का व्यक्तित्व ऐसा ही है। उन्हें संशय नहीं सालते। किसी लक्ष्य में सफलता-असफलता होती लगती है तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी समर-नीति उन्हें ज़रूर सोचनी पड़ती है, लेकिन अस-फलता का लोक-भाषा में दार्शनिक स्पष्टीकरण कह-सोचकर ज़िन्दगी से आसानी से समायोजन कर लिया जाता है। कहीं कुछ दरकता ज़रूर है, शायद उसे भी द्वन्द्व कहा जा सकता है, पर राग दरबारी की भाषा में उसे खोजने के लिए कुछ बारीक नज़र की ज़रूरत पड़ेगी।

प्रिंसिपल साहब अनहोने पात्र नहीं हैं। वैसे वाइस चांस-लरों से भी भेंट की जा सकती है। बाबू रंगनाथ शहराती आदमी हैं। उन्हें भी यह भ्रम हो गया था कि प्रिंसिपल बिलकुल जंगली है। फिर प्रिंसिपल के मुँह से पिकासो का नाम सुनकर उनका भ्रम टूटा। और भी बातें फिर उनको सुनने को मिलीं। वैद्यजी के सामने भी सारी बातें साफ़ हैं, कोई नैतिक मुग़ालता उन्हें नहीं है। संशय नई पीढ़ी के लोगों में, ख़ास तौर पर शहराती बाबू रंगनाथ में उदित होता है और वे प्रिंसिपल खन्ना मास्टर के झगड़े में पक्षधर होने लगते हैं, पर अंततः उनके हत्तारों में भी पलायन-संगीत बजने लगता है। उपन्यास का यह दहुत महत्त्वपूर्ण स्थल है। समीक्षा करने वाले आलोचक इस स्थल पर ज़्यादा ग़ौर करते तो ज़्यादा अच्छा होता। श्री रंगनाथ के पूरे चरित्र में भारतीय शहराती बुद्धिजीवी की अकर्मण्यता और अज्ञान का हूबहू चित्र पेश है। यह बुद्धिजीवी दिमाग़ी लड़ाई शुरू करता है, पर संघर्ष का अवसर आने पर फिर शहर की ओर पलायन कर जाता है।

'राग दरबारी' आज की हिन्दुस्तानी ज़िन्दगी की मुख्य धारा को पकड़ने की कोशिश है। इस धारा में बदलाव है, पर उसका रूप ऐसा है जिसे लेखक नैतिक औचित्य देना नहीं चाहता। वह स्वायत्त कला-रूप में सामंजस्य पा चुकी चरित्र-घटना-सृष्टियों को अपना नैतिक समर्थन देना न प्रकट हो इसके लिए लगातार स्थिति के बयान को अपनी टीका भी बनाता चलता है। इस टीका को 'व्यंग्य' कहना या इसके बारे में साप्ताहिक पत्रों के 'बैठे-ठाले' स्तम्भों का उल्लेख करना दृष्टिदोष की देन है, क्योंकि यहाँ किसी भी पात्र का न तो मज़ाक उड़ाया गया है न उस पर व्यंग्य किया गया है। जिन लोगों के पास सौन्दर्यशास्त्रीय बारीकियों की समझ न हो वे भी इस प्रसंग में किसी मुग़ालते में न रहें इसलिए पूरे समाज को यहाँ क्रीड़ा-दृष्टि से देखा गया है। ब्रेख़्त अपने नाटकों के दर्शकों में मंत्रीय घटनावली में सहभोक्ता का भाव नहीं, उसमें इस घटनावली को बदलने की दृष्टि और क्षमता उभा-[illegible] 'राग दरबारी' भी पाठक को झकझोरता है। वह हिन्दी उपन्यास की माँगों को पूरा करे या न करे, उपन्यास जाए भाड़ में, वह कई अर्थों में हिन्दी पाठक की उपलब्धि है। ●

चीज़ें लगातार मेरे हाथ से फिसल रही हैं

विष्णु खरे

प्रयाग शुक्ल की कविताओं[1] का संसार उनका एकदम निजी संसार है। निजी कविताएँ भी 'विविध' तथा 'विस्तृत' हो सकती हैं यदि उनका रुझान दर्शन या वैचारिकता की ओर हो, लेकिन प्रयाग शुक्ल का विश्व उन वस्तुओं का विश्व है जो कवि से ऐन्द्रिक रूप में कहीं जुड़ी हुई हैं और इसलिए यह समझना कठिन नहीं है कि उनकी कविताओं में 'बड़ी बहन', 'बचपन के संस्मरण', पिता की संपत्ति' 'पिता की याद', 'जहाँ बचपन गुज़रा था वहाँ जाने वाली सड़क', 'माँ का चेहरा और पिता की बातें', 'बचपन में कमरे', 'टूटे पुराने और सुन्दर घर', 'खपरैल से झरती हुई छत', 'माँ का चेहरा', 'पगडंडी पर चला आ रहा मित्र', 'पैतृक घर' और 'माँ के द्वारा बाँधी गई पूरियाँ'-सरीखे चित्र बार-बार उन्हीं अर्थों में आए हैं जिनमें वे स्वयं कवि के जीवन में हैं।

मैं अभी शारीरिक और मानसिक रूप से इतना अधेड़ नहीं हुआ हूँ कि प्रयाग शुक्ल के लिए 'नवोदित'-सरीखा हास्यास्पद विशेषण इस्तेमाल करूँ। 'नयी कविता' में उत्कर्ष-काल में वे लिख रहे थे, महानगरों में रहे, समीक्षाएँ भी लिखीं। हिन्दी कविता के पिछले कुछ वर्षों में जो उथल-पुथल हुई उसे भी उन्होंने निकट से देखा होगा—मुक्तिबोध की मृत्यु तथा उनकी कविता की खोज और प्राप्ति, अकविता का उत्थान तथा पतन, एक नयी क़िस्म की जागरूक कविता का उदय—इस सबके के वे चश्मदीद गवाह रहे हैं। किन्तु उनकी इन कविताओं में इन काव्य-घटनाओं का कोई भी आभास

१. कविता संभव : प्रयाग शुक्ल, अमिताभ प्रकाशन, कलकत्ता-७, मूल्य ५ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है। श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर सहाय, धूमिल, चन्द्रकान्त देवताले, लीलाधर जगूड़ी की और सरीखी कविता के इस दौर में (जिसकी रूढियाँ भी उतनी ही तेज़ी से बन रही हैं जितनी अकविता की बनी थीं) यदि एक समवयस्क कवि आज के मुहावरे का प्रयोग नहीं करता तो इसका क्या अर्थ हो सकता है? एक तो यह कि प्रयाग शुक्ल ऐसा करने में असमर्थ हैं—किन्तु उन सरीखा कवि यदि चाहे तो कम-से-कम एक समर्थ नकल अवश्य कर सकता है, और इस दौर में यह तय करना कठित होता जा रहा है कि आज की कितनी कविता 'वास्तविक' है और कितनी 'छद्म'। स्पष्ट है कि उन्होंने यह सुविधा स्वीकार नहीं की और जान-बूझकर एक जोखिम उठायी—एक विशेष मूड के दौर में न केवल उन्होंने उससे एकदम विपरीत मूल की कविताएँ लिखीं, बल्कि उनके प्रकाशन के लिए १९६८ का वर्ष चुना, जो उस विशेष मूड में लिखी गई लम्बी कविताओं का वर्ष कहा जा सकता है। यह बात और है कि इस जोखिम को उठाने में वे दूसरी तरह की सुविधा के शिकार हुए।

स्पष्ट है कि यदि प्रयाग शुक्ल का काव्य-संसार भ्रष्टाचार, पार्लियामेंट, मूर्खता, लोहिया, हिन्दी, गाय, हड़ताल, तालाबन्दी, आगज़नी, बलात्कार, वक्तव्यबाज़ी आदि का संसार नहीं है तो ऐसा सोच-विचारकर है। उनका संसार न 'आधुनिक' है, न 'समसामयिक', न 'भारतीय', वह 'शहरी' भी नहीं है, नगर का ज़िक्र उसमें कहीं-कहीं है, किन्तु सिर्फ़ एक मंच-निर्देश की तरह उनकी कविताओं में शहर से न ऊब है, न भय और न घृणा। शहर को उन्होंने एक नॉस्टैल्जिया के ज़रिये अनुपस्थित कर लिया है: "दृष्टि को घुमाता हूँ सुदूर छोरों में /, पहुँच के परे, / वहाँ माँ का चेहरा है" (एक पंक्ति टेढ़ी हो जाती है) "तुम याद कर रहे थे कुछ और/नहीं याद आ रहा था कुछ और / यह नहीं"···"याद करते चले जाओगे / चले जाओगे" (एक ग़ैर ज़रूरी कविता) "याद आती हैं डूबी हुई शामें / उनमें लिपटी हुई गंध / उनमें लिपटे हुए दृश्य" (शामें) "बीत गई, बीत रही चीज़ों के बीच में" (मैं हूँ) "इस समय जबकि मैं आसानी से खोल सकता हूँ / अतीत की खिड़कियों को" (इस समय) "यों इसे सुनकर वह लड़की याद आती है"···"और चीज़ों के बीच सिर्फ़ गुज़रना भर याद रहता है" (निशान) "कौन-सी है डाल जो अचानक उग आती है हवा में / और बचपन की ओर लौटाकर / फिर लटका देती है अधर में" (सिर्फ़ एक डाल) "यानी छोड़ आया हूँ बहुत-कुछ बचपन के कमरों में / टूटे पुराने और सुन्दर घरों में / कच्चे-पक्के अनेक रास्तों में / कि अब उन्हें याद में भी ठीक से जोड़ नहीं सकता" (एक उम्र)।

इस तरह की अनेक पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं, बल्कि ऐसा सरलीकरण देना भी संभव है कि प्रयाग शुक्ल नॉस्टैल्जिया के कवि हैं, क्योंकि उनकी प्रायः समस्त कविताओं में विगत प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न रूप में उपस्थित है। एक स्वस्थ मात्रा में नॉस्टैल्जिया साहित्य की सारी विधाओं के लिए आवश्यक भी हो सकता है, किन्तु उसका निरन्तर आश्रय कला के लिए तो ख़तरनाक है ही—वह व्यक्ति को भी कैंसर की तरह कुतरता चला जाता है। असंयत नॉस्टैल्जिया एक छिछली भावुकता—और उससे भी अधिक घातक वस्तु आत्मदया—को जन्म देता है: "जहाँ-जहाँ होना चाहता हूँ / वहाँ-वहाँ न होने का एक / अस्थिर उलाहना है / एक दुखद दूरी है, जिसे मापते हैं / व्याकुल पैर"···"वे सारी दूरियाँ, जिन्हें इतने पास / और व्याकुल मन से मैं ही जानता हूँ" (अस्थिर उलाहना) "जितना समेटता हूँ, उतना ही लगता हूँ असहाय" (गाँठ) "क्या वह मैं ही था और वह मैं ही होऊँगा / असहाय, निरुपाय, मौसम और लोगों की तटस्थता से / टूटा हुआ / जीवित सम्पर्कों से छूटा हुआ, फिर कभी / तुम्हें सदा जीवित रखने में असमर्थ /···"क्या मैं फिर करुणा-विगलित होकर भी, वह न पाने / की असमर्थता में छटपटाऊँगा, लिए हुए एक प्यास!" (दृश्य परिवर्तन) "डूबती गई हैं शामें / गलियों में, **अकेले कमरों में / उदास** घरों में / ···डूबती गई हैं **विकल** शामें /···डूबती जाएँगी शामें / डूबती जाएँगी गंध / डूबते जाएँगे दृश्य / **डूबता जाऊँगा मैं** (शामें) "छोटे-छोटे गढ़ों में छोटे-छोटे दुःखों की तरह / भर गया है पानी···कितना क्या रुँधा हुआ है का हिसाब भरते / देख रहा हूँ वह हरियाया उजाड़" (नहीं यह नहीं)।

कविता और जीवन दोनों में आत्मदया के उन्नयन के न केवल मार्ग हैं अपितु उदाहरण भी हैं और चूँकि हम सब आदमी हैं, कभी-न-कभी आत्मदया का एक दौरा हम पर पड़ना लज्जाजनक नहीं है, किन्तु आत्मदया को आत्मपीड़न में परिणत होते समय नहीं लगता और वहीं से आत्मदया के कलात्मक इस्तेमाल का पतन प्रारंभ होता है। आत्मदया तब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न केवल एक मजेदार चीज़ हो जाती है बल्कि एक आभूषण भी बन जाती है और उसके साहित्येतर उपयोग होने लगते हैं। आत्मदया को सॉब-स्टफ़ से बचा ले जाना एक कठिन कला है और प्रयाग शुक्ल को अभी उस लाघवता की प्राप्ति के लिए बहुत दूर जाना है।

यहाँ आकर इसका स्मरण दिलाने की आवश्यकता महसूस होती है कि यद्यपि यह हो सकता है कि आत्मदया और नॉस्टैल्जिया सम्बद्ध हों, उनका उद्गम एक ही है—आत्म-केन्द्रीयता या आत्ममोह। यदि कवि ने अपने व्यक्तित्व को विरल कर लिया है तो उसके काव्य में नॉस्टैल्जिया उतना ही विरल होगा और आत्मदया का तो प्रश्न ही नहीं उठेगा—यदि उसका उपयोग स्वयं पर—और इस तरह सब पर—व्यंग्य करने के लिए न हो। आधुनिक युग का मिज़ाज या तो क्रोध का है, या व्यंग्य का या मोह-भंग का, और प्रयाग शुक्ल में ये तीनों नहीं हैं। इन तीनों के सिवाय काव्य हो ही नहीं सकता यह मैं नहीं कहता—बृहत् मानवीय संबंधों तथा करुणा में विश्वास यह भी काव्य का विषय हो सकता है, मुक्तिबोध का तुरन्त स्मरण हो आता है। कहा जा सकता है कि प्रयाग शुक्ल की कविताओं में मानवीय सम्बन्धों का अभाव नहीं है—उनके काव्य-संसार का उल्लेख पहले ही हो चुका है—किन्तु वे उन सम्बन्धों को वह कलात्मक विरलता या सार्वजनीनता नहीं दे पाए हैं जो उनकी कविताओं को एक बृहत्तर मानवीय संदर्भ दे सके। उनके सम्बन्ध उनके निजी हैं और उससे अधिक कुछ भी नहीं हैं। किसी स्त्री को अपने बेटे से लाड़ करते देखकर यह निष्कर्ष निकालना कि वह संसार के सभी बच्चों को उतना ही प्यार करेगी न केवल ग़लत है बल्कि हास्यास्पद भी। प्रयाग शुक्ल की कविताओं में जब 'मैं' उपस्थित होता है तो हमें प्रयाग शुक्ल ही याद आते हैं जबकि, उदाहरणार्थ, मुक्तिबोध का 'मैं' उनका अपना होते हुए भी वह विराट्, अमूर्त 'मैं' है जो हम सबमें कहीं विद्यमान है। प्रयाग शुक्ल की कविताओं में सब-कुछ हो सकता है, स्पंदित मानव-उपस्थिति वहाँ नहीं है। उनकी कविताओं को सपाट पढ़ते चले जाना सम्भव है और उनका 'आनन्द लेना' भी, किन्तु जैसे ही उन इशूज़ का ख़याल आता है जो इन कविताओं में नहीं हैं, यह बात दुःखद रूप से स्पष्ट हो जाती है कि प्रयाग शुक्ल तक 'भयानक खबर' अभी तक नहीं पहुँची है।

आज की हिन्दी कविता चार आत्यंतिक ध्रुवों पर खड़ी हुई लगती है: रघुवीर सहाय सरीखे कवियों का अत्यन्त समसामयिक संसार, अकविता का एक्ज़ीबिशनिस्ट कैशोर्य, प्रयाग शुक्ल आदि कवियों का अत्यन्त वैयक्तिक, दयार्द्र तथा सुरक्षित कोना तथा इन सभी को नकारता हुआ श्रीकान्त वर्मा का विश्व (शायद एकमात्र उन्हीं का, क्योंकि इस मिज़ाज का कवि हिन्दी में और कोई नहीं दीख पड़ता)। रघुवीर सहाय सरीखे कवियों की समसामयिकता ही उनकी सबसे बड़ी पराजय है, क्योंकि उसमें समय से बाहर होने का वह गुण स्पष्टतः नहीं है जो उसे भावी प्रासंगिकता दे सके। एक जनवरी १९६९ को प्रकाशित किसी समाचारपत्र की प्रति की क़ीमत एकाध हफ़्ते तक हो सकती है, किन्तु एक जनवरी १९७९ को तो उसे सिर्फ़ शोधार्थी ही खोजकर पढ़ेंगे। फिर भी ऐसी कविता की एक तात्कालिकता है और एक सीमित समय के लिए उसे पाठक तथा आलोचक दोनों प्राप्त होंगे। श्रीकान्त का तादृश निहिलिस्ट रुख़ सामाजिक स्तर पर भले ही संदिग्ध हो और उसके नैतिक मूल्य पर प्रश्नचिह्न लगाए जा सकते हों—कलात्मक स्तर पर वह एक स्थायी स्टैण्ड है और इसलिए उनकी कविताएँ भर्त्सनीय हो सकती हैं, भंगुर नहीं। अकविता के दम-ख़म एक नेत्रसुखी नपुंसक द्वारा लोगों को रतिरत देख लिए जाने के बाद उन्हीं हरकतों की नकल है जिसके कोई ठोस (या तरल) परिणाम नहीं निकले। किन्तु प्रयाग शुक्ल का जो सुरक्षित कोना है, वह पराजित अथवा लड़ती हुई सेनाओं का रात्रि-विश्राम नहीं है जिसके पश्चात् कल पुनः युद्ध प्रारम्भ करना है, वह एक ऐसा महल्ला है जिसमें बस्ती के सारे भगोड़े आग लगने के बाद छिप गए हैं और अपने-अपने को विसूर रहे हैं।

प्रयाग शुक्ल का कविताओं का संसार इस तरह दमघोंटू, रुग्ण उदासी का संसार है। द्रष्टव्य है कि इन कविताओं में यदि स्थितियों से मुकाबला नहीं है तो विशुद्ध सुख और आह्लाद भी नहीं है, केवल इनकी काव्यात्मक चर्चा अवश्य है। युवा कवि प्रेम पर कविता लिखे यह तो समझ में आता है, किन्तु जब भाषा यह रूप धारण कर लेती है तब ?

"प्रिय, झलकता है दूरियों में होने का सुख
और खो देने का दुःख—
इन्हें नहीं देखतीं !
रहने दें आज बस यहीं तक प्रिय !"

(पाठ)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अब' में भाषा, कथ्य और त[illegible] हो चुका होता है :

"अब मैं तुम्हारे साथ-साथ रहूँगा—
तुम जिधर देखोगी मैं उधर देखूँगा !
....
मैं जो कुछ पाऊँगा, उसे अकेले नहीं देखूँगा
हाथ पकड़कर तुम्हें भी दिखाऊँगा।"

'कब' में एक निहायत मामूली विचार को काव्यात्मकता देने का यह प्रयास भी द्रष्टव्य है :

"डर नहीं लगेगा कि यात्रा के ख़त्म होने से
पहले ही
उसे किसी दूसरे ने पा लिया होगा
प्रयासहीन !"

जिसका 'गद्यार्थ' यह है कि 'डर नहीं लगेगा कि इससे पहले उसका मेरा विवाह हो, कोई और ही दूल्हा बनकर उसे ले उड़े।' प्रयाग शुक्ल भावनाओं के कवि हैं और ऐसे हर कवि के समक्ष यह समस्या होती है कि वह किस तरह उन्हें कविताओं में व्यक्त होने तो दे, किन्तु साथ ही बेनलिटी और बेथॉस से भी बच निकले। किसी कोमल भावना को मुँह चिढ़ाते हुए व्यक्त कर पाना भी संभव है इसे अभी (हम सब) हिन्दी कवियों को सीखना है। भावना अपने-आपमें कोई अस्पृश्य वस्तु नहीं और उसे कविता से देशनिकाला शायद कभी भी नहीं दिया जा सकता, किन्तु उसे भावुकता में परिणत होने से रोकने का प्रयास प्रत्येक कवि को करना चाहिए, वर्ना छायावाद को पीछे छोड़ आने का दावा व्यर्थ होगा। कम-से-कम एक स्थल ऐसा है जहाँ प्रयाग शुक्ल छायावादियों को भी पीछे छोड़ गए हैं—उन बेचारों के यहाँ सिर्फ़ षोडशियाँ लजाती थीं, किन्तु 'वापसी' में "शर्म से लाल—नहीं, कोई भी नहीं देख रहा / कि कहाँ रहे इतने दिन" पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं कि वे हिन्दी के एकमात्र युवा कवि हैं जो लज्जा से आरक्त हो सकते हैं।

क्या कोई कवि अपनी कविताओं की समीक्षा पढ़ने के पश्चात् अपने लिखने का ढंग बदल देता है ? क्या प्रयाग शुक्ल यह सब पढ़ने के बाद मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा या डिलन टॉमस या हर्बर्ट की तरह कविताएँ लिखना प्रारम्भ कर देंगे ? क्या उनके लिए ऐसा करना श्रेयस्कर होगा ? ज़ाहिर है कि ऐसा कुछ नहीं होगा। समीक्षाएँ कवि को नहीं बदल सकतीं और न रुचि को ही। कवि का व्यक्तित्व और रुचि दोनों स्वयं ही बदलते और विकसते हैं, किन्तु प्रयाग शुक्ल को शब्दों की पहचान है और वे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उनका प्रयोग भी कर लेते हैं। सम्प्रति जो भावनाएँ उनके पास हैं, उनके लिए उपयुक्त शब्द और लहज़ा उनके पास है इसमें कोई शक नहीं। अभी उनके काव्य-संसार को एक सीमित सुरक्षा प्राप्त है, किन्तु वे उसके जान-बूझकर बन्दी हो गए हैं। ऐसी स्थिति बनी रहेगी, यह मैं नहीं मानता, यद्यपि मैं जानता हूँ कि प्रयाग शुक्ल की कविताओं में परिवर्तन लाने के लिए उनके रचना-संसार में एक महती 'घटना' भी आवश्यक है। वह क्या होगी और कब होगी, यह प्रश्न अप्रासंगिक है। हमें इसी से संतोष करना होगा कि हमारे देखते-देखते एक कवि स्वयं मुक्त हो।

भाषा की दीवार के आस-पास

प्रयाग शुक्ल

'बड़े बाबू किसी पुरानी फ़ाइल में खोये बैठे थे कि ऐन चार-चालीस पर चपरासी ने आ साहब को सलाम दिया।'...... 'साँझ की उदास-उदास बाँहें अँधियारे से आ लिपटीं। मोह-भरी अलसाई आँखें झुक-झुक आईं और हरियाली के बिखरे आँचल में पत्थरों के पहाड़ उभर आए।'

सहसा विषयांतर और दृश्यांतर हो गया लगता है। पहले और दूसरे उद्धरण के बीच लम्बा फ़ासला है। लेकिन यह फ़ासला 'यारों के यार, तिन-पहाड़' में कुछ कम हो आया है—सोबतीजी की ये दोनों लम्बी कहानियाँ एक जिल्द में बँध गई हैं। 'मित्रो मरजानी' और 'बादलों के घेरे' तथा उनकी इस रंग की दूसरी कहानियों के पाठकों के लिए इस बात में चौंकने-जैसा कुछ भी नहीं है। फिर भी दोनों कहानियों को साथ पढ़ने पर चौंकना भले न हो, उनके लेखन से, उन्हीं की दो रचनाओं की उभरती तुलना में, परिचय और घना हो जाता है।

यारों के यार, तिन-पहाड़ : कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६, पृष्ठ १४२, मूल्य ४.५० रुपए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'यारों के यार' को पढ़ते हुए कई बार लगा फ़र्श बुहारने, दीवार से रंग की परत उतारने, या पृष्ठों के ऑफ़िस में टकराने से जैसी 'घिस-घिस' की एक असहनीय आवाज़ होती है, कुछ वैसी ही बात मन को बार-बार छू जाती है। और जिनकी बात की जा रही है उनकी ज़िन्दगी को मानो ऐसी ही आवाज़ों ने धीरे-धीरे छील दिया है, उनके लिए किसी दूसरी आवाज़ का कोई मतलब नहीं रहा। यहाँ सोबतीजी की भाषा 'बादलों के घेरे' या 'तिन-पहाड़' में शब्दों को बार-बार चीज़ों से भिगोकर रखने की भाषा नहीं है—इसमें शब्द, रस-गंध-रूप-स्पर्श में भीने-भीने शब्द, नहीं हैं। इस अर्थ में शायद 'यारों के यार', 'मित्रो मरजानी' से भी आगे की रचना है।

'यारों के यार' के 'नई कहानियाँ' में प्रकाशित होने के बाद कई तरह की प्रतिक्रियाएँ सुनने को मिली थीं। किसी को वह अश्लील लगी थी, किसी को सपाट, किसी ने अपना सारा गुस्सा उसमें प्रयुक्त गालियों पर उतारा था और किसी को वह भाषा के कोरे चमत्कार और अतिनाटकीयता की कहानी लगी थी। 'यारों के यार' को दोबारा पढ़ते हुए लगा कि भाषा-प्रयोग के प्रति अतिरिक्त सजगता, जो कई बार रचनात्मकता से अलग जा पड़ती है, इसमें ज़रूर है। यह भी कहा जा सकता है कि इस कहानी के लिए सोबतीजी ने एक भाषा बल्कि एक तरह के मुहावरे की भाषा गढ़ी है। 'कनकव्वी आँख', 'हैडक्लर्की की तीसरी आँख', 'नज़र डिस्पैचर की मेज़ पर गुम हो गई', 'लपलपाती आँखों से लाल झण्डी दिखाई', 'बटेरी आँखों से', 'आँखों पर अक्ल का मोमरोगन मल दिया', 'आँख से कमंद फेंककर कहा'—केवल 'आँख' के इतने प्रयोग शायद इसी ओर संकेत करते हैं। लेकिन भाषा के एक खास मुहावरे या मुहावरेदार भाषा का प्रयोग निष्फल नहीं है—बल्कि इसी गढ़ी, रूखी, निचोड़ी हुई भाषा से आकर मिलने वाले मध्य और निम्नमध्यवर्गीय जीवन के प्रसंग जैसे फिर से अपना अस्तित्व कायम कर लेते हैं, वह अस्तित्व जो रोज़मर्रा के चक्र में पिसकर अर्थहीन हो उठा है।

दिल्ली के किसी एक सरकारी दफ़्तर, उसके क्लर्कों और उनके परिवारों की तथा इनके बहाने अधिकारी-वर्ग व समकालीन मूल्यों या मूल्यहीनता से जुड़ने वाली यह कहानी बहुत-कुछ उसका बखान है जो अनुभव तो होता है, जो जिया भी जाता है लेकिन जिसे कहा नहीं जाता—कहा जा नहीं पाता। एकरसता से घिरी घिसटती हुई ज़िन्दगी को, किसी तरह की नाटकीयता के अभाव में शब्द-रूप दे पाना असम्भव न हो, लेकिन मुश्किल काम है। हिन्दी कहानी में एक भिन्न स्तर पर राजकुमार ने इसे सम्भव बनाया था—'पिकनिक', 'सिमिट्री', 'सेलर' आदि कहानियों को उदाहरण के लिए लिया जा सकता है। ये कहानियाँ भी क्लर्कों के जीवन के बारे में थीं।

सोबतीजी एकरसता से घिरी, निचुड़ी हुई ज़िन्दगी को नाटकीयता भी देती हैं, मुखर शब्द भी। लेकिन इन मुखर शब्दों के माध्यम से वह जैसे इस ज़िन्दगी की विफलता-निष्फलता को और गहरा देना चाहती हैं। सूरी जानता है कि उसकी बातें एक घिसे-पुराने रिकार्ड की तरह हैं जो शोर चाहे जितना पैदा कर लें, संगीत पैदा नहीं कर सकतीं। फिर भी वह इस रिकार्ड को बार-बार बजाकर अपने व सहकर्मियों के अस्तित्व को प्रमाणित करना चाहता है। इसी शोर में भवानी बाबू के बच्चे की दुर्घटना व उसकी मृत्यु, सूरी के अपने बच्चों का अनिश्चित भविष्य और दैनंदिन का दैन्य छिपा है। इस अर्थ में सोबतीजी की यह भाषा और उनका यह लहज़ा एक दीवार की तरह है जो उन्होंने जान-बूझकर खड़ी की है। दीवार के एक ओर दफ़्तर की, प्रायः अपनी सचमुच की समस्याओं से नज़र बचाकर जीने की भाषा है, दूसरी ओर घरों का दैन्य है, एक बहुत बड़ी विफलता है जो चुप है, लेकिन जिसकी चुप्पी से दीवार रह-रहकर धसक उठती है।

लेकिन सोबतीजी ने कई जगह अपनी बातों को इतना ज़्यादा मुखर कर दिया है कि वे अतिरंजित व अनावश्यक हो उठी हैं। सरदार हज़ारासिंह प्यारासिंह वाले प्रसंग की अधिकांश बातों के बारे में यही कहा जा सकता है।

दरअसल 'यारों के यार' कहानी की दुनिया का मर्म वहाँ है, जहाँ साहब 'हमदर्दी जताने में हर्ज नहीं' समझते, जहाँ हैडक्लर्क भवानी बाबू संकट में पड़ने पर 'अपने छोटे-बड़े रिश्तेदारों की फ़हरिस्त ताज़ा करने लगते हैं' और बच्चे की मृत्यु के दूसरे दिन ही दफ़्तर जाते हैं, कुछ जल्दी ही और इसी के कारण एक अरसे बाद बस-स्टॉप पर कोई जाना-पहचाना चेहरा नहीं दीखता तो जैसे अपनी सुध आती है। 'कोट की जेब में अपना कलम लगाते-लगाते मानो ज़िरह-बख्तर पहन' लेते हैं। जहाँ एक सूरी को छोड़ बाकी क्लर्क मानो यथार्थ के आगे अपनी संज्ञा खो बैठे हैं—सूरी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रताड़ना और गालियाँ बमुश्किल जैसे उन्हें थोड़ा-बहुत विचलित कर पाती हैं। यहाँ बच्चे की मृत्यु, किसी फ़ाइल के कारण उत्पन्न संकट, एक-एक कप चाय और एक-एक सिगरेट का इन्तज़ाम, अपमान, लांछन सब एक साथ घटित होते हैं—एक ऐसी निरंतरता है, एक ऐसी रेल-पेल है, जिसमें अपने अलग अस्तित्व का, सम्मानजनक अस्तित्व का सपना भी नहीं आता।

तिन-पहाड़ में भी सोबतीजी ने भाषा की एक दीवार खड़ी की है—बहुत-कुछ यह काँच की दीवार है, जो मानो छूते ही टूट जाएगी—बस इसके आर-पार देखते-सुनते रहिए। वैसे कई बार यह देखना-सुनना भी नहीं हो पाता—बादल, धुंध या आँसू-भीगी आँखें इसे धुँधला कर देती हैं। अगर 'यारों के यार', 'मित्रो मरजानी' की भाषा शिल्प का विस्तार है तो 'तिन-पहाड़' को 'बादलों के घेरे' की ही कड़ी में कह सकते हैं। लेकिन तिन-पहाड़ तक आते-आते सोबती-जी वह भाषा और शिल्प तो पीछे छोड़ आई हैं, उसका मोह-भर शेष रह गया है।

कलकत्ता के एक संभ्रांत परिवार के श्री विदेश जाने से पहले अपनी माँ को और जया को, जो उनकी माँ के संरक्षण में पली है तथा श्री की बाल-सखी रही है, यह वचन दे जाते हैं कि वे लौटकर जया से विवाह करेंगे। स्वदेश लौटने से पहले वह यह सूचना भेजते हैं कि उन्होंने एडना नाम की लड़की से विवाह कर लिया है। यह खबर पाकर जया घर छोड़कर दार्जिलिंग आ जाती है, यहीं उसे तपन मिलते हैं। एक दिन संयोग से वे लोग एडना के माता-पिता के यहाँ पहुँच जाते हैं। एडना के पिता को जया अपनी ही बेटी की याद दिलाती है। बाद में उन्हें पता चलता है कि उनकी बेटी ने ही जया का सुख छीन लिया है।···जया तपन के बावजूद जैसे अपने को अकेला पाकर आत्म-हत्या कर लेती है···

संक्षेप में कहानी बताने की आवश्यकता समीक्षा में न होनी चाहिए। यह कहानी मैंने इसीलिए दी कि इसके लिए सोबतीजी ने एक ऐसा सपनीला संसार रचा है जो अर्थवान हो पाता अगर उसके सिरे कहानी में ही और वह भी कहानी की सतह से न जुड़े होते। प्रसंगों और सम्बन्धों की सूक्ष्मताओं को, बिंबों की तरह प्रतिष्ठित कर देने की रचनात्मकता भी 'तिन-पहाड़' में नहीं है कि कहानी को भुलाकर भी कुछ प्राप्त किया जा सके।

सौन्दर्य, स्निग्धता, प्रकृति—सबका आकर्षण होता है, सबका अर्थ भी, लेकिन तभी जबकि वह पूरी बात का एक अंग बनकर आएँ—दोनों के स्वतन्त्र अस्तित्व बनाने या दोनों के बीच एक रूमानी परदा डाल देने से 'बात' के सिरे हाथ से छूट जा सकते हैं—केवल एक स्पर्शातीत प्रभाव बना रह सकता है।

तीन कहानी-संग्रह

रत्नलाल शर्मा

एक प्लेट सैलाब : मन्नू भंडारी की कहानियों में कोई बुनावट या बनावट नहीं होती, एकदम सादगी होती है, सहजता होती है। ऐसा लगता है, वह कहानी के ढाँचे को लेकर परेशान नहीं हैं। अपनी बात को कह देना ही असली बात है। कई बार ऐसा होता है, हम जो चाहते हैं वही मिल जाता है और लगता है जैसे कोई समस्या नहीं रह गई है। असलियत यही है कि समस्या का न होना भी समस्या है और हम उस अ-समस्या से ऊबकर वहाँ पहुँच जाते हैं जहाँ उलझन घेर लेती है। 'एक प्लेट सैलाब' की कहानियों में यह सचाई ज़रूर मिलेगी। हाँ, 'ऊँचाई' और 'एक बार और' में यह बात नहीं है। ये दोनों ही सैक्स-सम्बन्धों की कहानियाँ हैं। दोनों काफ़ी लम्बी हैं, बहुत हल्की हैं। इनमें अनावश्यक स्थल हैं। इनमें ज़िन्दगी नहीं है, सिर्फ़ शब्दों का चमत्कार है। दोनों में भावुकता है, यथार्थ की पकड़ ग़ायब है। दोनों में स्मृति-चित्र हैं, पीछे लौटने की स्थिति है। दोनों के पात्र अपने-आपमें डूबते हैं और बीच-बीच में चौंक उठते हैं। दोनों का घटनास्थल पहाड़ है।

१. एक प्लेट सैलाब : लेखक : मन्नू भंडारी; प्रकाशक : अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, २/३६, अंसारी मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या : १५१; मूल्य : चार रुपये।

२. अपने पार : लेखक : राजेन्द्र यादव; प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २/३५, अंसारी मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या : ११६; मूल्य : तीन रुपये।

३. एक समर्पित महिला : लेखक : नरेश मेहता; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, ६, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७; पृष्ठ संख्या : १२१; मूल्य : तीन रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह बात साफ़ है कि उनकी कहानियों में कोई तीखापन नहीं होता, व्यंग्य की भारी चोट नहीं होती। वह जैसे किसी विषय को हलके से यों ही छू देती हैं और हमें लगता है, काफ़ी कुछ हमारे सामने आ गया। अक्सर यह होता है, कहानी के आरम्भ की स्थिति अन्त तक पहुँचते-पहुँचते बदल जाती है। इस बदलाव को दिखाना ही जैसे लेखिका के सामने मुख्यतः रहा है। 'नई नौकरी', 'कमरे, कमरा और कमरे' तथा 'बन्द दराज़ों का साथ' कहानियों में यही स्थिति है। 'नई नौकरी' में पति की महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने में पत्नी अपनी नौकरी (दस साल पुरानी) की बलि चढ़ा देती है और हलचल की ज़िन्दगी से अपने-आपको काटकर घर की चहारदीवारी में बन्द कर देती है। उसका काम घर को नई साज-सज्जा देना है। पहली तारीख़ को उसका पति अपना वेतन लाकर उसे देता है तो वह समझती है कि वह नई नौकरी पा गई है। वह पहले भी ऐसा महसूस करती रही है। इस कहानी का स्वर मुझे नहीं जँचा। इसमें नौकरी की क्या बात है? उसने अपनी नौकरी ख़ुद ही छोड़ी थी, पति ने नहीं छुड़ाई थी। घर में उसे पूरी आज़ादी है; पर उसे सब-कुछ अखरता है, यों वह कभी कहती नहीं। वैसे कथाकार ने उसे हमारे जीवन से उठाया है, पूरे सन्दर्भों में उतारा है।

'बन्द दराज़ों का साथ' की मंजरी अपने पति को सम्पूर्ण रूप में पाना चाहती है, टुकड़े के रूप में नहीं। 'नई नौकरी' में स्वतंत्र व्यक्तित्व को पाने की तड़प है। मंजरी को जब टुकड़ा मिलता है तो वह टूट जाती है और बीच में एक पुत्र के होने के बावजूद वे दोनों अलग-अलग हो जाते हैं। फिर भी मंजरी को अखरता है तो वह दूसरा पति तलाश करती है। यहाँ फिर एक मुसीबत आ जाती है। वह मंजरी के बेटे को अच्छे स्कूल की शिक्षा नहीं दिला सकता। अब वह ख़ुद बन्द दराज़ों के साथ की ज़िन्दगी बिताने के लिए मजबूर हो जाती है, जैसे समस्या का हल पा लिया हो। इस कहानी में हम देखते हैं कि संघर्ष पूरी तरह उभर कर सामने नहीं आता, उससे पहले ही समस्या का हल मिल जाता है। 'कमरे, कमरा और कमरे' में भी वही अतृप्ति है जो सब-कुछ मिल जाने पर भी बनी रहती है। मानव-मनोविज्ञान की इस कमज़ोरी को लेखिका ने पकड़ा है। ऐसा लगता है, कहानी में सब-कुछ सहज ढंग से होता चलता है, जैसे कहीं कोई रुकावट ही नहीं है। 'जो माँगो वही मिलेगा' का मन्त्र जैसे सिद्ध हो गया हो। यहाँ प्रश्न उठता है, क्या जीवन इतना सहज होकर चलता है? हो सकता है, कहानी के ढाँचे की सहजता के कारण यह प्रश्न उठा हो। वैसे यह बात उल्लेखनीय है कि मन्नू भण्डारी के स्त्री पात्र हाथ-पर-हाथ धरकर नहीं बैठते, भावुकता में भरकर नहीं रोते, कुछ-न-कुछ करते रहते हैं; असन्तोष से भरे रहते हैं तो क्या हुआ? असंतोष तो जीवन को गति देता है। ये दोनों अच्छी कहानियाँ हैं जबकि 'बाँहों का घेरा' साधारण कहानी है।

'संख्या के पार' मार्मिक कहानी है जिसमें हमारे समाज की उस कमज़ोर नस पर हाथ रखा है जहाँ पुरुष के लिए सब-कुछ जायज़ है, स्त्री कुछ नहीं कर सकती। पुरुष का हक़ स्त्री को घेरे रखता है। पति के मरने पर ससुराल वाले उसे किसी को बेच सकते हैं और यह अफ़वाह उड़ा सकते हैं कि वह भाग गई। मैके वाले ऐसी अफ़वाह पर आसानी से विश्वास करते हैं। अब वह अपने बच्चे से कभी नहीं मिल सकती। इस कहानी में ऐसी ही औरत की दर्द-भरी कहानी है जिसे उसकी बेटी के माध्यम से कथाकार ने पेश किया है। 'छत बनाने वाले' बड़ी आकर्षक कहानी है। एक युवक मेरठ में अपने ताऊजी के यहाँ आकर उनके परिवार के रंग-ढंग देखता है जिससे दोनों परिवारों का ढर्रा हमारे सामने आता है। यहाँ पूरे परिवार पर बूढ़े ताऊजी का आतंक है। वह सबको आदेश देते हैं, बड़ी कठोरता से उनका पालन करवाते हैं, यहाँ तक कि बेटे-बहुओं के सोने की व्यवस्था भी करते हैं। युग-चक्र को जैसे उन्होंने पकड़ रखा है, उसे घूमने नहीं देंगे। कम-से-कम अपने परिवार को बाहर की हवा नहीं लगने देंगे। अगर बाहर कुछ बदलता है तो उसकी निन्दा ज़रूरी है। कई स्तरों पर जीता हुआ हमारा समाज इसमें मिलेगा। इस सबको कथाकार ने बड़े ढँग से कहा है। कथाकार ने अपनी ओर से कोई टिप्पणी नहीं दी है, शरद की ओर से कोई टिप्पणी नहीं है। कथा का सूत्र ताऊजी के हाथ में है। वह अपनी बात बड़ी शान से कहते हैं, पर पाठक उसकी असलियत को जान जाता है। इसमें उस पुरानी पीढ़ी पर चोट है जो नई पीढ़ी को निकम्मा बना रही है, उसको पुराने रास्ते पर चलाने की हठधर्मी कर रही है।

इस संकलन की सबसे बढ़िया कहानी है 'एक प्लेट सैलाब' जिस पर इस संग्रह का नाम रखा गया है। इसमें कई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शॉट्स हैं, हमारी आज की ज़िन्दगी के कई टुकड़े हैं। हर व्यक्ति की अपनी नियति है जिसे उसे भोगना है। पहले गेलॉर्ड के बाहर की मई की शाम और फिर भीतर का दृश्य। एक बड़े दृश्य में कई दृश्य, कई छोटी-छोटी बिखरी हुई कहानियाँ। अन्त में रिज़र्व बाल्कोनी में पहुँचते हुए बच्चे, बाहर खड़ी स्टेशन-वैगन से उतरकर, मुख्य द्वार से अन्दर हॉल में और बाल्कोनी में फैले हुए बच्चे-ही-बच्चे, अपनी सारी उछल-कूद के साथ। मानो गेलॉर्ड भी कोई ऐतिहासिक जगह है जिसे भावी नागरिक आज ही देख लेना, जान लेना चाहते हैं या अभिभावक-शिक्षक समझते हैं कि वे उसे भी जानें। बदलती हुई ज़िन्दगी की तस्वीर जो बड़े फलक पर बनी है। घर की ज़िन्दगी, दफ़्तर की ज़िन्दगी तो होती ही है, रेस्तराँ की ज़िन्दगी भी होती है जिसमें अगली-पिछली ज़िन्दगी लिपटी होती है, कहानी-लेखिका ने उसीको बखूबी पेश किया है। 'यही सच है' के बाद का यह कहानी-संग्रह ज़्यादा ज़ोरदार है।

अपने पार : राजेन्द्र यादव का यह कहानी-संग्रह 'टूटना' के बाद सामने आया है। इसमें दस कहानियाँ हैं। मेरा ख़याल है, आप मेरी बात पर एतराज़ करेंगे। तो मैं मान लेता हूँ, इसकी कई रचनाएँ कहानियाँ नहीं हैं।

संग्रह की सबसे पहली रचना 'अपने पार' है जिस पर इसका नाम रखा गया है। यह सबसे छोटी कहानी है। कहानी के नाम पर चमत्कार है। अगर इसमें हँसी-मज़ाक की बात होती तो इसे चुटकुला कहा जा सकता था। अब इसे चुटकुला-सा कहना चाहिए। इसमें किशोर अवस्था का नायक यह महसूस करता है कि उसके पापा के पास हर बार नई माँ होती है और उसकी मम्मी के पास नए अंकिल आते हैं। वह सोचता है, मम्मी मेरे लिए एक पापा क्यों नहीं ले आतीं, पर एकान्त क्षणों में वह अपनी मम्मी पर सोया हुआ पाता है कि वह पापा है।

'आत्म-साक्षात्कार' एक व्यक्ति-चित्र है जो लेख के आसपास है। इसमें फेंटेसी के माध्यम से कथाकार के अंतरंग को देखने की कोशिश-भर है। 'शहर की यह रात और...' एक यात्रा-वर्णन है जिसमें कलकत्ता शहर की ज़िंदगी को रात के समय सड़कों पर देखने की कोशिश है। 'इसमें आँखों देखा हाल' की शैली में हल्की-सी रिपोर्टिंग है, कहानीकार की दृष्टि नहीं मिलती।

'चुनाव' और 'दायरा' हल्की कहानियाँ हैं। 'चुनाव' का मुख्य पात्र लेखक है जिसकी हालत हर तरह से खस्ता है, खूब पढ़ा-लिखा होने पर भी वह कोई नौकरी नहीं पा सका। लेखक के रूप में उसकी कोई हैसियत नहीं, उसकी प्रेमिका उसको छोड़ गई। ये सारी बातें उसके मन में दिल्ली की बस में सफ़र करते समय उभरती हैं। उसी समय एक नेता—अफ़सर टाइप आदमी एक व्यक्ति को नाजायज़ तौर पर दबाता है तो उसका मानसिक सन्तुलन खो जाता है। मतलब यह है कि वह अपने-आपको बदलने की कोशिश करता है, पर बदल नहीं पाता। 'दायरा' में रविवार के दिन मेहमानों से घिरे हुए एक परिवार की स्थिति है जब बाहरी खातिरदारी और भीतरी कुढ़न के बीच उनकी अपनी ज़िन्दगी जैसे ग़ायब हो जाती है। सिर्फ़ रह जाती है पति-पत्नी के तन-मन की टूटन और बीच की दूरी। कहानी एक रविवार की है, पर कहानीकार छलांग लगाकर उसे दूसरे रविवार में भी पहुँचा देता है, जब ये लोग दूसरों के मेहमान बनकर पूरा दिन गुज़ारने के लिए निकल पड़ते हैं। यह हिस्सा जोड़ा हुआ-सा लगता है और कहानी के असर को कम कर देता है। इसमें सिर्फ़ टालने की बात है। 'भविष्य के आसपास मँडराता अतीत' में पुरुष पात्र बदल नहीं पाता जिससे पति-पत्नी अलग-अलग हो जाते हैं। आत्महत्या के प्रयत्न के बाद पुरुष अपनी पुत्री से मिलने उसके स्कूल के रास्ते में जाता है जहाँ उसे पहचान ही नहीं पाता। टूटे सम्बन्धों और कुंठाओं की इस कहानी में कल्पना में रमने और अतीत की स्मृतियों में डूबने की स्थिति है। 'फ्रेंच लैदर' में चौंकाने की बात कथाकार के सामने मुख्य रही है, यों इसमें आज के जीवन की विसंगतियाँ उतरी हैं।

'अनुपस्थित सम्बोधन' सैक्स-सम्बन्धों की कहानी है। इसमें वर्तमान तो सिर्फ़ कहानी की पकड़ का बहाना है, अतीत ही मुख्यतः सामने आता है। सीमा का प्रेमी वर्तमान से पीछे नहीं जाना चाहता और सीमा वर्तमान में नहीं आ सकती। इसमें दो उपकथाएँ हैं जो मुख्य कहानी से जुड़ जाती हैं। यह साधारण कहानी है। 'रिमाइंडर' में कहानीकार को कुछ सफलता मिली है। उसने हमारे औपचारिक और बनावटी सामाजिक सम्बन्धों को खोलकर रख दिया है। इसका आख़िरी हिस्सा ज़्यादा ज़ोरदार है जहाँ पुराने मित्र केदारनाथ और नाथ एक-दूसरे से मिलकर बोर होते हैं और अपने प्रोफ़ेसर लाल से बचते हैं जिसके अहसान दोनों पर हैं। इसमें इन दोनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पात्रों के मन में याद के टुकड़े तैरते हैं, यानी कोई सुनाता नहीं। कहानी रोचक और गढ़ी हुई है।

इस संग्रह की एक विशेष उपलब्धि है 'मेहमान'। मेहमान तो वैसे ही बड़ा होता है, जब वह हमारे शहरी मध्य-वर्गीय परिवार में आ जाता है तो घर में जैसे खलबली मच जाती है, घर का पूरा काम-काज ठप्प हो जाता है, पूरा घर मेहमान की मौजूदगी में सिमट जाता है। और जब मेहमान पद-सम्मान आदि की दृष्टि से बहुत बड़ा हो तो फिर मेज़बान की क्या हालत होगी—यह सब इस कहानी में उतारा गया है। यह कहानी हमारे घर को ही नहीं, हमारे देश को भी सामने रखती है। आज हमारे देश का शासन चलाने वाले हमारे नेता लोग सिर्फ़ मेहमान बनकर रह रहे हैं और मज़े ले रहे हैं। जनता उनकी मेहमाननवाज़ी में लगी हुई है, उनके बोझ से दबी जा रही है। जनता ने उनसे बहुत-सी अपेक्षाएँ पाल रखी हैं—शायद उनसे उनका कुछ काम बन जाए, उसकी हालत सुधर जाए; लेकिन इस तरफ़ नेता लोगों का ध्यान भी नहीं जाता। वे अपने-आपमें मस्त हैं। इसमें पात्रों को झटके नहीं लगते, पात्रों की भीतरी-बाहरी स्थिति खुलती जाती है जिसमें बनावट नहीं है।

'कहानियाँ : जो शायद मैं न लिखूँ' में कथाकार ने कुछ मुद्दे उठाए हैं—वह कहानी क्यों लिखता है? कहानी क्या होती है?

अब मैं अपने कुछ सवाल पेश कर देता हूँ। क्या यह ज़रूरी है कि कहानियों में अपने-आपको दोहराया जाए? क्या हर कहानी को छपवाना चाहिए? क्या हर प्रकाशित कहानी को संकलन में देना चाहिए? यहाँ आर्थिक पहलू आकर अड़ जाता है। प्रश्न है, क्या धन के लिए प्रतिष्ठा का सौदा किया जाए? मेरा ख़याल है, देशी-विदेशी भाषाओं के पाठक राजेन्द्र यादव के इस कथा-संग्रह को पढ़कर उनकी कहानियाँ पढ़ने की हिम्मत शायद ही करेंगे।

एक समर्पित महिला : नरेश मेहता ने कविता, नाटक, उपन्यास लिखे हैं और काफ़ी नाम पाया है। कहानी लिखने में भी वे लगे रहे हैं; पर यहाँ उन्हें कुछ नहीं मिला। उनका पहला कहानी-संग्रह 'तथापि' था जो अचर्चित ही रह गया। अब यह दूसरा संग्रह है। वह कहानीकार की हैसियत से प्रतिष्ठित नहीं हो सके हैं। इसका गिला-शिकवा उन्होंने इस संग्रह की भूमिका में प्रस्तुत संस्मरणों में किया है। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दी कहानी के क्षेत्र में गुटबाज़ी ज़ोरों पर है। नरेश मेहता इस गुटबन्दी में नहीं पड़े, इसलिए उनकी कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में देखने में नहीं आतीं। यह हमारी पत्रकारिता और कहानी का दुर्भाग्य है।

इस संग्रह की सबसे पहली कहानी 'एक समर्पित महिला' है जिस पर इस संग्रह का नाम रखा गया है। इसमें एक सम्भ्रान्त महिला के अन्दर-बाहर को खोला गया है जो दिल्ली की हलचलों में काफ़ी ऊपर थी; पर जिसके अन्दर काफ़ी हलचल मची हुई थी, जो अपने आदर्शों और अन्तर्द्वन्द्वों के लिए समर्पित हो गई। उसका आदर्श था कि वह लेखकों के लिए महान् चरित्र बने। यह काफ़ी ज़बर्दस्त कहानी है। शुरू में ज़रूर हल्की है जहाँ परिचयात्मक है, वहाँ भाषा भी सहज नहीं है। आगे चलकर भाषा-शैली सहज हो गई है और कहानी हमें बाँधे रखती है। 'श्रीमती मास्टन' भी अच्छी कहानी है। इसमें कथाकार ने श्रीमती मास्टन को यथार्थ भूमि पर पूरे संदर्भों में उतारा है जबकि एक बूढ़ी महिला झूठ और शराब की आदतों से घिरी हुई है। इससे साफ़ हो जाता है कि इन दोनों कहानियों में दो महिलाओं को दो सिरों पर रखा गया है—एक बहुत ऊँची है और दूसरी बहुत गिरी हुई है।

इन दोनों कहानियों के साथ हमें 'अनबीता व्यतीत' को भी रखना होगा जहाँ डॉ० द्रविड़ जैसे जड़ पुरुष को कथाकार ने पेश किया है। यह कहानी बोरियत-भरे दस सालों और ढेर सारे विवरण से गुज़रती हुई रोमांटिक क्षणों में जाकर समा जाती है। यह बड़ी हल्की कहानी है। इसमें जो ढाँचा कथाकार ने अपनाया है वह आज नहीं चलता। भाषा में उलझाव है, कहानी बड़ी बोझिल है। ऐसा लगता है जैसे निबन्ध लिखा जा रहा हो। एक नमूना पेश है—"सम्भवतः अवरोध रूप से विक्टोरियन-युग की हर चीज़ को न सही पर अधिकांश को तो निश्चय ही, न सही प्रगतिशील पर उन्नतिशील तो स्वीकारते ही थे। इसलिए अपने युग के बाद की मान्यताओं के प्रति न सही आद्यन्त पर किंचित् सशंक रहते ही थे।" मैं नहीं समझता, इस तरह की भाषा कहानी की भाषा हो सकती है। संदर्भ में रखकर देखने पर भी इसका कोई अर्थ नहीं निकलता।

इस तरह की कहानी में वह व्यक्ति के भीतर नहीं उतरते, उसकी मानसिक उथल-पुथल को नहीं पकड़ते। वह उसे बाहर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से लेते हैं। इससे पात्रों के लिए उनका रुख परिचयात्मक होता है। यहाँ उनसे शिकायत हो सकती है कि उन्होंने जैसा चाहा है, पहले तय कर लिया है, वैसा ही पात्रों को पेश कर दिया है। इससे कहानी बँधकर चलती है। इसीलिए 'वर्षा भीगी' भी एक साधारण रोमांटिक कहानी बनकर रह गई है। 'एक इतिश्री' में प्रेम-सम्बन्धों की समाप्ति पर आख़िरी शाम की मुलाक़ात है। इसमें कथाकार 'अनबीता व्यतीत' की भाषा और उसके ढाँचे से बाहर आया है। इसमें हमारे आज के बनावटी और अपने-आपमें डूबने वाले जीवन के एक पहलू को उजागर किया गया है।

मौत की स्थिति को लेकर पिछले सालों में बहुत-सी कहानियाँ हिन्दी में आई हैं। उनमें से एक कहानी 'एक शीर्षकहीन स्थिति' भी है जो बहुतों से अच्छी है फिर भी बहुत बढ़िया नहीं है। इसमें ईसाई-परिवार के संदर्भ में लाश उठाने से लेकर कब्र में दफ़नाने तक की स्थिति है जिसमें अलग-अलग लोगों की प्रतिक्रियाएँ पकड़ने की कोशिश है।

इस संग्रह की छह कहानियों में से तीन कहानियाँ चरित्र-प्रधान हैं और बाकी तीन में ख़ास स्थिति का चित्र है। दो के अलावा बाकी लम्बी कहानियाँ हैं। अवश्य ही ये (आख़िरी कहानी को छोड़कर) पठनीय कहानियाँ हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनिमय

अव्यापारेषु व्यापार

यशदेव शल्य

श्री मेघजी ने 'आलोचना' के पिछले अंक में मेरी आपत्तियों का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। इस प्रसंग में उन्होंने भाषा-सम्बन्धी फिलसफा देने का उपक्रम भी किया है। मैं उन्हें ऐसी चीज़ों से परहेज़ करने का परामर्श दूंगा। जहाँ तक शब्दों का प्रश्न है, 'आधि' कोई उपसर्ग नहीं है, 'अधि' उपसर्ग है। इस उपसर्ग से 'अधिभौतिक' शब्द बनेगा। 'मेटाफिज़ीक्स' शब्द 'मेटा + फिज़ीक्स' इस प्रकार यौगिक पद है। फिज़ीक्स भौतिक विज्ञान को कहते हैं भूत-द्रव्य को नहीं, अतः इससे हिन्दी पर्याय बनेगा 'अतिभौतिकी' अथवा चाहें तो, 'अधिभौतिकी'। किन्तु सामान्यतः यह शब्द इस यौगिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता, 'तत्त्वमीमांसा' इस रूढार्थ में ही प्रयुक्त होता है। मेघजी जो भाषा-क्रीड़ा की बात कर रहे हैं उसके अनुसार और भी आवश्यक है कि शब्दों का प्रयोग रूढार्थ में हो। 'आधिभौतिक' शब्द तो रूढार्थक भी नहीं है, यहाँ यह उतना ही उपयुक्त है जितने 'वस्तु', 'गाय', 'घोड़ा' आदि होते। 'संघटना' शब्द का औचित्य बताने के लिए वे 'मध्ययुगीन' मम्मट का सहारा लेते हैं, किन्तु वे यह नहीं बताते कि यह 'फिनोमिना' के लिए कैसे उपयुक्त हुआ, या उसके नज़दीक कैसे हुआ? फिर, मैंने तो यह भी पूछा था कि 'यह मेटाफिज़ीकल फिनोमिना' क्या बला होती है? यह प्रश्न शब्दों-विषयक नहीं था, यह उनकी उस भाषा-क्रीड़ा-विषयक ही था जिसकी चर्चा से परहेज़ करने का परामर्श मैं उन्हें ऊपर दे चुका हूँ, क्योंकि ऐसे अपथ्यों के उपयोग से ही बहुत-से मित्रों को अपचन हो रही है। यही 'वैश्वक' शब्द के लिए भी सही है। मैंने कहा, 'वैश्वक' कोई शब्द नहीं है, 'वैश्व' से क्या काम अधूरा रहा जो आपको 'वैश्वक' घड़ने की आवश्यकता हुई? फिर, 'पर्टिकुलर' के विपरीतार्थक के रूप में 'वैश्व' कैसे उपयुक्त है, यह उन्होंने नहीं बताया। 'डैथ इज़ ए यूनीवर्सल फिनोमिना' इस वाक्य में 'यूनीवर्सल' का पर्याय 'वैश्व' हो सकता है, किन्तु उनके वाक्य 'क्रियाएँ और संज्ञाएँ ही पर्टिकुलर से यूनीवर्सल हो जाती हैं' में 'वैश्व' नहीं चलेगा, क्योंकि 'गाय' से 'गोत्व' अथवा 'चलना' से 'चाल' शब्द 'वैश्व' नहीं 'सामान्य' हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश इस ग़लती के पीछे अज्ञान बहुत गहरा है जो इस वाक्य से पहले और पीछे के दो वाक्य पढ़कर स्पष्ट होता है।

यह हर्ष की बात है कि अपनी अन्य ग़लतियाँ उन्होंने मौनपूर्वक मान ली हैं।

नये शब्द घड़ना, प्रचलित शब्दों का नये अर्थों में प्रयोग करना, यह सब पूर्णतः उपयुक्त है। किन्तु उसका भी एक तर्क होता है। उन्होंने आचार्य द्विवेदीजी द्वारा 'मिथक' शब्द घड़े जाने की बात कही। यह शब्द द्विवेदीजी ने इसलिए घड़ा क्योंकि अंग्रेज़ी शब्द 'माइथोलोजी' के प्रयोग के सन्दर्भ हिन्दी के उपलब्ध पर्याय 'पुराण' के प्रयोग के सन्दर्भ से थोड़े भिन्न हैं। मैंने अपने लेखों में हिन्दी पर्याय की असम्यकता के बावजूद इसी शब्द का अर्थ-विस्तार करना उपयुक्त समझा। अब यदि द्विवेदीजी 'माइथोलोजी' के लिए 'आध्यात्म' शब्द का प्रयोग करते तो कहा जाता कि उन्हें कम-से-कम शब्द का अर्थ मालूम नहीं है और हिन्दी शब्द के हिज्जे मालूम नहीं हैं। और जैसाकि मैंने दिखाया, मेघजी को न अंग्रेज़ी शब्द के अर्थ मालूम हैं, न हिन्दी के, और न हिन्दी शब्द के हिज्जे मालूम हैं। उन्हें अपनी वह टकसाल तो तुरन्त बन्द कर देनी चाहिए जिसमें 'पाणिवृत्तीय' और 'कलादशकोणीय' जैसे शब्द घड़े जा रहे हैं। ये शब्द शब्द-घड़ने के किसी भी तर्क के अनुसार नहीं बनाये जा सकते। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का 'निजन्धर' शब्द भी कम दुर्भाग्यपूर्ण नहीं है। 'लेजेंड' का हिन्दी पर्याय बनाने के तीन विहित ढंग हो सकते हैं—किसी पूर्वप्रचलित निकट हिन्दी-पर्याय का अर्थ-विस्तार करना, किसी संस्कृत धातु से नया पर्याय बनाना जो इस शब्द के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

रूढार्थ का अर्थवाहक हो सके, अथवा अंग्रेज़ी शब्द का ही प्रयोग करना, 'मिथक' शब्द के समान। 'निजन्धर' शब्द इनमें से किसी शर्त को पूरा नहीं करता। इन शर्तों को जो शब्द पूरा नहीं करता वह रूढ शब्द कहा जाएगा—योग-रूढि नहीं, और रूढ शब्द 'फूल', 'पत्ती' आदि शब्दों के समान संज्ञा-पद ही होते हैं। और नये संज्ञा-पद किसी संज्ञा-पद के ही पर्याय के रूप में घड़े जा सकते हैं, यौगिक पदों के पर्याय के रूप में नहीं। तब भी 'निजन्धर' शब्द अनुपयुक्त तो है, निरर्थक नहीं, क्योंकि प्रयोग-कर्त्ता को 'लेजेंड' शब्द का अर्थ मालूम है और परिणामतः सार्थक वाक्य में सार्थक अंग्रेज़ी शब्द का मूक प्रतिनिधि है।

जहाँ तक द्वंद्व-न्याय का प्रश्न है, इसके सम्बन्ध में भी मेघजी भयानक भ्रम में हैं 'डायलेक्टिक्स' वैज्ञानिक पद्धति है, यह उन्हें किसने बताया? यह शब्द आधुनिक दर्शन में दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—एक में कांट के द्वारा और दूसरे में हेगल के द्वारा। 'द्वन्द्व-न्याय' शब्द का प्रयोग हेगेलीय प्रयोग के अर्थ में हिन्दी में प्रचलित है। बेचारे न्यूटन का तो इससे दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। पुनः, यदि यह मान भी लिया जाय कि डायलेक्टिक्स कोई वैज्ञानिक पद्धति है, तो क्या सांख्य और वेदान्त भी वैज्ञानिक पद्धतियाँ हैं? कोई हेगल या मार्क्स का अनुयायी सांख्य या वेदान्त को थीसिस, एंटी-थीसिस या साइंथीसिस अथवा सापेक्षतः तीनों, कह सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह थोड़े ही है कि सांख्य में द्वन्द्व-न्याय है? आखिर क्या हुआ है मेघजी को? क्या ज़रूरी है कि वे अव्यापारेषु व्यापार करें?

इस अव्यापार की प्रवृत्ति हिन्दी-लेखन में बहुत बढ़ गई होने से ही मुझे यह आवाज़ उठानी पड़ी है। आज सभी अस्तित्ववाद, समाजशास्त्र और न जाने किस-किसमें अपनी अभिज्ञता प्रदर्शित करने को उतावले हैं, जबकि परिचित उस साहित्यशास्त्र से भी नहीं हैं जिससे परिचित होने की उनसे अपेक्षा की जाती है (यद्यपि, मेघजी साहित्य शास्त्र-मर्मज्ञ हैं, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है।) यह निराधार उच्छृंखलता हिन्दी में आज के सम्पूर्ण तथाकथित 'आधुनिकता-बोध' को विशेषित कर रही है। मैं अपने इन मित्रों को विश्वास दिलाता हूँ कि यदि वे इन 'आधुनिक शास्त्रों' को कुछ जान पाते तो उनका इनके प्रति वैसा सम्मोह नहीं रहता जो उनमें दिखाई पड़ रहा है।

भूल-सुधार

जुलाई-सितम्बर '६८ की 'आलोचना' में प्रकाशित श्री विष्णुचन्द्र शर्मा के निबन्ध 'विरोध की वास्तविकता और विद्रोह की कविता' में कृपया मंगलेश दुग्गल के स्थान पर **मंगलेश डबराल** पढ़िए। ● ● ●

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079587

पुस्तकालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध पुरस्कार

समकालीन कविता में सार्थक रचना की पहचान और उसके सम्मान के लिए **कविता-समाज** दिल्ली की ओर से एक वार्षिक पुरस्कार का आयोजन किया गया है। पुरस्कार की प्रतिज्ञाएं ये हैं :

१. पुरस्कार का नाम 'मुक्तिबोध पुरस्कार' होगा।

२. यह पुरस्कार हर साल किसी ऐसे युवा कवि को दिया जायेगा जिसने अभी तक कोई कृति पुस्तक-रूप में प्रकाशित न की हो।

३. पुरस्कार के लिए कवि का चुनाव पिछले एक वर्ष के भीतर प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाली कविताओं के आधार पर किया जायेगा। मगर पहले पुरस्कार के लिए १९६६-१९६८ के भीतर प्रकाशित कविताओं पर विचार किया जायेगा।

४. पुरस्कार का निर्णय प्रस्तावक-मण्डल करेगा। निर्णय बहुमत के आधार पर होगा।

५. पुरस्कार के रूप में पुरस्कृत कवि को कविता-समाज के प्रशस्ति-पत्र के साथ १,००० रु० की धनराशि भेंट की जायेगी।

६. पुरस्कार की रकम प्रतिवर्ष प्रस्तावक-मण्डल के सदस्य अपने पास से दिया करेंगे।

७. पुरस्कार स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध की जन्म-तिथि के आस-पास नई दिल्ली में आयोजित एक समारोह में दिया जाएगा।

८. इस समारोह में पुरस्कृत कवि के सम्बन्ध में एक निबन्ध-पाठ के अतिरिक्त समकालीन कविता के किसी पक्ष-विशेष पर परिसंवाद का भी आयोजन होगा।

९. पुरस्कार की प्रक्रिया के किसी भी चरण में किसी भी प्रकार की गोपनीयता नहीं बरती जायेगी। प्रत्येक प्रस्तावक अपने निजी मत की सार्वजनिक घोषणा करने के लिए स्वतंत्र होगा।

'आलोचना' त्रैमासिक ने इस पुरस्कार से सम्बन्धित समारोह की व्यवस्था का भार अपने ऊपर ले लिया है, और राजकमल प्रकाशन, प्रा० लिमिटेड, दिल्ली ने प्रतिवर्ष पुरस्कृत कवि की पहली कृति प्रकाशित करना स्वीकार किया है।

प्रस्तावक मंडल

नेमिचन्द्र जैन   सुरेश अवस्थी   नामवर सिंह
भारतभूषण अग्रवाल   अशोक वाजपेयी   शमशेर बहादुर सिंह
श्रीकान्त वर्मा   रामकुमार   अजितकुमार   राजीव सक्सेना

कविता-समाज
सी/५६ जंगपुरा ऐक्सटैन्शन, नई दिल्ली-१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पुस्तकालय

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'राजकमल' का आलोचना-साहित्य

नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृथ्वीनाथ द्विवेदी	१०.००
साहित्यिक निबन्ध	डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु	३.५०
मधुर रस—स्वरूप और विकास, भाग-१	रामस्वार्थ चौधरी 'अभिनव'	१८.००
मीरा की प्रेम साधना (संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण)	भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'	१०.००
हिन्दी उपन्यास	डॉ० सुषमा धवन	११.००
हिन्दी काव्य में अन्योक्ति	डॉ० संसारचन्द्र	१४.००
आलोचना के सिद्धान्त	शिवदानसिंह चौहान	३.५०
आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त	शिवदानसिंह चौहान, डॉ० एस० पी० खत्री	१०.००
हिन्दी रीति-साहित्य	डॉ० भागीरथ मिश्र	५.००
प्रेमचन्द : एक विवेचन	डॉ० इन्द्रनाथ मदान	४.५०
आज का हिन्दी उपन्यास	,, ,,	४.५०
हिन्दी गद्य-काव्य (द्वितीय संस्करण)	डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'	११.००
प्रेमचन्द और गोर्की	सं० शचीरानी गुर्टू	९.००
कलम का मजदूर : प्रेमचन्द	मदनगोपाल	११.००
प्रतिक्रियाएँ	डॉ० देवराज	८.००
प्रगतिवाद	डॉ० शिवकुमार मिश्र	७.००
रहस्यवाद	डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी	७.००
हिन्दी कहानी—अपनी जबानी	डॉ० इन्द्रनाथ मदान	७.५०
प्रेमचन्द	डॉ० गंगाप्रसाद विमल	७.००
हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा	डॉ० रामदरश मिश्र	८.००
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	डॉ० रामविलास शर्मा	५.००
प्रेमचन्द और उनका युग (संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण)	,,	७.००
सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व	डॉ० कुमार विमल	१२.५०
बदलते परिप्रेक्ष्य	नेमिचन्द्र जैन	७.००
कविता के नये प्रतिमान	डॉ० नामवरसिंह	१०.००
छायावाद	,,	७.५०
निराला की साहित्य-साधना	डॉ० रामविलास शर्मा	२७.००
समीक्षा के संदर्भ	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	९.००

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

महत्त्वपूर्ण आलोचना ग्रन्थ

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केशव का आचार्यत्व

डा० विजयपाल सिंह,
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय

२०.००

हिन्दी साहित्य के मध्य युग में जिन कलाकारों ने कवि-कर्म के साथ-साथ आचार्यत्व की भी पदवी प्राप्त की, उनमें केशव का स्थान सर्वोपरि है। डी० लिट् के लिए स्वीकृत इस शोध-प्रबन्ध से केशव के पूर्ववर्ती, परवर्ती और समकालीन काव्य परम्पराओं की विशद पीठिका पर उनके स्वरचित ग्रन्थों के आधार पर उनके आचार्यत्व का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत हुआ है। सभी पुस्तकालयों तथा साहित्य के अध्येताओं के लिए संग्रहणीय।

079587
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

बच्चन का परवर्ती काव्य
डा० श्यामसुन्दर घोष ६.००

हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति काव्य
डा० भास्करन नायर १५.००

हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन
डा० जी० सुन्दर रेड्डी ४.००

हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन
डा० एस० एन० गणेशन १५.००

आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली
डा० रांगेय राघव १०.००

हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास
डा० दशरथ ओझा १२.००

संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद
डा० देवेन्द्रकुमार १३.००

काव्य में उदात्त तत्व
डा० नगेन्द्र और नेमिचन्द्र जैन ३.००

समीक्षा शास्त्र डा० दशरथ ओझा ६.००

तुलसी और उनका काव्य रामनरेश त्रिपाठी १०.००

तुलसीदास : चिन्तन और कला
डा० इन्द्रनाथ मदान ६.००

केशव और उनका साहित्य
डा० विजयपाल सिंह १५.००

कवियों में सौम्य संत : सुमित्रानन्दन पन्त
डा० हरिवंशराय बच्चन ५.००

आज का भारतीय साहित्य, सं०
साहित्य अकादमी ८.००

राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य अकादेमी के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

सात युगोस्लाव कहानियाँ

युगोस्लाविया की वीर जनता ने जिस प्रकार हिटलर की ताक़त से लोहा लिया, वर्णनातीत कष्ट झेले और फिर राष्ट्रों की बिरादरी में सम्मानपूर्ण स्थान पाया, वह हम सबकी सराहना का विषय रहा है। मृत्यु के साथ खेलने को तत्पर और जीवन से अटूट प्यार करने वाले इन जनों के साहित्य में उनकी निष्ठा और लगन का मार्मिक प्रतिबिम्ब मिलता है। इस संग्रह में नोबेल पुरस्कार-विजेता **ईवो आँद्रिच** के अतिरिक्त भारत-प्रेमी **सिदोमीर सिन्दरोविच, ब्रांको कोपिच व्येकोस्लाव कालैब, इवान कंकर, बोरा स्तांकोविच** एवं **ज़ारा रिब्निकार** की कहानियाँ हैं। अनुवादक हैं हिन्दी के विशिष्ट लेखक **प्रभाकर माचवे**। डिमाई साइज के ६८ पृष्ठ। प्रसिद्ध कलाकार **रामकुमार** द्वारा अंकित प्रच्छद पट से युक्त इस ग्रंथ का मूल्य है २.५० मात्र। द्वितीय संस्करण।

झोंपड़ी वाले और अन्य कहानियाँ

आधुनिक रूमानियायी साहित्य में **मिहाइल सादोवैनू** का वही स्थान है जो हिन्दी में प्रेमचन्द का। उनकी रचनाएँ सच्चे अर्थों में रूमानिया के जन-जीवन की प्रतिनिधि हैं। उनमें रूमानियायी जनों के विश्वासों, रीति-रिवाजों और प्रथाओं के परिचय के साथ-साथ उनके दीर्घ जीवन के विशिष्ट प्राकृतिक परिवेश की भी झाँकी मिलती है। इस पुस्तक में मिहाइल सादोवैनू के लघु उपन्यास **अंधा भिखारी, गरीबों का न्याय** और **पानी महाराज ज़ाहारिया की कथा** सम्मिलित हैं। अनुवादक हैं हिन्दी के विशिष्ट कथाकार **निर्मल वर्मा**। डिमाई साइज के १६४ पृष्ठ। प्रसिद्ध कलाकार **रामकुमार** द्वारा अंकित प्रच्छद पट से युक्त इस संस्करण का मूल्य है : ४.५०। द्वितीय संस्करण।

केशवसुत

आधुनिक मराठी काव्य के अग्रदूत की यह प्रेरणाप्रद जीवनी डॉ० प्रभाकर माचवे ने लिखी है। पुस्तक में कवि की चुनी हुई कविताओं का हिन्दी अनुवाद भी सम्मिलित है। मूल्य : २.५० रुपये। दूसरा संस्करण।

लक्ष्मीनाथ बेज़बरुवा

आधुनिक असमिया साहित्य के जनक और प्रख्यात पुरस्कर्ता के जीवन और कृतित्व का यह आकलन विख्यात असमिया कवि और मनीषी प्रोफ़ेसर हेम बरुआ ने किया है। मूल्य : २.५० रुपये।

प्रेमचन्द

हिन्दी और उर्दू कथा-साहित्य में आधुनिक युग के प्रवर्तक अमर शिल्पी का यह आत्मीय परिचय विख्यात समीक्षक प्रोफ़ेसर प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा है। विद्वान् लेखक ने बड़ी निष्ठा से प्रेमचन्द के सृजनात्मक व्यक्तित्व का विश्लेषण किया है। मूल्य : २.५० रुपये।

अपनी प्रति के लिए आज ही लिखें :

साहित्य अकादेमी

रवीन्द्र भवन ३५, फिरोज़शाह रोड,

नई दिल्ली-१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूर्धन्य आलोचक डॉ० नगेन्द्र
के
महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

रस सिद्धान्त	२५.००
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	२०.००
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	१२.५०
देव और उनकी कविता	७.००
आलोचक की आस्था	७.००
रीतिकाव्य की भूमिका	५.५०
विचार और अनुभूति	४.५०
विचार और विवेचन	४.५०
विचार और विश्लेषण	६.००
अनुसन्धान और आलोचना	४.००
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	४.५०
सियारामशरण गुप्त	७.५०
कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ	३.००
काव्य-बिम्ब	४.००
चेतना के बिम्ब	५.००
तंत्रालोक से यंत्रालोक तक	३.००

डॉ० नगेन्द्र
का
नवीनतम बृहत् ग्रन्थ

आ स्था
के
च र ण

३० वर्षों की सर्जनात्मक साधना
का नवनीत

•

१०१ समीक्षात्मक निबन्धों का
महत्त्वपूर्ण संग्रह

•

बड़े आकार में साढ़े सात-सौ से भी अधिक
पृष्ठ सुमुद्रित : आकर्षक साज-सज्जा
५०.००

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२१३५, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० नामवर सिंह की एक महत्त्वपूर्ण कृति

कविता के नये प्रतिमान

सुविज्ञ समालोचक डॉ० नामवर सिंह ने इस पुस्तक में समकालीन हिन्दी आलोचना के अन्तर्गत व्याप्त मूल्यान्ध वातावरण का विश्लेषण करते हुए उन काव्य-मूल्यों को रेखांकित करने का प्रयास किया है जो आज की स्थिति के लिए प्रासंगिक हैं।

प्रथम खण्ड में छायावादोत्तर कविता की उपलब्धि पर हुए दो दशकों के मूल्य-विवाद की पड़ताल है और दूसरे खण्ड में 'कविता के नये प्रतिमान' के नाम पर आलोचनात्मक पदों की सार्थकता का सोदाहरण परीक्षण किया गया है।

मूल्य : १०.००

आत्महत्या के विरुद्ध

रघुवीर सहाय का बहुचर्चित कविता-संग्रह

'Raghuvir Sahai is purely individual in his approach.'

—ENLITE

" 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताएँ समसामयिक हैं। वे 'लाखों का दर्द' नये शब्दों में व्यक्त करती हैं।"

—शिवबच्चन सिंह

और

'रघुवीर सहाय का कवि न केवल अज्ञेय से बहुत दूर निकल आया है, वरन अपने साथी कवियों से भी वह भिन्न है।'

—अश्क

मूल्य : ५.००

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

आगामी अंक में

- ग़ालिब शताब्दी के उपलक्ष्य में विशेष सामग्री।
- केदारनाथ सिंह की कविताएँ।
- समकालीन कविता पर निबंध : 'समकालीन कविता: अंधेरे से साक्षात्कार' (सुरेन्द्र चौधरी), 'कविता की भाषा' (परमानन्द श्रीवास्तव), 'भाषा, कविता और राजनीति' (कमलेश), और 'कविता और राजनीति' (मुरली मनोहर प्रसाद सिंह)
- साठोत्तरी कहानी पर विजयमोहन सिंह का समीक्षात्मक निबंध।
- आज के उपन्यास पर विजयदेव नारायण साही का निबंध।
- पुस्तक-समीक्षाएँ तथा कविताएँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

‘निराला जैसा साहित्यकार सदियों में कभी एक होता है’

—महादेवी वर्मा

और

‘निराला की साहित्य-साधना’ जैसी पुस्तक भी हज़ारों में एक सिद्ध होगी

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरालाजी की ७१वीं जयन्ती पर भेंट
डॉ० रामविलास शर्मा की महान्
ऐतिहासिक कृति

★

“ ‘निराला की साहित्य-साधना’ एक साहित्यकार का जीवन चरित है। इसलिए इसमें किसी हद तक उनके साहित्य का मूल्यांकन भी शामिल है। यह पुस्तक मुख्यतः उनके साहित्य की आलोचना नहीं।”

—‘भूमिका’ से

तीन खण्डों में प्रकाशित की जा रही इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में निराला का जीवन चरित है, दूसरे में कला और विचारधारा का विवेचन, तीसरे में जीवन और साहित्य से सम्बन्धित पत्र व अध्ययन सामग्री।

पहला खण्ड प्रकाशित

पृष्ठ : ६३०, मूल्य रु० २७.००

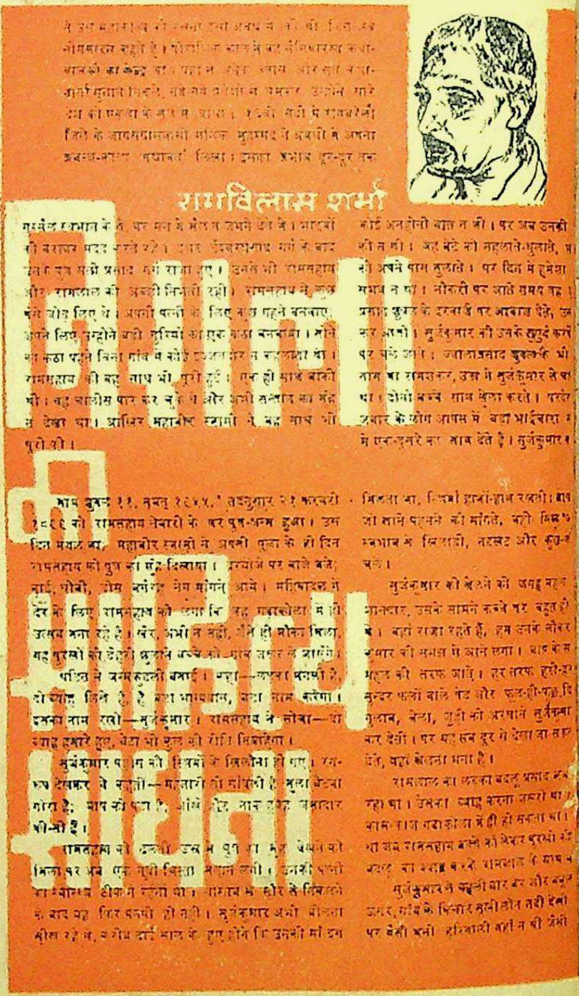

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ • पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

98

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar